REGD. NO. A. 1821

ॐ

वेदान्त केसरी

मासिक पत्र

पुस्तक ६ } वैसाख सं० १९८७ मई १९३० { अंक १

श्लोक—तावद्गर्जन्तिशास्त्राणि जम्बुका विपिनेयथा।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद्वेदान्त केसरी॥

अर्थ—जब तक महाबलवान् सिंह गर्जना नहीं करता तब तक बन में श्याल खूब गर्जना करते हैं। इसी प्रकार जब तक वेदान्त सिद्धान्त की गर्जना नहीं होती तभी तक अन्य लौकिक शास्त्रों की गर्जना हुआ करती है।



सम्पादक—

ब्रह्मचारी विष्णु,

बेलनगंज—आगरा।

वार्षिक मूल्य ३) एक प्रति का मूल्य ।—)

विषयानुक्रमणिका ।

वेदान्त केसरी के नियम ।

(१) यह पत्र प्रत्येक अंग्रेजी महीने के आदि में निकलता है ।
(२) वेदान्त विषय का विवेचन करना इसका मुख्य प्रयोजन है ।
(३) वार्षिक मूल्य ३) अग्रिम लिया जाता है । बिना मूल्य पत्र किसी को नहीं भेजा जाता है ।
(४) एक अङ्क का मूल्य ।–) नमूने का अङ्क पांच आने के टिकट आने पर भेजा जाता है ।
(५) जिन ग्राहकों के पास पत्र न पहुँचे उनको १५ तारीख तक सूचना देनी चाहिये ।
(६) एक वर्ष से कम के ग्राहक नहीं किये जाते । मध्य में ग्राहक होने वालों को चालू साल के आरम्भ से सब अङ्क लेने होंगे ।
(७) चिट्ठी लिखते समय प्रत्येक ग्राहक को अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखना चाहिये ।

ॐ

वेदान्त केसरी

पुस्तक ९ | वैशाख सं० १९८७ मई १९३० | अङ्क १

होती सफलता है वहीं।

हरिगीत छन्द।

[१]

मित्रो! करो जो कार्य सो सोचे विना मत कीजिये।
आरंभ पीछे कीजिये, पहिले समझ सो लीजिये॥
सोचे विना समझे विना, होती सफलता है नहीं।
होता जहां सुविचार है, होती सफलता है वहीं।

[२]

चिंता न कीजे चित्त में, मन में न शंका लाइये।
निःशंक होकर कार्य कीजे, भय न किंचित् खाइये॥
जो मूढ़ चिंताग्रस्त हो, सो कार्य कर सकता नहीं।
चिंता जहां होती नहीं, होती सफलता है वहीं॥

[३]

जब तक न पूरा कार्य हो, उत्साह से करते रहो।
पीछे न हटिये एक तिल, आगे सदा बढ़ते रहो॥
उत्साह विनु जो कार्य हो, पूरा कभी होता नहीं।
उत्साह होता है जहां, होती सफलता है वहीं॥

[४]

आपत्तियां सब झेलिये, मत कष्ट से घबराइये।
हो मृत्यु का भी सामना, हटिये नहीं मर जाइये॥
कायर भगे रणक्षेत्र से, रणधीर हटता है नहीं।
होती जहां है वीरता, होती सफलता है वहीं॥

[५]

उपदेश लीजे प्राज्ञ से, मत अन्य को सिखलाइये।
व्याख्यान ही मत दीजिये, करि कार्य कुछ दिखलाइये॥
बकवाद करने मात्र से, कुछ कार्य सरता है नहीं।
जैसा कहे, वैसा करे, होती सफलता है वहीं॥

[६]

तनु में महा आसक्ति हो, मन में हजारों कामना।
लोलुप सदा हो भोग में, चाहे जगत् में नामना॥
केवल उठाता बोझ ही सो, हाथ कुछ आता नहीं।
होती जहां निष्कामना, होती सफलता है वहीं॥

[७]

आसक्त तन में हो नहीं, सब इंद्रियां स्वाधीन हों।
नहिं भोग की हो लालसा, मन ब्रह्म में तल्लीन हो॥
होता विरागी नर सुखी, रागी सुखी होता नहीं।
होता जहां वैराग्य है, होती सफलता है वहीं॥

[८]

गुरु शास्त्र से जब ज्ञान हो, तब ज्ञान पीछे ध्यान हो।
हो ध्यान से वैराग्य पर, तब तत्त्व सम्यक् ज्ञान हो॥
भोला! विना गुरु शास्त्र सम्यक् ज्ञान नर पाता नहीं।
होते जहां गुरु शास्त्र हैं, होती सफलता है वहीं॥

एक से अनेक कैसे हुए ?

एक संत एक शहरके पास एक एकान्त बगीचे में टिके हुए थे और प्रतिदिन सायंकाल के समय जो मुमुक्षु वहां आजाते थे उनको उपदेश दिया करते थे । शहर में संत की प्रतिष्ठा थी और सब लोग पूज्य दृष्टि से देखते थे । संत की ख्याति सुनकर देश परदेश से आने वाले मनुष्य भी संत के दर्शन के लिये पहुंच जाते थे इससे जगत् के मनुष्यों की भिन्न भिन्न बुद्धि का परिचय कभी कभी संतके पास हुआ करता था । कोई कुछ पूछता और कोई कुछ पूछता था, संत प्रसन्न चित्तसे योग्य उत्तर दिया करते थे और योग्य पुरुषों की शंकाओं का समाधान होजाता था। जो सात्विक भाव रहित और संत कैसे हैं यह जानने को अथवा परीक्षा करने को ही आते थे उनका समाधान होना अशक्य था; तो भी सन्त के ऊपर पूज्य भाव वाले अवश्य होजाते थे । सन्त भक्ति, ज्ञान, उपासना, मनो निग्रह, योग और शान्ति आदिक की चर्चा ही अपने पास होने देते थे और निरपेक्ष रीति से किसी को बुरा न लगे इस प्रकार सबका समन्वय करते हुए प्रश्नों का उत्तर देते थे, यद्यपि दुराग्रही मनुष्यों का चित्त समाधान को प्राप्त नहीं होता था तो भी सरल स्वभाव के पुरुष उत्तर श्रवण कर प्रसन्न ही होते थे ।

एक समय एक मनुष्य संत के पास आया और प्रणाम करके बैठने के बाद सन्त के पूछने से उसने कहा कि मैं यहां का रहने वाला नहीं हूं, परदेशी हूँ, आपकी ख्याति सुनकर आपके दर्शन करने को आया हूं । मुझे साधु सन्तों के दर्शन करने की इच्छा बनी रहती है ।

सन्तः—भला तू अनेक सन्तों से मिल चुका है तब उन महात्माओं से सदुपदेश का पान भी किया होगा । सत् संग की महिमा अपार है ।

मनुष्यः—हम अज्ञानी जीवों से क्या बन सकता है ? सन्तों का उपदेश सुना है परन्तु सुना ही सुना है, हृदय में बैठता नहीं है । हृदय तो उपदेशामृत से सूना—खाली ही है, उसमें अनेक कामनाएं भरी हैं और सुनने से पैदा हुई अनेक शंकाएं भी उसमें भरी हैं । जब तक शंका की निवृत्ति नहीं होती तब तक निश्चय कैसे हो ?

सन्तः—तेरे इतने कथन से ही तेरी क्या हालत है मैं समझ गया हूं । तू अनेक सन्तों से मिल चुका है तब क्या किसी ने भी तेरी शंका का समाधान न किया ? प्रथम तू शंका के स्वरूप को समझ । ठीक ठीक जानने में शंका नहीं रहती ऐसे ही कुछ भी न समझने वाले को शंका नहीं होती । कुछ समझता है और कुछ नहीं समझता तब कुछ समझे हुए से नहीं समझे हुए का अपनी तरफ से अर्थ करने लगने से एक दूसरे के विरोध से शंका हुआ करती है । संत शंका का यथार्थ उत्तर दे तो भी असंस्कारी बुद्धि समाधान को प्राप्त नहीं होती । जिस स्थान की शंका होती है उसी स्थान में [illegible] उसका समाधान होता है शंका का स्थान और [illegible] और समाधान का स्थान और हो तो शंका का समाधान नहीं होता । बहुत से मनुष्य साधु सन्तों के पास पहुंचते हैं और कुछ सुनते भी हैं परन्तु सन्तों के अन्तिम सिद्धान्त वाक्य का सुनना सामान्य मनुष्यों को उपयोगी नहीं है, समझ में नहीं आता यदि समझ में आया तो पूर्ण रीति से

नहीं ऐसी दशा में शंकाएं हुआ करती हैं। किसी सन्त के पास शंका की जाय, वह यथार्थ उत्तर दे तो भी अधिकारी न होने से समाधान नहीं होता। प्रश्नकर्ता की योग्यता के अनुसार प्रश्न हो और युक्तिपूर्वक उत्तर दिया हुआ हो तब ही समाधान होने का संभव है; प्रश्न की कक्षा और उत्तर की कक्षा भिन्न हो तो समाधान नहीं होता। जैसे भिन्न देश काल का पदार्थ एक दूसरे को साधक बाधक नहीं होता इस प्रकार प्रश्न और उत्तर भिन्न देश काल के हों तो समाधान नहीं हो सकता।

संपूर्ण जगत् ही शंका स्वरूप ह, तू कहे कि यह प्रत्यक्ष है उसमें शंका ही क्या है? तो उत्तर यह है कि जैसे घट का स्वरूप मृतिका ही है ऐसे संसार-जगत् का स्वरूप शंका ही है। ऐसे संसार में और संसार की दशा में रहकर संसार के आधार जो इनसे भिन्न कक्षा का है उसका निर्णय नहीं होता। यद्यपि शास्त्र और संत संसार की कक्षा में ही शिष्य को उपदेश देते हैं, फिर भी शिष्य जैसे जैसे संसार के भाव को दूर करता जाता है और पारमार्थिक संस्कार से युक्त होता जाता है वैसे वैसे छाया रूप से समझने लगता है और संसार की दशा से हटकर उसके अधिष्ठान की कक्षा में जाता है; तब शंका स्वरूप संसार और संसार की क्षीण हुई देखने में आती हुई कक्षा में यानी पारमार्थिक में जो शंकाएं करता था सब निर्मूल हो जाती हैं। परमतत्त्व की प्राप्ति में ही निशंकता है; संसार के भाव में आसक्त रहे हुए अज्ञानी को शंका की निवृत्ति नहीं है, सब शंका की निवृत्ति ही स्वस्वरूप का बोध है, बोध न हो तो शंका और समाधान का परिश्रम व्यर्थ है।

व्यवहारिक बुद्धि वाले को पारमार्थिक तत्त्व समझने में कठिनाई है और इस कठिनता में ही सब शंकाएं हैं।

मनुष्यः—आपने शंका के स्वरूप के ऊपर ही विवेचन कर दिया अब तक मैं मेरी शंका क्या है यह कहने ही नहीं पाया हूं, आप मुझे योग्य संत दीखते हैं मेरी शंका को सुनकर समाधान करिये, मुझे निश्चय होता है कि आपके युक्तिपूर्वक समझाने से मैं शंका रहित हो जाऊंगा।

संतः—तेरी शंका का स्वरूप मैं जान गया हूँ इसी कारण ही शंका का विवेचन किया है। शंका करने में भी योग्यता की आवश्यक्ता है, जमीन आसमान के कुलाबे मिलाने की शंका न करना चाहिये। स्वस्वरूप की प्राप्ति और उसकी दृढ़ता के लिये ऊहापोह (शंका समाधान) करना उपयोगी है। तर्क तर्क के लिये नहीं होता निश्चय के लिये होता है।

मनुष्यः—हम अज्ञानी हैं। आप जैसे सद्गुरु से ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा करते हैं। अज्ञानी आत्मा को जानने चाहता है; अज्ञान और आत्मा की कक्षा तो हमेशा भिन्न ही रहती है, तब अज्ञानी आत्मा को किस प्रकार जाने? शंका करने के लिये आपने कहा एक कक्षा में शंका करने से समाधान हो सकता है इस प्रकार तो किसी अज्ञानी से आत्मा जाना ही नहीं जायगा। जितने ज्ञानी होते हैं वे सब अज्ञान में ज्ञान को समझकर, अज्ञान के भावको हटाकर ज्ञानी हुए हैं यह किस प्रकार हुआ?

संतः—तू कहता है इस प्रकार नहीं है। अज्ञानी आत्मा को जानने में असमर्थ है, अज्ञानी ज्ञानी होता ही नहीं है, वस्तुतः अज्ञान है नहीं यह जानना ज्ञान है और ऐसे ज्ञानाज्ञान दोनों ही संसारिक व्यवहारिक सत्ता के हैं और उनका अधिष्ठान स्वरूप आत्मा है इस प्रकार आत्मबोध होता है जो परोक्ष

है। बोध स्वरूप पारमार्थिक सत्ता का है। संसार की दृष्टि से जैसे आत्मा देखा नहीं जाता वैसे संसार की बुद्धि से आत्मा समझा भी नहीं जाता, आत्मा को समझने की आत्म भाव की बुद्धि होती है और यह बुद्धि इन्द्रिय-अन्तःकरण के वृत्ति भाव से रहित होती है तब आत्मबोध होता है अथवा ऐसा कहो कि बुद्धि अपने व्यक्तित्व का नाश करके बोध स्वरूप होजाती है उसीका नाम अपरोक्ष बोध है। परोक्ष बोध व्यवहारिक सत्ता में होता है परन्तु दृढ़ अपरोक्ष बोध तो पारमार्थिक सत्ता में प्रवेश करने से ही होता है। अज्ञानी मनुष्य समझकर अज्ञान को हटाता है, समझना और अज्ञान का हटाना अज्ञान में है इसीसे व्यवहारिक सत्ता में है; बाद पारमार्थिक सत्ता में आजाता है। जैसे स्वप्न का हटना स्वप्न में होकर जाग्रत में आजाना है।

मनुष्यः—आपने जो समझाया वह बहुत सूक्ष्म होने से मेरी समझ में ठीक २ नहीं आया। मैं जैसा मेरा भाव है उसीके अनुसार एक शंका करता हूँ, चाहे यह शंका मेरी गलत हो, आप उसे ठीक करके समझाइये जिससे आपके कथन किए हुये वाक्य भी मेरी समझ में आजाय। मैं अज्ञानी हूँ, मूर्ख हूँ, योग्यता हीन हूँ मुझसे यथार्थ शंका कैसे हो? मैं योग्य होऊं तो शंका का अवकाश ही कहां है? आप प्रसन्न होकर एक बच्चे को उसकी भाषा में जिस प्रकार समझाते हैं वैसे समझाइये।

संतः—भला, तू अपनी शंका को प्रकट कर, मैं जो उत्तर दूं एकाग्र चित्त करके समझ, जो बात समझ में न आवे उसे फिर से पूछ; मैं समझाऊंगा। तेरा बँधा हुआ भाव दूर रखकर समझना होगा।

मनुष्यः—आपकी आज्ञानुसार मैं बारंबार प्रश्न करके समझूंगा। मेरी शंका यह है-संत और शास्त्र कहते हैं कि "एक ही एक परब्रह्म है, परब्रह्म के सिवाय और कुछ नहीं है। जगत् के प्रथम एक ही अद्वितीय परब्रह्म था, जगत् के काल में भी वह वैसा ही अद्वितीय है, जगत् के बाद भी वह वैसा ही होगा। ऐसे एक ही परमतत्त्व है तब अनेकता वाला यह संसार कैसे हुआ? एक से अनेक कैसे हुए एक ज्ञान ही ज्ञान स्वरूप है तब अज्ञान जो प्रकाश के सामने अन्धेरे के समान है कहां से हुआ? और जगत् को मानते हुए वह प्रकाश ही प्रकाश कैसे रहा? अज्ञान रूप जगत् का अन्धेरा उसमें से निकला अथवा और स्थान से आया? अन्धेरे ने आकर प्रकाश को ढंपा अथवा क्या परम प्रकाश ही विकारी हुआ।" इस शंका की निवृत्ति के लिये मैंने सैकड़ों संत महात्माओं से पूछा होगा, सब ने उत्तर दिये। परन्तु मेरी समझ में कुछ भी नहीं आया।

संतः—तेरी शंका उपदेशका अंतिम तत्त्व और अज्ञानकी दशा दोनोंके लिये है, मैंने प्रथम ही कहा है उसके अनुसार दोनोंकी कक्षा भिन्न है इससे तू समझने में असमर्थ है। संसार अंधेरा और एक अद्वितीय तत्त्व प्रकाश स्वरूप है ऐसा तू कबूल करता है; अब अंधेरे संसारमें रहकर प्रकाशस्वरूप को किस प्रकार जान सकता है? जैसे घूघू से सूर्य का जानना नहीं बनता ऐसे तेरा हाल है; यदि सूर्य को जानने की इच्छा तीव्र है तो घूघूको अपने घूघू के भावसे हटना होगा। तू अज्ञानी है इस भाव को रखकर ही ज्ञानस्वरूप को जानना चाहता है यह बन नहीं सकता।

संसारको अनेक प्रकारसे तूने अपने हृदय में दृढ़कर रखा है और परब्रह्म एक तत्त्व है ऐसा दूसरों से सुन रखा है; सुने हुए का और हृदयमें दृढ़ किये हुए का सम्बंध मिलता नहीं यह तेरी उलझन है। मैं तुझे रोज तेरे अनुभव में आने वाले दृष्टांत से समझाता हूँ। जब तू रात्रिमें सो जाता है और स्वप्न को देखता है तब वहां भी अनेक पदार्थयुक्त संसार को देखता है और सब प्रकार से जाग्रत अवस्था के संसारके समान ही अनुभव करता है। यह सब देखना और अनुभव करना मिथ्या है ऐसा बोध स्वप्नावस्था में तुझे नहीं होता, यद्यपि स्वप्न में तू एक ही है और जितनी अनेकता तुझे दीखती है वह सब तुझसे भिन्न नहीं है तो भी मैं वहां एक ही हूँ ऐसा निश्चय नहीं कर सकता इसी प्रकार यह संसार भी तत्त्वस्वरूप की अपेक्षा से एक स्वप्न ही है; इस स्वप्न में अनेकता वास्तविक नहीं है ऐसा बोध किस प्रकार हो? सोया हुआ मनुष्य स्वप्नमें से जाग्रत हो उठता है तब ही कहता है कि "स्वप्नमें जो कुछ मैंने देखा सब मिथ्या था, खटिया में मैं अकेला ही पड़ा हुआ था।" इसी प्रकार जब इस संसाररूप महा स्वप्न में से स्वस्वरूपमें जाग्रत हो जाय तब ही संसारकी अनेकता वास्तविक नहीं है ऐसा जान सकता है। स्वप्नका और जाग्रत अवस्थाका संसार समान ही है, तब एक को झूठा और दूसरेको सच्चा क्यों माना जाय?

मनुष्य:—आपके कहनेके अनुसार यह सिद्ध होता है कि अनेकता है ही नहीं इससे मेरा प्रश्न झूठ है, यदि ऐसा ही है तो सब संसार अनेकता का अनुभव क्यों करता है। आप मुझे समझाते हैं और मैं समझनेका प्रयत्न करता हूं, यह अनेकता नहीं है ऐसा मेरा हृदय कबूल नहीं करता। आप ने कहा कि स्वप्नमें ऐसा ही होता है यह कैसे हो, स्वप्नमें जाग्रत अवस्थाके संस्कार का भान होता है और इस संसारमें कौनसे संस्कारका भान होता है?

संत:—स्वप्नमें जाग्रतके संस्कार हैं ऐसा तेरा कहना झूठ है, वहां तो पदार्थका प्रत्यक्ष अनुभव होता है संस्कार कहां है? संस्कार स्मृतिरूप होते हैं, मुझे यह पदार्थ याद आता है, ऐसा स्मृति ज्ञान संस्कारसे होता है ऐसी स्मृति स्वप्नमें है नहीं तब जाग्रतके संस्कार से स्वप्नके पदार्थमें अनेकताका भान होता है ऐसा किस प्रकार कहा जाय?

मनुष्य:—स्वप्नमें यह जाग्रत का संस्कार है ऐसा बोध नहीं होता, वहां संस्कार ही प्रत्यक्ष पदार्थरूप मालूम देता है क्योंकि देखे सुने और समझे हुए के सम्बंधसे ही पदार्थका भान होता है।

संत:—संस्कार और प्रत्यक्ष पदार्थ में महान् अन्तर है। स्मृतिका पदार्थ तो आन्तर में स्मृति रूप होता है और पदार्थ तो बाहर प्रत्यक्ष रूप होता है। जाग्रत अवस्था के जगत् में जिन पदार्थों का प्रत्यक्ष अनुभव होता है वे सब पदार्थ स्वप्न के पदार्थ के समान ही हैं। स्वप्न में संस्कारों का स्मृति रूप से भान न होकर प्रत्यक्ष पदार्थ रूप से भान होना माना जाय तो जाग्रत अवस्था के पदार्थ का भी इसी प्रकार समझ।

मनुष्य:—यह कैसे बन सकता है? इस जाग्रत अवस्था को स्वप्न के समान समझी जाय तो इससे कोई उच्च जाग्रत अवस्था होना चाहिये कि जिसके संस्कार का दृश्य इस जाग्रत में हो सकता है; इस जाग्रत अवस्था से अन्य कोई जाग्रत अवस्था है नहीं; तब जगत् के पदार्थ पूर्व संस्कारों का दृश्य किस प्रकार हो? आप यह कहें कि ज्ञान स्वरूप ही जाग्रत अवस्था है तो वहां अद्वितीय तत्त्व होने से न संसार

है न उसके संस्कार हैं न पदार्थ हैं, तब उसके संस्कार किस प्रकार से हों ?

संतः—इस जाग्रत अवस्था से कोई उच्च अवस्था के संस्कारों का ही भान हो यह नियम नहीं है संस्कार ही होना चाहिये। अनन्त काल से जीव संसार में भ्रमण करता है, अनेक योनियों में वारंवार भोग कर चुका है इससे उन पदार्थों के संस्कारों का भी जाग्रत में पदार्थ रूप से भान होना संभवित है। यदि तू कहे कि प्रथम तो कोई संसार चालू हुआ होगा; तो ऐसा नहीं है चक्र के समान संसार का भ्रमण है इससे आदि रहित कहा जाता है। चक्र के समान जब देखते हैं तब पूर्व के संस्कार हैं और अज्ञान से उनका पदार्थ रूप से भान भी बन सकता है।

मनुष्यः—जैसे स्वप्न में कोई पदार्थ वास्तविक नहीं है वैसे क्या जाग्रत संसार में भी कोई पदार्थ वास्तविक नहीं है ? यदि ऐसा है तो मेरा प्रश्न ही झूठा है। आपके समझाने से मैंने कुछ समझा है; परन्तु "यह संसार है ही नहीं" ऐसे भाव को मेरा अन्तःकरण पकड़ता क्यों नहीं ?

संतः—अनादि काल से जीव अज्ञानमें भटकता रहा है इसीसे बुद्धि आभास रूप से समझ ले तो भी अन्तःकरण में दृढ़ हुआ द्वैत भाव हटने में विलम्ब ही होता है इसीसे शास्त्र में अनेक जन्मों के अभ्यास से वैराग्य दृढ़ होकर अन्तिम जन्म में ज्ञान स्थिर होता है ऐसा कहा है। एक से अनेक किस प्रकार हुए यह समझने के लिये वृक्ष का दृष्टान्त है। वृक्ष एक ही होता है ऐसा तू और सब कोई देखते हैं, एक वृक्ष में अनेकता भी सब किसी को दीखती है। फल, फूल, शाखा, डाल, टहनी, पीड़, जड़, पत्ते अनेक होते हैं, आकृति, रंग और गुण भी भिन्न भिन्न प्रकार के होते है, सब भेद होते हुए भी वृक्ष अनेक है ऐसा कोई कहता नहीं। वृक्ष की सब प्रकार की अनेकता में वृक्ष व्यापक है। वृक्ष में दो रूप से भान होता है, बीज में अनेकता की सब आकृतियां अदृश्य होती हैं और बीज विकसित होकर जब बड़ा वृक्ष रूप दीखता है तब अनेकता युक्त दीखता है। संपूर्ण संसार की अनेकता को भी इसी प्रकार समझ। वृक्ष हर हलत में यानी बीज हो अथवा अनेकता वाला वृक्ष हो एक वृक्ष ही होता है, अन्य कोई वस्तु नहीं है इस प्रकार जगत् हो तब और न हो तब परब्रह्म एक ही रहता है, दूसरा किसी हालत में भी नहीं है।

मनुष्यः—वृक्ष का दृष्टान्त नहीं मिलता क्योंकि वृक्ष की अनेकता का हेतु तो बीज के साथ योग्य पृथ्वी, जल, हवा, प्रकाश आदि हैं, इससे वह बढ़ कर अनेकता को प्राप्त होता है। परमात्मा में से अनेकता प्रतीत होने का अन्य कोई हेतु नहीं है।

संतः—जैसे वृक्ष का बीज पृथ्वी रूप है इसी प्रकार उसको बढ़ने की सामग्री भी पृथ्वी रूप ही है पृथ्वी छोड़ कर अन्य क्या पदार्थ है। पृथ्वी भूमि कही जाती है और परब्रह्म भूमा कहा जाता है, इसी प्रकार परब्रह्म में संसार की प्रतीति और उसका हेतु भी सब परब्रह्म रूप ही है। अज्ञानियों को अज्ञान का अस्तित्व भी परब्रह्म से है ऐसे एक से अनेक की प्रतीति है वास्तविक तो एक ही है। सब कुछ होते हुए भी कुछ न हुआ। ज्ञान और अज्ञान एक दूसरे से विरुद्ध प्रकाश और अंधेरे के समान है और ऐसे प्रकाश रूप ज्ञान से अंधेरा रूप अज्ञान कैसे उत्पन्न हुआ, यह आगे अब समझाता हूं। ज्ञान और

ज्ञान स्वरूप में अन्तर है, ज्ञान और अज्ञान का विरोध है परन्तु ज्ञान स्वरूप आत्मा का किसी से विरोध नहीं है; यानी अज्ञान का विरोधी आत्मा नहीं है वह अज्ञान का आधार है, ज्ञान का प्रकाश और अज्ञान के अंधेरे से आत्मास्वरूप विलक्षण है। इसीसे उसमें ज्ञान अज्ञान दोनों की सिद्धि होती है। आत्मा के प्रकाश में अंधेरा रूप अज्ञान हुआ ऐसा तेरा कहना मिथ्या है। अज्ञान उत्पन्न होने की वस्तु ही नहीं है। अज्ञान कोई वस्तु होती तो उत्पन्न होता। प्रमाता को विपरीत ज्ञान होना ही अज्ञान है, न उत्पन्न हुए का भासना है। इसीसे अज्ञान और अज्ञान की सब अनेकता के भान में भी अनेकता नहीं है। एक से अनेक हुए नहीं हैं भान ही होता है; जो पदार्थ के अनुसार ज्ञान का होना कथन करते हैं वे उनकी अनिर्वचनीय उत्पत्ति को कहते हैं, अनिर्वचनीय उत्पत्ति वास्तविक उत्पत्ति ही नहीं है वह उसका कथन भी अनिर्वचनीय है अनिर्वचनीय अज्ञान आदि एकप्रकार मिथ्या ही है। माया, माया का कार्य सब प्रतीति मात्र है सत् स्वरूप नहीं है, सत् के आधार से ही भ्रान्ति से है ऐसा भान होता है।

बाइसकोप का तमाशा तूने देखा होगा। वहां मनुष्य, नदी, पहाड़ आदि सब दीखते हैं, क्रिया करते मालूम होते हैं और अब बोलने भी लगे हैं यह सब किस प्रकार हुआ ? वास्तविक देखा जाय तो चित्र वाले पड़दे घूमने के सिवाय और कुछ नहीं है; तोभी अक्रिय क्रिया वाले और न बोलने वाले बोलते हुए दीखते हैं, एकही अनेकता को प्राप्त हुआ दीखता है। यह संपूर्ण ब्रह्मांड भी इसी प्रकार का है।

मायारूप पट में मनकी कल्पना के अनेक चित्र तेजी के साथ घूमते हैं इसीसे संसार की वर्तमान स्थिति है। गंवार मनुष्य जब तक बाइसकोप के रहस्य को समझता नहीं है तब तक उसे आश्चर्य होता है, इसी प्रकार जब तक मनुष्य जगत् के रहस्य स्वरूप अपने आत्म स्वरूप परब्रह्म को जानता नहीं है तब तक उसे संसार, संसार रूप से रहता है जानने के बाद नहीं। एक और दृष्टांत सुन:—

एक प्रतिष्ठित जमींदारके लड़केकी बहू ससुराल में आई, वह गरीब घरकी लड़की थी। माता पिता के वहां उसे मिठाई खानेको मिलती नहीं थी, जमींदारके वहां मिठाई मेवा हमेशा भरा रहता था उसमें से उसे भी खानेको मिलता था; वह उत्तम मिठाईका स्वाद लेनेसे चटोरी होगई ! एक दिन घर में कोई मनुष्य नहीं है ऐसा देखकर उसने मिठाई निकालकर खाई, मिठाई खाते समय "मैं चोरीसे मिठाई खा रही हूं" ऐसा समझकर बारंबार चारों तरफ देखती थी। उसने अपनी सामने पड़ी हुई परछाई का हाथ उठता हुआ देखा, वह घबरा गई और आस पास घूमकर देखने लगी। घूमने से छाया दीख न पड़ी। समझ लिया कि मेरी चोरी को भूतने देख लिया है, कोई मनुष्य होता तो इतनी देरमें कहां चला जाता ? अब क्या करना चाहिये? मेरी चोरी प्रगट होनेसे भारी बदनामी होगी। हम प्रतिष्ठित मनुष्य हैं, कोई इस भूतको समझा दे कि बहू ने चोरी करके मिठाई खाई है यह बात किसी को कहे नहीं, तब तो हमारी प्रतिष्ठा रह जाय। दो दिन तक भूतको समझानेके विचारमें रही। भूत दृष्टिमें आता नहीं था, उसे समझावे कैसे ? अन्तमें उसने यह बात अपने पतिसे कही, पतिने भी समझा कि बुरी बात है भूत किसी को कह देंगे तो घरकी बेइज्जती होगी। उसने भी भूत को समझाकर चोरीकी बात गुप्त रखनेका उपाय सोचा; उपाय न मिलनेसे उसने अपने पिता से

कहा, जमींदार भी अपनी इज्जत जानेके ख्यालसे घबरा गया; परन्तु भूतको समझावे कैसे ? उसने यह बात एक ज्योतिषीसे कही और कहा हम आप को बत्तीस देंगे, किसी प्रकार भूतको समझा दीजिये। ज्योतिषीने भी भूतकी खोज की; भूतका कहीं पता मिला नहीं तब उसने जमींदारसे कहा भूत कहीं मिलता नहीं है परन्तु भूतकी बात कोई माने नहीं ऐसा उपाय मैंने सोचा है। जमींदारने कबूल किया और ज्योतिषीके कहनेके अनुसार एक मनुष्यके हाथमें ढोल दिया और बजाते हुए "जमींदारके लड़केकी बहूने चुराकर मिठाई खाई है ऐसा एक भूत आकर कहे तो सच्चा मत मानो" ऐसा कहते हुए सब शहर में फिरा दिया।

इस दृष्टांतसे क्या समझा ? चोरी कर के मिठाई खाने की बात एक से अनेक ने किस प्रकार सुनी ? वैसे ही यह सब एकसे अनेक बने हैं।

बुद्धि अविद्याका कार्य होनेसे गरीबकी लड़की है। जमींदार आत्मा प्रतिष्ठित है, लड़का चिदाभास द्वारा आया हुआ विकारी आनन्द है, उस आनन्द की बुद्धि चोरी करने लगी, परन्तु अविद्याकी ही लड़की होने से अविद्या उसके जन्म नक्षत्रोंमें ही पड़ी हुई थी इसी से चोरी कर के घबरा गई। अविद्या का कार्य बढ़ता गया वहां तक कि आत्म रूप जमींदार भी अपना भान भूला और बुद्धि से युक्त होकर अपने ही हाथ से अपनी बेइज्जति कराई।

तूने अपनी इज्जत इस प्रकार खो डाली है। इस प्रकार एक से अनेक भी अज्ञान से तूने ही किये हैं, वास्तविक अनेकता का अभाव ही है, पारमार्थिक अनेकता नहीं है और व्यवहारिक भाव में एकता हो भी नहीं सकती। अद्वैत तत्त्व के बोध के सिवाय एकता नहीं है; बोध स्वरूप ही अद्वैत है। व्यवहार में आसक्त मनुष्यों को समझना कठिन है; यदि समझाया जाय तो टिकाव नहीं होता। एक में से अनेक और अनेक में से एक अविद्या ही है; तत्त्व स्वरूप–पारमार्थिक में विकार नहीं है उसके यथार्थ बोध विना अनेकता और अनेकता में दुःखों का अनुभव करना पड़ता है।

शुभेच्छा।

एक दिन एक ठाकुर एक संत के पास आकर प्रणाम् करके इस प्रकार कथन करने लगा—

ठाकुर—महाराज ! मैं जाति का ब्राह्मण हूं; सादाबाद का रहने वाला हूँ। हम लोग ब्राह्मण का कर्म नहीं करते यानी दानादि नहीं लेते किंतु जिमीदारी का हमारा पेशा है, इसलिये ठाकुर कहलाते हैं। थोड़े दिन की बात है, मेरे ग्राम में हैजा फैला और मेरे बहुत से साथी, सगे, संबन्धी अकस्मात ही पांच सात दस्त आनेसे इस दुनियां को छोड़कर न मालूम कहां चल बसे, गांव का गांव खाली होगया, स्त्रियां मर जाने से बहुत से पुरुष विधुर होगये, पुरुष मर जाने से बहुत सी स्त्रियां विधवा होगईं, पिता माता मर जाने से बहुत से बच्चे अनाथ होगये, बच्चे भी बहुत से मर गये और माता पिताओं को रोता हुआ छोड़ गये। महाराज, भयंकर दृश्य था, याद आजाती है तो रोंगटे खड़े होजाते हैं, अब भी देखिये, कांटों के समान मेरे रोंगटे खड़े हो आये हैं ! मुझे भी हैजा हुआ था। सुनता हूं कि मैं भी मर गया था, पीछे से जी उठा। उस समय मुझे मरने का अनुभव तो नहीं हुआ, किंतु मुझे एक स्वप्न दिखाई दिया, स्वप्न इस प्रकार है—

महाराज, क्या देखता हूं कि यमराज के लोक में खड़ा हुआ हूं। जैसे बड़े २ शहरों में कोढ़ीखाने बने हुये हैं, इसी प्रकार वहां असंख्य कोढ़ीखाने देखने में आये। किसी कोढ़ीखाने में अन्धे ही अन्धे भरे हुये थे, किसी में बिना हाथ के टोंटे ही टोंटे देखने में आये, कितने ही लूले लंगड़े देखे, किसी के पैर हाथी के पैर के समान मोटे थे, किसी के हाथ सींक के समान पतले थे, किसी का शिर चेंटे के समान छोटा और पेट मटके के बराबर बड़ा था, किसी को भूंख ही नहीं लगती थी, किसी को भूंख तो कड़ाके की लगती थी और खाने को नहीं मिलता था! अनेक प्रकार के रोग देखने में आये, जिनको मैंने अपनी उमर में कभी नहीं देखा था। कोढ तो थोड़ा बहुत सभी के था। वहां का भयंकर दृश्य वर्णन करने में मेरी जिह्वा काम नहीं देती, कहां तक वर्णन करूं? इतने में ही यमराज आते हुये दिखाई दिये, उनका स्वरूप इस प्रकार का मैंने बड़े बूढ़ों से सुन रक्खा था—

पापियों के संबंध में यम का स्वरूप—यमराज तीन सौ योजन दीर्घ अंग वाले हैं, बावड़ी के समान उनके नेत्र हैं, धुयें का सा उनका रंग है, फिर भी महान् तेज वाले हैं, प्रलय के मेघों के समान उनकी ध्वनि—शब्द है, ताड़के समान उनके रोंगटे हैं, प्रज्वलित अग्नि के समान उनका मुख है, उनकी नासिका के छिद्रों में से निकलने वाला श्वास महान् आंधी के समान अथवा उससे भी विशेष वेग वाला है, सूप के समान उनकी अंगुलियों के नख हैं, प्रचंड महिष पर वे आरूढ़ होते हैं, होठोंको दांतों से चबाते रहते हैं, हाथ में दंड रखते हैं, चर्म के वस्त्र धारण किये हुये रहते हैं और उनकी दोनों भ्रुकुटियां कुटिल—टेढ़ी होती हैं।

पुण्यात्माओं के संबंध में यम का स्वरूप—पुण्यात्मा धर्म परायण पुरुषों को आता हुआ देख कर सूर्य के पुत्र यमराज स्वयं नारायण रूप होजाते हैं। चार भुजाधारी, श्यामवर्ण, प्रफुल्लित कमल के समान नेत्र वाले, शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी, गरुढ़ पर आरूढ़, सुवर्ण का यज्ञोपवीत धारण किये हुये, स्मित हास्य मुख वाले, शिर पर किरीट और कानों में जड़ाऊ कुंडल और गले में वनमाला धारण किये होते हैं।

हे भगवन्, इस प्रकार मैंने यमराज के दो स्वरूप सुने हैं परन्तु उस समय तो वे मुझे पूर्व का स्वरूप धारण किये हुये महिषारूढ़ दंड हाथ में लिये हुये भयंकर स्वरूप वाले दिखाई दिये। पश्चात् उन्होंने सब नरकवासियों को उनके पूर्व कृत पापों का स्मरण कराया और भविष्य में पापाचरण के त्याग की और शिष्टाचार करने की शिक्षा दी। पश्चात् उसी नरक में मुझे अपने पिता का दर्शन हुआ और मेरी और उनकी इस प्रकार बात चीत हुई—

मैं—(विस्मित होकर) पिताजी! आप यहां नरक में कैसे पड़े हुये हैं? आप तो नित्य नैमित्तिक कर्म किया करते थे, दान पुण्य भी किया करते थे, एकादशी आदि व्रत भी रखा करते थे, बहुत से तीर्थ भी आपने किये थे, माला भी घुमाया करते थे, देव दर्शनों को भी जाया करते थे और साधु महात्माओं से भी प्रायः मिलते रहते और उनका सत्कार किया करते थे फिर आपको नरक की प्राप्ति किस प्रकार हुई?

पिता—(ठंडी सांस लेकर) बेटा, जो २ तूने कहा, मैंने सब कुछ किया और कुछ भी नहीं किया क्यों कि जो २ मैंने किया सब ढोंग था, दिखावे मात्र था।

श्रद्धापूर्वक सच्चे भाव से मैंने कुछ नहीं किया; इस लिये मेरा किया हुआ सब निष्फल गया, निष्फल ही नहीं किंतु उलटा पाप रूप हुआ, जिसका फल तू देख रहा है कि मैं नरक में पड़ा हुआ नाना कष्ट भोग रहा हूं। मैं नित्य नैमित्तिक कर्म अवश्य करता था परन्तु मात्र दिखाने के लिये किया करता था, लोग मुझे श्रेष्ठ समझें इसलिये कर्म करता था, ईश्वर में मेरी आस्था नहीं थी, श्रद्धा रहित कर्म करता था, दान जो देता था, वह भी प्रतिष्ठा के लिये देता था अथवा जिनसे मेरा कुछ स्वार्थ संभव दीखता था उनको ही दान देता था पात्र पवित्र नहीं देखता था। एकादशी आदि व्रत भी दिखाने के लिये करता था, घर वालों से छुपाकर खा लिया करता था और कह यह देता था कि निराहार अथवा निर्जल व्रत करता हूं। तीर्थों में भी देवबुद्धि अथवा पूज्य बुद्धि करके नहीं जाता था किन्तु सैर करने मात्र के लिये जाता था, श्रद्धा से मंदिरों में भेंट नहीं चढ़ाता था किंतु जो कोई मेरी विशेष सेवा करता था, यानी जिससे मुझे विशेष आराम मिलता था, उसी को दान देता था, माला घुमाता अवश्य था परन्तु घर की या दुकान की माला फिराता था, व्यवहार में ही मन लगा रहता था मंत्र में मन नहीं लगाता था, माला फेरने का अभिमान भी बहुत किया करता था। विशेष क्या कहूं, भजन के भरोसे पर पाप किया करता था। समझता था कि माला फेरने वाले को पाप करने की छुट्टी है। यह नहीं समझता था कि जैसे तीर्थ में किये पुण्य का विशेष फल होता है, इसी प्रकार तीर्थ में किये हुये पापों का विशेष दुःख रूप फल प्राप्त होता है। जैसे एक राम नाम जपने से पाप क्षीण हो जाते हैं, इसी प्रकार राम नाम के भरोसे पर पाप करने से पाप भी विशेष होता है, देव मंदिर में भी कोई न कोई स्वार्थ लेकर जाता था। जिन मंदिरों के पुजारी प्रतिष्ठित थे, जिनसे स्वार्थ निकलना संभव था उन्हीं के मंदिरों में जाता था। साधु संतों की सेवा भी दवा दारू पूछने के लिये अथवा आगामी वस्तुओं का भाव ताव पूछने के लिये किया करता था, साधु संत को भगवत् स्वरूप जान कर भगवत् भक्ति के लिये उनकी सेवा नहीं करता था, सारांश यह है कि मेरा सब व्यवहार दंभ कपट युक्त था, उसी का फल नरक भोग रहा हूँ। हे पुत्र यदि तुझे अपने कल्याण की इच्छा है तो दंभ कपट छोड़ कर ईश्वर की प्रीति के लिये सकाम अथवा निष्काम सब कर्म किया कीजो और अपने आश्रित स्त्री बच्चों को भी ऐसा ही सिखाइयो, जिससे तुझे मेरे समान नरक न भोगना पड़े।

हे भगवन्! इतना स्वप्न देखकर मैं जाग गया और घर वालों ने समझा कि मैं मर कर जी आया, इसलिये सबने मेरे जी जाने का बड़ा हर्ष मनाया। कमजोर मैं था ही, थोड़े दिनों में धीरे २ चंगा होगया। महाराज! यह चाहता हूँ कि नित्य नैमित्तिक कर्म, एकादशी आदि व्रत और ईश्वर भजन सच्चे मन से किया करूं, ईश्वर में मेरी आस्था दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़े। शिष्ट पुरुषों का मेरा आचार हो जहां कहीं मरने के बाद जन्म लूं, नरक न भोगूं और ईश्वर को न भूलूं! मोक्ष की तो अभी मुझमें योग्यता दिखलाई नहीं देती, पापाचरण से बचा रहूँ, इतना ही चाहता हूं। शुभेच्छुक पुरुष को क्या २ करना चाहिये।

संत—(प्रसन्न होकर) बच्चा, इच्छा जीव का स्वरूप है क्योंकि इच्छा बिना प्राण का धारण नहीं

होसक्ता और प्राण विना कोई क्रिया नहीं होसक्ती। श्रुति में कहा है कि ईश्वर ने इच्छा की और सृष्टि को रचा। श्रुति में जीव की सोलह कलायें बताई हैं, उनमें प्रथम इच्छा ही है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, सुख, दुःख और इनके संस्कार ये सब जीव के गुण कई शास्त्रकार मानते हैं उनमें भी प्रथम इच्छा ही है। लोकोक्ति भी है कि 'आशा पर ही दुनियां कायम है।' इससे सिद्ध हुआ कि जीवका स्वरूप इच्छा है। मोक्ष के सिवाय स्वर्ग अथवा नरक में इच्छा जीवका साथ नहीं छोड़ती, सर्वदा साथ ही रहती है। यह इच्छा दो प्रकार की है:—एक शुभेच्छा और दूसरी अशुभेच्छा। अशुभेच्छा संसार में ले जाने वाली है और शुभेच्छा संसार से मुक्त करने वाली है। ईश्वर में आस्था, ईश्वर रचित वेद पर श्रद्धा, वेद में बताये हुये शुभ कर्मों का अनुष्ठान इत्यादि का नाम शुभेच्छा है और इससे विरुद्ध आचरण का नाम अशुभेच्छा है। कुसंग, कुशास्त्र और सांसारिक सुख से अशुभेच्छा की उत्पत्ति और वृद्धि होती है और सत्संग, सत्शास्त्र और सांसारिक दुःख से शुभेच्छा की उत्पत्ति और वृद्धि होती है। इसीलिये पूर्व में शिष्ट स्त्री पुरुषों ने भगवान् से दुःख की ही याचना की है। दुःख में ईश्वर को कोई नहीं भूलता, सुखमें चाहे भूल भी जाय। हे भावुक! तेरी बीमारी और तेरा स्वप्न दोनों तेरे किसी पूर्व पुण्य से तुझे चेताने के लिये ईश्वर के भेजे हुये आये हैं। मरी आदि अनेक रोग, प्रिय मरणादि द्रव्य हानि आदि अनेक कष्ट मनुष्य के चेताने के लिये आया करते हैं परन्तु मनुष्य चेतता नहीं है, कष्ट से थोड़े दिन रोता चिल्लाता है और फिर थोड़े दिन में भूल जाता है। बचा, यदि तेरी इच्छा जैसी अब है, वैसी ही बनी रही तो जहां २ तू जन्मेगा, सुखी रहेगा और अन्त में परमेश्वर को प्राप्त होकर परम सुखी होगा। शुभेच्छुक पुरुष का जो कुछ कर्तव्य है, मैं तुझे बताता हूं, ध्यान देकर सुन—

शुभेच्छुक सर्वदा शिव में आस्था रक्खे, शिव के आश्रित रहे, केवल शिव में ही आनन्द मानता हुआ सरल स्वभाव से मंडित होकर सर्व नित्य नैमित्तिक कर्म प्रेमपूर्वक करे।

नित्य नैमित्तिक कर्मों का विवरण—जिनके न करने से प्रत्यवाय-पाप हो, ऐसे संध्या वन्दन आदि साधनों को नित्य कर्म कहते हैं। पुत्र जन्मादि अनुबंध यानी जन्मसंबंधी इष्टि आदि कर्म नैमित्तिक कहलाते हैं। मार्कण्डेय पुराण में कहा है कि नित्य, नैमित्तिक और नित्यनैमित्तिक ये तीन प्रकार के गृहस्थ के कर्म हैं, पंचयज्ञ संबंधी कर्म नित्य कर्म हैं, पुत्र जन्म क्रिया आदिक नैमित्तिक हैं और पर्व श्राद्धादि कर्मों को पंडित नित्यनैमित्तिक कर्म कहते हैं। नित्य नैमित्तिक क्रिया का उल्लंघन करने से पुरुष पाप का फल भोगता है, यह धर्मशास्त्र का मत है। (नित्य कर्म के सम्बन्ध में वेदान्त केसरी का पुस्तक ८ अंक ६ देखें)

जो बालक जन्म लें, उनके जातकर्मादि संस्कार कराने चाहिये। संस्कार बिना मनुष्यों में शुद्धता उत्पन्न नहीं होती, संस्कार से शुद्धता उत्पन्न होती है।

संस्कार—शुद्धि। दस प्रकार के संस्कार हैं जैसे (१) विवाह, (२) गर्भाधान, (३) पुंसवन, (४) सीमन्तोन्नयन, (५) जातकर्म, (६) नामकरण, (७) अन्नप्राशन, (८) चूड़ाकरण, (९) उपनयन, (१०) समावर्तन।

पितृश्राद्धादिक यथायोग्य पिंडदान देकर करे। श्रद्धा विना किया हुआ श्राद्ध अवश्य ही दुष्ट रूप होजाता है और निष्फल जाता है। श्राद्ध करके जुआ न खेले, किसी से कलह न करे, दिन में न सोवे, एक बार ही भोजन करे, दूसरी बार भोजन न करे। मार्ग चलना, मैथुन और दान लेना श्राद्ध के दिन वर्जित है। श्राद्ध के शेष द्रव्य का बना हुआ विल्व फल के आकार वाला पितृओं के देने का अन्न पिंड कहलाता है। मत्स्य पुराण में कहा है कि यदि शुभ कर्मों के प्रभाव से पिता देवता हो जाय तो पिंड अमृत रूप होकर पिताको प्राप्त होता है। यदि पिता अशुभ कर्मों के योग से दैत्य हो जाय, तो पिंड मद्य मांसादि रूप होकर प्राप्त होता है, यदि पिता पशु होजाय तो पिंड तृण रूप होकर प्राप्त होता है और यदि पिता मनुष्य होजाय तो पिंड अन्न पानादि भोग रूप होकर प्राप्त होता है। जैसे अभ्यास विना विद्या नष्ट होजाती है, जैसे दंभ से धर्म नष्ट हो जाता है, जैसे तृष्णा से ज्ञान नष्ट होजाता है, जैसे कोप से तप नष्ट होजाता है, जैसे विक्षिप्त चित्त वालों का योग नष्ट होजाता है; इसी प्रकार जो कुछ शुभ कर्म किया जाता है, वह सब श्रद्धा विना नष्ट होजाता है कुछ फल नहीं देता। हवन, स्नान, ध्यान, दान, तप और जप; इनका फल श्रद्धा से ही प्राप्त होता है क्योंकि जो श्रद्धा है, वह पुरुष है, यह भगवान् का गीता में वचन है।

श्रद्धा—चित्तकी प्रसन्नताका नाम श्रद्धा है। श्रद्धा का बालपन विश्वास है, श्रद्धा का यौवन प्रीति यानी अनुराग है, श्रद्धा का प्रौढ़त्व—जवानी निर्भरता अतिशयता है और श्रद्धा का बुढ़ापा ज्ञान है (१) वेदान्त-सार में कहा है कि गुरु और वेदान्त वाक्यों में विश्वास होने का नाम श्रद्धा है। (२) स्मृति का वचन है कि धर्म कार्यों में जो प्रत्यय यानी ज्ञान है उसको श्रद्धा कहते हैं। (३) देवल संहिता में कहा है कि सत्कर्म और दोष दृष्टि का अभाव श्रद्धा कहलाता है। (४) मुंडक शंकर भाष्य में कहा है कि जिसके प्रभाव से सर्व पुरुषार्थ के साधनों का प्रयोग हो, चित्त की प्रसन्नता हो और आस्तिक्य बुद्धि उत्पन्न हो, उसका नाम श्रद्धा है। गीता में भगवान का वचन है कि श्रद्धावान् को ज्ञान प्राप्त होता है।

कल्याणार्थी को चाहिये कि यथा शक्ति यथा न्याय, यथा द्रव्य, श्रद्धा युक्त होकर दरिद्री, सज्जन और भक्तों को भोजन करावे, भोजन कराने के बाद दक्षिणा देकर प्रणाम करे। महा पुण्य रूप धर्मोत्सवों को आह्लादपूर्वक यथाकाल, यथा योग, शास्त्रोपदेश के अनुसार करे। नियत आह्लाद उत्पन्न करने वाले व्यापार का नाम उत्सव है।

पुण्यरूप श्रीकृष्ण जन्माष्टमी, पावन श्री राम नवमी, पवित्र एकादशी और पावनी श्रीशिव रात्रि भक्तिपूर्वक करे।

श्री कृष्ण जन्माष्टमी—भाद्रकृष्ण अष्टमी का नाम श्री कृष्ण जन्माष्टमी है। यह श्रीकृष्ण के जन्म की तिथि है। सौर पुराण में कहा है कि पुण्य रूप श्री कृष्ण जन्माष्टमी सब पापों को नाश करने वाली है। श्रीकृष्ण जन्माष्टमी का व्रत श्रेष्ठ और सर्व वांछित फल का देने वाला है।

श्रीराम नवमी—चैत्र शुक्ल नवमी श्रीराम की जन्म की तिथि है। श्रीराम भक्ति तरंगिणी में कहा है कि चैत्र मास के शुक्ल पक्ष में नवमी शुभ दिन में अति पुण्य रूप सुन्दर लग्न में स्वयं हरि श्रीराम

उत्पन्न हुये। पुनर्वसु नक्षत्र सहित यह तिथि सब कामनाओं को देने वाली है। कोटि सूर्य ग्रहण से अधिक श्रीराम नवमी कहलाती है। इस महान् पुण्य दिन में श्रीराम के उद्देश्य से भक्तिपूर्वक जो कुछ कर्म किया जाता है, वह कर्म अक्षय फल देता है। ब्रह्म प्राप्ति की अभिलाषा वालों को इस दिन उपवास, जागरण और पितृओं के उद्देश्य से तर्पण करना चाहिये। उस पवित्र दिन में एकांत में बैठ कर भक्तिपूर्वक राम के उद्देश्य से जप करे और दशमी आजाने तक करे, ऐसा करने से एक पुरश्चरण होजाता है। दशमी के दिन ब्राह्मण और भक्तों को भक्तिपूर्वक अनेक प्रकार का भोजन करावे और दक्षिणा देवे तो कृत्यकृत्य होजाता है। भगवान् राम ऐसा करने से शीघ्र ही प्रसन्न होते हैं। इसमें किंचित् भी संशय नहीं है।

एकादशी—तिथि विशेष। यह तिथि शुक्ल पक्ष में सूर्य मंडल से चन्द्र मंडल के जाने रूप ग्यारहवीं कला क्रिया रूप है यानी इस तिथि को चन्द्र सूर्य मंडल से संमुख और इतनी दूरी पर होता है कि चन्द्र की ग्यारह कला प्रकाशित होती हैं। कृष्ण पक्ष में सूर्य मंडल में चन्द्र मंडल का प्रवेश रूप ग्यारह कला क्रिया रूप है यानी इस तिथि को चन्द्र सूर्य मंडल में इतना प्रवेश कर जाता है कि ग्यारह कला दब जाती हैं। एकादशी को हरिवासर यानी हरि का दिन भी कहते हैं दशमी के दिन कांसे के पात्र में भोजन करना, मांस, मसूर और शहद भोजन करना, दो बार भोजन करना, परिश्रम करना और मिथ्या भाषण वर्जित है। इसके सिवाय पारणा के दिन जिन २ द्रव्यों का निषेध है उनका इस दिन भी निषेध है। एकादशी को दोनों पक्षों में निराहार रह कर समाहित होकर स्नान करें। धुले हुये वस्त्र धारण करे, जितेन्द्रिय होकर सम्यक् विधान से श्रद्धापूर्वक अति समाहित होकर पुष्प, गंध, धूप, दीप, नैवैद्यादिक अनेक प्रकार के उपहारों से विष्णु भगवान् का पूजन करे, जप होम, प्रदक्षिणा, स्तोत्र और नाना प्रकार के नृत्य गीत और मनोरम बाजों से भगवान् को प्रसन्न करके रात्रि में जागरण करे। द्वादशी के दिन शहद, मांस, सुरा, तैल, व्यायाम, क्रोध, मैथुन, पराया अन्न, कांसे के पात्र का भोजन, ताम्बूल, लोभ और निर्माल्य का लंघन ये बारह वर्जित हैं। मिथ्या भाषण, प्रवास, दिन का सोना, अंजन, मसूर, जुवा, हिंसा और चना इत्यादि भी वर्जित हैं। किसी को मारने का नाम प्रवास है।

शिवरात्रि—शिव चतुर्दशी फाल्गुन कृष्ण पक्षकी चतुर्दशी शिवरात्रि कहलाती है। इसमें उपवास प्रधान है। शंकर का वचन है कि स्नान से, वस्त्र से, धूप से, पूजा से, पुष्प से मैं इतना संतुष्ट नहीं होता हूं जितना कि उपवास से होता हूं। शिवमें प्रीति करने वालों को प्रहर २ में रात्रिको शिवजी की पूजा करनी चाहिये और स्नान कराना चाहिये। प्रथम दूध से, दूसरा दधि से, तीसरा घृत से और चौथा मधु से स्नान कराना चाहिये। उपवास के प्रभाव से शिवरात्रि को जागरण करने से और शिवलिंग के पूजन से अक्षय लोकों की प्राप्ति होती है और शिवका सायुज्य प्राप्त होता है, ऐसा स्कंद पुराण में कहा है।

उपरोक्त पवित्र दिनों में उपवास का विधान है। विष्णु के समीप वास करने का नाम उपवास है। संयमादिपूर्वक विष्णु के शरण होना और निराहार रहना भी उपवास कहलाता है, इसलिये विधिपूर्वक उपवास करना चाहिये।

उपवास—दिन रात में भोजन का अभाव। उपवास के दिन अंजन, गन्ध, माला, अलंकार, गात्राभ्यङ्ग, शिरोऽभ्यङ्ग, ताम्बूल, अन्य बल और राग उत्पन्न करने वाले पदार्थ; दिनका सोना, अक्षक्रीडा–जुआ, अष्टांग मैथुन, ये सब उपवास के दिन वर्जित हैं। एकादशी तत्त्व में कहा है कि कांसे के पात्र में भोजन, मांस भोजन; सुरापान, मधुपान, लोभ, मिथ्या भाषण, व्यायाम, व्यवाय—मैथुन, दिनका सोना, अंजन, मसूर भक्षण, दो वार भोजन, मार्ग चलना, यान—सवारी, आयास—श्रम, द्यूत क्रीडा, अभ्यङ्ग, पराया अन्न, तैल, चना, शाक, अधिक घृत, अधिक जल पीना, ये सब उपवास के पूर्व और पिछले दिन में वर्जित हैं। भगवान् का वचन है कि हे नारद। हरिवासर, जन्माष्टमी, रामनवमी और शिवरात्रि को गृहस्थ ब्राह्मणों को भोजन न करना चाहिये, भोजन न करना चाहिये, भोजन न करना चाहिये; जो इन दिनों में भोजन करता है, वह पातकी होता है। यदि उपवास करने में असमर्थ हो तो फल मूल भोजन करे और जल पीले, नहीं तो शरीर नष्ट होजाने से आत्मघाती होता है, इसलिये शरीर का नाश कभी न करना चाहिये। जो पुरुष हविष्य अन्न अथवा विष्णु के नैवेद्य का एक वार भोजन करता है, उसको पातक नहीं लगता और उपवास का फल प्राप्त होता है।

हे भावुक, सर्वदा विष्णु के समीप वास करना ही प्रयोजन है और पुण्य दिन में उपवास करना यह विष्णु के समीप वास करने का साधन है। साल भर के पुण्य जनक व्रत ये हैं—

पुण्य जनक व्रत—(१) वैशाख शुक्ल तृतीया को अक्षय तृतीया का व्रत, (२) वैशाख शुक्ल चतुर्दशी–नृसिंह चतुर्दशी व्रत, (३) वैशाख कृष्ण अष्टमी-त्रिलोचन अष्टमी व्रत, (४) ज्येष्ठ शुक्ल चतुर्थी–उमा चतुर्थी व्रत, (५) आषाढ़ शुक्ल एकादशी—शयन एकादशी व्रत, (६) श्रावण शुक्ल पुर्णिमा, श्रावणी, (७) श्रावणी कृष्ण—श्रीकृष्ण जन्माष्टमी व्रत, (८) भाद्र शुक्ल चतुर्थी–शिवा चतुर्थी व्रत, (९) भाद्र शुक्ल अष्टमी राधा अष्टमी व्रत, (१०) भाद्र शुक्ल एकादशी को पार्श्व परिवर्तन व्रत, (११) भाद्र शुक्ला चतुर्दशी को अनन्त चतुर्दशी व्रत, (१२) भाद्र कृष्णा चतुर्थी को गणेश चतुर्थी व्रत, (१३) आश्विन शुक्ल अष्टमी को महाष्टमी व्रत, (१४) कार्तिक शुक्ला नवमी को दुर्गा नवमी व्रत, (१५) कार्तिक शुक्ला एकादशी को उत्थान एकादशी व्रत, (१६) अग्रहायण शुक्ला द्वादशी को अखंडा द्वादशी व्रत, (१७) माघ शुक्ल पंचमी को श्रीपंचमी व्रत, (१८) माघ शुक्ल एकादशी को भीम एकादशी व्रत, (१९) माघ कृष्ण चतुर्दशी को शिवरात्रि व्रत, (२०) फाल्गुन शुक्ल द्वादशी को गोविन्द द्वादशी व्रत, (२१) चैत्र शुक्ल नवमी को श्रीराम नवमी व्रत इत्यादि। (यहां मासों की गणना महाराष्ट्र पंचांग अनुसार की है) इनके सिवाय अमावस्या, द्वादशी, संक्रांति, विशेष करके प्रशस्त हैं और रविवार भी पुण्य दिन है, इन तिथियों और दिनों में स्नान, जप, होम, देवताओं का पूजन, उपवास और दान पावन है, ऐसा तिथि तत्त्वमें संवर्त का वचन है।

हे भावुक! श्रेयाभिलाषी पुरुष को जितेन्द्रिय होकर नम्र भाव से भक्तिपूर्वक तीर्थ यात्रा करनी चाहिये और तीर्थ में जाकर तीर्थ के सब कृत्य यथा विधि और यथा शक्ति करने चाहिये। पुण्य स्नानादि का नाम तीर्थ है।

तीर्थ यात्रा—तीर्थ गमन को तीर्थ यात्रा कहते हैं। जैसे शरीर के उद्देश्य से कई स्थान पवित्रतम

माने जाते हैं, इसी प्रकार पृथिवी के उद्देश्य से भी कई स्थान पवित्रतम माने जाते हैं। भूमि, जल, तेज, के अद्भुत प्रभाव से दान, मुनि और तीर्थों की पवित्रता मानी जाती है। साढ़े तीन करोड़ तीर्थ वायु पुराण में कहे हैं, उनमें से मुख्य २ इस प्रकार हैं।

तीर्थ—(१) पुष्कर, ब्रह्मा का स्थान है, तीर्थराज नाम से विख्यात है, (२) गङ्गा (कलियुग में गंगा का ही आश्रय करे), (३) नर्मदा नदी, (४) दक्षिण सिंधु, (५) प्रभास, (६) द्वारावती, (७) समुद्र सिंधु का संगम, (८) कुमारिका, (९) केदार, (१०) बदरिक, (११) नैमिषारण्य, (१२) कुरुक्षेत्र, (१३) गंगाद्वार, (१४) सप्त गंग, (१५) प्रयाग, (१६) कनखल, (१७) गंगोद्भेद, (१८) सरस्वती, (१९) लौहित्य, (२०) करतोया, (२१) गंगासागर संगम, (२२) वृन्दावन, (२३) मथुरा, (२४) काशी, (२५) काञ्ची (२६) पुरुषोत्तम क्षेत्र, (२७) अयोध्या, (२८) गोदावरी, (२९) दंडकारण्य, (३०) चित्रकूट पर्वत।

हे भावुक! जहां पुण्य प्राप्त करने के लिये जाते हैं, वह ही तीर्थ कहलाता है, जो कोई तीर्थ में पाप करता है, उसको तीर्थ का फल प्राप्त नहीं होता। प्रायश्चित्त तत्त्व में कहा है कि श्रद्धाहीन, पापात्मा, नास्तिक, संशययुक्त और हेतुनिष्ठ ये पांच तीर्थ फल के भागी नहीं होते। जो सांसारिक हेतु सिद्ध करने के लिये तीर्थ में जाता है, उसको हेतुनिष्ठ कहते हैं। अब मैं तुझे परम तीर्थ बताता हूं, ध्यान देकर सुन—

परम तीर्थ—जहां पर कृपाविद्ध जीव महायोग के प्रभाव से निश्चल होजाता है और महा भक्ति द्वारा शिव रूप होकर शिव के साथ मोद करता है, वह ही परम तीर्थ है। ऐसा परमतीर्थ सत्त्व से पूर्ण प्रभायुक्त, अत्यंत पावन आध्यात्मिक विशुद्ध हृदयाकाश है। जहां पर प्रेम के प्रभाव से ताल, मान और रस के आश्रित महा नृत्य में महाशक्ति और शिव स्वभाव से ही अभिन्न होजाते हैं वह ही परमतीर्थ है। ऐसा परमतीर्थ रसों का आधार, महा आनन्द स्वरूप, नित्य पूर्ण, शिव रूप महा शून्य चिदाकाश है। जहां पर ताल विराम को प्राप्त हो जाता है, उसको 'मान' कहते हैं। संगीत शास्त्र में सम, विषम, अतीत और अनागत; ये चार प्रकार का 'मान' कहा है, जिस शिव स्वरूप योगीन्द्र का सेवन नित्य, निर्मल, परात्पर, चिन्मय, स्वरूपावस्थिति रूप परम तीर्थ में ले जाता है, भगवद्भक्त सर्वदा सेवन करने योग्य है और वह ही महा तीर्थ स्वरूप है। भगद्भक्त के चरण कमल के रेणु से तीर्थ पवित्र होता है ऐसे भक्तों के दर्शन करने से मनुष्य सर्वदा पवित्र होते हैं। भक्त का चित्त कृष्ण चित्त वाला होता है, जनार्दन का चित्त भक्त चित्त वाला होता है। जिसको परम शान्ति की इच्छा हो वह भक्तों का समागम करे, भक्तों का हृदय क्षेत्र मुकुन्द का प्रिय मंदिर है भक्तों के हृदय में वे प्रेम लीला से विनोद करते हैं, भक्त में ब्रह्म की महिमा सर्वदा भासती है भक्त का जीवन शास्त्र का व्याख्यान रूप शुद्ध कर्म है। दुर्विज्ञेय परब्रह्म भक्त के देह से प्रकाशित होता है इसलिये भक्तों का संग मुक्ति का देने वाला है। भक्तों को अपना पराया कोई नहीं होता, सर्व ब्रह्ममय वसुधा ही उनका कुटुम्ब है। भक्त की कृपा प्राज्ञ और जड़ के ऊपर समान ही वर्षती है, उस कृपा को नित्य श्रद्धा और नम्र बुद्धि से भोगना चाहिये। जैसे पावन यमुना गंगा में मिलती है इसी प्रकार मुक्ति की कामना वालों को संत समागम करना चाहिये

हे भावुक ! ऐसे भक्तमहात्माओं से सर्वदा समागम करना चाहिये। निरंकुश और उच्छृ खल कभी न होना चाहिये। जैसा वृक्ष लगाया जाता है वैसा ही फल प्राप्त होता है इसी प्रकार जैसा कर्म करता है वैसा ही फल अवश्य प्राप्त होता है आलसी जड़ बुद्धि जन्मते मरते रहते हैं, उद्यम से धर्म, काम, अर्थ और मोक्ष सिद्ध होते हैं

ठाकुर ने संत की आज्ञा मान ली, संत समागम करता हुआ अपने ग्राम सहित सुखी हुआ।

इत्यति शोभनम्।

सकल चराचरानुचर—भोला।

एक संत का विचार।

एक समझदार और श्रद्धालु पुरुष किसी संत के पास पहुंचा। विधिवत् दंडवत् प्रणाम कर आज्ञा पाकर संत के सन्मुख बैठ गया। थोड़ी देर पश्चात् संत को अपने अभिमुख देखकर नम्रता-पूर्वक पूछने लगा, हे भगवन् ! आपका विचार, अनुभव और ज्ञान बढ़ा हुआ है, कृपा कर मुझे यह समझाइये कि शास्त्रों ने जो जगत् के रूप को बहु प्रकार से निर्णय किया है उनमें से कौन सत्य है।

संतः—हे प्रिय ! जब आत्मा ही सबमें परिपूर्ण है तो निश्चय करके जान सब सच ही कह रहे हैं, क्योंकि जिन्होंने जैसा अनुभव किया है वह ठीक ही है, वही उन्होंने सिद्धान्त करके रख दिया है।

मनुष्यः—श्री महाराज; कोई शास्त्र अद्वैत कोई द्वैत और कोई त्रिमूर्ति को मानता है, सब सच्चे कैसे हो सकते हैं ? यदि कोई वस्तु काली सिद्ध की जावे तो वह श्वेत वर्ण की नहीं हो सकती, एक ही वस्तु का काली और श्वेत होना असम्भव है।

संतः—जिसको जैसा दीखा है, उसने वैसा कहा है और सच कहा है। जैसे लाल रंग के उपनेत्र यानी ऐनक से सारा जगत् लाल दीखता है और अन्य रंग के उपनेत्र से उसीका रंग भासता है, ऐसे ही सब शास्त्रों ने अपने २ अधिष्ठान से जगत् का वर्णन किया है। वास्तव में जगत् माया का भास है, सार वस्तु नहीं; उसे मैं ऐसा वा वैसा क्या बताऊं ? यदि सत्य से सत्य की उत्पत्ति मानी जावे तो सब शास्त्र अपनी २ दृष्टि के अनुसार सच कहते हैं, परन्तु मेरा निश्चय यह है कि ज्ञान के श्वेत वर्ण वाले उपनेत्र से जगत् यथावत् दीखता है और देखते २ सत्य की भावना जब जाती रहती है, तब जो साक्षी शेष रहता है उसको सत्य मानना चाहिये। श्वेत वर्ण की ऐनक यही है कि पक्षपात रहित शास्त्रों को देखना चाहिये, ऐसा करने पर फिर शास्त्रों के देखने से यही प्रतीत होगा कि सब अपने २ दर्जे में ठीक ठीक ही कह रहे हैं। जितने आचार्य हुए हैं वह लोक के उपकारार्थ सुगम करके लिखकर रख गये हैं, इसमें संदेह नहीं है। जो भिन्नता दीखती है वह अपनी बुद्धि का दोष है। बुद्धि राग द्वेष रूपी धूल से धुंधली पड़ गई है, इस राग द्वेष रूपी धूल को हटाकर फिर जब शास्त्रों के पूर्वापर का विचार किया जावे, तब ठीक ठीक पता लग जावेगा, कि हम आचार्यों के गुह्य रहस्य को समझने के लिये समर्थ नहीं थे, जिससे भिन्नता प्रतीत होती थी, वास्तविक में उन्होंने अपनी अपनी दृष्टि के अनुसार सच ही लिखा है, अथवा

यों समझिये कि उन्होंने अधिकारी भेद से सब कुछ लिखा है। जैसा जो अधिकारी हो अपनी योग्यतानुसार उनके वाक्यों में श्रद्धा करके प्रयत्न में लग जावेगा, वह अवश्य परम लाभ को प्राप्त होगा इसमें किंचित् भी संदेह नहीं है।

मनुष्य:—हे भगवन्, मैं आपकी शरण हूं, आप मुझको अपना शिष्य स्वीकार कीजिये, आपके अमृत रूपी वचनों ने मुझको शांति प्रदान की है। हे प्रभो! अब मेरी वारंवार यही प्रार्थना है कि मुझको वही सत्य सत्य उपदेश करिये जिसको ग्रहण करके परम पद को प्राप्त होऊं।

संत:—हे वत्स, सावधान होकर श्रवण कर; मैं तुझको यथार्थ उपदेश करूंगा जिसको मनन, निदिध्यासन करके इसी जन्म में जान कर अमृत को प्राप्त होगा। धीर पुरुष सब भूतों में उसको जानकर इस लोक से अलग होकर अमृत होते हैं और उसको जो नहीं जानेगा वह "महती विनष्टि" महान् विनाश को प्राप्त होगा। जब यह जीवात्मा सावधान होकर आत्म तत्त्व के दीपक से उस ब्रह्म तत्त्व को जो अजन्मा अटल है और संपूर्ण तत्त्वों से निखरा हुआ यानी शुद्ध है देख लेता है, तब वह उस देव को जान कर सर्व बन्धनों से छूट जाता है। शुद्ध स्वरूप का ज्ञान मन से नहीं होता किंतु आत्मा से ही होता है, अतएव यह ज्ञान जीवात्मा के जागने से होता है ऐसा श्रुतियों ने कहा है। इसका फल परम पद है इसी को अमृतत्वादि अनेक शब्दों से कथन किया है। यह जागना ही आत्म बल है, आत्म बल होने से ही परमात्मा का ज्ञान होता है और परमात्म ज्ञान से मोक्ष यानी परम पद की प्राप्ति होती है।

वाणी को मन में रोके और मन को ज्ञानात्मा बुद्धि में रोके, हे शिष्य यहां वाणी से सर्व इन्द्रियों का अर्थ समझना चाहिये। बुद्धिको महान् आत्मा (महत्तत्त्व) में रोके और उस महान् को शांत आत्मा (परमात्मा) में रोके।

हे प्रिय दर्शन जागना यही है कि परमपद की प्राप्ति के अर्थ यानी आत्म कल्याण के निमित्त श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाकर प्रश्न करना और सेवा करना, उनसे श्रवण किये हुए को मनन, निदिध्यासन करके आत्म साक्षात्कार करना, क्योंकि यह आत्मज्ञान, छुरे की तेज धारा के ऊपर से लांघने के समान कठिन है। बुद्धिमान् यानी तत्त्ववेत्ता जिन्होंने परम पद प्राप्त कर लिया है, वे इस मार्ग को दुर्गम बताते हैं।

जो प्राणी शरीर में तादात्म्य अभिमान करके आत्म ज्ञान से रहित होते हैं और बाहर के जो शब्दादि पंच विषय हैं तिनमें प्रेम करते हैं वह सुख के लिये बहुत प्रकार के कर्मों को करते हुए और कर्मों के फल रूपी अनित्य सुखों को भोगते हुए भी आगे सुखों की कामना से कर्म करते ही रहते हैं। वह कर्म में फल की इच्छा से कभी निवृत्त नहीं होते यानी जन्म से जन्मांतरों को प्राप्त होते हैं। जैसे नदी के प्रवाह में पड़े हुए जीव एक गढ्ढे से दूसरे गढ्ढे को प्राप्त होते हैं कभी शांति को प्राप्त नहीं होते; इसी प्रकार कर्म रूपी संसार प्रवाह में पड़े हुए कभी शांति को प्राप्त नहीं होते।

कर्म जड़ रूप हैं, विना आत्म सत्ता के उनमें स्वतः कोई सत्ता नहीं, यज्ञ, तप, उपासना और ध्यानादिक अर्थात् कर्म योग, विना ज्ञान के ऐसे जान, जैसे विना जलके नदी, जैसे विना प्राण के शरीर और विना पुरुष के नारी। केवल कर्म के सहारे पर ही रहने वाले परम पद रूपी परम शांति को प्राप्त नहीं होते।

एक समष्टिचंद्र नाम के जगत् सेठ का पुत्र व्यष्टिचंद्र अपने पिता की आज्ञानुसार अपनी स्त्री को लेने के लिये सुसराल को चला। रास्ते में खाने के लिये पिता ने लड्डू रख दिये थे; परन्तु स्त्री की चाह के आवेश में उसने न खाये और पिताने रास्ते में जो नाई साथ कर दिया था, उससे कहने लगा, भाई सुसराल में चल कर भोजन नहीं करेंगे। नाई बोला, यजमान जी मुझको तो भूख अब ही से लगी है, भला भोजन किये बिना कैसे चैन पड़ेगा। इतना सुन व्यष्टिचंद्र बोला, ले लड्डू खाले परन्तु वहां नहीं खाना। नाई स्वाभाविक ही चतुर होते हैं लड्डू लेकर खागया और विचारने लगा कि हाल भूख की तृप्ति तो हुई वहां चल कर वहां की वहां देखी जायगी। सायंकाल के समय सुसराल पहुँचे सुसराल वालों ने बड़ा सत्कार किया; जब भोजन का समय हुआ तब भोजन के लिये कहा, भोजन के लिये चलिये। व्यष्टिचन्द्र बोला, हमको तो भूख नहीं है हम नहीं खायंगे। सुसराल वालों ने बहुत कुछ कहा परन्तु उसने भोजन करना स्वीकार नहीं किया तब तो वह निराश होकर नाई से कहने लगे, भाई! आप ही समझाइये लड़का पहिले पहिले हमारे घर आया है और इनके आने से पहिले ही हमने अनेक तरह के व्यंजन तैयार किये हैं, यदि यह भोजन नहीं करेगा तो हम लोगों की कुटुम्ब वालों में कितनी हँसी होगी।

नाई ने व्यष्टिचन्द्र को बहुत समझाया परन्तु उसने नहीं माना और नाई से कहने लगा, तू भी भोजन नहीं करना। जब सर्व प्रकार से कह सुनकर लोग थक गये तब वह नाई से बोले, भाई! तू तो भोजन करले। नाई बोला, बहुत अच्छा यजमानजी! नाई को भोजन कराया गया। जब सोने का समय हुआ तब नाई से कहा, लड़के को भीतर घर में ले जायंगे। नाई बोला यजमान जी, यहीं इनके लिये पलंग बिछवाइये, यह कभी आपके यहां आये नहीं हैं भीतर जाने में संकोच करेंगे; क्योंकि आप लोगों से जानकार नहीं हैं। नाई के कथनानुसार पलंग बिछा दिया गया, पलंग के पास ही चने की बुखारी थी जिसका मुख बंद था परन्तु कुछ चने बाहर पड़े हुए थे।

अर्ध रात्रि बीती होगी कि व्यष्टिचन्द्र को जब क्षुधा ने बहुत आतुर किया तब तो उससे नहीं रहा गया और चना मुट्ठी में भरके खाने लगा। कच्चे चनों का जब दांत के नीचे आने से आहट होने लगा; तब विचारने लगा कि नाई यदि जगता होगा तो मेरे कार्य को जान लेगा, फिर थोड़ी देर में यह युक्ति समझ में आई कि चूहों का बहाना कीजिये यह निश्चय कर मुख में चने डाले और छू छू छू करके हाथ को पलंग की पाटियों से ठोकने लगा। यह चरित्र नाई सब देख रहा था, नाई भी चतुर था, उसने भी उसकी युक्ति खंडन करने के लिये विचार किया। ज्यों ही व्यष्टिचन्द्र ने चनों के लेने के लिये हाथ किया और चने भर कर तैयार हुआ ऊपर ले जाने को ही था कि झट नाई ने मुट्ठी भरा हुआ हाथ पकड़ लिया तब तो वह बड़ा लज्जित हुआ; नाईसे कहने लगा, यह बात किसी से प्रगट न करना। नाई बोला हे मूर्ख! मैं तो तेरी ही सत्ता से हूं, भला तेरी दुर्दशा कराने में मुझको क्या लाभ? परन्तु मैं तो तुझको समझाता हूँ कि प्रातःकाल भोजन अवश्य करना इस प्रकार वार्तालाप कर नाई सोगया; पर व्यष्टिचन्द्र को चिन्ता के कारण नींद नहीं आई।

व्यष्टिचन्द्र बिना नाई के साथ लिये सूर्योदय से पहिले ही चुपचाप उठकर एक कांटों की घनी झाड़ी में घुस कर बैठ गया शरीर में कांटे लग जाने से दुखी हुआ और अपनी मूर्खता का पश्चात्ताप करने लगा।

ससुराल वाले आये और नाई से पूछने लगे महमान कहां गये हैं? नाई बोला, यजमानजी बाहर गये हैं। जब बहुत देर होगई तब फिर नाई से पूछा, बाबू साहब कहां चले गये अभी तक नहीं आये, हमने चाय, कलेवा आदि गर्म गर्म बनवाया है ठंडा हो जायगा, उन्होंने रात्रि को भी भोजन नहीं किया है इसलिये हमने और भी शीघ्रता की, वह अभी तक नहीं लौटे। नाई रात की बात मन ही मन में विचार कर कि लज्जा के भय से इधर उधर बैठा होगा। ससुराल वालों से बोला यजमान जी, उनके चारों तरफ ग्रामों में यहां लेन देन है, कहीं किसी क़र्ज़दार ने बिठा लिया होगा, मैं अभी जाकर खोज करके लाता हूँ। ससुराल वालों ने कहा, हम आदमी तेरे साथ भेजते हैं, शीघ्रता से उनको ले आ। नाई बोला यजमान जी, मैं अभी ढूंढ़ कर लाता हूं मैं उनके सब कर्जदारों को जानता हूँ आदमी के भेजने की कोई आवश्यकता नहीं है। नाई चला और थोड़ी देर में व्यष्टिचंद्र के पैरों को पहिचानता हुआ उसी खोजपर झाड़ीमें जा घुसा और उसको वहां सोच में बैठा पाया, नाई अनेक प्रकारसे आश्वासन देकर वहां से ससुराल में ले आया। नाई की चातुर्यता को अपने मनही मन में समझ २ कर और अपनी मूर्खता पर तिरस्कार कर, नाईके आज्ञानुसार बर्ताव कर बड़े सुख चैन से ससुराल में रहकर, अपनी स्त्री को लेकर अपने पिता के घर जो अपना भी घर है आया। पिता की आज्ञानुसार बर्ताव करता रहा और नाई को साथ रखा यहां तक कि नाई को अपने घरमें जाने की आज्ञा कर दी कि नाई की कहीं किसी स्थान पर रोक टोक न हो; ऐसा करने से पिता के पद का अधिकारी हुआ। वही परंपरा लोक में अब भी देखी जाती है कि नाई की रोक टोक कहीं नहीं है यहां तक कि राजाओं के रनिवास में सब की रोक है परन्तु नाई व ब्राह्मणों की रोक नहीं है क्योंकि ये सबके परम हितकारी हैं और इनके बिना जगत् का व्यवहार भी चलता नहीं है। जन्म से लेकर मरणांत तक इनकी आवश्यकता रहती है; यानी सूतक पातक संसार के इन्हीं के द्वारा दूर होते हैं। यदि कोई शंका करे 'बिना इनके अपने आप क्षौर आदि कर लेते हैं' यह ठीक है, परंतु उनका काम आप करने से आपही नाई होगये, यह मानना पड़ेगा।

समष्टिचंद्र ईश्वर है, व्यष्टिचंद्र जीव है, नाई रूपी विवेक है, ससुराल जगत् है, समष्टिचंद्र का घर ही ईश्वर सृष्टि है, जीव जब विवेक की नहीं मानता, तब उसको यही जगत् कांटों का जंगल होजाता है। स्त्री रूपी शांति है, ससुराल के मनुष्य ईश्वर के कर्मचारी हैं, वह ईश्वर के भेजे हुए जीवकी सेवा आदि करते हैं। यह जीव ईश्वर सृष्टि से जब अपनी सृष्टि में आजाता है तब वे ही पदार्थ चने रूप होजाते हैं और शोक भय के देने वाले होजाते हैं। जब व्यष्टिचंद्र जीवने नाई रूपी विवेक की सहायता ली; तब ससुराल रूपी जगत् में सुख चैन से रहा और शांति रूपी स्त्री को प्राप्त किया, विवेक द्वारा ईश्वर सृष्टि में पहुँचा और जीव सृष्टि को नष्ट किया कुछ काल ईश्वर सृष्टि में रहकर अन्त में परमपद का अधिकारी हुआ।

हे शिष्य, उपरोक्त दृष्टान्त को सुनकर समझ में आया होगा कि विवेक द्वारा ही जीव कर्म करतां हुआ व्यवहारिक अवस्था को सुगमता से व्यतीत कर, परमपद का अधिकारी होता है और विना विवेक द्वारा यह व्यवहारिक अवस्था कांटों का जंगल हो, शोक और भय को देता है। इसलिये विवेक का आश्रय कर ईश्वर सृष्टि में जीवन् मुक्त होकर विचर। इस मार्ग में इतना परिश्रम भी नहीं होता इसीको विहंगम मार्ग भी कहते हैं यदि अन्तःकरण शुद्ध हो, तो बहुत थोड़े काल में सिद्धि होजाती है। अन्य कोई मार्ग ऐसा सुलभ नहीं है क्यों सर्व देश व काल स्वतः प्राप्त है, इसके लिये किसी वाह्य त्याग की अपेक्षा नहीं है। निश्चय मात्र को दृढ़ करना है, मैं नहीं हूं इसको आंतर त्याग समझना चाहिये। जब मैं नहीं हूँ तब फिर कौन है ? और यह जगत् क्यां वस्तु है ? मेरा इससे क्या संबंध है ? जब वह इनमें से एक एक का निर्णय करता जाता है तब उसे यह निश्चय होता है कि मेरा अहंकार मिथ्या है, तीन गुण और पंच इन्द्रियों के समूह का विकार है, ऐसा प्रतीत होने पर सबका त्याग हो जाता है। विवेकी पुरुष विचार कर सकते हैं कि जब अहंकार का नाश निश्चय होगया, तब देह और सारे जगत् का अधिष्ठान कहां बन सकता है ? यह बात लोक में भी प्रसिद्ध है कि "आप मरे जग प्रलय"।

शिष्य कुछ काल अभ्यास कर गुरु के प्रति अनुभव को कहने लगा कि हे गुरो, आपके प्रसाद से मेरा मोह नष्ट होगया, एक आत्मा सर्व में व्यापक है, भेद अभेद कुछ नहीं है और भाव अभाव भी कहा नहीं जा सकता, जो आश्चर्य अवस्था हो उसका कैसे प्रकार वर्णन होसके। वेदान्त का सार ज्ञानका सिद्धांत और विज्ञान का रहस्य यही है कि मेरी आत्मा स्वभाव से ही निराकार और सर्वव्यापी है। तू, मैं, वह जगत् का विभाग कल्पित है, एक शिवरूप ही है ऐसा मेरा निश्चय है, सर्व परम प्रेमास्पद यही परमपद है, यही मोक्ष है।

स्वामी आत्मानन्द।

प्रत्याहार।

योगवेत्ताओं का मत है और वेदवेत्ताओं की भी सम्मति है कि प्राणायाम सिद्ध होजाने पर जिसने किया प्रत्याहार, उसके सब शत्रु जाते हैं हार, उस का बेड़ा होजाता है पार, वह होजाता है सर्वाधार, निराधार। प्राणायामके पीछे जो नहीं करता प्रत्याहार, जीती हुई बाजी जाता है हार, उसकी नौका डूबती है मंझधार, डूबता उछलता रहता है बारंबार, कभी नहीं होता भव से पार, जब अर्जुन भूल गया प्रत्याहार, तब अर्जुन का लंगोटिया यार, चाबुक सवारोंका भी चाबुक सवार कहने लगा है ललकार, अरे भाई ! तू भूल गया है प्रत्याहार, जभी तुझे चढ़ आया है काला बुखार, सिंह होकर भी होगया है सयार, बन गया है मूर्ख यद्यपि है हुशियार। धनुष दिया है हाथसे डाल, शरीरकी भी नहीं रही है संभाल। चित्त हो रहा है वेकल, आंखों में से आंसू रहे हैं निकल। तू है रणधीर, वीरों में प्रसिद्ध वीर, फिर क्यों होता है अधीर। थोड़ा कर विचार, मनमें धैर्य धार। इन्द्रिय और विषयों का जहां हुआ संग, बुद्धिमान् भी हो जाता है मतिभंग। संगी बन जाता आत्मा जो है असंग तथा अनंग। देखने लगता है विपरीत, मानने लगता है उष्ण शीत। कभी होता

है सुखी, कभी होता है दुखी। कभी इन्द्रियों से विषयों का संयोग होता है कभी वियोग होता है, संयोग वियोग होता ही रहता है, न सदा संयोग रहता है न हमेशा वियोग रहता है। जैसे दिन के बाद रात होती है, रात के बाद दिन होता है, दिनके पीछे फिर रात आती है, जैसे जाड़ा गया गर्मी आती है, गर्मी गई वर्षात आती है, वर्षात गई फिर जाड़ा आजाता है। जैसे काल का परिवर्तन होता ही रहता है, इसी प्रकार इन्द्रिय और विषयों का संयोग और वियोग भी होता ही रहता है, इसलिये यह संयोग वियोग अनित्य है। ऐसे अनित्य संयोग वियोग को सहन कर लेना ही बुद्धिमानों का काम है, इनके सहन करने में बड़ा आराम है, क्योंकि जिस पुरुष को ये संयोग वियोग विचलित नहीं कर सक्के, वह सुख दुःख में यानी हर्ष शोक में समान रहता है। आनन्द स्वरूप आत्मा समान है, न उसमें मान है, न अपमान है, न सर्दी है न गर्मी है, न भूख है न प्यास है, न वृद्धि है न नाश है, किंतु सर्वदा एक रस अखंड है, न उसमें पिंड है न ब्रह्मांड है, ध्रुव है, शाश्वत है, अक्षय है, अच्युत है, नित्य है, निरंजन है, ऐसे विरूपम निरीह, अव्यय आत्माको विषयों के संयोग वियोग में समान रहने वाला पुरुष प्राप्त होता है, इसलिये हे अर्जुन जीत को, हार को, हानि को, लाभ को समान जान कर खड़ा होजा हिम्मत मत हार, कर तीरों की बौछार, जैसे श्रावण भादों के मेघ वर्षते हैं मूसलाधार, इसी प्रकार छोड़ बाण के पीछे बाण लगातार, करदे कौरवों की सेना को चार चार, भीष्म पितामह करेंगे तुझे प्यार, द्रोणाचार्य करेंगे तेरी प्रशंसा पुकार पुकार। तेरे सब शत्रु मान जांयगे हार हार, हो जायगा तू भूमंडल का सरदार, स्वर्ग की अप्सरायें करेंगी तेरे ऊपर फूलोंकी बौछार, तेरी कीर्ति अटल रहेगी जबतक हैं गंगा जमुना धार। भोगी तेरी कथा गावेंगे, योगी तेरा नाम लेकर समाधि लगावेंगे, मुमुक्षु सुनेंगेतेरा गीत, ज्ञानी सुनावेंगे तेरी गाथा पुनीत। जिसकी इन्द्रियां हुईं वस में, शूरता भर जाती है उसकी नस नस में, जीत लेता है माया का दुर्ग, प्राप्तकरता है स्वर्ग, जिसको कहते हैं वेदवेत्ता अपवर्ग। पार्थ के निस्वार्थी सारथी ने इस प्रकार प्रत्याहार की महिमा गाई है अर्जुन के मोह की हुई सफाई है, ज्ञान में ज्ञान आई है, निशंक हो कर करी लड़ाई है, शत्रुओं पर विजय पाई है।

जिस प्रत्याहार का माहात्म्य योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अपने सखा अर्जुन से कहा है, उसका स्वरूप भगवान् सूत्रकार इस सूत्र से कहते हैं:—

स्वविषयाऽसम्प्रयोगे चित्तस्वरूपाऽनुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः॥ (२। ५४)

अर्थः—अपने २ विषयों के साथ इन्द्रियों का संनिकर्ष—मेल न होने से चित्त के रूप के समान इन्द्रियों की जो अवस्थिति है, उसका नाम प्रत्याहार है। भाव यह है कि प्राणायाम द्वारा चित्त स्थिर हो जाता है, स्थिर हुये चित्त का विषयों के साथ मेल नहीं होता। चित्त का विषयों के साथ मेल न होने से इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग नहीं होता। इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग न होना ही इन्द्रियों का चित्त स्वरूपानुकार है और वह ही प्रत्याहार है। इन्द्रियों का स्वभाव चित्त के अनुसारी होता है, इन्द्रियों का स्वरूप नष्ट नहीं होता, इसलिये "अनुकार इव" कहा है। चित्त के निरोध होने से इन्द्रियां स्वयं ही स्थिर हो जाती हैं, इन्द्रियों के निरोध के लिये अन्य उपाय नहीं करना पड़ता, यह बात भी इससे सूचित होती है। इसी बात का

दृष्टांत से समझाते हैं:—जैसे उड़ते हुये मधुकर राज को देख कर अन्य सब मधुमक्षिकायें उसके अनुसारी होकर उसके पीछे उड़ने लगती हैं और मधुकर राज के बैठ जाने पर सब बैठ जाती हैं, इसी प्रकार इन्द्रियां भी चित्त के अधीन होने से जब चित्त विषयों के संमुख होता है तो इन्द्रियां विषयासक्त हो जाती हैं और जब चित्त निरुद्ध हो जाता है तो इन्द्रियां भी निरुद्ध हो जाती हैं चित्तके निरुद्ध होने से इंद्रियोंका निरुद्ध होजाना ही प्रत्याहार है।

प्रत्याहार का फल सूत्रकार इस सूत्र से कहते हैं:—

"ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्" ॥ (२।५५)

अर्थ:—इस प्रत्याहार से इन्द्रियों की अत्यन्त वशीकारता हो जाती है। वश्यता नाम इन्द्रियजय का है, शब्दादि विषयोंमें इन्द्रियोंकी आसक्ति न रहना इन्द्रियजय कहलाता है। कोई २ कहते हैं कि शास्त्र से अविरुद्ध विषयों का सेवन और शास्त्र निषिद्ध विषयों का परित्याग ही इन्द्रियजय है। कोई यह कहते हैं कि स्वयं विषयों के अधीन न होकर किंतु विषयों को अपने अधीन रखकर विषयों के साथ इन्द्रियों का संयोग ही इन्द्रियजय है। कोई कहते हैं कि राग द्वेष रहित सुख दुःख शून्य शब्दादि विषयों का ज्ञान होना इन्द्रियजय है। जैगीषव्य योगी का मत है कि चित्त के एकाग्र होने से शब्दादि विषयों में इन्द्रियों की एक दम प्रवृत्ति न होना इन्द्रियजय रूप वश्यता है। यह जैगीषव्य की इन्द्रिय वश्यता ही सूत्रकार सम्मत परमावश्यता है। इस से यह सिद्ध हुआ कि चित्त का निरोध होने से दूसरे प्रयत्न बिना ही इन्द्रियों का जो निरोध है, वह ही परमावश्यता है और वह ही प्रत्याहार का फल है। भाव यह है कि जैसे यतमान नाम वैराग्य के लाभ होने पर भी अन्य इन्द्रियजय के लिये एकेन्द्रिय संज्ञ वैराग्य की अपेक्षा होती है, जैसे प्राणायाम द्वारा चित्त के निरोध होने से वाह्य इन्द्रियों के निरोध के लिये अन्य प्रयत्न की अपेक्षा नहीं है किंतु स्वतः ही परमावश्यता हो जाती है।

श्रुति भगवती प्रत्याहार और प्रत्याहार का फल रथ के रूपक से इस प्रकार समझाती है। यह शरीर रथ है और आत्मा यानी जीवात्मा इस शरीर रूप रथ का रथी यानी रथ द्वारा भोग अथवा मोक्ष रूप स्थान को जाने वाला रथ का स्वामी है। इस शरीर रूप रथ को हांकने वाली बुद्धि रूप सारथी है। शरीर रूप रथ में इन्द्रियां रूप घोड़े जुड़े हुये हैं। मन इन घोड़ों की वाग डोर है। इन्द्रिय रूप घोड़ों सहित इस शरीर रूप रथ को बुद्धि रूपी सारथी, भोक्ता रूप इस जीवात्मा को विषय रूप मार्ग में होकर ले जा रही है। जो सारथी चतुर होता है और घोड़े शिक्षित होते हैं, तो वे रथी को गंतव्य स्थान पर आराम से पहुँचा देते हैं और यदि सारथी चतुर नहीं होता और घोड़े भी अशिक्षित होते हैं, तो रथी को गंतव्य स्थान पर नहीं पहुंचाते; किंतु बीच में गड्ढे अथवा कूप में गिरा देते हैं। इसी प्रकार जिस शरीर रूप रथ का बुद्धि रूप सारथी चतुर होता है और इन्द्रिय रूप घोड़े शिक्षित होते हैं, तो वे जीव रूप रथी को मोक्ष रूप गंतव्य स्थान पर पहुंचा देते हैं और यदि बुद्धि रूप सारथी चतुर नहीं होता और इन्द्रिय रूप घोड़े भी शिक्षित नहीं होते, तो वे जीव को मोक्ष रूप गंतव्य स्थान पर नहीं पहुंचाते किंतु विषय भोग रूप कूप में गिरा देते हैं। विषय भोग रूप कूप महा भयानक है, उसमें पड़ कर जीव महान् दुःख का अनुभव करता है, जन्मता है, मरता है, जन्म मरण में महान् कष्ट पाता है; बीच में भी

आधि, व्याधि, भूख प्यास, सुख दुःख, प्रिय संयोग वियोग इत्यादि अनेक कष्ट हैं, जिनका अनुभव करके जीव रोता चिल्लाता, माथा कूटता रहता है और कभी भी सुख—शान्ति नहीं पाता। मोक्ष परम सुख रूप है, दुःख का वहां नाम तक नहीं है किंतु अक्षय सुख रूप है। मोक्ष को ही वेदवेत्ता विष्णु का परम पद कहते हैं, अपवर्ग कैवल्य, निर्वाण भी उसी का नाम है। जो प्रत्याहार सिद्ध कर लेता है, वह सहज ही परम सुख रूप मोक्ष को प्राप्त होता है और सर्वदा के लिये सुखी होता है।

जैसे सूत्रकार का मत है कि मन के वश हो जाने पर इन्द्रियां स्वयं वश में हो जाती हैं और मनके निग्रह विना इन्द्रियां वश नहीं होती हैं इसी प्रकार श्रुति का आशय है कि मन रूपी बागडोर बुद्धि रूपी सारथी के हाथ में आ जाने से इन्द्रियां वश हो जाती हैं और मन रूपी बागडोर हाथ आये विना इन्द्रियां रूप घोड़े वश नहीं होते। यह ही बात सब के हितार्थ अर्जुन के निःस्वार्थी सारथी भगवान् ने कही है कि हे अर्जुन! इन्द्रियां बलवान् हैं, यत्न करने वाले विद्वान् के मन को भी बलात्कार से खेंच लेती हैं यानी जब तक पूर्ण यत्न नहीं किया जाता तब तक इन्द्रियां वशमें नहीं आतीं। जब तक मन वशमें नहीं आता तब तक पूर्ण यत्न नहीं किया जा सक्ता। मन या तो प्राणायाम से वश में आता है अथवा विषयों में दोष दर्शनपूर्वक राग द्वेष छोड़ देने से वश में आता है। प्राणायाम का वर्णन पूर्व में हो चुका है। राग द्वेष का त्याग विषयों में दोष दर्शन से होता है। जब मन विषयों में दोष देखता है, तो फिर विषयों की तरफ नहीं जाता, जब मन विषयों में राग द्वेष नहीं करता, तो इन्द्रियां भी विषयों में नहीं जातीं। इस प्रकार प्रत्याहार की सिद्धि हो जाती है। प्रत्याहार सिद्ध हो जाने पर धारणा, ध्यान और समाधि के सिद्धि होने में कुछ देर नहीं लगती। इस विषय में एक योगारुरुक्षु योगी का दृष्टांत सुनाते हैं।

एक योगारुरुक्षु योगीने एक पुस्तकमें यह लिखा हुआ देखा कि मुख, कान, आंख बंद कर लेनेसे सारा भेद खुल जाता है यानी सम्यग्ज्ञान होजाता है। विचारेने बहुत दिनों तक मुख बंद रक्खा यानी मौन धारण किया कुछ विशेष लाभ न हुआ, मात्र वाणी का निरोध होने से वाणी पर कुछ अधिकार होगया। फिर कान बंद किये, रुई कान में दिये रहे, कुछ फल न हुआ। किसी नादाभ्यासी से अपना वृत्तान्त कहा तो उसने नाद पर ध्यान रखने को कहा। ऐसा करने से घंटा वीणा आदि का शब्द सुनने लगा, फिरभी शान्ति न हुई; पश्चात् आंखें बंद कीं, आंखों में पट्टी बांधे रहे, कहीं जावे आवे नहीं, इससे संसारी पुरुषों का संग न होने से संसार के संस्कारों की वृद्धि न हुई परन्तु दिखाई कुछ न दिया उलटा अंधेरा दीखने से मन घबराने लगा। पश्चात् उसने तीनों कामछोड़ दिये एक दिन उसको एक संत मिले। संतने शारदा देवी का मंत्र बताकर प्रेमपूर्वक जाप करने और सत्संग करने को कहा; बुद्धि कुछ कुछ शुद्ध होगई थी, संत के वाक्य पर विश्वास कर आदर सत्कार सहित प्रेमपूर्वक मंत्र का जप करने लगा और साथ २ साधु महात्माओं का संग भी करता रहा। मंत्र के जप और सत्संग के प्रभाव से एकाग्रता बढ़ती गई और एकाग्रता होने से मन में प्रसन्नता भी बढती गई। अब तो वह एकांत में बैठ कर मनन और निदिध्यासन करते हुये दृढ़ बोध को प्राप्त हुआ।

पाठक! श्रोत्रादि दश इन्द्रियां चोर हैं और मन चोरों का सरदार है। इन ग्यारह ने मिल कर आपके

आत्मा रूप धन को लूट रक्खा है और लूटते रहते हैं; क्योंकि इनके द्वारा जीव सर्वदा बाहर जगत् को ही देखता है अपने अन्तरात्मा को नहीं देख सक्ता। जब प्राणायाम द्वारा अथवा राग द्वेष रहित व्यापार द्वारा यह मन वश में आजाता है तो इन्द्रियां भी स्वाधीन होजाती हैं। इन्द्रियों का स्वाधीन होना ही प्रत्याहार है। प्रत्याहार सिद्ध होने के बाद जीव इन चोरों के धोखे में नहीं आता किंतु इनको अपनी इच्छानुसार चलाता है। ऐसा होने से चाहे विचार, सांख्य द्वारा, चाहे योग द्वारा; धारणा, ध्यान और समाधि तीनों सिद्ध कर लेता है और सम्यक् ज्ञान को प्राप्त होता है। सम्यक् ज्ञान से अज्ञान हट जाता है और स्वयं प्रकाश स्वयं सिद्ध आनन्द स्वरूप आवरण रहित आत्मा प्रकाशता है इसी का नाम मोक्ष है, यह ही अपवर्ग है, इसी को विष्णु पद कहते हैं, यह विष्णु पद प्रत्याहार सिद्ध हुये बिना प्राप्त नहीं होता किन्तु प्रत्याहार सिद्ध होने पर ही प्राप्त होता है।

सकल चराचरानुचर-भोला।

सदाचार।

(गतांकसे आगे)

अर्थाकारा भवेद्बृत्तिः,
फलेनार्थं प्रकाशते।
अर्थ ज्ञानं विजानाति,
सएवार्थः परःस्मृतः ॥२३॥

अर्थः—बुद्धिकी वृत्ति पदार्थ के आकार की होती है और फल यानी चिदाभास से पदार्थ का ज्ञान होता है, (परन्तु) पदार्थ और पदार्थ के ज्ञान आदि को जो जानता है वही परम अर्थ (तत्त्व) है।

विवेचन।

अब चिदाभास और आत्मा की भिन्नता को दिखलाते हैं। जब किसी पदार्थ का बोध करना होता है तब अन्तःकरण में से बुद्धि की वृत्ति इन्द्रिय द्वारा पदार्थ तक पहुंचती है और वहां रहा हुआ स्वाभाविक आवरण है; उसका भंग होकर पदार्थ के आकार की बुद्धि वृत्ति होती है। पदार्थ के पृथक् बोध के निमित्त बुद्धि वृत्तिकी आवश्यक्ता है, वह द्रव रूप होने से पदार्थ की आकृति को धारण करती है। यहां तक बुद्धिकी वृत्ति का कार्य होता है। अब पदार्थ का विशेष रूप से प्रकाश करने वाले चिदाभास की आवश्यक्ता है, यह चिदाभास बुद्धि वृत्ति के अग्र भाग में होता है। बुद्धि की वृत्ति ने व्यक्ति रूपसे धारण किये हुए पदार्थका बोध होता है-ज्ञान होता है। उसको फल कहते हैं और उसका प्रकाश करने वाले चिदाभास को फल चेतन कहते हैं। इन दोनों से पदार्थ का बोध होता है, बुद्धि की वृत्तिऔर चिदाभास परस्पर सहायक हैं। बुद्धि और बुद्धि की वृत्ति आत्मा नहीं है और बुद्धि की वृत्ति में रहा हुआ विशेष चेतन चिदाभास भी आत्मा नहीं है। बुद्धि, बुद्धि की वृत्ति चिदाभास आदि को जो एक साथ प्रकाशता है, अपने अपने कार्य में नियुक्त होनेके योग्य बनाता है, जो सब में रहा हुआ सामान्य अखंड प्रकाश स्वरूप है वह आत्मा है। यह ही वास्तविक ज्ञान स्वरूप तत्त्वरूप है और सब से परे है।

शंका:—आत्मा के प्रकाश से जब सब प्रकाशित होते हैं; तब पृथक् पदार्थ के बोध में चिदाभास की

क्या आवश्यक्ता है ? ये भी आत्मा-कूटस्थ से प्रकाशित होते हैं ऐसा मानने में क्या आपत्ति है; ? एक स्वयम् प्रकाश का अस्तित्व होते हुए दूसरे चेतन को मानने की क्या आवश्यक्ता है ?

समाधानः—कूटस्थ-आत्मा सम सत्ता स्वरूप है, उसका प्रकाश सामान्य है वह पृथक्ता का प्रकाशने वाला नहीं है, उसका प्रकाश उत्पत्ति और नाश वाला नहीं है, क्योंकि जितनी पृथक्ता है वह मायिक है, माया के पदार्थ को मायिक प्रकाश की आवश्यक्ता है, बुद्धि और बुद्धि की वृत्ति मायिक और परिछिन्न है वह परिछिन्न के आकार को धारण करती है और उसको प्रकाशने वाला भी माया का और परिछिन्न होना चाहिये; सो ऐसा चिदाभास है इससे इन दोनों की आवश्यक्ता है । जैसे स्वप्न में जाग्रत जगत के सूर्य का प्रकाश काम नहीं देता वहां तो स्वप्न के सूर्य का प्रकाश ही काम में आता है इसी प्रकार मायिक पदार्थ के बोध में मायिक चिदाभास ही काम में आता है । स्वप्न का सूर्य व्यष्टि स्वप्न सृष्टि का सूर्य है और उसकी अपेक्षा जगत का कई गुणा अधिक है, तो भी स्वप्न में काम नहीं आता; इसी प्रकार आत्म प्रकाश भी मायिक भिन्नता वाले पदार्थ के काम में नहीं आता । आत्म प्रकाश तो मायिक पदार्थ होय, न होय या नष्ट हुआ होय सब समय में होता है इसी से वह पृथक् बोध का हेतु नहीं है ।

सब को सामान्यता से एक साथ प्रकाशने वाला आत्मा पर शब्द से कहा जाता है पर शब्द का अर्थ परमहै । इन्द्रिय से न जाना जाय ऐसा वह अगोचर है वह वास्तविक अर्थ-ज्ञान स्वरूप है । वृत्ति सहित जब आत्मा का बोध होता है तब वह परोक्ष ज्ञान कहलाता है और वृत्ति रहित तत्त्व में तत्त्व का बोध होता है तब वह अपरोक्ष ज्ञान है । माया और मायिक पदार्थ के ज्ञान से कतृत्व भोक्तत्व की निवृत्ति नहीं होती । जब वृत्ति ब्रह्माकार होजाती है तब वृत्ति रहते हुए भी सब कुछ परमात्मा ही है भेद कुछ नहीं है, भेद का भाव माया की उपाधिकृत है ऐसे निश्चय से समभाव में टिकता है तब वह स्वस्वरूप का बोध वाला जीवन्मुक होता है ।

वृत्ति व्याप्यत्व मेवास्तु,
फलव्याप्तिः कथं भवेत् ।
स्वप्रकाश स्वरूपत्वात्,
सिद्धत्वाच्च चिदात्मनः॥३४॥

अर्थः—ब्रह्माकार वृत्ति भले हो परन्तु ब्रह्म में फलव्याप्ति किस प्रकार होगी ? क्योंकि ब्रह्म तो स्वयं प्रकाश स्वयं सिद्ध और चिद्रूप है ।

विवेचन ।

जगत के पदार्थों के ज्ञान के हेतु बुद्धि की वृत्ति को व्याप्त करने का कथन किया है और चिदाभास रूप फल व्याप्ति का कथन भी किया है, अब आत्मा के बोधके लिये वृत्ति व्याप्ति की आवश्यक्ता है फल व्याप्ति की नहीं; उसी का कथन करते हैं । ज्ञाताको ज्ञान करने के लिये वृत्ति को पदार्थ में व्याप्त करनी पड़ती है । जैसे बाहर के पदार्थ के ज्ञान में वृत्ति को व्याप्त करनी पड़ती है, ऐसे आन्तर आत्मा के ज्ञानमें भी वृत्ति को व्याप्त करनी पड़ती है क्योंकि ज्ञाता दोनों में ही समान है । जब तक वस्तु के आकार की बुद्धि की वृत्ति नहीं होती तब तक बाहर के पदार्थ अथवा आत्मा का ज्ञान होना असंभव है इसीसे

आत्म बोधमें भी बुद्धि की वृत्तिको व्याप्त करनी पड़ती है। जैसा पदार्थ होता है वैसा उसका प्रकाश करने वाला होता है; आत्मा स्वयम् प्रकाश होने से बाहरके पदार्थके समान चिदाभासके प्रकाश रूप फल व्याप्ति की उसमें आवश्यक्ता नहीं है। परिछिन्न विशेप अज्ञान के पदार्थ में विशेप चैतन्य की आवश्यक्ता होती है, चिदाभास विशेप चैतन्य है, उसकी आवश्यक्ता स्वयम् प्रकाश सामान्य चेतन को जानने में नहीं होती।

दो प्रकार के प्रकाश हैं, एक अज्ञान रहित स्वयम् प्रकाश, दूसरा अज्ञान के भिन्न भिन्न पदार्थों का प्रकाश करने वाला चिदाभास। स्वयम् प्रकाश आत्मा है और दूसरा प्रकाश चिदाभास अनात्मा है। अज्ञान के पदार्थ के व्यक्तित्व का बोध चिदाभास से होता है। जब बाहर के पदार्थ का बोध होता है तब दोनों के प्रकाश में होता है। सामान्य आत्माका प्रकाश सबमें एकसा होने से पदार्थ की भिन्नता को प्रगट नहीं करता, अस्तित्वरूप से एकत्व को ही कायम रखता है। 'है' इतना ही आत्माका प्रकाश है और "अमुक" ऐसा पदार्थका प्रकाश चिदाभास से होता है। प्रमाता ज्ञाता होता है और चिदाभास के प्रकाश से ज्ञान होता है।

आत्म ज्ञानमें भी चिदाभास युक्त प्रमाता (जीव) साक्षात्कार के समय में ज्ञाता होता है, इसीसे वृत्तिको व्याप्त करने की आवश्यक्ता है। फल जो आत्मा है वह अज्ञान से आवृत्त नहीं है इसीसे उसमें चिदाभास का उपयोग नहीं। आत्म ज्ञानके पश्चात् बुद्धिकी वृत्तिका भी लोप हो जाता है तब एक अखंड अद्वैत तत्त्व ही शेप रहता है। आत्म साक्षात्कार के समय बुद्धिकी वृत्तिके साथ चिदाभास है परन्तु वहां उसका उपयोग नहीं है। जैसे सूर्यको देखने में सूर्य प्रकाश के साथ दीपक का प्रकाश होय तो भी वहां दीपक का कुछ उपयोग नहीं है।

शंका:—आत्मा पारमार्थिक सत्ताका है और बुद्धि व्यवहारिक सत्ताकी है। व्यवहारिक सत्ता वाली बुद्धि आत्मा से व्याप्त किस प्रकार होगी ? चिदाभास युक्त बुद्धि—प्रमाता ज्ञाता भी किस प्रकार हो ? उसको यानी प्रमाता को आत्माका ज्ञाता माना जाय तो जो ज्ञान हुआ वह मिथ्या होगा, क्योंकि व्याप्त बुद्धि और ज्ञाता प्रमाता दोनों ही मायिक हैं उन करके हुआ तत्त्वका ज्ञान भी मिथ्या होगा।

समाधान:—आत्मा पारमार्थिक सत्ताका है तो भी व्यक्तिरूप नहीं है अखंड है इसीसे व्यवहारिक सत्ताकी बुद्धि अखंडाकार हो सकती है यदि पारमार्थिक सत्ताका पदार्थ व्यक्तिरूप होता तो बुद्धि उसके आकार की हो नहीं सकती थी; आत्मा ऐसा न होने से बुद्धिकी वृत्ति व्याप्त हो सकती है और आत्माका ज्ञान जीव जो प्रमाता है; उसको होता है यह प्रमाता भी व्यवहारिक है इससे व्यवहारिक बुद्धिका उपयोग हो सकता है। आत्मा से बुद्धि की वृत्ति व्याप्त होकर आत्मा के प्रकाश में प्रमाता को आत्मा का ज्ञान होता है, यह ज्ञान मिथ्या नहीं होता क्योंकि इस ज्ञान से प्रमाता अपने को मिथ्या समझ कर, ज्ञान करता है यदि प्रमाता सत्य रह कर आत्मा का ज्ञान करता होय तो वह मिथ्या होय। प्रमाता अपने व्यक्तित्व को आत्म ज्ञान में कायम नहीं रखता इस से प्रमाता ने अपने विकारी अंश का बाध करके आत्म स्वरूप को जाना है और साक्षात्कार के बाद बुद्धि वृत्ति का लय होजाने से अद्वैत तत्त्व ही रहता है। बुद्धि वृत्ति का आत्माकार होना प्रमाता को ज्ञान,

कराने के लिये है। आत्म ज्ञान में स्वप्रकाश आत्मा होने से प्रमाता अपने में रहे हुए चिदाभास का उपयोग वहां नहीं देखता इससे चिदाभास युक्त व्यक्तित्व का त्याग करके अपना ज्ञान करता है इसी से यह ज्ञान मिथ्या नहीं है, अखंड ज्ञान करता है। व्यक्ति व्यक्ति का ज्ञान करता तो मिथ्या होता, अपने जीव भाव का बाध करके ज्ञान करता है और साक्षी से मुख्य समानाधिकरण करता है।

लौकिक ज्ञान से आत्मा की विलक्षणता है। त्रिपुटि से समझते हुए त्रिपुटि का बाध करना है इससे सब मनुष्यों को सुलभ नहीं है। जिसके मल और विक्षेप दोष निवृत्त हुए हैं जो अधिकारी के लक्षणों से युक्त होकर गुरु कृपा द्वारा आवरण दोष को क्षीण करनेकी सामर्थ्य वाला होता है उसको ही आत्मा का आत्म रूप से अखंड बोध होता है।

वृत्ति व्याप्ति का उपयोग मुमुक्षुओं को आत्म बोध में उपयोगी होने से अद्वैत प्रक्रिया में कथन किया गया है, उस द्वारा जब निर्विकल्पता को प्राप्त होजाता है तब वहां वृत्ति व्याप्ति भी नहीं रहती। दृढ़ बोध के पश्चात् उत्थान काल में वृत्तियों के उत्थान और लय को जीव देखता रहता है परन्तु उसे पूर्व के समान सत्य नहीं समझता। जल के तरंग और बुदबुदे के समान समझता है और वृत्तियों के उत्थान से भी अद्वैत तत्त्व में किसी प्रकार के विकार को न होता हुआ समझ कर साक्षी रूप से ही रहता है। स्वयम् प्रकाश जिसका स्वरूप है ऐसा आत्म चैतन्य स्वयम् सिद्ध है उसे सिद्ध करने वाला अन्य कोई भी नहीं है। शास्त्र और संतों का कथन प्राप्त की प्राप्ति कराने का नहीं है। प्राप्त आत्मा अज्ञान से जो अप्राप्त के समान हो रहा है उस अप्राप्ति की निवृत्ति करने का सब कथन है।

निर्विकल्प में जिसने दृढ़ आत्म बोध कर लिया है ऐसा ज्ञानी पुरुष प्रारब्ध से व्यवहार करता है तब भी उसकी ज्ञान समाधि खंडित नहीं होती वह दीखता हुआ मनुष्य भी मनुष्य नहीं है ब्रह्मस्वरूप है शास्त्र उसे जीवन्मुक्त कहते हैं।

अर्थादर्थे यथावृत्ति-
गंतुं चलति चांतरे।
अनाधारा निर्विकारा,
यादशा सोन्मनी स्मृता ॥३५॥

अर्थः—एक अर्थ से दूसरे अर्थ में वृत्ति जाती है तब बीच में निराधार और निर्विकार अवस्था होती है वही उन्मनी कही जाती है।

विवेचन।

मन की वृत्तियों की दौड़ विषयों में हुआ करती है, आन्तर बाहर और एक विषय से दूसरे विषय में इस प्रकार संकल्प और विकल्प की परंपरा चलती रहती है। एक विषय की तरफ मन की वृत्ति गई तब उसको उस विषय का संकल्प कहते हैं और जब उस संकल्प को छोड़कर दूसरे विषय में वृत्ति जाती है; तब प्रथम जो संकल्प था वह विकल्प हो गया और जिसमें लगी वह संकल्प हुआ। वर्तमान वृत्ति का ग्रहण संकल्प है और उसको छोड़ देना विकल्प है। इसीसे मन का स्वरूप संकल्प विकल्पात्मक कहा जाता है।

मन से ही संसार और संसारकी दशा है। जिस समय मन वृत्ति से रहित होता है तब स्वरूप शेष रहता है इसीसे इस समय स्वरूप का स्पष्ट बोध हो सकता है। आत्मा के बोध को रुकावट करने वाली

मन की वृत्तियां हैं, इससे वृत्तियों की संधि-क्षण में मन वृत्ति रहित होने से तत्त्व रहता है। एक वृत्ति जाकर दूसरी वृत्ति उठती है तब दोनों वृत्तियों के मध्य में संधि है, आन्तर से बाहर जाने में संधि है, जाग्रत अवस्था को छोड़ कर स्वप्नावस्था को प्राप्त होय तब मध्य में संधि है, बाहर से आन्तर जाने में संधि है; इस प्रकार मन की वृत्तियां जहां जहां बदलती हैं वहां वहां संधि होती है। संधि की अवस्था में शुद्ध आत्म तत्त्व होने से उस स्थिति को उन्मनी कहते हैं, उन्मनी ब्रह्म स्वरूप है। मन की वृत्तियां जगत के पदार्थ का अवलंबन लेकर होती हैं और विकार से युक्त होती हैं। उन्मनी अवस्था में जगत के पदार्थों का कोई आधार नहीं है इससे वह निराधार है ऐसे ही यह स्वरूप स्थिति होने से वृत्तियों के समान आकार वाली न होकर निराकार है।

स्वरूप का बोध इस स्थिति में होता है; चाहे योगाभ्यास से यह स्थिति प्राप्त की होय अथवा वृत्तियों के संधिके विचार—विवेक से प्राप्त की होय। प्राण और मन दोनों से ऐसी स्थिति को प्राप्त कर सकते हैं। योगाभ्यास से प्राण द्वारा इस स्थिति की प्राप्ति होती है और विवेक से मन द्वारा इस स्थिति की प्राप्ति होती है। विचार से प्राप्त की हुई यह उन्मनी अधिक समय आरम्भ में नहीं रहती तो भी स्वस्वरूप का बोध को करा ही देती है। जिसको यह स्थिति हमेशा रहती है उसे विदेह कैवल्य कहते हैं। विदेह कैवल्य वाला शरीर युक्त दीखता है परन्तु उसे अपने और पराये शरीर चेष्टा आदि का बोध नहीं रहता, संसार की तरफ से उसका भान चला गया होता है और अद्वैत रूप हो जाता है, उसके शरीर की चेष्टा पर प्रेरित अभ्यासवश बोध रहित होती है, उसका मन अमन हो जाता है, नाम रूप की प्रतीति रहित होता है यानी जगत और उसकी भिन्नता की हमेशा के लिये निवृत्ति हो जाती है, वह ब्रह्म स्वरूप ही होता है।

आनन्द स्थिति का नाम उन्मनी अवस्था है। विचार द्वारा उन्मनी अवस्था की क्षणिक प्राप्ति में भी स्वरूप का बोध हो जाता है और योगाभ्यास की उन्मनी विचार की अपेक्षा अधिक समय रहती है तो भी विचार युक्त को ही बोध होता है। विचार रहित योगाभ्याससे प्राप्त कीहुई उन्मनी भी उन्मनी का फल नहीं देती। ऐसी स्थिति-समाधि तो एक प्रकार की जड़ता है। बोध न होने से उत्थान काल में शान्ति को देने वाली नहीं होती। वृत्ति निरोध को यहां उन्मनी कहा है, वृत्ति निरोध प्राण निरोध से हो जाता है। योग शास्त्र में उन्मनी का लक्षण इस प्रकार दिखलाया है:—

मन का सुषुम्ना नाड़ी के मध्य में प्रवेश होकर मन स्थिरता को प्राप्त हो जाता है उसे उन्मनी कहते हैं। अथवा नेत्र के तारे का नासिका के अग्र भाग में संयोग करने से और कुछ भृकुटियों को ऊपर कर देने से आन्तर बाहर लक्ष रहित होता है, तब एक क्षणमात्र के लिये उन्मनी अवस्था की प्राप्ति होती है उस स्थिति को दृढ़ता के साथ समझ लेना ही परम-पद की प्राप्ति का उपाय है। सूर्य और चन्द्र (इड़ा पिंगला) नाड़ी में चित्त को न लगाते हुए दोनों की संधि में मन को लगाने से उन्मनी अवस्था की प्राप्ति होती है। इस प्रकार के कथन से भी उन्मनी को संधि स्थान की ही प्राप्ति होती है।

उन्मनी अवस्था से बोध को प्राप्त करने वाले दो प्रकार के होते हैं। जब वह उत्थान काल में वृत्ति सहित व्यवहार करता है तब जीवन्मुक्त कहलाता

है और उन्मनी को प्राप्त करने के पश्चात् अथवा कुछ काल बाद प्रारब्ध क्षीण होकर बहुत न्यून कर्म रह जाते हैं, तब उन्मनी से संसार में उत्थान ही नहीं होता वह विदेह कैवल्य कहलाता है, विदेह मुक्त भी उसी को कहते हैं। जीवन्मुक्त और विदेह मुक्त में अन्तर नहीं है. दोनों को ज्ञान है, शरीर के पश्चात् दोनों ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त होते हैं लोक में व्यवहार के हेतु जीवन्मुक्त की वृत्ति रहती है और विदेह कैवल्य निर्विकल्प होता है।

चित्तं चिच्च विजानीयात्,
तकार रहितं यदा।
तकारो विषयाध्यासो,
जपारागो यथामणौ ॥३६॥

अर्थः—जैसे जपा कुसुमका रंग मणि में दीखता है वैसे ही विषय का अध्यास चित्त में होता है, इस चित्त में से तकार रूप विषयाध्यास को हटा कर चित्त को जानो।

एक चिद्रूप तत्त्व में नाम रूपात्मक जगत् की प्रतीति किस प्रकार होती है उसको समझाने के लिये अध्यास का विवेचन करते हैं। जैसे मणि हमेशा श्वेत होता है उसमें रंग है नहीं परन्तु गुड़हर के पुष्प के समीप होने से वह सुर्ख दीखता है। यह सुर्खी गुड़हर के पुष्पकी है; गुड़हर के पुष्प की सुर्खी का अध्यास मणि में होता है यानी मणि में सुर्खी अध्यस्त है और मणि सुर्खीका अधिष्ठान है। न होता हुआ भी जिसमें दीखे उसे अधिष्ठान कहते हैं और जो दीखता है वह अध्यस्त कहा जाता है। अध्यस्त की सत्ता अधिष्ठान से भिन्न नहीं होती, सुर्खी का भिन्न अस्तित्व नहीं है मणिका अस्तित्व सुर्खी में है, इसीसे मणि सुर्ख दीखती है। इसी प्रकार संपूर्ण जगत और उसके नाम रूप का भास चिद्रूप में होता है, चिद्रूप से नाम रूप की सत्ता भिन्न नहीं होती; चिद्रूप अधिष्ठान है और नाम रूपयुक्त जगत उसमें अध्यस्त है।

चित्त शब्द में अधिष्ठान और अध्यस्त को दिखलाते हैं। चित् और त मिलकर चित्त हुआ है, चित् चिद्रूप है और चित्त विषय का अध्यास वाला प्रतीत होता है यह विषय का अध्यास चित् रूप अधिष्ठान में त मिलने से है यानी तकार सब प्रपंच है। जैसे तकार रूप गुड़हर की लाली चित् रूप मणि में मिलते ही मणि सुर्ख दीखती है; इसी प्रकार चित् में तरूप प्रपंच का आरोप होने से प्रपंचयुक्त चैतन्य दीखता है। उस तकार रूप प्रपंच को चित्त में से हठा देने से स्वच्छ चित् रहता है इस चित् को ही चिद्रूप समझना चाहिये, यह ही एक अखंड तत्त्व है और सबका अपना आप आत्म स्वरूप है।

तकार रूप संपूर्ण प्रपंचकी प्रतीति भ्रान्ति से है; जब पदार्थ का यथार्थ बोध होता है तब भ्रान्ति की निवृत्ति होजाती है। तत्त्व बोध होने में प्रपंच का अध्यास ही रुकावट करता है इससे उसका बाध करने से स्वस्वरूप की प्राप्ति होती है।

अध्यास दो प्रकार का है। उपाधियुक्त अध्यास और निरुपाधिक अध्यास। निरुपाधिक अध्यास में पदार्थ का यथार्थ बोध होते ही अध्यासरूप दृश्य की अप्रतीति होती है। जैसे अन्धेरे में पड़ी हुई रस्सी का सर्प रूप से भान तब तक ही होता है, जब तक रस्सी का यथार्थ बोध नहीं होता; रस्सी के बोध होते ही सर्प नहीं दीखता। उपाधियुक्त अध्यास में

तो पदार्थ का यथार्थ बोध होने पर भी मिथ्या हुई प्रतीति बनी रहती है, जैसे आकाश में नीला रंग दीखता है। आकाश में रंग नहीं है ऐसा बोध होने पर भी रंग दीखता ही है। रंग दीखता हुआ भी मिथ्या ही हुआ है। इसी प्रकार चिद्रूप में जगत और विषयों का अध्यास उपाधिक है इसीसे मिथ्या होकर दीखता रहता है। तत्त्व ज्ञानी को 'जगत है ही नहीं' ऐसे निश्चय के साथ 'एक अखंड परब्रह्म है' ऐसा बोध होता है ज्ञान होने के पश्चात् जीवन्मुक्त मिथ्या जगत को देखता है और निरुपाधिक विदेहमुक्त तो जगत को देखता भी नहीं। तकार रूप अध्यास को दूर करके स्वस्वरूप को समझना चाहिये।

अपूर्ण।

ब्रह्मसूत्र भाषा दीपिका।

(गतांक से आगे)

कुछ श्रुतियों में आग की चिनगारियों का उदाहरण देकर जीवात्मा की परमात्मा से उत्पत्ति होती है ऐसा कहा है, तो कुछ श्रुतियों में अविकारी परमात्मा का ही शरीर में प्रवेश होने से उसीको जीवावस्था प्राप्त होती है ऐसा कहा है; जीव उत्पन्न होता है ऐसा वहां कथन नहीं है।

पूर्वपक्ष:—ऐसी अवस्था में जीव की उत्पत्ति मानना चाहिये, क्योंकि जीव की ब्रह्म से उत्पत्ति मानने ही से प्रतिज्ञा का विरोध नहीं होता। एक के जानने-यह सब जाना जाता है इस प्रतिज्ञा का जब सब कुछ ब्रह्म ही से उत्पन्न हुआ हो तब ही विरोध नहीं होता। यदि जीव कोई पृथक् तत्त्व माना जाय तब इस प्रतिज्ञा का विरोध होता है और अविकारी परमात्मा को ही जीव नहीं मान सकते, क्योंकि उन दोनों के लक्षण भिन्न हैं। परमात्मा पाप रहित आदि धर्मों से युक्त है और जीव उसके विरुद्ध धर्मों से युक्त है। वैसे ही, जीवका विभाग होने से भी वह विकार ही सिद्ध होता है। जैसे आकाश आदि विभाग-वाले होने से वे सब विकार ही कहे जाते हैं और उनकी उत्पत्ति भी बताई गई है। इसलिये पुण्य पाप कर्मों से युक्त, सुख दुःख वाले और प्रति शरीर में विभक्त ऐसे जीवों का भी प्रपंच की उत्पत्ति के समय उत्पत्ति होना आवश्यक है। श्रुतिमें भी 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्युच्चरन्त्येव मेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः।' (बृ० २।१।२०) (जिस प्रकार अग्नि से छोटी छोटी चिनगारियां निकलती हैं उसी प्रकार परमात्मासे प्राण उत्पन्न होते हैं) इस प्रकार प्राण आदि भोग्य पदार्थों की उत्पत्ति कह कर आगे 'सर्व एव आत्मानो व्युच्चरन्ति' (ये सब ही आत्मा उत्पन्न होते हैं) इस प्रकार कहते हुए जीवात्माओं की पृथक् उत्पत्ति बताई है। 'यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिंगा सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाऽक्षराद्विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥' (मुंड० २। १। १) (हे सौम्य, जैसे प्रदीप्त अग्नि से उस अग्नि के समान रूपवाली हजारों चिनगारियां उत्पन्न होती हैं, वैसे ही, उस अक्षर से भी नाना प्रकार के जीव उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं।) इस श्रुति में भी जीवों की उत्पत्ति और प्रलय का कथन किया गया है। क्योंकि इस श्रुति में 'उसके समान' ये शब्द हैं और अक्षर के समान जीवात्मा ही है, क्योंकि दोनों चेतन हैं। यदि किसी बात के लिये श्रुति प्रमाण का अभाव हो तो उससे श्रुति में कही हुई किसी बात का निषेध नहीं कर सकते। यह नियम है कि

अन्य श्रुतियों में जिसका विरोध न हो ऐसी कोई अधिक बात किसी श्रुति में कही हो तो उसी के अनुसार सब श्रुतियों का (उपसंहार अर्थ निर्णय) करना योग्य है। इसलिये परमात्मा का शरीरों में प्रवेश कथन करने वाली श्रुति का भी 'तदात्मानं-स्वयमकुरुत' (तै० २। ७। १) (उसने स्वयं अपने को व्यक्त किया) इत्यादि श्रुतियों के समान परमात्मा को जीव रूप विकारावस्था प्राप्त होती है इसी प्रकार का अर्थ करना चाहिये। इससे जीवात्मा की उत्पत्ति होती है यही सिद्ध होता है।

समाधानः—जीवात्मा की उत्पत्ति नहीं होती; क्योंकि श्रुति में उसकी उत्पत्ति का कथन नहीं है। बहुत स्थान पर उत्पत्ति प्रकरण में इसकी उत्पत्ति का कथन नहीं मिलता। यदि कहो कि, किसी श्रुति में कोई बात न हो इसलिये उससे अन्य श्रुति में जो कथन है उसका निषेध नहीं होता; यह प्रथम कह चुके हैं, तो वह तुमने ठीक ही कहा है। परन्तु हम कहते हैं कि जीव की उत्पत्ति संभवती ही नहीं। श्रुति से ही उसका नित्यत्व सिद्ध होता है। सूत्र में 'च' यानी 'और' शब्द है उससे जीव के अजत्व आदि धर्म अभिप्रेत हैं, इससे भी जीव का नित्यत्व ही सिद्ध होता है। इसलिये अज और नित्य ऐसे जीव की उत्पत्ति नहीं संभवती।

अब जीव के नित्यत्व की श्रुतियां बताते हैं:— "न जीवो म्रियते" (छां० ६। ११। ३) (जीव मरता नहीं); "स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म।" (बृह० ४। ४। २२) (ऐसा यह महान्, अज, जरा मरण रहित, अमर और निर्भय आत्मा ब्रह्म ही है); "नजायते म्रियते वा विपश्चित्" (कठ० २। १८) (ज्ञानी उत्पन्न नहीं होता या मरता भी नहीं); "अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः" (कठ० २। १८) (यह अज, नित्य, शाश्वत और पुराना है); "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" (तै० २।६।१) (उसको यानी शरीर को उत्पन्न करके उसी में वह प्रविष्ट हुआ); "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नाम रूपे व्याकरवाणि" (छां० ६। ३। २) (ऐसे जीव रूप से प्रवेश करके मैं नाम रूप को व्यक्त करूं); "स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः" (बृ० १।४।७) ऐसे इस आत्मा ने नखाग्र तक प्रवेश किया); "तत्त्वमसि" (छां० ६। ८। ७) (वह ब्रह्म तू है); "अहं ब्रह्मास्मि" (बृह० १। ४। १०) (मैं ब्रह्म हूँ); "अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः" (बृह० २। ५। १९) सबका अनुभव करने वाला यह आत्मा ब्रह्म है), इत्यादि श्रुतियां जीव के नित्यत्व का प्रतिपादन करके जीव की उत्पत्ति का निषेध करती हैं।

पूर्वपक्ष में कहा था कि जीव विभाग युक्त होने से विकार रूप है इसलिये उसकी उत्पत्ति माननी चाहिये। उसका उत्तर यह है कि जीव स्वयं विभाग युक्त नहीं है। क्योंकि 'एको देवः सर्व भूतेषु गूढः सर्व व्यापी सर्व भूतान्तरात्मा' [श्वे० ६। ११] (सब भूतों में गुप्त रूप से रहने वाला सर्वव्यापक और सब भूतों का अन्तरात्मा रूप ऐसा देव एक है) ऐसी श्रुति है। जीव का जो विभाग प्रतीत होता है वह बुद्धि आदि की उपाधि से उसी प्रकार भासता है, जिस प्रकार घट आदि की उपाधि से आकाश के विभाग प्रतीत होते हैं। शास्त्र में भी कहा है कि 'सवा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः'। [बृ० ४।४। ५] (ऐसा यह आत्मा ब्रह्म है वही विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षु मय और श्रोत्रमय है); यह श्रुति भी एक और अविकारी ऐसे ब्रह्म रूप ही जीव है

और वह विज्ञानमय आदि अनेक भावमय है यही दिखाती है। अब श्रुति में जीव को विज्ञानमय आदि इसलिये कहा है कि जीव का विज्ञान आदिसे भिन्न ऐसा स्वरूप व्यक्त नहीं है; वह सदा ही विज्ञान आदि से आच्छादित प्रतीत होता है। जैसे किसी कामी पुरुष को वह स्त्रीमय है ऐसे ही समझना चाहिये। श्रुति में कहीं कहीं जीव के उत्पत्ति प्रलय कहे हैं, वे भी जीव के उपाधि के संबंध से ही कहे हैं यानी उपाधि की उत्पत्ति से इसकी उत्पत्ति और उपाधि के लय से इसका लय कहा जाता है, ऐसे समझना चाहिये। 'प्रज्ञानघन एव एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति" (बृ० ४ । ५ । १३) (प्रज्ञान घन रूप आत्मा ही इन भूतों से निकलता है और उनके पीछे नाश को प्राप्त होता है; मरने के पश्चात् उसको कुछ भी ज्ञान नहीं रहता।), इस श्रुति का भी यही अभिप्राय है। फिर इसी स्थान पर, प्रलय उपाधि का ही होता है, आत्मा का नहीं, यही बात "मा भगवान्मोहान्तमापीपदन्न वा अहमिमं विजानापि न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति" (भगवान् ने मुझे मोह में डाला है, मरने के पश्चात् उसको कुछ भी ज्ञान नहीं रहता यह मेरी समझ में नहीं आया) इस प्रकार का प्रश्न करके श्रुति ने आगे प्रतिपादित किया है कि, 'नवाअरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति।' [बृह० ४ । ५ । १४] (अरी, तू मोह में पड़े ऐसा मैं कुछ भी नहीं कहता, यह आत्मा अविनाशी है, इसके स्वरूप का नाश नहीं होता, केवल उनका विषयों से संबन्ध छुट जाता है)। अविकारी ब्रह्म ही जीवावस्था को प्राप्त होता है ऐसा मानने से भी (एक आत्मा के जानने से सब कुछ जाना जाता है, इस) प्रतिज्ञा का बाध नहीं होता। जीव ब्रह्म का भेद कहा है वह भी उसकी उपाधि के लिये ही है; क्योंकि, 'अतऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि।' [बृ० ४ । ३ । १५] (अब आगे मोक्ष प्राप्ति के लिये ही (उपाय) कहो) इस श्रुति में प्रकृत विज्ञानमय आत्मा को संसार के कोई भी धर्म नहीं होते, ऐसा कह कर वह परमात्म स्वरूप है यही प्रतिपादित किया है। इसलिये जीव की उत्पत्ति भी नहीं होती और नाश भी नहीं होता, यह सिद्ध हुआ।

१२ ज्ञाधिकरण।

ज्ञोऽत एव ॥ २ । ३ । १८ ॥

अन्वय और अन्वयार्थः—अतएव

इसलिये [जीवात्मा] ज्ञ नित्य ज्ञान स्वरूप है।

टीकाः—दर्शनकारों में मत भेद होने के कारण यहां यह संदेह होता है कि जीवात्मा वैशेषिकों के मतानुसार स्वयं अचेतन होते हुए उसका ज्ञान यह धर्म है अथवा सांख्यों के मत के अनुसार वह नित्य ज्ञान स्वरूप है। यहां प्रथम यह पक्ष होता है।

पूर्वपक्षः—जीवात्मा का ज्ञान गुण बाहर से प्राप्त हुआ है। जैसे अग्नि और घटका संयोग होजाने से उससे घटमें रक्तता—लाली आदि गुण प्राप्त होते हैं, वैसे ही आत्मा और मन का संयोग होजाने पर ज्ञान गुण की उत्पत्ति होती है। यदि जीवका ज्ञान गुण नित्य ही होता तो सोये हुए को मूर्छित को तथा पिशाच ग्रस्त ऐसे मनुष्य को भी ज्ञान बना रहता। परन्तु पीछे पूछने पर 'हमको कुछ भी ज्ञान नहीं था' ऐसा वे कहते हैं और स्वस्थ होने पर फिर ज्ञानयुक्त होते हैं ऐसा देखने में आता है। अर्थात् जीवको कभी कभी ज्ञान होता है इसलिये उसका ज्ञान आगंतुक ही है।

अपूर्ण

REGD. NO. A. 1821

वेदान्त केसरी की छपी हुई पुस्तकें ।

वेदान्त केसरी मासिक पत्र—नववाँ साल चालू है वार्षिक मूल्य ३) वर्ष के मध्य में ग्राहक होने वालों को वर्ष के आरंभ से सब अंक लेने होंगे मई मास से वर्ष आरंभ होता है नमूने की कापी मुफ्त नहीं मिलती। एक प्रति का मूल्य पाँच आना।

वेदान्त केसरी—पिछले सातों साल की जिल्द (प्रत्येक बारह अङ्कों की) तय्यार हैं, थोड़ी कापियां शेष रही हैं। श्रीमच्छङ्कराचार्य्य के अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण वेदान्त की प्रक्रिया आगई है।

अधिकारी के लक्षण, गुरु-शिष्य लक्षण, पंचकोष विवेक, जगत्, जीव, ईश्वर, ब्रह्म, माया, अविद्या, ज्ञान, अज्ञान, आसक्ति, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, महावाक्य, जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति; स्वाभाविकता से उठा करते हैं ऐसे चौबीस प्रश्नों के उत्तर, ब्रह्मसूत्र भाषादीपिका, (दूसरे अध्याय के दूसरे पाद के सूत्र २० तक) विवेचन सहित मणिरत्नमाला और चर्पट पंजरिका, छोटे छोटे उपनिषद्, स्तोत्र आदि अनेक लेख आये हैं, जो बोलचाल की बहुत ही सीधी भाषा में युक्तिपूर्वक समझाये गये हैं।

प्रत्येक जिल्द में विषय को स्पष्ट करके समझाने वाले क़रीब पिचहत्तर २ दृष्टान्त दिये गये हैं। बहुत ही रोचक होने से पढ़ने को लेने के बाद पुस्तक छोड़ने को चित्त नहीं चाहता। सामान्य भाषा जानने वाले भी बारम्बार पढ़ने से आत्मबोध प्राप्त कर सकते हैं। यह पुस्तकें रागी और त्यागी सब के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं, वार्ता के प्रेमियों के मित्र हैं, मुमुक्षुओं के प्राण हैं और ज्ञानियों को विनोदरूप हैं।

आज तक सभी भाषाओं में प्रकट हुए वेदान्त के ग्रन्थ, मासिक पत्र, लेख और व्याख्यानादि सब से ही यह पुस्तकें विलक्षण हैं।

प्रत्येक पुस्तक का मूल्य ३) सम्पूर्ण सैंट यानी आठों पुस्तक का मूल्य २४)

कौशल्य गीतावली भाग १—२—वेदान्त केसरी में आई हुई कविताओं का संग्रह। कविता रोचक सरल और ज्ञान के संस्कारों को प्रदीप्त करने वाली तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन रूप हैं। प्रत्येक भाग का मूल्य ।≠)

वेदान्त स्तोत्र संग्रह—श्रीमच्छङ्कराचार्य्य आदि के प्रतिभाशाली वेदान्त के मुख्य २ चुने हुए २१ स्तोत्रों का संग्रह किया गया है और प्रत्येक स्तोत्र का अर्थ भी सरल भाषा में दिया गया है, जो थोड़े पढ़े हुए मुमुक्षुओं को भी नित्य पाठ और श्रवण में अति उपयोगी है। कई संन्यासियों ने भी इसे बहुत पसंद किया है। मूल्य प्रति पुस्तक ॥) सब पुस्तकों का डाक खर्च ग्राहकों को देना होगा।

व्यवस्थापक—वेदान्त केसरी, बेलनगंज—आगरा।

केसरी प्रेस, बेलनगंज आगरा में सूरजभान गुप्त द्वारा मुद्रित और प्रकाशित।

REGD. NO. A. 1821

ॐ

वेदान्त केसरी

मासिक पत्र

पुस्तक ६ } ज्येष्ठ सं० १९८७ जून १९३० { अंक २

श्लोक—तावद्गर्जन्तिशास्त्राणि जम्बुका विपिनेयथा।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद्वेदान्त केसरी ॥

अर्थ—जब तक महाबलवान् सिंह गर्जना नहीं करता तब तक वन में स्याल खूब गर्जना करते हैं। इसी प्रकार जब तक वेदान्त सिद्धान्त की गर्जना नहीं होती तभी तक अन्य लौकिक शास्त्रों की गर्जना हुआ करती है।



सम्पादक—
ब्रह्मचारी विष्णु,
बेलनगंज—आगरा।

वार्षिक मूल्य ३) एक प्रति का मूल्य।–)

विषयानुक्रमणिका ।

वेदान्त केसरी के नियम ।

(१) यह पत्र प्रत्येक अंग्रेजी महीने के आदि में निकलता है ।

(२) वेदान्त विषय का विवेचन करना इसका मुख्य प्रयोजन है ।

(३) वार्षिक मूल्य ३) अग्रिम लिया जाता है । विना मूल्य पत्र किसी को नहीं भेजा जाता है ।

(४) एक अङ्क का मूल्य ।=) नमूने का अङ्क पांच आने के टिकट आने पर भेजा जाता है ।

(५) जिन ग्राहकों के पास पत्र न पहुँचे उनको १५ तारीख तक सूचना देनी चाहिये ।

(६) एक वर्ष से कम के ग्राहक नहीं किये जाते । मध्य में ग्राहक होने वालों को चालू साल के आरम्भ से सब अङ्क लेने होंगे ।

(७) चिट्ठी लिखते समय प्रत्येक ग्राहक को अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखना चाहिये ।

ॐ

वेदान्त केसरी

पुस्तक ९ | ज्येष्ठ सं० १९८७ जून १९३० | अङ्क २

नमन।

हरिगीत छन्द।

[१]

संसार में है दीखता, फिर भी नहीं संसार में।
व्यवहार करता है सभी, फसता नहीं व्यवहार में॥
है देहधारी भासता, पर वस्तुतः है रहित तन।
उस प्राज्ञ जीवन्मुक्त को करता नमन हूँ फिर नमन॥

[२]

सुनता हुआ सुनता नहीं, नहिं बोलता भी बोलता।
नहिं देखता भी देखता, नहिं डोलता भी डोलता॥
चलता हुआ सा दीखता, फिर भी नहीं करता गमन।
उस प्राज्ञ जीवन्मुक्तको, करता नमन हूँ फिर नमन॥

[३]

नहिं जागता भी जागता, सोता हुआ सोता नहीं।
हंसता हुआ हंसता नहीं, रोता हुआ रोता नहीं॥
त्यागी महा त्यागे नहीं, लेता न कुछ करता ग्रहण।
उस प्राज्ञ जीवन्मुक्तको, करता नमन हूँ फिर नमन॥

[४]

अभ्यास करता योग का, फिर भी न करता योग है।
भोक्ता सभी कुछ भोगता, फिर भी न करता भोग है॥
विक्षिप्त सा है दीखता, पर है सदा एकाग्र मन।
उस प्राज्ञ जीवन्मुक्तको, करता नमन हूँ फिर नमन॥

[५]

संलग्न रहता सांख्यमें, नहिं सांख्य से कुछ काम है।
अनुरक्त अपने आपमें, निष्काम आत्माराम है॥
मौनी महा ध्यानी महा, नहिं ध्यान करता नहिं मनन।
उस प्राज्ञ जीवन्मुक्तको, करता नमन हूँ फिर नमन॥

[६]

साम्राज्य भोगे वाह वा, भिक्षा करे तो वाह वा।
हाथी चढ़े तो वाह वा, पैरों फिरे तो वाह वा॥
चाहे रहे बस्ती नगर, चाहे बसे सुंसान वन।
उस प्राज्ञ जीवन्मुक्तको, करता नमन हूँ फिर नमन॥

[७]

बहु युक्तियां है जानता, जाने घने दृष्टांत है।
पर पक्ष खंडन में कुशल, मंडन करे सिद्धांत है॥
है सिद्ध योगी पूर्ण, फिर भी अज्ञ बालक सा चलन।
उस प्राज्ञ जीवन्मुक्तको, करता नमन हूँ फिर नमन॥

[८]

शिव २ कभी रटता रहे, जपता कभी हरि नाम है।
उच्चार करता ॐ का हो जाय फिर उपराम है॥
करता रहे है चिंतवन, फिर भी न करता चिंतवन।
उस प्राज्ञ जीवन्मुक्तको, भोला नमनकर फिर नमन॥

मलदोष।

संसार की अनेक प्रकार की विचित्रताके साथ में यह भी एक विचित्रता है कि कोई भी मनुष्य अपनी बुद्धि को न्यून और मलिन मानने के लिये सामान्यता से तैयार नहीं होता; किसी खास प्रसंग में ही वह बुद्धि में न्यूनता का आरोप करता है, फिर भी न्यूनता का हेतु अन्य को ही मानता है, अपना दोष कबूल नहीं करता। विचार करने से इसका कारण यह मालूम होता है कि अधिकता से मनुष्य की प्रवृत्ति बहिर्मुख हुआ करती है और बुद्धि जब बाहर के पदार्थों का निर्णय करने का कार्य करती है, तब अपनी पूर्णता को मान कर ही करती है, क्योंकि अपने को अपूर्ण माने तो बाहरके पदार्थों का निर्णय करने में वह असमर्थ होती है। इसीसे अपने आंतरिक हित का निर्णय करने में वह कुंठित हो जाती है। दोष का भान नहीं, होने से दोष की निवृत्ति का प्रयत्न नहीं होता और प्रयत्न के अभाव से दोष भी निवृत्त नहीं होता।

सामान्यता से सब मनुष्य का यही हाल होता है। जब मलिनता न्यून हो जाती है तब हम जैसा निर्णय दूसरोंके लिये करते हैं वैसा ही निर्णय अपने लिये भी करना चाहिये ऐसा विचार होता है और प्रयत्नसे विचार दृढ़ होकर अपने हिताहितका निर्णय करनेमें समर्थ होता है। शास्त्रोक्त शुभ कर्म, उपासना, धार्मिक विद्या पठन और सदाचरण आदिक से अन्तःकरण की मलिनता दूर होती है और शुद्ध निर्णय करने की बुद्धि प्राप्त होती है।

जीव में स्वाभाविकता से ही मलिनता रूप मल दोष, चंचलता रूप विक्षेप दोष और अज्ञान रूप आवरण दोष होता है। जब मनुष्य इन संपूर्ण दोषों को निवृत्त कर लेता है तब शुद्ध होकर स्वस्वरूप को प्राप्त होता है। यह परमपद ही अनेक योनियों में जन्म धारण करनेके पश्चात् मिले हुए मनुष्य जन्म का सार्थक और पर्यवसान है। अन्तःकरण के सब प्रकारके विकारों से रहित होकर परब्रह्ममय होना ही मोक्ष है। मलिन अन्तःकरण बन्धन का स्वरूप है और अन्तःकरण की निर्मलता ही मोक्ष है। जब अन्तःकरण पूर्ण निर्मल होता है तब वह अन्तःकरण की संज्ञा में न रहकर चिद् स्वरूप होजाता है।

पाप को मल दोष कहते हैं। शास्त्र निषिद्ध, लोक विरुद्ध और प्रकृति विरुद्ध कर्मों का नाम ही पाप है। इससे पाप भी अनेक प्रकार के हैं। दुष्ट कर्म, कुकर्म, हिंसा कर्म आदिक सब पाप रूप है, सब पाप के कार्य कामवशः मोहवश या लोभवश हुआ करते हैं। जैसे बहुत समय की दुर्गंधि युक्त कीचड़ दृढ़ होती है वैसे पाप भी दृढ़ हो जाता है। मल दोष एक जन्म का ही हो यह बात नहीं है, अनेक जन्मों के पाप कर्मादि से बढ़ा हुआ होता है; जैसे उसे बढ़ने में बहुत समय लगा है वैसे उसे निवृत्त करने में भी अधिक समय लगता है। स्थूल शरीर मृत्यु को प्राप्त होकर बदला करता है, नया नया हुआ करता है, नया शरीर में भी मलदोष मालूम होता है इससे जाना जाता है कि मल-पाप का सम्बन्ध केवल स्थूल शरीर से नहीं है। मलदोष अनेक जन्मों का इकट्ठा हुआ होने से स्थूल शरीर का नहीं है। मल-दोष सूक्ष्म शरीर के सहारे रहता है। अन्तःकरण सूक्ष्म शरीर का अंग है और सूक्ष्म शरीर अनादि अविद्या कृत है। स्थूल शरीर के मृत्यु में भी जीव भाव अन्तःकरण सहित वैसे का वैसा ही बना रहता है केवल उसमें से कछ संस्कारों की ही बदली होती

है। इससे सिद्ध होता है कि मलदोष अन्तःकरण में रहता है। जैसे कोई दुर्गंधि युक्त पदार्थ मटके में भरा हुआ हो; वैसे स्थूल शरीर रूप मटके में अन्तः-करण रूप पदार्थ में पाप रूप मल दुर्गंधि भरी हुई है। जैसे मटके में से दुर्गंधि बाहर भी फैलती है इस प्रकार स्थूल शरीर में से भी मलदोष की दुर्गंधि सूक्ष्म बुद्धि वाले को मालूम होती है।

क्रिया द्वारा, इन्द्रिय द्वारा और मन द्वारा मलदोष बढ़ता रहता है। क्रिया में मलदोष को ग्रहण करने की शक्ति नहीं है तो भी अन्तःकरण द्वारा ग्रहण होता है। कोई लौकिक कार्य जो दोष रूप माना जाता है ऐसा कोई कार्य किसी ने किया, उस कार्य में दोष है ऐसा मन समझता है इसीसे इच्छा न होते हुए भी अन्तःकरण पकड़ लेता है और उसके भाव के सूक्ष्म संस्कारों को अपने में स्थान देता है। यह सब सूक्ष्म क्रिया है। ये पकड़े हुए संस्कार ही क्रिया द्वारा होने वाले पाप हैं। जिसमें यह पाप है ऐसा समझते हुए इन्द्रियों की प्रवृत्ति होगई वह इन्द्रिय द्वारा होने वाले पाप हैं। जैसे किसी दुष्ट से किसी की रक्षा करने के निमित्त, दो मित्र एकान्त स्थान में मिल करके कोई युक्ति का विचार कर रहे हैं, तीसरे मनुष्य ने दो मित्रों की गुप्त बात गुप्त रह कर सुनली और दुष्ट को जाकर कह दिया इसमें दोनों मित्रों की युक्ति निष्फल गई। गुप्त सुनने वाले ने यह पाप है ऐसा समझा था इससे इसके अन्तः-करण ने दोष को ग्रहण किया, यह श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण हुआ पाप है। कोई मनुष्य बारंबार दुष्ट कर्म अथवा कुकर्म का विचार किया करे, किसी के ऊपर ईर्षा, द्वेष आदिक भाव को मन से धारण करे, तो उसके संस्कार भी दृढ़ होकर उसके अन्तः-करण में पड़ जाते हैं यह विचार द्वारा यानी मनसे होने वाला मल दोष है। क्रिया, इन्द्रिय और मन तीनों से युक्त ही मल दोष अधिकता से होता है। बुरे भाव के संस्कार का आन्तर में घुस जाना मल दोष है।

जिस प्रकार मलदोष बढ़ता है उसी प्रकार उसे निवृत्त करने में भी शारीरिक, मानसिक और वाचिक क्रियाएं होती हैं। शुभ अथवा पुण्य के भाव का आन्तर में संस्कार पड़ने से क्षुद्र मल दोष का निवारण होता है अथवा स्थूल तपश्चर्या से और कठिन प्रायश्चित से भी स्थूल दोष क्षीण होता है। इन्द्रियों द्वारा पुण्य कर्म करने से, इन्द्रियों के तप और प्रायश्चित से वाचिक मलदोष की निवृत्ति होती है और स्वाध्याय, शम, दम और पुण्य की वृद्धि से मानसिक मल दोष निवृत्त होता है।

मलदोष स्वाभाविकता से घट-संगित होने से स्थूल ही समझना चाहिये। वह केवल स्थूल नहीं इसी से सूक्ष्म और कारण के सम्बन्ध सहित कथन किया है क्योंकि स्थूल, सूक्ष्म और कारण द्वारा बढ़ता और क्षीण भी होता है। शास्त्र में वर्ण और आश्रम के अनुसार कर्म करने का कथन किया है ऐसा वर्तांव करने से मलदोष की निवृत्ति होती है और नये मलदोषों से मनुष्य लेपायमान नहीं होता।

कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि,
जिजीविषेच्छतँ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति,
न कर्म्म लिप्यते नरे॥

अर्थः—इस भूमि में शास्त्र विहित कर्म को करते हुए सौ वर्ष जीने की इच्छा करे ऐसे कर्म करने वाला

मनुष्य अशुभ कर्म सेलेपायमान नहीं होगा, इसके सिवाय तेरे लिये अन्य साधन नहीं है।

मलदोष अनेक जन्मों का होने से कौन कौन दोष कितने प्रमाण में है यह जाना नहीं जाता और वे संस्कार रूप होने से स्थूलता से जानने का विषय भी नहीं है। प्रत्येक मनुष्य का जन्म थोड़े या अधिक प्रमाण में मलदोष सहित ही होता है इसीसे न जानते हुए भी शास्त्र विधि युक्त शुभ कर्म करके मल को क्षीण करना चाहिये। सूक्ष्म विचार से मलदोष निवृत्त होने का निश्चय अनुमान द्वारा हो सकता है। जैसे किसी पात्र में कोई पदार्थ भरा हुआ हो उस पदार्थ को न देखते हुए बाहर की शीतलता अथवा सुगंध से पदार्थ का अनुमान कर सकते हैं; इसी प्रकार मलदोष की निवृत्ति का भी अनुमान होसकता है। पूर्व कर्मों के संबंध से जैसा प्रारब्ध होता है वैसे स्थूल पाप भी प्रारब्ध के साथ आता है।

मलदोष दो प्रकार का होता है, एक प्रारब्ध कर्म के साथ संमिलित हुआ और दूसरा अनारब्ध रूप संचित कर्मों में रहा हुआ। प्रारब्ध में रहे हुए मलदोष का प्रारब्ध कर्मों के साथ क्षय होजाता है, क्षय होने के साथ शुभ भावना होने से नये मलदोष पैदा नहीं होता। संचित कर्मों के साथ रहा हुआ मलदोष अप्रगट-अनारब्ध होने से उसको मानसिक दृढ़ भाव से क्षीण कर सकते हैं, अधिक शुभ कर्मों के प्रभाव से भी वह दब जाता है और तत्त्व बोध होजाय तब तो संपूर्ण संचित कर्म जल जाते हैं उनकी साथ में वह भी जल कर नाश को प्राप्त होजाता है।

संचित कर्मों में रहा हुआ मलदोष इस जन्म में शुभ कर्म, उपासना और तत्त्व बोध में बाधा पहुंचाने वाला नहीं होता; क्योंकि वह सोया हुआ होता है। प्रारब्ध के साथ रहा हुआ मलदोष कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों में बाधा पहुंचाने वाला होने से उसका प्रयत्नपूर्वक क्षय करना चाहिये। मलदोष सहित पुरुष का तत्त्व बोध में अधिकार ही नहीं है। मलदोष सहित पुरुष तत्त्व ज्ञान का सच्चा मुमुक्षु न होकर भी यदि तत्त्व ज्ञान में प्रवृत्त होगा तो उसे फल देने वाला तत्त्व ज्ञान नहीं होगा, वह केवल वाचक ज्ञानी होता है और कर्मों का बढ़ाने वाला ही होगा, अज्ञान निवृत्त हुए विना निरंकुश वर्ताव से वह अधर्म की वृद्धि करके नीचता को ही प्राप्त होगा।

मलदोष जो पापरूप है उसको कुछ अंश में क्षीण किये विना विक्षेप दोष जो चंचलता रूप है उसकी निवृत्ति नहीं होती। विक्षेप-चंचलता वाले पुरुष से चित्त वृत्ति की एकाग्रता से होने वाली इष्ट की उपासना नहीं होती और उपासना के न होने से ब्रह्म लोक की प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार शुभ कर्म जो शास्त्र की विधिरूप है उसमें मलदोष से युक्त पापी की प्रवृत्तिका ही असंभव है, क्योंकि पाप का भाव शुभ कार्य को रोकने वाला है। वह शास्त्र के ऊपर श्रद्धा होने नहीं देता। पुण्य के कार्य न होने से ऐश्वर्यादि स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती। इसी कारण शुभ कर्म का अधिकारी, उपासना का अधिकारी अथवा ज्ञान का अधिकारी बनने के लिये मलदोष को हटाना चाहिये। मलदोष की अधिकता से मूढ़ और जड़ योनि की ही प्राप्ति होती है।

प्रारब्ध के साथ में रहे हुए मलदोष का तो विचार से भान हो सकता है परन्तु संचित के साथ रहे हुए मल का भान नहीं होता, तो भी जो उपाय प्रारब्ध के साथ रहे हुए मलदोष को निवृत्त करने का है वही उपाय संचित में रहे हुए मलदोष को निवृत्त

करने का होता है, उसका भान न होने पर भी उपाय से उसकी हानि अवश्य होती है ।

प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण तीनों के साथमें मल होता है । जो मनुष्य शास्त्र विधि के अनुसार वर्णाश्रम का आचरण करता है उसका प्रारब्ध के साथ का मल क्षय होते हुए क्रियमाण में दोष नहीं प्राप्त होता और संचित में रहा हुआ मल न्यून हो जाता है । क्रियमाण में मल के न होने से मनुष्य कर्म से लेपायमान दोष युक्त नहीं होता ।

मनुष्य को सूक्ष्म विचार किये बिना अपनी मलिनता का भान नहीं होता इससे वह ठीक रीति से मलिनता को दोष रूप भी नहीं समझता है । कभी थोड़ी मलिनता की प्रतीति हो तो वह अन्य की दीखती हुई मलिनता से अपनी मलिनताको अधिक नहीं मानता और इस प्रकार संतोष कर लेता है कि 'सब ऐसेही करते हैं, संसार में सब ऐसा ही व्यवहार होता है, पाप का सूक्ष्म विचार किया जाय तो संसार का चलना ही नहीं बनता ।" ऐसे पुरुष को दोष-दोष रूप नहीं दीखता । दोष समझे तब ही दोष निवृत्ति का उपाय करना सूझता है । जब कभी पूर्व पुण्य के प्रभाव से और महत् पुरुष की कृपा से दोष का भान होता है और पूर्व के शुभ कर्म मदद रूप हो जाते हैं तब दोष निवृत्ति का प्रयत्न करता है ।

देश काल और योग्यतादिक की अनुकूलता न होने से तथा अन्य किसी प्रकार के प्रतिबन्ध से किसीको शास्त्र विधि और वर्णाश्रम धर्म के अनुसार ठीक रीति से बर्ताव न बन सके तो सामान्य सदाचरण से वर्तने वाले का भी मल दोष क्षीण होजाता है । धर्म दो प्रकार का है, एक सामान्य और दूसरा विशेष । वर्णाश्रम धर्मके अनुसार का बर्ताव विशेष धर्म है । यह धर्म वर्ण आश्रम के भेद से भिन्न भिन्न होता है परन्तु इसके साथमें रहा हुआ सामान्य धर्म सब किसी का एक होता है यह धर्म नीतिरूप होने से सब धर्म, धर्म भेद (मजहब) सब वर्ण और आश्रम आदिक में एकही होता है । जैसे झूठ, चोरी, घात, छल, निंदा, ईर्षा आदिक का न करना नीतिरूप सामान्य धर्म है । मल भी स्थूल और सामान्य है इसीसे सामान्य धर्म से भी उसका क्षय होता है ।

मलदोष की विशेषता से पुरुष की क्रिया, इन्द्रियां और मन पापी होता है । वह पाप कर्म करता है और शुभ कर्म में उसकी रुचि नहीं होती । कभी ऊपर से पाप रहित दीखे तो भी आन्तर से पाप के भाव से भरा हुआ मनुष्य होता है । ऐसा मनुष्य अपना अहित करता है और दूसरों को भी हानि ही पहुंचाता है, शास्त्रकारों ने उसे ही असुर और राक्षस कहा है ।

एक मनुष्य दूसरे ग्राम से अपने ग्राम को आरहा था, मार्ग में दुपहर होगया, धूप तेजी से पड़ रही थी और चलते चलते थक भी गया था इसीसे जल पीकर थोड़ा विश्राम करने को चाहता था । इतने में एक कुएको नीमकी छाया सहित देखकर कुए के पास गया और डोरी लोटे से पानी निकाल कर, ठंडा पानी पीकर नीमकी छाया में जाकर बैठा । थोड़ी देरमें विचरते हुए एक संत भी वहां पर आ पहुंचे, संतने भी कुएसे पानी निकाल कर पिया और नीमकी छाया में मनुष्य के पास पहुंचे । संत की सतोगुण युक्त दिव्य कान्तिसे उस मनुष्यके हृदय में सद्भाव पैदा हुआ उसने संतको दंडवत् प्रणाम किया और पेड़ के पास की जमीन को हाथ से साफ करके संतको बैठाया । संतने भी उस मनुष्य पर

प्रसन्नता प्रगट की और पूछा सामने दीखता हुआ शहर यहां से कितनी दूर है और कितना बड़ा है मैं वहां जाने को चाहता हूं, मैं यहां कभी आया नहीं हूँ इसीसे पूछता हूँ, कुछ दिन यहां रहने का मेरा विचार है, कोई अनुकूल शान्त स्थान रहने को मिल जाने से मैं रह जाऊंगा।

मनुष्यः—शहर यहां से पांच कोश होगा हम लोग एक घंटे के बाद चलकर भी शाम तक शहर में पहुँच सकते हैं। यह शहर बहुत बड़ा और देखने योग्य है। सब देश देशान्तर के लोग यहां व्यापार के अर्थ आया जाया करते हैं। शहर में एकान्त स्थान का मिलना कठिन है, यहां तो प्रवृत्ति देवी की लीला फैली हुई है। शहर के बाहर कई बगीचे हैं उन बगीचों में से कोई योग्य स्थान कुछ रोज टिकने के लिये मिल सकता है। प्रथम तो आप मेरे मकान पर ही चलिये, मैं इस शहर का रहने वाला हूँ और बगीचे वाले बहुत गृहस्थों को जानता हूँ। यदि आप मेरे स्थान पर रहना पसंद न करें तो एक दो दिनमें आपके अनुकूल स्थान का पता लगाकर मैं आपको रहनेकी व्यवस्था कर सकता हूं।

संतः—अच्छा, मैं एकान्त स्थान ही पसंद करता हूं तेरा भाव है तो मैं तेरे साथ चलकर तेरे मकान पर एक दो दिन रह सकता हूँ, अधिक नहीं।

मनुष्यः—आपकी इच्छानुसार सब व्यवस्था होगी। जब से मैंने आपके दर्शन किये तब से मेरा हृदय का भाव आपके तरफ झुक रहा है इसका क्या कारण है कुछ समझ में नहीं आता, आपके द्वारा मेरा कोई महान हित होने वाला हो ऐसा मुझे दीखता है, मैं अपना अहोभाग्य मानता हूँ कि आप जैसे महन पुरुष से वार्तालाप कर रहा हूँ।

वहां से संत और मनुष्य एक घंटा आराम करके दोनों साथ चले। मनुष्य का प्रेम संत के ऊपर बढ़ता ही गया, उसने अपनी पूर्व की प्रकृति भूल कर संत का एक आज्ञाकारी सेवक बन गया मार्ग में भी कुछ बात करते हुए शहर में पहुंचे और संत को अपने मकान पर ले गया। संत उसके मकान को देखकर बहुत दुखी हुए। मनुष्य की पामरता को देख कर सोच करने लगे। संत ने देखा कि मनुष्य बड़े मकान में रहता है, गृहस्थी भी पूरी है, घर में स्थान २ पर कूड़े के ढेर पड़े हैं, कई स्थान से दुर्गंधि आ रही है, मनुष्य दुकान का काम करता है और सामान्य कमाई करते हुए अपने कुटुम्ब का गुजारा करता है।

संतः—तेरा घर इतना गंदा क्यों है? जहां देखता हूँ वहां कूड़ा धूल और दुर्गंधि है, अपने मकान को साफ क्यों नहीं रखता? ऐसे मलिन मकान में रहना तू पसंद कैसे करता है? ईश्वर ने तुझे हाथ पैर दिये हैं फिर भी मकान को आलसी बन कर साफ क्यों नहीं करता?

मनुष्यः—महाराज, इस शहर में घर की सफाई करने का काम बहुत कठिन है। प्रवृत्ति का शहर है यहां सफाई रखने का अवकाश नहीं है और इस शहर का कानून भी अन्य शहर के कानून से विलक्षण है इसीसे हम मकान को साफ रखने में असमर्थ होते हैं।

संतः—क्या तूही अपने घर को साफ नहीं रख सकता या सब कोई नहीं रख सकते? ऐसा तो हो नहीं सकता है। इस शहर का कौन सा विलक्षण कानून है जिस करके तुझे मकान साफ रखने में बाधा पहुँचती है।

मनुष्यः—मैं ही घर को साफ नहीं रख सकता हूँ ऐसा नहीं है मेरे समान बहुत मनुष्यों का भी यह ही हाल है। यहां ऐसे बहुत थोड़े मनुष्य होंगे जो असुविधा होते हुए भी अपने मकान को साफ रख सकते हों। इस शहर का यह कानून है कि कोई भी मनुष्य मार्ग में कूड़े को फेंक नहीं सकता, यदि किसी ने कूड़ा फेंका तो दंड और कैद की सजा होती है। शहर बहुत बड़ा है इससे शहर के बाहर जाकर कूड़ा फेंक आना कठिन है और लोगों को अधिक अवकाश भी नहीं मिलता क्योंकि खाने कमाने में ही बहुत समय चला जाता है, घर साफ न होने का यह ही मुख्य कारण है। यहांका कानून ऐसा है कि प्रातःकाल में ही कूड़े को ले जाने वाली गाड़ियां आती हैं इस समय जो कोई इन गाड़ियों में कूड़ा डाल देता है वही कूड़े को अपने घर में से हटा सकता है। दिन में यह गाडियां नहीं आतीं, कूड़े की गाड़ियां कोई स्थान पर अधिक टिकती भी नहीं। दो गाड़ियां साथ चलती हैं, एक गाड़ी सूखे कूड़े की होती है और दूसरी गीले कूड़े की होती है, दोनों साथ साथ चली जाती हैं।

संतः—तब तो कूड़ा साफ करने का योग्य उपाय है फिर भी तुम लोग गाड़ियों में कूड़ा क्यों नहीं डालते, अपने मकानमें जमा करके क्यों सड़ाते हो और उसमें से उठी हुई दुर्गंधिमें क्यों सड़ते हो? मार्ग साफ रहने के लिये यह बहुत उत्तम कानून है।

मनुष्यः—महाराज, गाड़ियां बहुत सुबह निकल जाती हैं हम लोग उस समय बिस्तरे में से उठने भी नहीं पाते, व्यवहार के कार्य करके थके हुए हम लोग देरी से उठते हैं। कूड़े की गाड़ियां हमारे उठने के बाद जाती होतीं तो हम कूड़ा को गाड़ियों में डाल सक्ते हैं।

संतः—तेरी बात मेरी समझमें आगई, तुम लोगों का ही दोष है। तू जिस मनुष्य को मकान साफ रखने वाला समझता होय उसके पास मुझे ले चल, वह घर को साफ किस प्रकार रखता है यह समझ में आजाय।

मनुष्य संत को अपने एक जान पहिचान वाले के पास लेगया। उस गृहस्थ ने संतका सत्कार किया संत ने उसका सब मकान देखा, जिस प्रकार प्रथम मनुष्य के वहां दुर्गंधि आती थी वैसी दुर्गंधि वहां न थी परन्तु न सड़ने वाला कूड़ा तो वहां भी संत के देखने में आया और बहुत दिन से झाड़ू न लगा हुआ ऐसा स्थान भी दिखाई दिया। संत ने उस गृहस्थ से कहा, आप अपने घर को पूर्ण साफ क्यों नहीं रखते? इस मनुष्य के मकान में कूड़े में दुर्गंधि थी तुम्हारे यहां दुर्गंधि नहीं है परन्तु कूड़ा रहित तुम्हारा स्थान भी नहीं है।

गृहस्थः—महाराज, अपनी बुद्धि के अनुसार अन्य मनुष्यों से अपने मकान को अधिक साफ रखता हूँ, आपकी दृष्टि में साफ न दीखे इसमें आश्चर्य नहीं है। हम गृहस्थी लोग हैं, घर में से एक मनुष्य बहुत जल्दी उठ करके सड़ने वाले कूड़े को लेकर खड़ा रहता है, गाड़ी आते ही तुरन्त कूड़े को डाल देता है। प्रति दिन सब कूड़े को झाड़ कर कूड़े की गाड़ियों में डाल देना हम लोगों से नहीं बनता है।

संतः—तूने कहा वह मैं समझ गया तू जिसे अपने से भी साफ घर रखने वाला समझता होय उसके पास मुझे ले चल। गृहस्थ, संत और मनुष्य

को साथ लेकर एक पवित्र पुरुष के यहां पहुंचा; उसने भी सबका सत्कार किया, संत को एक सुन्दर चौकी पर बैठाया और हाथ जोड़ कर बोला, इस तुच्छ पर आपने बड़ी कृपा की, मैं आपकी आज्ञा सुनने को तैयार हूँ। संत ने कहा, मैं तेरा घर देखने आया हूँ, तेरा घर देखने की मेरी इच्छा है। गृहस्थ ने संत को साथ लेकर घर के सब हिस्से दिखलाये। वहां संत ने किसी प्रकार का कूड़ा न देखा और अत्यंत प्रसन्न होकर बोले, तू मकान को ठीक साफ रखने वाला है, तुझे धन्य है। संतने मनुष्य और गृहस्थ दोनों को कहा:-देखो यह पवित्र पुरुष भी इस शहर में रहता है यह भी तुम्हारे समान गृहस्थी दीखता है, फिर भी घर को साफ रखता है तुमको भी घर साफ रखना चाहिए।

संत वहां रहना चाहते थे इससे एकान्त बगीचे की तलाश करके वहां टिके और शाम के समय जो सज्जन संतके पास आते थे उनको सदुपदेश देते थे। एक दिन कई मनुष्य के सामने इस प्रकार का उपदेश किया। इस समय मनुष्य, गृहस्थ और पवित्र पुरुष भी वहां थे।

हे मनुष्यो, तुम इस प्रवृत्ति शहर के निवासी हो, तुम्हारा हमेशा यहां रहना नहीं होगा तुम लोगों को यहां स दूसरे स्थान में अवश्य जाना होगा, यहां कोई थिर रहता नहीं; इससे दूसरे स्थान में जाने की तैयारी यहां ही कर लेना चाहिये। मैंने यहां के लोगोंको देखा है। अधिकता से सब लोग अपने स्थान को गंदा रखते हैं। गंदे स्थान में रहने वाले स्वयम् भी गंदे होजाते हैं। तुम स्थान नहीं हो, स्थान से तुम भिन्न हो तो भी जिसको जैसा संग होता है उसके अनुसार संस्कार अवश्य पड़ जाता है इसीसे गंदगी से बचो। तुम लोग बहुत आलसी बन गये हो, तुमको सब कार्य करने का समय मिलता है आश्चर्य है सफाई करने का ही समय नहीं मिलता! शहर का कानून बहुत अच्छा है तुम लोगों को आलसी बनाने से रोकने वाला है, फिर भी तुम बाहर के कानून को दंड के भय से तोड़ने को नहीं चाहते और अप्रत्यक्ष ऐसे आन्तर कानून को तोड़ते हो। आन्तर कानून को तोड़ने से उसकी सजा बाहर के कानून तोड़ने की सजा से भी अधिक होगी।

आलस्य को छोड़ कर नित्य प्रातःकाल के प्रथम उठो, सब मकान में झाड़ू लगा कर साफ करो और दिनका जो कूड़ा साफ करके इकट्ठा कर रखा हो सबको लेकर के कूड़े की गाड़ियां आने के प्रथम ही तैयार होकर खड़े रहो, गाड़ियां आते ही उसमें कूड़े को डाल दो। इस प्रकार प्रति दिन आचरण करने वाला मनुष्य अपने मकान को साफ रख सकता है। इस कार्य में कभी भी आलस्य करना न चाहिये।

जो इस प्रकार अपने मकान को साफ नहीं रखता है वह मलदोष से युक्त होता है यह मनुष्य (जिसके साथ मैं इस शहर में आया हूँ) मलदोष से युक्त है। यह गृहस्थ पुरुष कूड़े को नित्य फेंकता है परन्तु घर की झाड़ू रोज नहीं लगाता और ठीक रीतिसे मकानको साफ रखने वाला यह पवित्र पुरुष है, उसके अनुसार सबको वर्तना चाहिये।

यह स्थूल शरीर जीव को रहने का मकान है। जो उसको साफ न रक्खा जाय तो जीव गंदा होजाता है यानी उसके सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर मलिन होजाते हैं इसी कारणसे शास्त्रमें स्थूल को पवित्र रखने का उपदेश दिया है। स्थूल शरीर की पवित्रतासे मनुष्य पवित्र बनता है, इन्द्रियां और मन भी पवित्र होते हैं। शरीर को अपवित्र रखने

हुए मन को शुद्ध रखने की इच्छा करना मूर्खता है । स्थूल शरीर मन इन्द्रियों से तुच्छ होते हुए भी उनका आधार है, इससे स्थूल शुद्धि विना सूक्ष्म और कारण की शुद्धि असंभवित है । तन मन और वाणी की शुद्धि से ऐहिक और पार लौकिक कल्याण हो सकता है ।

किराये के अनुसार ही रहने का मकान मिलता है इसी प्रकार यह स्थूल शरीर रूप किराये का मकान जीव को पूर्व कर्म प्रारब्ध के किराये से ही मिला हुआ है। दिया हुआ किराया समाप्त होने के प्रथम ही आगे के लिये किराया तैयार करना होगा। जो शुभ कर्म-पुण्य की कमाई की होगी तो आगे शुभ स्थान को ले सकेंगे यदि ठीक दाम देने को न हुए तो थोड़े से किराये से टूटे फूटे और सब प्रकार की योग्यता से रहित मकान में रहना पड़ेगा। किसी नीच योनिको ही धारण करना पड़ेगा ।

शास्त्रोक्त नित्य कर्म करने से रोज रोज के क्षुद्र दोष निवारण होते हैं इसीसे नित्य कर्म नित्य के झाड़ू लगाकर कूड़ा निवृत्त करनेके समान है । नैमत्तिक कर्म से निमित द्वारा पैदा हुए दोष की निवृत्त होती है इसीसे वह किसी खास कूड़े को हठाने के समान है प्रायश्चित कर्म से जान कर अथवा अनजान पने में जो दोष होते हैं उसकी निवृत्ति होती है, इसीसे जान अनजान से हुए दुर्गंधि युक्त कूड़े को हठाने के समान है। इस प्रकार तीनों दोष की निवृत्ति के लिये नित्य कर्म नैमित्तिक कर्म और प्रायश्चित कर्म करना चाहिये। इन कर्मों का करना शुभ कर्म है अथवा इन कर्मों के पश्चात् शुभ कर्म फल दाता हो सकते हैं जब कोई अपने मलदोष को कई अंश में निवारण करता है तब शुभ कर्म और उपासना का अधिकारी होता है और अधिक मल दोष वाले से शुभ कर्म और उपासना यथार्थ न होने से उनसे होने वाला फल प्राप्त नहीं कर सकते और मलदोष युक्त कभी भी ज्ञान का अधिकारी नहीं बन सकता। ज्ञान की इच्छा वाले को प्रथम मलदोष से मुक्त होना चाहिये ।

जीवन्मुक्त ।

शिवशंकर, सर्वेश्वर, चन्द्रशेखर, स्मरहर, गंगाधर, काशीवासी, कैलाश निवासी देवों के देव महादेव को एकान्त में प्रसन्नवदन बैठे हुये देख कर जगदीश्वरी हरेश्वाम्बिका भव भयहारिणी कल्याण कारिणी भवानीदेवी एक बार इस प्रकार प्रश्न करने लगीं—

भवानी—हे प्राणपते, जगत्पते, योगेश्वर, परमेश्वर! आपके श्रीमुख से मैं जीवन्मुक्त के लक्षण सुनना चाहती हूँ, कृपया मेरा मनोरथ पूर्ण कीजिये !

उमादेवी का प्रश्न सुनकर भवानी पति भोलेनाथ ने नेत्र बंद कर लिये हैं, एक मुहूर्त तक कुछ नहीं बोले हैं, मौन धारण कर लिया है, आनन्द के सागर में मग्न हैं! एक मुहूर्त के पश्चात् आंखें खोलकर प्रसन्न होकर इस प्रकार अमृत की वर्षा करते हैं—

महादेव—हे देवी, जीवन्मुक्त के लक्षण वर्णन करने को कोई समर्थ नहीं है! हम तीनों समर्थ देवता भी जीवन्मुक्त का माहात्म्य वर्णन नहीं कर सके क्योंकि हम तीनों सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और लय में क्रम से लगे रहते हैं, इसलिये हमारा

मन एकाग्र नहीं रहता ! पूर्ण एकाग्र मन हुये बिना कोई कार्य ही नहीं होसक्ता, तो जीवन्मुक्त के लक्षण कैसे वर्णन होसक्ते हैं, क्योंकि जीवन्मुक्त साक्षात् ब्रह्म स्वरूप ही होता है ! ब्रह्म स्वरूप में स्थित हुये बिना जीवन्मुक्त के लक्षण वर्णन नहीं होसक्ते और ब्रह्म स्वरूप में टिकने पर कोई क्रिया नहीं होती और ब्रह्म स्वरूप से हटकर कोई वर्णन करे तो यथार्थ वर्णन ही न हो, इसलिये जीवन्मुक्त के लक्षण कोई भी वर्णन नहीं कर सक्ता, फिर भी हे कल्याणी ! तू ने सब लोकों के हितार्थ प्रश्न किया है, इसलिये बुद्धि के सामर्थ्यानुसार दिग्मात्र जीवन्मुक्त के गुणों का अनुवाद करता हूं—

हे कमलनयनी ! प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मंत्र, कर्म, लोक और नाम, इन सोलह पदार्थों को वेद वेत्ता कला कहते हैं। जैसे गंगा यमुना आदि नदियां समुद्र में मिलकर अपने नाम रूपादि त्यागकर समुद्र रूप होजाती हैं, इसी प्रकार जीवन्मुक्त पुरुष की उपरोक्त कलायें ब्रह्म स्वरूप समुद्र में मिलकर लय भावको प्राप्त होजाती हैं। इसलिये जीवन्मुक्त कला रहित होता है। जैसे ब्रह्म देश, काल, वस्तु तीनों परिच्छेद से रहित है, इसी प्रकार ब्रह्म में लीन होने से तीनों परिच्छेदों से रहित होने से जीवन्मुक्त अद्वितीय और पूर्ण होता है। ऐसे निष्कल, अद्वितीय, पूर्ण और चिन्मय आत्मा जीवन्मुक्त में किंचित् जीवत्व, बंधन अथवा भय नहीं होता किंतु वह ब्रह्म स्वरूप, मुक्त और निर्भय होता है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों देहों से जीवन्मुक्त रहित होता है, देहों से रहित होने से स्त्री, पुत्र, धनादिक के अभिमान से रहित होता है। ब्राह्मणादि वर्ण, ब्रह्मचर्यादि आश्रम, जाति, कुल, गोत्र रूप, पीत, गौर, कृष्ण आदि ये स्थूल देह के धर्म हैं, भूख, प्यास, प्राण के धर्म हैं हर्ष शोक मन के धर्म हैं, ज्ञान अज्ञान बुद्धि के धर्म हैं। सुनना आदि ज्ञानेन्द्रियों के धर्म हैं, बोलना आदि कर्मेन्द्रियों के धर्म हैं, कारण शरीर का मोद प्रमोदादि धर्म हैं, तीनों शरीरों के अभिमान से रहित होने से जीवन्मुक्त में उपरोक्त कोई धर्म नहीं होते। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीनों धर्म भी जीवन्मुक्त में नहीं होते क्योंकि ये भी तीनों शरीर के धर्म हैं। बंध और मोक्ष भी तीनों शरीर के ही धर्म हैं, जीवन्मुक्त बंध और मोक्ष से रहित होता है, ऐसे जीवन्मुक्त का किंचित् भी कर्तव्य शेष नहीं रहता। करे तो वाह वा ! न करे तो वाह वा !

जीवन्मुक्त का कोई शत्रु अथवा मित्र नहीं होता; उसके लिये पुण्य है, न पातक है, न उसका जन्म है, न मृत्यु है, न जरा है और उसके लिये अच्छा या बुरा भी कुछ नहीं हैं ब्रह्म स्वरूप जीवन्मुक्त को स्वप्न में भी मोह नहीं होता, मोह ही शौच और मंगल का नाश करने वाला है। मोह न होने से जीवन्मुक्त सर्वदा शुचि और शांत रहता है, चिंता, दुःख और रोग भी उसको नहीं व्यापते क्योंकि वह सर्वदा अपने आप में संतृप्त रहता है। जिस प्रकार अज्ञानी जीव माया जाल में बंधे हुये होने से अपने को परिच्छिन्न मानते हैं, इस प्रकार माया जाल से मुक्त होने से जीवन्मुक्त अपने को परिच्छिन्न नहीं जानता किंतु सर्वदा अपरिच्छिन्न, सच्चिदानन्द महा नारायण रूप से विराजमान होता है। ब्रह्म स्वरूप जीवन्मुक्त को संसार के नियमों से कुछ प्रयोजन नहीं होता क्योंकि उसको संसार से ही कुछ प्रयोजन नहीं है। जैसे समुद्र के भीतर चलने वालों जलचरों की गति

ऊपर से देखने वालों को मालूम नहीं होती, इसी प्रकार जीवन्मुक्त योगी की गति संसारी जीवों के जानने में नहीं आसक्ती। महातेजस्वी जीवन्मुक्त नाना रूप, नाना वेष और नाना भावों से युक्त होकर भूतल पर विचरता है। कभी महान् शास्त्रज्ञ पंडित के समान पूर्व पक्ष का खंडन और सिद्धांत का अनेक श्रुति, स्मृति और युक्तियों से मंडन करता है। कभी पागल के समान ऊट पटांग बकता है, कभी हाथी आदि दिव्य वाहनों में बैठ कर सैर करता है, कभी दर २ टुकड़े मांगता है, कहीं अजगर वृत्ति धारण करके एक स्थान पर आसन जमा कर बैठ जाता है। कभी वृक्षों के नीचे डेरा लगाता है, कभी लम्बे चौड़े व्याख्यान देता है और कभी मौन धारण कर लेता है, सारांश यह है कि जैसे गंभीर सागर की थाह पाना कठिन है। उसी प्रकार जीवन्मुक्त के हृदय की कोई थाह नहीं पा सक्ता।

हे देवी, जैसे वर्णों में ब्राह्मण वर्ण श्रेष्ठ है, जैसे आश्रमों में संन्यास आश्रम श्रेष्ठ है, जैसे ज्योतियों में सूर्य श्रेष्ठ है, जैसे पशुओं में कामधेनु श्रेष्ठ है, जैसे पक्षियों में गरुड़ श्रेष्ठ हैं, जैसे नागों में शेष नाग श्रेष्ठ है, जैसे वृक्षों में कल्प वृक्ष श्रेष्ठ है, जैसे आदित्यों में विष्णु हैं, जैसे रुद्रों में मैं श्रेष्ठ हूँ, जैसे नदियों में गंगा श्रेष्ठ है और जैसे पर्वतों में सुमेरु पर्वत श्रेष्ठ है; इसी प्रकार मनुष्यों में जीवन्मुक्त श्रेष्ठ है, इसलिये वेदवेत्ता जीवन्मुक्त को नरोत्तम कहते हैं, कभी जीवन्मुक्त जड़ होकर पर्वत के समान निश्चल हो जाता है, कोई क्रिया नहीं करता और कभी नाना कर्म परायण होता है, इसलिये जीवन्मुक्त की क्रिया अक्रिया का कोई नियम नहीं है, ब्रह्म स्वरूप जीवन्मुक्त के जितने कर्म होते हैं, सब लोकों के कल्याण के निमित्त होते हैं, जीवन्मुक्त में स्वार्थ की रंचक भी आकांक्षा नहीं होती, किंतु उसके सब कर्म स्वार्थ रहित होते हैं। जिस प्रकार स्पर्श मणि—पारस को छूकर लोहा कांचन हो जाता है, इसी प्रकार निर्दोष ईश्वर का स्पर्श करके जीवन्मुक्त निर्दोष हो जाता है, फिर उसे माया का वायु स्पर्श नहीं कर सक्ता। जैसे चूहा बिल्ली से, सर्प गरुड़ से, हाथी सिंह से डरता है; इसी प्रकार माया जीवन्मुक्त से भयभीत रहती है कभी उसके पास नहीं फटकती! जो ब्रह्म स्वरूप है, सर्व दोषों से रहित है, सर्वदा शान्त है, सर्व कामनाओं से मुक्त है, स्वार्थ हीन है और सब में समान बुद्धि वाला है, ऐसे निर्दोष जीवन्मुक्त से कुकर्म होना संभव नहीं है। जैसे जिस दिशा में सूर्य उदय होता है, वह दिशा निश्चय पूर्व है और जिस दिशा में ध्रुव नक्षत्र है, वह दिशा निश्चय उत्तर है, इसमें संदेह नहीं है; इसी प्रकार जो कर्म जीवन्मुक्त करता है, वह कर्म सत् ही है, इसमें किंचित भी संशय नहीं है।

हे वरानने, जीवन्मुक्त सर्व बंधनों से रहित हुआ सर्वदा अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है। नित्य ज्ञान नेत्र से युक्त होता है और सदा प्रकृति से पर होता है।

भवानी:—हे स्वामिन्, बंधन कितने हैं, प्रकृति क्या है और कितने प्रकार की है और ज्ञान नेत्र की क्या परिभाषा है?

महादेव:—हे प्रिये, बंधनों का विवेचन इस प्रकार है। (१) अनात्म वस्तुओं में आत्म अभिमान करना, इसको तत्वदर्शी मुनि बंधन कहते हैं। (२) अज्ञान बंधन है, (३) अहंकार बंधन है, (४) 'मैं देह हूँ' ऐसा मानना बंधन है, (५) पदार्थों की भावना करना बंधन है, (६) संकल्प बंधन है, (७)

संग बंधन है (८) ममता बंधन है (९) वासना बंधन है, (१०) 'यह उपादेय यानी ग्राह्य है, यह हेय यानी त्याज्य है' यह भाव संसार-अंकुर को उत्पन्न करने वाला बंधन है, (११) धन, जन, क्रियादिक जितने ममता के पात्र हैं, ये सब बंधन कहलाते हैं, क्योंकि ये क्लेश के कारण हैं। इन सब बंधनों को सम्यक् प्रकार से तोड़कर अपने स्वरूप में स्थित हो जाने को वेदवेत्ता मुक्ति कहते हैं।

प्रकृतिः—हे प्रिये, जगत् की उत्पत्ति का कारण यद्यपि प्रकृत्ति एक ही है, तो भी कई शास्त्रकार चौबीस प्रकार की, कोई छत्तीस प्रकार की और कोई कोई छयानवे प्रकार की मानते हैं—

श्रोत्रादि पांच ज्ञानेन्द्रियां, वाक् आदि पांच कर्मेन्द्रियां, पांच प्राण, पांच विषय और मन, बुद्धि आदि चार अन्तःकरण ये चौबीस तत्त्व हैं। पांच पंचीकरण किये हुये पृथिवी आदि महाभूत, स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीन देह, इन तीनों शरीरोंकी जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन अवस्थायें और पांचों तत्त्वों का एक समूह, ये बारह और ऊपर के चौबीस मिलाकर कोई मुनि छत्तीस तत्त्व मानते हैं। अस्ति, जायते, वर्धते, परिणाम, क्षय और नाश ये छै भाव विकार, भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा और मरण ये छै ऊर्मि, त्वचा, रक्त, मांस, मेद, मज्जा और अस्थि ये छै कोश, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य ये छै शत्रु, विश्व, तैजस और प्राज्ञ ये तीन जीव, सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण, प्रारब्ध, आगामी और संचित ये तीन कर्म, वचन, आदान, गमन, विसर्जन और आनन्द ये पांच क्रिया, संकल्प, निश्चय, अभिमान और अवधारणा ये चार ज्ञान; मुदिता, करुणा, मैत्री, और उपेक्षा, ये चार भाव दिशा, वात, सूर्य, प्रचेता, अश्विनी कुमार, वन्हि, इन्द्र, उपेन्द्र, मृत्यु, चन्द्र, ब्रह्मा, रुद्र, क्षेत्रज्ञ और ईश्वर ये देवता, ये सब साठ और ऊपर के छत्तीस मिलाकर छयानवे तत्त्व माने जाते हैं। ये सब प्रकृति और प्रकृति के विकार हैं। इन्हीं का सब पसारा है।

ज्ञान नेत्र—उपरोक्त चौबीस तत्त्व, जीवात्मा और परमात्मा, इन तीनों के स्वरूप को जानने का नाम ज्ञान नेत्र है, अथवा यथार्थ ज्ञानका नाम ज्ञान नेत्र है, अथवा 'ब्रह्म ही सब है' इस ज्ञान का नाम ज्ञान नेत्र है। गरुड़ पुराण में कहा है कि परमात्मा के सिवाय इस जगत् में कुछ भी नहीं है, परमात्मा ही विश्व रूप है, ऐसा जानने वाला मोह को प्राप्त नहीं होता। गीता में कहा है 'वासुदेव ही सब है।'

हे प्रिये, जीवन्मुक्त सब कर्म करता हुआ भी बंधन को प्राप्त नहीं होता क्योंकि वह स्वप्न में भी आत्मा को-अपने को कर्ता नहीं मानता, प्रकृति को ही कर्ता मानता है, आत्मा को असंग, अकर्ता मानता है। इसलिये जैसे कमल का पत्ता पानी में रह कर भी पानी का स्पर्श नहीं करता; इसी प्रकार जीवन्मुक्त को भी कर्म का लेप नहीं लगता जैसेः—

हे सुभगे, कभी कभी जीवन्मुक्त सब कुछ जानता हुआ भी मूढ़ के समान आचार करता है और कभी देखता हुआ भी अन्धे के समान चलता है, इस लिये देहाभिमानी अज्ञानी लोग उसके बाहर के लक्षणों को देखकर भी उसके भीतर के गंभीर भाव को नहीं जान सक्ते। ऊपर से चलता हुआ, दीखता हुआ भी वह भीतर से पर्वत के समान अचल होता है। ऊपर से क्रोध करता हुआ भी भीतर चन्द्र के समान शीतल होता है, ऊपरसे मलित दीखता हुआ भी भीतर से सूर्य के समान निर्मल होता है, ऊपर

से रोता हुआ भी भीतर से आकाश के समान निर्लेप होता है। इसलिये उसका स्वरूप दुर्विज्ञेय है और उसकी गति भी दुर्विज्ञेय है। वह उत्तम से भी उत्तम ज्ञान प्राप्त करने से सर्वदा मुदित मन रहता है।

हे प्रिये, जीवन्मुक्त को प्रयत्न बिना स्वतः ही ब्रह्म भाव बना रहता है। उस योगीन्द्र जीवन्मुक्त की सदा सेवा करनी चाहिये क्योंकि उसकी सेवा करने से मनोवांच्छित फल की प्राप्ति होती है। जीवन्मुक्त तीनों गुणों से अतीत होता है, अक्षर होता है, पुरुष-पूर्ण होता है, महान् होता है, माया से अतीत होता है, महा सत्त्व वाला होता है और ब्रह्म भाव में नश्चिल होता है, कभी भी ब्रह्म भाव से चलित नहीं होता। हे गिरिजे, जीवन्मुक्त माया का अधिपति होता है, सर्व पूर्णत्व से मंडित-भूषित होता है और जैसे ईश्वर सदा गुप्त रहता है, इसी प्रकार महा शक्ति के प्रभाव से वह भी सर्वदा गुप्त रहता है, किसी के जानने में नहीं आता। इसीलिये भक्ति तत्त्ववेत्ताओं का कथन है कि निर्गुण ब्रह्म दुर्विज्ञेय होने पर भी सुविज्ञेय है क्योंकि सर्वत्र एक रस व्यापक होने से सूक्ष्म बुद्धि वाला पुरुष निर्गुण ब्रह्म को सहज ही जान सकता है; परन्तु सगुण ब्रह्म का जानना सूक्ष्म बुद्धि वाले पुरुष को भी कठिन है क्योंकि उसके चरित्र सुगम और अगम दोनों प्रकार के होते हैं। सुगम चरित्र देखकर विद्वान् उसका कभी अनुमान कर लेते हैं और जब दुर्गम चरित्र देखते हैं, तो विद्वान् अपने अनुमान को अप्रमाण मानने लगते हैं।

हे सुलोचने, परमेश्वर में और जीवन्मुक्त में कदापि भिन्नता नहीं है किंतु दोनों अभिन्न हैं। महा योगी जीवन्मुक्त ब्रह्म ही है, इसमें संशय नहीं है। जैसे जल से उत्पन्न हुई लहर जल में ही लीन हो जाती है। इसी प्रकार जीवन्मुक्त से उत्पन्न हुआ विश्व उसी में लय होजाता है। जैसे रज्जु से उत्पन्न हुआ सर्प रज्जु में ही लय होजाता है, इसी प्रकार जीवन्मुक्त से उत्पन्न हुआ द्वैत उसी में लीन होजाता है। जैसे सूर्यकी किरणों से उत्पन्न हुआ मरुजल सूर्य की किरणों में लय होजाता है; इसी प्रकार जीवन्मुक्त से उत्पन्न हुआ भ्रम उसी में लीन होजाता है। जैसे सीपी से उत्पन्न हुआ रूपा सीपी में ही लय होजाता है; इसी प्रकार जीवन्मुक्त से उत्पन्न हुआ कर्तृत्व भोक्तृत्व जीवन्मुक्त ही में लीन होजाता है। जैसे स्वप्न द्रष्टा से उत्पन्न हुआ स्वप्न, स्वप्न द्रष्टा में ही लय होजाता है; इसी प्रकार जीवन्मुक्त से उत्पन्न हुआ जीव भाव जीवन्मुक्त में ही लीन होजाता है। जैसे आकाश में से उत्पन्न हुये मेघ आकाश में ही विला जाते हैं; इसी प्रकार जीवन्मुक्त से उत्पन्न हुआ संसार जीवन्मुक्त में ही लीन होजाता है।

हे गिरिराजकिशोरी, अधिक क्या कहूँ, जैसे गदहे के शिर पर से सींग भाग गये हैं; इसी प्रकार जीवन्मुक्त के मन में से जगत् उड़ जाता है और उसका मन ब्रह्म रूप होजाता है। अथवा जैसे बांझ का पुत्र आज तक किसी के देखने में नहीं आया; इसी प्रकार जीवन्मुक्त की दृष्टि में संसार नहीं रहता। किन्तु उसे एक आनन्द स्वरूप आत्मा ही दिखाई देता है।

हे गजानाम्बे, जीवन्मुक्त समष्टि, व्यष्टि, स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों देहों से रहित होता है, क्षर और अक्षर से हीन होता है। सर्व उपाधियों से शून्य होता है और द्वैत अद्वैत से भी परे होता है। हे षडानन

माते, जीवन्मुक्त सर्व विश्व से विहीन होने पर भी सर्व विश्व स्वरूप होता है। वह ही चन्द्रमा, सूर्य, पर्वत, सागर और वृक्ष रूप होता है; दैत्य, दानव, मानव और देवताओं के शरीरों से विहार करने वाला होता है, समस्त ब्रह्मांडों का ईश्वर होता है और तीनों लोकों का धारण करने वाला होता है। प्रलय काल में वह स्वयं ज्योति, जीवन्मुक्त योगी आदि देव, पर से पर महा आनन्द स्वरूप अपने आत्मा में ही आत्मतृप्त हुआ विराजमान होता है। वह जीवन्मुक्त चौदह भुवनों का परम गुरु सर्वथा मुक्त होता है और वह चिदानन्द परम ब्रह्म महाशिव होता है। ऐसा जीवन्मुक्त सर्व को मान्य और सर्व का पूज्य है, उसको नमस्कार है! नमस्कार है!! वारंवार नमस्कार है!!!

सर्वज्ञ शिवजी के गंभीर आशय युक्त उपरोक्त वचनामृत सुन जगज्जननी उमा देवी बहुत देर तक तन मन की सुध भूल गई हैं और आनन्द के अथाह सागर में मग्न होगई हैं। बहुत देर के बाद जाग्रत होकर इस प्रकार कहने लगी:—

भवानी:—हे प्राणनाथ, ऐसे जीवन्मुक्त ही धन्य हैं, जिनको आप सरीखे सर्वज्ञ ईश्वर नमस्कार करते हैं! आप नमस्कार क्यों न करें, ऐसे जीवन्मुक्त आपके स्वरूप ही हैं। आप में और उनमें किंचित् भेद नहीं हैं। ऐसे जीवन्मुक्त ही आपके वचनों के साक्षी हैं। वे ही सत्शास्त्र की महिमा विश्व में प्रकट करते हैं, स्वयं तर जाते हैं और दूसरों को तार ले जाते हैं। जहां २ वे विचरते हैं, वहां की भूमि पावन हो जाती है। जिनको उनके दर्शन होते हैं, वे कृत कृत्य हो जाते हैं। जहां ऐसे महात्मा विचरते हैं, वह भूमि धन्य हैं, जिस देश में वे वास करते हैं, वह देश धन्य हैं, जिस कुल में वे जन्मे हैं, वह कुल ध उनकी माता धन्य है, उनका पिता धन्य हैं, उन कथा कहने वाला वक्ता धन्य हैं और उनकी क सुनने वाला श्रोता धन्य है! हे देवों के देव, महादे आपके वचनामृत सुन कर आज मैं अपने को भाग्यशाली मानती हूं। जितना मुझे आनन्द है, उसको वाणी से कहने को समर्थ नहीं हूं, अ क्या कहूँ, ऐसे जीवन्मुक्त को नमस्कार है! नमस हैं!! कोटिशः नमस्कार हैं!!!

हे पापी मन, मूर्ख न बन। अब तो चेत पसीजजा, पिघल जा, अब भी न पसीजा तो पसीजेगा? साक्षात् शिव पार्वती के वचनों पर विश्वास न हुआ, तो इनसे बढ़ कर अन्य समझाने वाला मिलेगा? अब तो पिघल जा, तो वह ही कहावत होगी "पढ़ पढ़ कर पत्थर लिख २ कर भये ईंट। चुन २ कर गारा भये रहे के भांत।" भाई लिखने पढ़ने, सुनने और कहने का हो तो अभिप्राय है कि जैसा लिखे, पढ़े या सुने ही आचरण में लावे, यदि ऐसा न हुआ तो पर पुस्तकों का भार लादना ही हैं। क्या बोझों के लिये लिख २ कर पोथे रंग रहा है। भाई, चेत जा। अपना चंचल स्वभाव छोड़ दे, स्थिर जा। क्या अब भी कुत्ते की पूंछ ही बना कि बारह वर्ष तक पत्थर के नीचे दबी रही, निकाली तो टेढ़ी! भाई, यदि तू कहे कि किसी स्वभाव बदलता थोड़ा ही है, तो यह तेरा कथन है परन्तु तेरा स्वभाव चंचल ही नहीं किन्तु और निरुद्ध भी तेरा स्वभाव है। देख मन, वस्तु मिल जाने पर तू कैसा एकाग्र हो जाता कि हटाये से भी नहीं हटता और पराई निन्दा में तो ऐसा लीन हो जाता है कि दुनियां भरकी

जाता है, विषको अमृत मान कर इस प्रकार पीने लग जाता है जैसे कोई भूखा बच्चा माता का दूध पीने लगे ! ऐसा तू बारंबार अनुभव करता रहता है, फिर अपने को चंचल क्यों मानता है। यदि तू कहे कि अर्जुन ने भी तो अपना मन चंचल बताया था और भगवान् ने भी यह बात मानली थी, कि हां, मन चंचल होता है परन्तु भगवान् ने यह भी तो कहा है कि अभ्यास और वैराग्य से मन वशमें हो जाता है। जब वशमें हो जाता है तो चंचलता कहां रही और तुझे स्वयं अनुभव है कि बहुत प्रसंगों पर तू एकाग्र और निरुद्ध होजाता है और एकाग्र और निरुद्धावस्था में तुझे आनन्द का भी अनुभव होता है फिर चंचलता क्यों नहीं त्यागता ? भाई मन ! शिव पार्वती के वचनों पर ध्यान दे तू चंचल अथवा अणु नहीं है किंतु अचल और परिपूर्ण है, अपने इसी स्वभाव में टिकजा जीवन्मुक्तों को नमस्कार कर, जीवन्मुक्तों के रंग में रंग जा। उन्हीं का गान, उन्हींका ध्यान, किया कर, उन्हीं के चरण पकड़ ले उन्हीं के शरण होजा ! तब तो आराम पावेगा, नहीं तो डलिया ढोया करेगा, चक्की पीसा करेगा, धुना बुनी काता पोनी किया करेगा, धक्के खाता ही रहेगा चेत में आजा, तन, मन, वचन से जीवन्मुक्तों के आचार में लगजा गोरखधन्धे से छूट कर स्वाराज्य कैवल्य को प्राप्त करके सर्वदा के लिये सुखी होजा।

कुं०—वे ही जग में धन्य हैं, जे हैं जीवन्मुक्त।
नाता तोड़ा अन्य से, आप मांहि अनुरक्त॥
आप मांहि अनुरक्त, अन्य से मुख है मोड़ा।
जग से रिश्ता तोड़, ब्रह्म से रिश्ता जोड़ा॥
आत्म ब्रह्म में तृप्त, प्रीति है अपने में ही।
भोला ! भूलें अन्य, धन्य जग में हैं वे ही॥

सकल चराचरानुचर भोला।

माया।

माया—शास्त्रों में माया के लिये नीचे लिखे अनुसार भिन्न भिन्न छः व्याख्यायें कीगई हैं।

१ जो वस्तु भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों ही काल में है नहीं, उसको "है" ऐसा मानना इसीका नाम माया है।

२ जीवके आत्म स्वरूप को जो अपने आचरण से आच्छादित करती है।

३ जो वस्तु यथार्थ ज्ञान होने के उपरांत समूल नष्ट होजाती है।

४ कार्य कारण (जगत कार्य और परमात्मा उसका कारण है) के भेद का कारण अर्थात कारण के भेद को उत्पन्न करने वाली जो वस्तु है।

५ माया वास्तव में कुछ भी नहीं परन्तु वेद में आत्मा को जगत् का कारण तथा सर्व जगत रूप कहा है। इससे जगत् कारण सिद्ध होने के लिये अर्थात् जगत के उत्पन्न होने में परमात्मा आदि कोई भी कारण भूत है, ऐसा निश्चय होने के लिये माया की केवल कल्पना मात्र की गई है।

६ अपने अधिष्ठान में जो आत्मा है उसके साक्षात्कार द्वारा जब अज्ञान की निवृत्ति होजाती है, तब सर्वत्र परब्रह्म ही परब्रह्म भासमान होता है; इस निवृत होने वाले अज्ञान का दूसरा नाम माया है।

माया ईश्वर की शक्ति है जो उन्हीं की प्रेरणा से संसार को रचती है और यह प्रलय के अन्त में सभी के लिये नाशवान है। भक्त तथा ज्ञानी जन तो उसके यथार्थ स्वरूप को जानते हैं और इसीलिये उसे

कल्पित मानते हैं यह उन्हें कुछ बाधा नहीं कर सकती। जो लोग माया के नियमों को पालकर समयानुसार उसमें चित्त लगाने की अपेक्षा परमेश्वर में चित्त लगाते हैं वे माया जाल में नहीं फँसते। जिस प्रकार जाल में फंसी हुई मछलियां जाल फेंकने वाले मछुए की ओर बढ़ जावें तो वे उसके समीप के सिमिटे हुए जाल के छिद्र में से मुक्त होजायं। अथवा चक्की के दाने जो खूँटी से जितनी दूर भागते हैं उतने ही अधिक पीसे जाते हैं परन्तु खूंटी के समीप रहने वाले नहीं पिसते। इसी प्रकार परमेश्वर का आसरा ग्रहण करने वाले प्राणी माया जाल में नहीं फँसते।

जब मनुष्य विलास में रहते हैं या सांसारिक कार्यों में फंसे रहते हैं अथवा साधारण मनुष्य की नाईं व्यवहार में लगे हों और जब राग रूपी रंग में रंगे हों, तब तो मनुष्य आपही माया के सपाटे में रहते हैं इससे वे समझ लेते हैं कि माया उनके कामों को बाधक नहीं है। वे यह नहीं विचारते कि हम लोग तो सम्पूर्ण रूप से माया में ही डूबे हुए हैं। जब मनुष्य इन संसारिक कामों की उलझन से निकलने को किसी भांति का प्रयत्न करने को उद्यत होते हैं तो उन्हें ऐसा भासता है कि अब माया हमें बाधा डाल रही है। जब संसार को असार और जीवन को क्षणिक समझता है तब माया के दबाव से रहित होता है।

आयुर्वर्ष शतं नृणां परिमित,
रात्रौ तदर्धं गतं।
तस्यार्द्धस्यापरस्य चार्द्धमपरं,
बालत्व वृद्धत्वयोः॥
शेषं व्याधि वियोग दुःख सहितं,
सेवादिभिर्नीयते।
जीवे वारि तरंग चंचल तरे,
सौख्यं कुतः प्राणिना॥

भाव यह है कि मनुष्य का जीवन यदि सौ व का मान लिया जावे तो उसमें आधा अर्थात् ५० व रात्रि के निकल गये। बाकी ५० के तीन भाग कर १६ वर्ष २० दिन बाल्यावस्था और १६ वर्ष २० दि मानो बुढ़ापे में गये केवल १६ वर्ष २० दिन जवा के रहे। सो समय भी कभी रोग ग्रस्त होकर औ बहुधा दूसरे की सेवा अथवा किसी प्रकार की उद्यो की खटपट में व्यतीत हो जाता है ऐसे पानी क लहर के समान क्षण भंगुर जीवन में सुख कहाँ?

ज्ञान कथा के सुनने या पढ़ने से अवसर क स्थिति आदि—

वेदान्तार्थ विचारेण,
जायतेज्ञान मुत्तमम्।
तेनात्यन्तिक संसार,
दुःख नाशो भवत्यनु॥

वेदांत के अर्थ का विचार करने से उत्तम ज्ञा प्राप्त होता है और इस ज्ञान से तुरन्त संसार सं संम्पूर्ण दुःखों का नाश होता है। धीर पुरुष अहं ममता को त्यागकर, उपाधि रहित बनकर ज्ञान कुल्हाड़ी से संसार के बंधनों को काट डालता है।

ईश्वर की कृपा से मनुष्य शरीर पाकर यदि प्रा ज्ञान मार्ग में प्रवृत्त होना चाहे तो उसे चाहिये वह पहिले रजोगुण और तमोगुण को दबावे त

मन को सतोगुण में प्रवृत्त करे और विषयों के आधीन न रहे तथा सात्विकी जप, तप, संयम आदि से शुद्ध भाव युक्त होकर परमात्मा का साक्षात्कार करने का दृढ़ निश्चय करे यानी अनेक विघ्न अर्थात् प्रतिबंधों के आने पर भी अपने निश्चय से कदापि न हटे। निश्चय का नाम ही ज्ञान है यह ज्ञान की प्रथम भूमिका "शुभ इच्छा" है। दया, निष्कामता, संतोष, और क्षमा धारण करके एकांत में पद्मासन किंवा सिद्धासन लगा कर सारासार विचार करे। यह "सुविचार" रूपी दूसरी भूमिका है। समता रूपी धीरज के द्वारा शत्रु मित्र का भेद न मान कर असत् संसार का त्याग करे और सत् आत्मा में प्रीति लगावे। यह "तनुमानसा" नाम की तीसरी भूमिका है।

४—मुदिता, विचार, दम और सत्य वाणी के संयोग से निज अनुभव द्वारा आत्मा का दर्शन यही "सत्वापत्ति" नाम की चौथी भूमिका है।

५—अष्टांग योग द्वारा शरीर और मनका अध्यास दूर करके शुद्ध ब्रह्म के शुद्ध रूप का ज्ञान प्राप्त कर सब ही विषयों से अनासक्त होना। यह 'असंसक्ति' नाम की पाचवीं भूमिका है।

६—आत्मा और परमात्मा कीएकता का अनुसंधान रूपी विज्ञान की प्राप्ति से दृश्यमान पदार्थों को भूल जाना "पदार्थाभावनी" छटवीं भूमिका है।

भावाभाव रहित अखंड वृत्ति अर्थात् जो ब्रह्म है सो मैं ही हूँ, यह अटल ज्ञान 'तुरीया' नाम की सातवीं भूमिका है; इन सात भूमिकाओं द्वारा आत्म तत्त्व की प्राप्ति होती है।

जब योग्य अधिकारी होकर सद्गुरु से मिलते हैं तब आत्मा को स्वस्वरूप प्राप्ति की तीव्र भावना होती है और प्रयत्न में लगता है तब माया बाधा डालती है ऐसा भान भी होता है।

यह माया संसार में असंख्य रूपों में आती है। उन रूपों में से मुख्य और प्रसिद्ध तीन रूपों का कुछ हाल लिखा जाता है।

(१) रजोगुण के प्रभाव वाली महालक्ष्मी रूपी माया। जहाँ लक्ष्मी रहती है वहां रजोगुणी अर्थात् राजसी वैभव जैसे—भांति भांति के अलंकार धन, हाथी, घोड़े, रत्न, वाग, बगीचे, महल आदि अनेक रूप से भोगी जाती है। अबुध मनुष्य इसका दुरुपयोग स्वार्थ और अधमार्थ करते हैं; जैसे मद्य, जूआ और व्यभिचार आदि। सत् पुरुष इसका सेवन परार्थ और परमार्थ में करते हैं। जैसे लूले लँगड़ों को भोजन, वस्त्र देना, दान धर्मादि की रीति से खर्च करना आदि।

(२) तमोगुण के रूप से यह माया महाकाली है, जिसने अनेक राक्षसों तथा राक्षसी प्रकृति वाले जीवों का संहार किया है और करती रहती है क्योंकि इसमें तमोगुण प्रधान संसार के नाश करने का गुण है। इसी के अन्तर्गत अनेक प्रकार की व्याधियां क्लेश, दुःख, भय, शोक आदि हैं; जिनके कारण अबुध पुरुष दुःखी रहते हैं, परन्तु जो सत्पुरुष उपरोक्त साधन संपन्न हैं, उन पर इस माया के कार्यों का असर नहीं पड़ता।

(३) महा सरस्वती (इसीको वाणी अथवा विद्या भी कहते हैं) इसका भी दुरुपयोग अबुध पुरुषों के द्वारा होता है, परन्तु इस देवी अर्थात् विद्या का जो लोग आश्रय करते हैं वे सतोगुणी होते हैं, और सतोगुण के ही पूर्ण भंडार रूप परमात्मा के जानने वाले तथा उसकी भक्ति करने वाले होते हैं।

सारांश यह है कि यही माया जो ईश्वर की महाशक्ति है। अबुध, कुविचारी तथा माया के यथार्थ रूप को न समझने वाले को बाधक रूप जान पड़ती है, क्योंकि वे माया के कारण सांसारिक ममता मोह में फंसकर फिर उनसे अलग होने का प्रयत्न नहीं करते और इस दुष्प्राप्य रत्नवत् अपने नर जीवन को वृथा खोते हैं। परन्तु ज्ञानी धर्मात्मा और ईश्वर भक्त उसी माया के स्वामी परमात्मा का आश्रय लेकर उन्हीं के सहारे पहिले तो इस माया के विषयों का भोग करते हुए उन्हीं में तल्लीन न होने का लक्षण सीख कर अपने मन को ईश्वर की ओर झुका कर उसकी भक्ति में मग्न होते हुए जीते जी माया पर विजय पाकर जीवनमुक्त हो जाते हैं और देह छोड़ने पर फिर पुनरागमन के क्लेश से मुक्त हो जाते हैं।

स्वामी आत्मानन्द।

---

* वेदान्त केसरी।

जब से पढ़ा है वेदान्त केसरी पत्र, हृदय रूपी वन होगया है निर्मल, पवित्र, काम क्रोध आदि हिंसक पशु होगये हैं सन्मित्र, आनन्दस्वरूप वेदान्त केसरी आत्मा भासता है सचित्र! न कहीं राग दिखाई देता है न द्वेष, न मालूम कहां भाग गया अभिनिवेश, अविद्या का रहा नहीं है लेश, अस्मिता भी नहीं रही है शेष, एक अपना आप ही रह गया है स्वयं सिद्ध निर्विशेष! वाह वा! वाह वा!! प्यारे वेदान्त! दुःखों का कर दिया तूने पूर्णान्त, न शोक है, न मोह है, एक परब्रह्म ही सच्चिदानन्द संदोह है! न काया है, न माया है! देश काल भी विलाया है, न धूप है न छाया है, वेदान्त केसरी आपही आप समाया है! वाह वा वेदान्त केसरी! तेरी महिमा अपार है, न उसका वार है न पार है, दीन दुखियों का तू मददगार है, मूर्खों को बनाता हुशियार है, डूबतों का कर देता बेड़ा पार है। सचमुच तू भगवान् श्री० शंकराचार्य का अवतार है। नास्तिकों की नावको डुबाता मंझधार है, आस्तिकों को लेजाता भव से पार है। अजर अमर बनाकर कर देता सार का भी सार है। दुनियां भरमें फिरी भटकती, द्वार २ पर शिर पटकती, शान्ति कहीं भी नहीं पाई, जहां गई वहां से निराश ही आई, बहुत ही पुस्तकें पढ़ी पढ़ाई, वृथा ही आयु गवांई। सुख की छींट भी कहीं किसी में नहीं पाई, तेरे पढ़ने से आंखे शीतल हुई, मनकी तपन बुझ गई, जी की जलन शान्त हुई, त्रय ताप मिट गये, अखंड आनन्द से भेट हुई! ग्रन्थ पढ़ते २ दम आगया था नाक में, अब सब धर दिये हैं ताक में, एक वेदान्त केसरी रहता है हाथ में, हाथ में नहीं, आंख में, मनमें और वाक्य में! निर्मल गंगाजी की धारा छोड़कर ताल तलैयों में कौन न्हायगा, सच्चे सुवर्ण के भूषण पाकर गिलट के गहने लादकर कौन बोझ उठायगा, सुधा का सागर छोड़कर कौन मूर्ख क्षार समुद्र में डूबने जायगा! कोई नहीं! मोतीचूर के मोदक खाकर क्या बूरे के लड्डूओं को फिर खायगा? कोई नहीं! अमृत वेदांत को पाकर क्या फिर नश्वर भोगों में आसक्ति करेगा! कोई नहीं! आशा है कि सब भाई बहिनें थोथे इधर उधर की गप्पें सुनाने वाले, शान्त चित्त को भी विक्षिप्त बनाने वाले, धनको हरण करने वाले पत्रों से मुख मोड़कर अखंड शान्तिदायक वेदान्त केसरी को अपनी आंखों का तारा, मनका प्यारा बना

---

* प्रशंसा-पत्र अब छापे नहीं जायेंगे। सम्पादक

फर अविचल स्वराज्य पाकर सर्वदा के लिये सुखी होंगें ।

(छप्पय) सुनिये नित्त वेदांत, केसरी कान लगाके ।
पढ़िये सो ही नित्त, चित्त से प्रेम बढ़ाके ॥
धरिये उसका ध्यान, अन्य से ध्यान हटाके ।
देवे निर्मल ज्ञान, शोक भय मोह मिटाके ॥
'जयदेवी' वेदान्तका, पाठ शांति दातार हैं ।
शिवसे देय मिलाय यह, भवसे करता पार हैं ॥
मंगल ! मंगल !! मंगल !!!

अग जग सेविका जयदेवी ।

सदाचार ।

(गतांक से आगे)

ज्ञेय वस्तुपरित्यात्,
ज्ञानं तिष्ठति केवलम् ।
त्रिपुटी क्षीण तामेति,
ब्रह्म निर्वाण मृच्छति ॥३७॥

अर्थः—ज्ञेय वस्तुका परित्याग करने से केवल ज्ञान शेष रहता है; त्रिपुटी क्षीण होने से वह ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त होता है ।

विवेचन ।

जो कुछ जानने का विषय होता है वह ज्ञेय कहलाता है । परमतत्त्व को यहां ज्ञेयरूप से कथन नहीं किया है क्योंकि यहां ज्ञेय का त्याग दिखलाया है इसीसे जो मन, बुद्धि और इन्द्रियों के विषय होते हैं उसीको ज्ञेय कहा है, यहां ज्ञेय का अर्थ दृश्य है । जितने पृथक् रहकर जाने जाते हैं वे सब दृश्य हैं यानी ज्ञेय है । जानना जानने वाले से होता है, जानने वाला जानने की वस्तुको अपने से पृथक् जानता है, ऐसा ज्ञेय संपूर्ण ब्रह्मांड और ब्रह्मांड के पदार्थ हैं, ये सब माया और माया के कार्य रूप हैं इसीसे वास्तविक नहीं है, अज्ञान से ही उनकी प्रतीति मात्र होती है । सत् स्वरूप का बोध करने वाले मुमुक्षुओं को यह सब दृश्य यानी ज्ञेय का परित्याग करना चाहिये, उनका त्याग करने के बाद जो रहता है वह केवल ज्ञान--ज्ञानस्वरूप ही रहता है वही सबका अपना आत्मा और मायिक पदार्थों का आधार और अधिष्ठान है । ये सब अध्यस्त यानी अवास्तविक होते हुए भी तत्त्वकी सत्ता से भासित होते हैं इससे तत्त्व बोध में वे रुकावट पैदा करने वाले हैं । उस अज्ञान के पसारे को हटा देने से स्वस्वरूप शेष रहता है ।

जहां ज्ञेयरूप दृश्य है वहां उसका द्रष्टा भी रहता है क्योंकि जिस सत्ता का ज्ञेय होता है उसका ज्ञाता भी उसी सत्ता का होय तब उसे जान सकता है । परिच्छिन्न ज्ञेय का ज्ञान करने वाला द्रष्टा भी परिच्छिन्न होता है, जैसा दृश्य मायिक है उसी प्रकार का उसका द्रष्टा भी मायिक है । दृश्य के परित्याग से द्रष्टा की मायिक पृथकता का भी त्याग होता है क्योंकि यह मायिक पृथकता दृश्य रूप ही है । इसीसे जो पृथक् दर्शन है वह भी उसी सत्ता का मायिक है । इसी प्रकार ज्ञेय रूप दर्शन दृश्य के त्याग में पृथक् द्रष्टा, दर्शन और दृश्य रूप त्रिपुटी का भी क्षय होजाता है तब जो स्थिति रहती है उसको ही निर्वाण कहते हैं उसी की प्राप्ति होती है ।

ब्रह्मत्व के विस्मरण से भिन्नत्व की प्राप्ति होती है, भिन्न भिन्नविषयों की कल्पना होती है और कल्पना से विषयाकार होता है। प्रथम जो सद्रूप था उसमें शब्द स्पर्श आदि नाम रूप का आरोप हुआ, इसीसे ब्रह्म को जानता नहीं अपने को उससे भिन्न मानकर भिन्न विषयों की कल्पना से संपूर्ण सृष्टि-ब्रह्मांड का सत् स्वरूप में आरोप मात्र हुआ है, सत् वस्तु में विकार होकर हुआ नहीं है इसी से यथार्थ भी नहीं है, आरोप होने से उनका बाध हो सकता है।

जिस समय नाम रूपात्मक दृश्य-ज्ञेय का परित्याग किया जाता है तब जिसमें आरोपित किया गया था वह सत् स्वरूप-ज्ञान स्वरूप शेष रहता है जो परब्रह्म है इस प्रकार जब परब्रह्म शेष रहता है तब व्यवहार की द्रष्टा दर्शन और दृश्य की त्रिपुटी नहीं रहती, एक अखंड तत्त्व रहता है उसके बोध में स्थिति का होना ब्रह्म निर्वाण है।

वास्तविक तत्त्वका किसी प्रकार नाश नहीं होता अज्ञान के कारण उसका भान न होते हुए भी नाश नहीं होता और आरोपित पदार्थ तो अवस्तु होने से-जिसकी अज्ञान में प्रतीति होती है उसका बाध हो सकता है। जो है नहीं और भासता है ऐसे आरोप का बाध करना बन सकता है। संपूर्ण दृश्य परमतत्त्व में आरोपित होने से मुमुक्षुओं को उसका बाध करके परम तत्त्व का बोध कर लेना चाहिये, जब स्वरूपका साक्षात्कार होजाता है तब तो दृश्य भासे तो भी कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि अब वह मिथ्या होकर भासता है। जैसे मरे हुए मनुष्य का शरीर भासता है परन्तु जो उसमें मनुष्यत्व था वह अब नहीं रहा, इस प्रकार बोध के पश्चात् दृश्य भासता है तो भी अब उसमें अज्ञान के न रहने से सत्यता नहीं रहती।

मनो मात्रमिदं सर्वं,
तन्मनोऽज्ञान मात्रकम्।
अज्ञान भ्रम इत्याहु-
र्विज्ञानं परमं पदम् ॥३८॥

अर्थः—यह सर्व जगत एक मन ही से है, मन अज्ञान से है, अज्ञान केवल भ्रम है, विज्ञान ही परमपद है इस तरह जानो।

विवेचन।

संकल्प विकल्प मनका स्वरूप है, संकल्प विकल्प करने वाला मन है इस प्रकार मन को जाना जाता है। स्थूल शरीरादिक की अपेक्षा मन सूक्ष्म है, प्रकृतिका कार्य है प्रकृति के समान उसकी प्रतीति भी कार्य द्वारा अनुमान से होती है। संकल्प विकल्प को हटा देने से मन की सिद्धि होना ही अशक्य है, ऐसे मन ने अनेक पदार्थादिक की कल्पना की है, जैसे वह कल्पना करता है वैसे उसे पदार्थ का भान होता है। जब अज्ञान से यह मेरी कल्पना है ऐसा भान नहीं होता तब उसे पदार्थ सच्चे प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार संपूर्ण सृष्टि समष्टि मन का कार्य है और व्यष्टि मन का कार्य व्यष्टि सृष्टि है। समष्टि के सहारे से व्यष्टि मन अपनी सृष्टि की कल्पना करके उसी में बन्धन को प्राप्त होता रहता है इसीसे यह संपूर्ण दृश्य पदार्थ सृष्टि और लोक परलोक जो मन का विषय होता है संपूर्ण मन की कल्पना का होने से मन मात्र है। मन से ही भिन्नता है मनको छोड़कर और कोई भिन्नता नहीं है, इसीसे संपूर्ण दृश्य मनोमय है इस प्रकार कथन किया गया है।

मन की कल्पना से युक्त होकर जीव संसार के बन्धन में पड़ा है इसीसे मन ही बन्धन का हेतु कहा जाता है। मन की वृत्तियां उत्पत्ति नाश वाली हैं, क्षण क्षण में बदलती रहती हैं और सुषुप्ति आदि में मन की वृत्तियों का अभाव होजाता है; इसी प्रकार मन स्वयम् बदलने वाला है और उसका बनाया हुआ काल्पनिक जगत भी बदलता रहता है। मन से ही सृष्टि होने से जब तक मन है तब तक सृष्टि का भान होता है, जब मन नहीं होता तब सृष्टि का भान भी नहीं होता है। जाग्रत अवस्था वाले मन से जाग्रत सृष्टि जानी जाती है, स्वप्न के मन से स्वप्न सृष्टि जानी जाती है और सुषुप्ति में मन दबा हुआ होने से मन की सृष्टि भी नहीं रहती, मन की बनाई हुई सृष्टि होने से ही ऐसा होता है।

शरीर की तीनों अवस्था में जीव होता है यदि जीव से ही सृष्टि होती तो तीनों अवस्था में सृष्टि का भान होना चाहिये था परन्तु ऐसा नहीं होता। जाग्रत और स्वप्न में मन प्रगट है वहां सृष्टि भी प्रगट होती है। मन की सृष्टि में मन विहार करता है और जीव अज्ञान से मन से युक्त होकर सुख दुःख को भोगता है और सुषुप्ति में मन के अभाव से जीव का भ्रमण नहीं है; इसी प्रकार तीनों अवस्था से युक्त संसार चक्र में जीव भ्रमण करता रहता है, यदि मन अभाव को प्राप्त हो जाय तो सृष्टि भी असृष्टि और ज्ञान के प्रभाव से मोक्ष होता है।

मन से यह संपूर्ण दृश्य है तब मन को विचारना चाहिये कि मन क्या है? मन जो सचा होय तो मनकी की हुई सृष्टि भी सत्य होय। ग्रंथकार कहता है कि वह मन अज्ञान मात्र है, मन अज्ञान का कार्य है इससे अज्ञान का ही स्वरूप है इसीसे उस करके बना हुआ संसार भी अज्ञान मात्र है अज्ञान छोड़ कर संसार कोई वस्तु नहीं है। अज्ञान को अवस्तु कहते हैं, जहां ज्ञान का भान नहीं होता वहां अज्ञान होता है, उस अज्ञान में अनेक प्रकार के मन की कल्पना का पदार्थ होता है, ये सब कुछ अज्ञान ही है। जैसे मृतिका का कार्य घट, सकोरे आदि अनेक प्रकार के नाम रूप वाले और भिन्न भिन्न उपयोग वाले होते हैं, वस्तुतः सब मृतिका ही है; इसी प्रकार अज्ञान के सब कार्य अज्ञान स्वरूप ही हैं।

ऊपर अज्ञान का कथन किया है वह अज्ञान क्या है? क्योंकि अज्ञान को जाने बिना अज्ञान में से निकल नहीं सकते। ज्ञान का विरुद्ध भाव अज्ञान है, सत् को सत् न समझना अज्ञान है, असत् को सत् समझना अज्ञान है ऐसे सब प्रकार की भ्रान्तिका नाम ही अज्ञान है। भ्रान्तिसे ही कुछ का कुछ भास होता है, भूल को भी अज्ञान कहते हैं, माया, अविद्या भी उसीका नाम है। अज्ञान मिथ्या होने के कारण से जिसमें अज्ञान की कल्पना होती है उसकी सत्ता ही अज्ञान में है। अधिष्ठान चेतन की सत्ता से अध्यस्त का अस्तित्व है, अध्यस्त का अस्तित्व अधिष्ठान से भिन्न नहीं होता। स्वसत्ता रहित अज्ञान होता है और उसमें अज्ञान और अज्ञान के कार्य में भास और प्रियता का भी भान होता है। सारांश अज्ञान केवल भ्रान्ति मात्र है।

अज्ञान के बाद ज्ञान विज्ञान का कथन करते हैं। अज्ञान युक्त मन बन्धन का हेतु है ऐसे ज्ञान युक्त मन मोक्ष को प्राप्त कराता है। अज्ञान को निवृत्त करने वाले को ज्ञान कहते हैं। जैसा जो है उसे ठीक ठीक जानने का नाम ज्ञान है। ज्ञान से आत्मा और अनात्मा कौन है, जाना जाता है।

आत्मा का अनात्मा में अध्यास और अनात्मा के आत्म अध्यास की निवृत्ति होती है। ज्ञान होने से हृदय की जड़ चैतन्य की ग्रन्थि टूट जाती है ऐसे ज्ञान के पूर्ण वर्ताव का नाम ही विज्ञान है। ज्ञान बुद्धि की वृत्ति में होता है और उसका टिकाव बुद्धि का वाध करके स्वरूप में होता है, उसी का नाम विज्ञान है। दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान की स्थिति विज्ञान रूप है। ज्ञान-जानना रूप है और विज्ञान अनुभव रूप है, ज्ञान स्वरूप का नाम विज्ञान है। ज्ञान से जब अज्ञान की निवृत्ति होती है तब ज्ञान की भी आवश्यक्ता नहीं रहती, ज्ञान भी जिसमें शान्त-लय हो जाता है वह विज्ञान है। जिसको परमपद कहते हैं वह विज्ञान है। परमपद कोई स्थान विशेष का नाम नहीं है, स्वस्वरूप में अभेद भाव से स्थिति को परमपद कहते हैं वह विज्ञान स्वरूप ही है। इस प्रकार विज्ञान को जानना चाहिये।

अज्ञानं चान्यथा ज्ञानं,
माया मेतां वदंति ते।
ईश्वरं मायिनं विद्या-
न्मायातीतं निरंजनम्॥३६॥

अर्थः—अज्ञान और विपरीत ज्ञान को माया कहते हैं माया वाला ईश्वर है और मायातीत निरंजन ब्रह्म है।

विवेचन।

अन्यथा ज्ञान को अज्ञान कहते हैं और विपरीत ज्ञान भी अज्ञान है यानी जो जैसा है वैसा न जानने का नाम अज्ञान है, यथार्थ ज्ञान का न होना अज्ञान है, ऐसा ज्ञान अनात्म में आत्मा का है इसीसे वह अज्ञान है। अनात्म स्वरूप में से कोई वस्तु को यानि मन, बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण और शरीरको आत्मा मानना अज्ञान है और आत्मा को अनात्मा मानना भी अज्ञान है यह संपूर्ण अज्ञान माया स्वरूप है, माया अज्ञान शब्द का पर्याय है। माया जादूगर के तमाशे को कहते हैं, जिसे इन्द्रजाल कहते हैं वह माया है, जो अनेक प्रकार के चमत्कार को दिखावे और क्रिया का भी वोध करादे परन्तु वास्तविक में न कुछ चमत्कार हो क्रिया हो, न पदार्थ हो यह माया का स्वरूप है। माया अवस्तु होकर भी बहुत विस्तार वाली होती है माया ने अपने कार्य अविद्या नें जीवको दबा रखा है। अथवा यों कहो कि मायाके कार्य अविद्या में जीव दबा हुआ है इतना ही नहीं ईश्वर भी माया से रहित नहीं है। जीवकी अविद्या जीवके सिर पर चढ़कर संसार और दुःख का अनुभव कराती है और ईश्वर की माया ईश्वर के पैर के नीचे दबी रहती है इसीसे ईश्वरका कुछ अशुभ कर नहीं सकती, मायाका अधिपति ईश्वर कहा जाता है फिर भी माया की हद से ईश्वर की हद का निर्माण होता है। जीव और ईश्वर को पृथक्‌ता का हेतु अविद्या और माया है। जीवकी अविद्या अनेक होने से जीवको अनेक दिखला रही है और ईश्वरकी माया एक होने से ईश्वर एक है। माया एक होने से सब जीवों को सामान्य है और अविद्या व्यष्टि कही जाती है। अविद्या तुच्छ होने से जीव तुच्छ--अल्पज्ञ होता है और अविद्या की अपेक्षा से माया महान् निर्मल और विस्तार वाली होने से उससे युक्त ईश्वर सर्वज्ञ होता है। जीवकी अविद्या निद्रा दोष से होने वाले स्वप्न के समान संसार का हेतु है और ईश्वरकी माया मनोराज के समान दीखती हुई भी ईश्वर को संसार का अथवा दुःख का हेतु नहीं होती। इसी प्रकार जीव, ईश्वर

और जीव, ईश्वर-कृत ब्रह्मांड अविद्या माया का फैलावा मात्र है। ईश्वर मायाको समझता है इसीसे ईश्वर को माया दुःख देने में समर्थ नहीं होती, माया ईश्वर की दासी होकर संसार के कार्य का हेतु होती है। जीव अविद्या को जानता नहीं है इसीसे अविद्या का दास होकर दासत्व करता है और दुःखी होता है। जड़ पदार्थ जो माया के घन भावको प्राप्त है उसे संसार और दुःखका भान नहीं होता परन्तु वह हमेशा संसार और दुःख से रहित स्थिति में रह नहीं सकते; घनता के भोगको समाप्त करके संसार और दुःखका अनुभव करेंगे। इसी प्रकार तत्त्वदर्शी पुरुष स्वानुभव से माया अविद्या को जानकर अवस्तुरूप कहते हैं।

अज्ञान दो प्रकार का है। एक बन्धन करने वाला और दूसरा बन्धनमें से निवृत्त करने वाला। बन्धन करने वाले को अज्ञान कहते हैं और बन्धन में से निवृत्त करने वाले को ज्ञान कहते हैं। जहां अज्ञान होता है वहां ज्ञान होता है इसीसे।ज्ञान भी अज्ञान की कक्षा में है। ज्ञान अज्ञान को निवृत्त करके स्वयम् भी नहीं रहता तब ज्ञान स्वरूप ही शेष रहता है। ईश्वर में रही हुई माया ज्ञान है क्योंकि ईश्वर बोध सहित है, जीवको भी जब ईश्वर के समान अपनी अविद्या का और स्वस्वरूप का बोध होता है तब अविद्या की निवृत्ति से स्वस्वरूप में स्थिति होती है यह स्वस्वरूप की स्थिति ही निरंजन देव है वह ही परब्रह्म है। ईश्वर को माया सहित समझना चाहिये और माया रहित को परब्रह्म समझना।

बहुत से स्थान पर शास्त्रकारों ने परब्रह्म के रूप से ईश्वर का कथन किया है अथवा ईश्वर के रूप से परब्रह्म का कथन किया है, ऐसा कथन परब्रह्म से ईश्वर का अभेद करके किया है। ईश्वर मायिक है तो भी माया का कोई असर उस पर न होने से परब्रह्म ही है। जब मुमुक्षु ज्ञान को प्राप्त करके अज्ञान को काटता है तब जीवनमुक्त स्थिति में शरीर रहते हुए भी परब्रह्म है। तत्त्वका ज्ञाता तत्त्व स्वरूप ही होता है, जिसने तत्त्व को अभेद रूप से जाना वह जानने वाला न रह कर तुरन्त जानने का स्वरूप बन जाता है। कई स्थान में ज्ञानका ज्ञान स्वरूप से अभेद करके कथन किया है परन्तु ऊपर बताया हुआ सूक्ष्म भेद अवश्य है।

सदानंदे चिदाकाशे,
माया मेघस्तडिन्मनः।
अहंता गर्जनं तत्र,
धारा सारोहि वृत्तयः ॥३९॥
महा मोहांधकारेऽस्मिन्,
देवो वर्षति लीलया।
अस्या वृष्टेर्विरामाय,
प्रबोधैक समीरणः ॥ ४० ॥

अर्थ:—सदानन्द रूप चिदाकाश में माया रूप मेघ है, बिजली मन है, गर्जना अहंकार है, धारा वृष्टि वृत्तियां हैं और अन्धकार महा मोह-अज्ञान है। देवलीला से वर्षा करता है, इस वृष्टि को बन्द करने के लिये स्वस्वरूप का बोध रूप वायु ही समर्थ है।

विवेचन।

सत् आनन्द स्वरूप जो चिदाकाश परब्रह्म है उसमें माया-अविद्याका होना किस प्रकार है जीव ईश्वर और जगत् का भेद किस प्रकार हुआ है उसीको मेघ के दृष्टांत से समझाते हैं। यह सब

लीलारूप है, जैसे लीला खेल मात्र होती है; इसी प्रकार यह संपूर्ण जगत का फैलावा खेल मात्र ही है–वास्तविक नहीं है। खेल में वास्तविक तत्त्व की बदली नहीं होती; इसीसे संपूर्ण ब्रह्मांड की रचना जीवका भोग आदि होते हुए भी सच्चिदानंद ज्यों का त्यों ही रहता है, जैसे आकाश में मेघ आदिक उपद्रव की प्रतीति होते हुए आकाश में किसी प्रकार का विकार नहीं होता, अपने स्वरूप में जैसे का तैसा ही रहता है; इसी प्रकार जगत् की प्रतीति में भी परब्रह्म ज्योंका त्योंही है। लीला देखने मात्र की होती है, जब मुमुक्षु जान जाता है कि जगत् लीला है और स्वरूप अखंडित है तब उसके लिये संसार नहीं रहता, उसकी स्थिति स्वस्वरूप में होती है।

सत और आनंद के मध्य में रहा हुआ चैतन्य आकाश स्वरूप है यद्यपि सच्चिदानंद स्वरूप होने से अखंड है, तीनों का भेद नहीं है परन्तु भेद की प्रतीति जिसमें होती है, जो सब का अधिष्ठान है उसको आकाश रूप से कथन किया है। आकाश तीन प्रकार का है, भूताकाश चित्ताकाश और चिदाकाश। पंच महाभूतों का आकाश भूताकाश है, जो ईश्वर सृष्टि का है। चित्ताकाश जीव सृष्टि में रहा हुआ चित्त का आकाश है और चिदाकाश शुद्धाकाश ब्रह्म स्वरूप है उस अवकाश में सृष्टि का भान होता है, उस अधिष्ठान में सृष्टि की प्रतीति होने से ही उस चैतन्य को चिदाकाश कथन किया है यह हमेश रहने वाला आनंद स्वरूप होने से सदानंद है, जैसे आकाश में मेघ होता है इसी प्रकार चिदाकाश में सृष्टि का भान होता है।

वायु मेघ मंडल को एकत्र करके वर्षा करता है इसी प्रकार सदानंद रूप चिदाकाश में जीवन रूप वायु मेघ मंडल यानी जगत प्रपंच को इकट्ठा कर लेत है। जब बादल इकट्ठे होकर वर्षा की तैयारी होती तब बिजलियां चमकने लगती हैं ऐसे चिदाका रूप आकाश में माया से मन चमकने लगता है जैसे बिजली क्षण क्षण में प्रकाश करके चंचल हो है ऐसे मन भी चंचल और क्षण क्षण में प्रकाश वाला है। बिजली के साथ में मेघ की गर्ज होती है इसी प्रकार मनके चमकने के साथ अहंका रूप गर्जना होती है, 'मैं हूँ मैं हूँ' इस प्रकार अनात्म में भान होना अहंकार है। ऐसी अनेक धा प्रवाह से वर्षा होने लगती है–मनकी अनेक वृत्तियां प्रवाह चलता है जैसे वर्षा की धारा छोटी बड़ी टे सीधी अनेक प्रकार की होकर सबको भिगो देती इसी प्रकार मन की वृत्तियां अनेक पदार्थ के भाव भाव से उत्पन्न होकर जीवको वृत्तिमय बना देती वृत्तियां से अनेक प्रकार के सुख दुःख और व्याप्त होती रहती है। वर्षा के समय में चारों तरफ बादल घिर जाने से अन्धेरा होता है इसी प्रकार मा रूप मेघ से अहंकार मन और वृत्तियां छा जाने महा मोह रूप अन्धकार फैल जाता है। जैसे अन्धे में पदार्थ का स्पष्ट बोध नहीं होता; इसी प्रकार मोह रूप अन्धकार में जीव विवेक विचार रहित जाता है।

देव प्रत्यक् आत्म स्वरूप है। माया के अ में उसको लीला करने की इच्छा हुई, इच्छा होते मेघाडंबर सब तरफ इकट्ठा हुआ। जो अखंड चै था उसमें बिजली के सामान क्षण क्षण में प्रका होकर बन्द होने लगा और उसे व्यक्ति भाव प्रतीति होने लगी। जब वह खेल कर रहा हूँ भाव को भूल गया तब वह खेल का एक सच्चा प अपने को समझने लगा, मन, बुद्धि और अहं

शरीरादिक को धारण करके 'मैं जीव हूँ' ऐसे मानने लगा। बहिर्मुख होते ही स्वानुभव स्वरूप के ऊपर परदा पड़ गया, अपने को भूलकर भूलका स्वरूप बन गया। अहंकार की गर्जना ही जीवको भ्रमण कराती है और सुख दुःख रूप संसार की वर्षा में भींजता है, ठंड लगती है और कांपने लगता है; सुख दुःखादिक अविद्या की वर्षा का जोर बढ़ जाने से दुःख का प्रवाह चालू होजाता है और उस प्रवाह में बहता हुआ जीव आगे से आगे चला जाता है, अविद्या प्रवाह में अनेक थपेड़ों सहते हुए शरीर से घायल होता हुआ और चिल्लाता हुआ परवश होकर दुःखी होता रहता है। स्त्री पुत्रादिक सर्प के समान चिपट जाते हैं; काम, क्रोध, मोह, मत्सरादि जंतू पीड़ा दिया करते हैं, कभी ऊपर चढ़ जाता है कभी नीचे लुड़कता है और कोई वस्तु हाथ में आने से "मेरी है मेरी है" करके पकड़ता है इससे दुखी होकर भी वह छोड़ने को समर्थ नहीं होता। कभी कभी घबरा कर मुक्त होने को चाहता है और उसके निमित्त प्रयत्न भी करता है, जितना प्रयत्न करता है उतना दुःख बढ़ता ही जाता है। अनन्त काल भटकते हुए जब अन्तः-करण शुद्ध होता है तब मुमुक्षु बनता है और सद्गुरु की शरण जाकर उनकी कृपा से स्वस्वरूप का बोध रूप वायु फैलता है तब वृष्टि सहित अविद्या का मेघाडंबर निवृत्ति होकर स्वस्वरूप स्थिति को प्राप्त होता है। प्रबोध वायु के सिवाय यह देव लीलारूप मोहांधकार की निवृति नहीं होती। स्वस्वरूप का बोध किस प्रकार का होता है, उसे आगे वर्णन करते हैं।

अपूर्ण।

विश्वेश्वर स्तोत्रम्।

एकं ब्रह्मैवाद्वितीयं समस्तं,
सत्यं सत्यं नेह नानास्ति किंचित्।
एको रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे,
तस्मादेकं त्वां प्रपद्ये महेशम्॥१॥

अर्थः—यह समस्त जगत् एक अद्वितीय ब्रह्म है, सत्य सत्य कहता हूँ यहां पर नानात्व कुछ भी नहीं है। (यह श्रुति है) इससे अद्वितीय एक शिव ही रह जाता है; इस लिये मैं हे महेश! तेरी शरण हूँ॥१॥

एकः कर्ता त्वंहि सर्वस्य शंभो,
नाना रूपेष्वेकरूपोऽप्यरूपः।
यद्वत्प्रत्यक् पूर्ण एकोऽप्यनेक-
स्तस्मान्नान्यं त्वां विनेशं प्रपद्ये॥२॥

अर्थः—हे शंभो, तू ही सबका कर्ता है नाना रूपोंमें तेरा एक ही रूप है, इसलिये तू अरूप है। तू प्रत्यक् रूप से पूर्ण और अद्वैत है तो भी अनेक भासता है; इसलिये हे ईश! मैं तेरे बिना और किसी की शरण नहीं जाता॥२॥

रज्जौ सर्पः शुक्तिकायां च रौप्यं,
पयः पूरस्तन्मृगाख्ये मरीचौ।
यद्वत्तद्वद्विश्वगेश प्रपंचो,
यस्मिञ्ज्ञाते तं प्रपद्ये महेशम्॥३॥

अर्थः—जैसे रज्जु में सर्प, सीपी में रूपा और मरुभूमि में जल भासता है; वैसा यह सब प्रपंच जिसके ज्ञान से मिथ्या हो जाता है; ऐसा हे महेश! मैं तेरी शरण हूँ॥३॥

तोयेशैत्यं दाहकत्वं च वह्नौ,
तापोभानौ शीतभानौ प्रसादः ।
पुष्पे गन्धो दुग्धमध्ये च सर्पि-
र्यत्तच्छंभो त्वं ततस्त्वां प्रपद्ये ॥४॥

अर्थः—जल में शैत्य तू है, अग्नि में दाहक शक्ति तू है, सूर्य का ताप और चन्द्र में आह्लाद तू है। फूल में गंध और दूध में घी तू ही है; इस प्रकार तू सबका सार रूप होने से मैं तेरी शरण हूं ॥४॥

शब्दं गृह्णास्य श्रवास्त्वं हि जिघ्रे-
रघ्राणस्त्वं व्यांघ्रिरायासि दूरात् ।
व्यक्षः पश्येस्त्वं रसज्ञोऽप्य जिह्वः
कस्त्वां सम्यग्वेत्त्यतस्त्वां प्रपद्ये ॥५॥

अर्थः—तेरे कान नहीं है तो भी तू शब्द सुनता है, नाक नहीं है तो भी तू सूंघता है, विना पैर दूर से आता है, विना आंख देखता है और विना जीभ रस का अनुभव करता है। तुझको ठीक २ कौन जान सकता है ? इसलिये अगम्यरूप हे महेश ! मैं तेरी शरण हूँ ॥५॥

नो वेदस्त्वामीश साक्षाद्विवेद,
नोवा विष्णुर्नोविधाताऽखिलस्य ।
नो योगीन्द्रानेन्द्र मुख्याश्च देवा,
भक्तो वेदत्वामतस्त्वां प्रपद्ये ॥६॥

अर्थः—हे ईश ! तुझे साक्षात् वेद भी नहीं जानते, न विष्णु और अखिल जगत् को उत्पन्न करने वाला ब्रह्मा भी जानते हैं; तुझे बड़े २ योगी भी नहीं जानते, न देव या उनके राजा इन्द्र भी तुझे जानते हैं; तुझे केवल भक्त जानते हैं; इसलिये मैं तेरी शरण हूँ ॥६॥

नो ते गोत्रं नेश जन्मापि नाख्या,
नोवारूपं नैव शीलं न देशः ।
इत्थं भूतोऽपीश्वरस्त्वं त्रिलोक्याः
सर्वान्कामान्पूरयेस्तद्भजे त्वाम् ॥७॥

अर्थः—तेरा कोई गोत्र नहीं है, न जन्म है, न तेरे नाम रूप है या शील वा देश है; ऐसा होते हुए भी तू तीनों लोकों का ईश्वर है और सब काम को तू पूर्ण करता है इसलिये मैं तेरा भजन करता हूँ ॥७॥

त्वत्तः सर्वं त्वं हि सर्वं स्मरारे,
त्वं गौरीशः त्वं च नग्नोऽति शांतः ।
त्वं वैवृद्धस्त्वं युवात्वं च बाल-
स्तत्त्वं यत्किं नास्त्य तस्त्वां नतोऽस्मि ॥८॥

अर्थः—हे काम के शत्रु, सब कुछ तेरे ही से है और तू ही है, तू पार्वतीपति है और तू नग्न भी है, तू अत्यन्त शान्त है, वृद्ध है, तू युवा है, तू बाल है और तू क्या नहीं है ? अर्थात् सब कुछ तू ही है इसलिये मैं तुझे नमस्कार करता हूँ ॥८॥

॥ इति विश्वेश्वर स्तोत्र ॥

महोपनिषत् ।

अब आगे महोपनिषत् कहते हैं पहिले केवल एक नारायण ही था; न ब्रह्मा था न ईश्वर; न जल था न अग्नि या वायु; उस समय यह स्वर्ग और पृथ्वी तथा सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र कुछ भी न थे। [illegible] हुआ । वह अन्तर मे

ध्यान करने लगा, ऐसे उसकी यज्ञ में स्तुति की जाती है, तब उसमें चौदह पुरुष एक कन्या उत्पन्न हुई। दस इन्द्रियां ग्यारहवां मन, (तेज), बारहवां अहंकार तेरहवां प्राण और चौदहवां आत्मा तथा पन्द्रहवीं बुद्धि। पंच तन्मात्रा रूप सूक्ष्म भूत और पंच महाभूत मिलकर यह अकेला ही पचीस तत्त्व हुआ इन पचीस तत्त्वों के परस्पर मेल से प्रधान संवत्सर उत्पन्न हुआ प्रधान संवत्सर से धाता हुआ।

दूसरे की इच्छा करने वाले नारायण ने अब फिर मन से ध्यान किया। उसने आंतर में ध्यान किया तब तीन आंखों वाला, शूलधारी पुरुष उत्पन्न हुआ जो यश, सत्य, ब्रह्मचर्य, तप, वैराग्य, मन, ऐश्वर्य, प्रणव सहित व्याहृतियां तथा ऋग्, यजु, साम, अथर्व और आंगिरस को अंगो सहित धारण करता है, इसी के आश्रय ये सब हैं। इसीलिये यह महादेव सब का ईश्वर है।

दूसरे की इच्छा करने वाले नारायण ने पुनश्च मन से ध्यान किया, आंतर में ध्यान करते हुए उसके मस्तक से पसीना गिरा, वही विस्तार वाला जल है। उससे तेजो रूप सोने का अण्डा उत्पन्न हुआ और उस अण्डे से चतुर्मुख ब्रह्मा उत्पन्न हुआ। उसने पूर्वाभिमुख होकर ध्यान किया, तो 'भू' यह व्याहृति गायत्री छन्द, ऋग्वेद और अग्नि यह देवता; पश्चिम की ओर मुख करके ध्यान किया तो 'भुवर्' यह व्याहृति, त्रिष्टुभ् छन्द, यजुर्वेद और वायु देवता, उत्तराभिमुख होकर ध्यान किया तो 'स्वर्' यह व्याहृति, जगत् छन्द सामवेद और सूर्य देवता तथा दक्षिण की ओर मुख करके ध्यान किया तो 'महर्' यह व्याहृति, अनुष्टुभ् छन्द, अथर्ववेद और सोमदेवता (उत्पन्न हुए।) सहस्रों मस्तक वाले, सहस्रों आंखों वाले, सबका कल्याण करने वाले, विश्व से पर, नित्य, विश्व स्वरूप ऐसे नारायण का उसने ध्यान किया। यह विश्व वह पुरुष ही है, इसी से यह (विश्व) बना रहता है।

उसने मुख नीचे करते हुए और दीर्घ सांस लेते हुए हृदय कमल में पद्म कोश के समान प्रभा वाले, विश्व के ईश्वर और विश्वरूप ऐसे देव का, हृदय कमल में संतति के निमित्त ध्यान किया। उसके हृदय कमल में विश्वतोमुख और विश्व रूप ऐसी प्रचंड अग्नि थी। उसके बीच में बहुत सूक्ष्म और ऊर्ध्व ज्वाला रही हुई है उस ज्वाला में परमात्मा विराजमान है, वही ब्रह्मा वही ईशान और वही इन्द्र है, अक्षर परम और स्वतंत्र है।

॥ इति प्रथम अध्याय ॥

शुक नामक एक महातेजस्वी और स्वरूपानन्द में सदा निमग्न रहने वाले मुनीश्वर थे। जन्म ही से उनको जो सत् है उसकी प्राप्ति होगई थी ॥१॥ इससे इस महामना ने अपने आप ही विवेक से चिरकाल विचार करके ठीक ठीक आत्म निश्चय को प्राप्त किया था ॥२॥ आत्मा में इन्द्रिय, मन आदि की गम नहीं है न वाणी से उसका कथन हो सकता है, इसलिये आत्मा आकाश से भी सूक्ष्म, अणु और केवल चैतन्य स्वरूप है ॥३॥ चैतन्य के अत्यन्त सूक्ष्म अणु में कोटि ब्रह्मांड रेणु के समान उत्पत्ति स्थिति को प्राप्त होकर शक्ति के परिवर्तन से फिर लय को प्राप्त होते हैं ॥४॥ आत्मा में बाह्य दृश्य न होने से उसको आकाश के समान कह सकते हैं, परन्तु वह चैतन्य स्वरूप होने से वह अनाकाश (घन) है। निर्देश की जाय ऐसी कोई भी (पृथक्) वस्तु वह

नहीं है, वह केवल एक सत्ता स्वरूप वस्तु है ॥५॥ सबका प्रकाशक होने से यह चेतन है और उसमें कोई पृथक् रूप से जानने योग्य वस्तु नहीं है, इसीलिये उसको पत्थर (शिला) की उपमा दीजाती है। अपने निर्विकल्प स्थित आत्मा में एक तरंग के चित्र रूप यह जगत् है ॥६॥ यह जगत् उसी का प्रकाश होने से उससे पृथक् नहीं है। जगत् भेद युक्त होते हुए भी उसी का प्रकाश है, इसलिये जगत् की भिन्नता भी उससे पृथक् नहीं है, वही है ॥७॥ आत्मा सर्वगत है, सब से संबंध रखने वाला है, उसके लिये गमन करने के लिये स्थान न होने से वह कहीं जाता नहीं, उसका कोई और आश्रय न होने से वह दृश्य पदार्थ नहीं है परन्तु वह केवल सत्ता स्वरूप है ॥८॥ जो कुछ दिया जाता है उसका परम आश्रय, विज्ञान और आनन्द स्वरूप ब्रह्म है इसलिये चित्त से सब संकल्पों का त्याग करना ही आत्मा को प्राप्त करना है ॥९॥ जाग्रत् बने रहते हुए दृश्य की अप्रतीति होजाय वही आत्मा की प्रतीति या साक्षात्कार है। इस प्रतीति के संकोच विकास ही से जगत् की उत्पत्ति और प्रलय होता है ॥१०॥ वेदान्त वाक्य की निष्ठा का वाणी से ठीक २ वर्णन नहीं होता, मैं सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म ही हूं और कोई नहीं हूँ (यही कह सकते हैं) ॥११॥

अपनी सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ही शुकजी ने यह सब ज्ञान प्राप्त किया और स्वयं प्राप्त किये हुए परब्रह्म में अपने मनको शान्तिपूर्वक रखने लगे ॥१२॥ शुक जी को 'यह वस्तु है' इस प्रकार आत्मा में वस्तुरूप से विश्वास नहीं हुआ था, केवल जलधारा से जिस प्रकार चातक की विरति होती है, उसी प्रकार उस का चित्त क्षणभंगुर भोगों से विरत होजाने से उस का चित्त विषयों से चंचल नहीं होता था ॥१३॥ एक समय यह शुद्ध अन्तःकरण वाले शुकजी मेरु पर्वत पर एकान्त वास कर रहे थे, तब इन्होंने अपने पिता कृष्ण द्वैपायन ऋषि से पूछा—॥ १४ ॥ हे मुने, यह संसार का आडंबर किस प्रकार उत्पन्न हुआ और वह किस प्रकार लय होजाता है ? यह क्या है। किससे है और कब से है ? ॥१५॥ इस प्रकार प्रश्न करने पर आत्मा को जानने वाले व्यासजी ने अपने पुत्र को जो कुछ कहा जा सकता था सब कुछ कहा ॥१६॥ यह तो मैं पहिले ही से जानता था ऐसा विचार कर अपने पिता के कथन को शुकजी ने महत्व नहीं दिया ॥१७॥ भगवान् व्यासजी ने भी पुत्र के इस अभिप्राय को जान लिया और वह फिर अपने पुत्र से बोले कि 'मैं तत्त्व से कुछ नहीं जानता ॥१८॥ राजा जनक मिथिलापुर में रहता है, वह जो कुछ जानने योग्य है सब ठीक २ जानता है उससे तू सब ज्ञान प्राप्त करेगा' ॥१९॥

पिता के इस प्रकार कहने पर शुकजी सुमेरु से उतर कर पृथ्वी पर आये जनक राजा से रक्षित विदेह नगरी को प्राप्त हुआ ॥२०॥ द्वारपालों ने महात्मा जनक को खबर दी कि दरवाज़े पर व्यासजी का पुत्र शुक आया हुआ है ॥२१॥ शुकजी की परीक्षा करने के लिये अवज्ञापूर्वक केवल 'अच्छा' इतना ही कह कर जनक ने सात दिन तक उससे बात ही नहीं की ॥२२॥ उसके पश्चात् उसको आंगन में आने दिया और उत्सुक मन से सात दिन तक उसको वहीं बैठना पड़ा ॥२३॥ उसके पश्चात् उसको अन्तःपुर में बुला लिया परन्तु सात दिन तक राजा के दर्शन ही नहीं हुए ॥२४॥ चंद्र के समान उज्वल कान्ति वाले शुक का उन्मदा युवतियों से तथा भोजन आदि भोगों से जनक ने लालन किया ॥२५॥ परंतु उन भोग के पदार्थों से तथा उनके भोगने से भी जैसे दृढ पीठ वाला पर्वत मंद

वायु से नहीं चलायमान होता; वैसे उनका मन चलित नहीं हुआ ॥२६॥ समान और शुद्ध चित से उज्ज्वल पूर्ण चन्द्र के समान शुकजी आनन्दपूर्वक मौन रहे ॥२७॥ शुकजी का स्वभाव जान जाने पर जनक ने शुकजी को बुला लिया और उनको प्रमुदित देख कर नमस्कार किया ॥२८॥ जिसने जगत् के सब काम समाप्त किये हैं और सब मनोरथ पूर्ण किये हैं ऐसे जनक ने उनका स्वागत करके "तुम्हारी क्या इच्छा है ?" ऐसा शुकजी से पूछा ॥२९॥ 'यह संसार का आडंबर किस प्रकार खड़ा हुआ और किस प्रकार उसका प्रलय हो जाता है यह मुझे त्वरित कहिये।' ॥३०॥ महात्मा जनक ने जिस प्रकार सब कहा, ठीक वैसा ही पहिले उसके बुद्धिमान पिता ने उससे कहा था ॥३१॥ मैंने पहिले अपने आपही जाना था वही विशेषतया मेरे पिता से पूछने पर उसने मुझसे कहा था ॥३२॥ आपने भी हे विद्वद्वर, यही बात कही और यही शास्त्रों के वाक्यों का अर्थ मालूम होता है ॥३३॥ मन के विकल्प से खड़ा हुआ संसार विकल्प के क्षय से विलीन होजाता है, फिर यह दग्धवत् प्रतीत होता है और इसमें कुछ भी सार नहीं है, ऐसा निश्चय होजाता है ॥३४॥ ऐसा क्यों होता है यह मुझे निश्चयपूर्वक सत्य कहो, मैं चित्त से जगत् में भटक रहा हूं तुम्हारे कहने से विश्रान्ति को प्राप्त होऊंगा' ॥३५॥ हे शुक, ज्ञानके सार के सार रूप विज्ञान मैं अब तुझे कहता हूँ सुन, ॥३६॥ इसके जानने से पुरुष तत्काल जीवन्मुक्ति का लाभ करता है ॥३७॥

अपूर्ण

ब्रह्मसूत्र भाषा दीपिका।

(गतांक से आगे)

समाधानः—इसीके उत्तर में यह सूत्र है कि—'इसीलिये जीवात्मा नित्य ज्ञान स्वरूप है;' क्योंकि जीवात्मा की उत्पत्ति ही नहीं होती, अविकारी परब्रह्म ही को उपाधि से जीवत्व की प्राप्ति होती है। 'विज्ञानमानंदं ब्रह्म'। [बृ० ३। ९। २८ (ब्रह्म विज्ञानस्वरूप और आनंद स्वरूप है); 'सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म।' [तै० २। १। १] (ब्रह्म सत्य, ज्ञान स्वरूप और अनंत है।); 'अनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव।' [बृ० ४। ५। १३] (आत्मा भीतर नहीं है, बाहर नहीं है; वह सर्वव्यापी और ज्ञानस्वरूप है) इत्यादि श्रुतियों में परब्रह्म चैतन्य स्वरूप है ऐसा कथन किया है। यदि यह परब्रह्म ही जीव है तो उष्णता और प्रकाश जैसे अग्नि के स्वरूप हैं वैसे जीवका भी नित्य ज्ञान ही स्वरूप है ऐसा विदित होता है। विज्ञानमय की यानी जीवात्मा की प्रक्रिया में इस प्रकार की श्रुतियां हैं कि 'असुप्तः सुप्तानभिचाकशीति' [बृ ४। ३। ११] (वह स्वयं सोता नहीं परन्तु सोई हुई इन्द्रियों का वह प्रकाश करता है—जानता है), 'अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति।' [बृ० ४। ३। ९] (यहां पर यह पुरुष स्वप्रकाश होता है।), 'नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते।' [बृ० ४। ३। ३०] ज्ञाता के ज्ञान का कभी भी नाश नहीं होता।) इत्यादि।

'अथयो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा।' [छां० ८ १२। ४] (यहां जो मैं इसका श्वास लेता हूँ, ऐसे जो जानता है वह आत्मा है) इस श्रुतिमें 'यह मैं जानता हूं, यह मैं जानता हूँ, इस प्रकार से इन्द्रिय द्वारा आत्मा को ज्ञानका अनुसंधान होता है ऐसा कहा

हुआ होने से आत्मा ज्ञान स्वरूप है यही सिद्ध होता है। यदि कहो कि आत्मा नित्य ज्ञानस्वरूप है तो प्राण आदि इन्द्रियां निरर्थक हो जायंगी तो वह ठीक नहीं। क्योंकि ज्ञान के गंध आदि जो विशेष प्रकार के विषय हैं, उनका निश्चय करने के लिये इन्द्रियां उपयोगी हैं। यही बात 'गंधाय घ्राणम्' [छां० ८।१२।४] (गंध के ज्ञान के लिये घ्राण है) इत्यादि श्रुतियों में कहा है।

पूर्वपक्ष में जो कहा है कि—'सोये हुए मनुष्यों को ज्ञान नहीं होता,' उसका श्रुति ने ही निरसन किया है। सोये हुए जीवके विषय में 'यद्वै तन्नपश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति-नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते-ऽविनाशित्वान्नतु तद्द्वितीयमस्ति ततो ऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्।' [बृ० ४। २। २३] (उस समय वह जो देखता नहीं है वह देखते हुए भी नहीं देखता; क्योंकि द्रष्टा के दृष्टि का कभी भी नाश नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है। परन्तु वहां आत्मा से भिन्न कोई वस्तु ही नहीं है जिसको वह देखे।) इत्यादि से यही बात कही है कि यहां जो ज्ञानका अभाव प्रतीत होता है, वह जीवमें ज्ञान शक्ति के अभाव से नहीं है; परन्तु वहां जानने का विषय ही नहीं है इसीलिये ज्ञान नहीं होता। जैसे आकाश में प्रकाश की प्रतीति नहीं होती इसका कारण प्रकाश का स्वरूप नहीं है यह नहीं; परन्तु यहां प्रकाशित करने के लिये कोई वस्तु ही नहीं है, इसीलिये उसकी प्रतीति नहीं होती, इसी प्रकार यह समझना चाहिये। अब वैशेषिक आदि मतों में जो तर्क किये हैं वे श्रुति विरुद्ध होने से मिथ्या है। इसलिये आत्मा नित्य ज्ञान स्वरूप ही है ऐसा ही हम निश्चय करते हैं॥ १८॥

॥ १२ उत्क्रान्तिगत्यधिकरण ॥

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥२।३।१९॥

अन्वय और अन्वयार्थः—[जीव अणु है क्योंकि उसकी] **उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्** उत्क्रान्ति, गति और आगमन की [श्रुति मिलती हैं]।

टीका:—अब यहां जीवका परिमाण कौन है इसका विचार किया जाता है कि क्या वह अणु परिमाण वाला है, मध्यम परिमाण वाला है या महत्परिमाण वाला है।

शंका:—आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती; क्योंकि वह नित्य ज्ञान स्वरूप है ऐसा पूर्व सूत्र में ही प्रतिपादित किया है। इसलिये परमात्मा ही जीव है ऐसा प्राप्त हुआ और परमात्मा अनंत है यह श्रुतिमें प्रसिद्ध है तब जीवके परिमाण का यहां विचार ही कहां कर सकता है ?

समाधान:—यह ठीक है, परन्तु श्रुतिमें जीवकी उत्क्रान्ति, गति और आगमन कहा है इसलिये जीव मर्यादित है यही प्रतीत होता है। वैसेही, कहीं श्रुतिमें जीव अणु परिमाण है ऐसा स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन है। इसलिये इन श्रुतियों में आपस में विरोध नहीं है यह प्रतिपादित करने के लिये यह विचार प्रारंभ किया है।

पूर्वपक्ष—श्रुतिमें जीवकी उत्क्रान्ति, गति और आगमन का कथन है इसलिये जीव मर्यादित परिमाण वाला अर्थात् अणु परिमाण वाला है। 'स यदा ऽस्माच्छरीरादुत्क्रामतिसहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामति' [कौषीत० ३। ३] (जब वह इस शरीर में से निकल जाता है तब वह इन वाक् आदि सबके सहित ही निकल जाता है।), इस श्रुतिमें उत्क्रान्ति

का कथन है। 'ये वैके चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चंद्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति।' [कौषीत० १ । २] (जो जीव इस लोक से प्रयाण करते हैं वे सब चन्द्र लोक ही को प्राप्त होते हैं), इस श्रुतिमें जीवकी परलोक में गति बताई है और 'तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे।' [बृ० ४ । ४ । ६] (उस लोक से जीव इस लोक में कर्म करने के लिये वापिस आता है) इस श्रुतिमें उसका पुनरागमन भी बताया है। इस प्रकार जीवके उत्क्रान्ति गति और पुनरागमन का श्रुतिमें कथन होने से वह परिच्छिन्न है यही मानना पड़ता है; क्योंकि व्यापक के गति की कल्पना नहीं बनती और यदि जीव परिच्छिन्न है तो वह अणु परिमाण ही है क्योंकि उसके शरीर परिमाण का खण्डन जैन मत के खण्डन में किया गया है ॥ १९ ॥

स्वात्मना चोत्तरयोः॥ २ । ३ । २०॥

अन्वय और अन्वयार्थः—च और **उत्तरयोः** पीछे के दो [गति और आगमन] का **स्वात्मना** अपने आत्मा (कर्ता) के साथ [संबंध होने से जीव अणु ही है]।

टीकाः—जैसे कोई अपने गांवका स्वामित्व विना चलन क्रिया किये भी छोड़ सकता है वैसेही जीवके कर्मोंका क्षय होने पर उसका भी विना चलन क्रिया किये देहका स्वामित्व छुटेगा और इस प्रकार विना हलचल किये भी उसकी उत्क्रान्ति यानी मृत्यु बन सकेगी। परन्तु आगे कहा हुआ उसका परलोक में गमन और फिर से इस लोक में लौटना विना हलचल किये नहीं बन सकता। क्योंकि गम् धातुकी गमन क्रिया का आधार उस गति का कर्ता जो आत्मा उसी के साथ रहता है। इसलिये जब आत्मा का मध्यम परिमाण नहीं है (मध्यम परिमाण का खंडन पूर्व कर चुके हैं) तो उसका गमनागमन तब हो बन सकता है जब कि वह अणु परिमाण हो। और इस प्रकार जीव की गति और आगमन संभवित होने से 'उत्क्रान्ति' का अर्थ भी 'शरीर से अलग होना' ही है ऐसा विदित होता है। क्योंकि यदि जीव देह से पृथक् ही न हो तो उसका परलोक गमन और प्रत्यागमन नहीं हो सकता। क्योंकि 'चक्षुषो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीर देशेभ्यः' (बृ० ४।४।२) (आंख से, शिर से अथवा शरीर के अन्य अवयवों से-जीवके पीछे पीछे प्राण उत्क्रान्त होते हैं।) इस श्रुति में उत्क्रान्ति की क्रिया के अपादान रूप से शरीरके अवयवोंका निर्देश किया है। इसी प्रकार 'स एतास्तेजो मात्राः समभ्याददानो हृदय मेवान्ववक्रामति' (बृ० ४।४।१) (निद्रावस्था में वह तेज के अंश रूप इन्द्रियों को ग्रहण करके हृदय में प्रवेश करता है) 'शुक्रमादाय पुनरेति स्थानम् ।' (बृ० ४।३।११) तेजस्वी ऐसे इन्द्रिय समूह को लेकर वह फिर अपने स्थान पर आजाता है यानी जाग्रत होजाता है) इन श्रुतियों से शरीर के भीतर भी जीव का गमनागमन होता है ऐसा जानने में आता है। इससे भी जीव का अणु परिमाण ही सिद्ध होता है।

नाणुरतच्छ्रुतेरिति, चेन्नेतराधिकारात् ॥२।३।२१॥

अन्वय और अन्वयार्थः—(जीवात्मा) **अणुः** अणु परिमाण **न** नहीं है **अतच्छ्रुतेः** क्योंकि श्रुति में उसका (अणु परिमाण से) भिन्न परिमाण लिखा है, **इति चेत्** यदि ऐसा कहो तो

न वह ठीक नहीं है **इतराधिकारात्** क्योंकि (जहां ऐसा कहा है) वह जीव का प्रकरण नहीं है।

टीका:—ऐसा है तो भी आत्मा के अणुत्व में संदेह है, क्योंकि श्रुति ने उसका अन्य परिमाण भी कहा है। श्रुतिमें आत्माके लिए अणु परिमाणसे अन्य परिमाणका कथन मिलता है जैसे 'स वा एव महानज आत्मायोऽयं विज्ञानमयः प्राणेपु।' (बृ० ४।४।१२) प्राणोंमें जो यह विज्ञानमय है वही महान् और अज ऐसा आत्मा है), 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः।' 'सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म।' (तै० २।१।१) (आत्मा आकाश के समान सर्व व्यापक और नित्य है, ब्रह्म सत्य, ज्ञान स्वरूप और अनंत ऐसा है।) इत्यादि। यदि कहो कि इस प्रकार की श्रुतियां आत्मा के अणु परिमाण का निषेध करती हैं तो यह दोष ठीक नहीं है। क्योंकि (जिस प्रकरणमें ये श्रुतियां आतीं हैं) वह इतर संबंधी है यानी जीव संबंधी नहीं है। परमात्मा के वर्णन में यह भिन्न परिमाण श्रुति कथन करती है। वेदान्त ग्रन्थों में प्रधानता से परमात्मा का ही ज्ञेय रूप से कथन होता है। वैसेही 'विरजः पर आकाशात्' [बृ० ४। ४। २०] (आत्मा दोष रहित और आकाश से भी पर है।), इस प्रकार की श्रुतियों से अतः उन स्थानों पर विशेषरूप से परमात्मा का ही प्रकरण चल रहा है ऐसा स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है। 'योयंविज्ञानमयः प्राणेपु' [बृ० ४। ४। २२] (प्राणों में जो यह विज्ञानमय आत्मा है) इस श्रुतिमें आगे जीवात्मा ही को महान् अवश्य बताया है, परन्तु शास्त्र दृष्टि से यह निर्देश वामदेव के (कथन के) समान औपचारिक है [वामदेव को गर्भ में ही ज्ञान था इसलिये वह गर्भ ही से 'मैं ब्रह्म हूं' ऐसा कहता था]। अर्थात् श्रुतिमें अणुपरिमाण से भिन्न परिमाण का कथन है वह परमात्मा के संबंध में इसलिये जीवका अणुपरिमाण मानने में कुछ विरोध नहीं आता ॥ २१ ॥

स्वशब्दोन्मानाभ्याम् च ॥ २।३।२२

अन्वय और अन्वयार्थः—च स्वशब्दोन्मानाभ्याम् श्रुति के साक्षात् द्वारा तथा [जीव के] अत्यन्त सूक्ष्मत्व के कथन द्वारा [जीवात्मा अणु है यही सिद्ध होता है]

टीका:—जीवका अणु परिमाण इसलिये है कि श्रुतिमें अणुपरिमाण वाचक शब्द सा मिलते हैं। जैसे, 'ऐपोऽणुरात्मा चेतसा वेदित यस्मिन्प्राणः पंचधा संविवेश।' [मुण्ड० ३।१।९ (वह अणु आत्मा अन्तःकरण से जानना चाहि जिसमें पांच प्रकार के प्राण समाविष्ट हुए है इस श्रुतिमें प्राणों के संबंध से जीव ही को बताया है, ऐसा विदित होता है। 'वालाग्र भागस्य शतधा कल्पितस्यच। भागो जीवःसविज्ञेय [श्वेता० ५। ८] (वाल के अग्र के सौ करके और उनमें से एक भाग के पुनः सौ करें तो उसके एक भाग के बराबर जीवात्मा है), श्रुतिमें जीवका जो अत्यन्त सूक्ष्मान ब है इससे भी जीवात्माका अणु परिमाण ही नि होता है। 'आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः।' [श्वे० ५ (अंकुश के अग्र भाग के समान अथवा उससे न्यून आत्मा देखा जाता है), इस श्रुतिमें आत्मा का एक और अत्यन्त निकृष्ट परि बताया है।

अ

उपासना।

इस पुस्तकमें साकार, सगुण, निर्गुण, कार्य ब्रह्मकी तथा कारण ब्रह्मकी आदि कई प्रकार की उपासना को भिन्न २ प्रकार से समझाया है। उपासना की स्थिरता ही से मन एकाग्र होता है, आत्म साक्षात्कार होता है और समाधि की प्राप्ति होती है।

इसमें यह दृष्टान्त आये हैं:—कुमार अवीक्षित और किमिच्छकं व्रत, ध्रुव की तपश्चर्या, धर्मनगर से मुक्तिनाथ तक जाने वाले दो मुसाफिर, गुलाम राजा बना, पांच मित्रों की मुसाफरी, अलौकिक मंदिर, समुद्र पार के देश का राजा, राजकुमार और राजकुमारी, महात्मा के उपदेश से साधु को ॐ दिखा दिया, अर्जुन, दुर्योधन और धात्री की कथा। इसमें उपासना, ब्रह्मोपासना, गायत्री, ॐकार और ब्रह्मतरंग हैं।

इस उपासना के अनुसार अभ्यास करके समाधि तक पहुँचे हुए और आत्म साक्षात्कार किये हुए मनुष्य इस समय भी मौजूद हैं। मूल्य ॥) डाक महसूल अलाहिदा।

वेदान्त दीपिका।

वेदान्त के प्रथम और द्वितीय वर्ष में आये हुए वेदान्त विषयक चौबीस प्रश्नोत्तरों का अपूर्व संग्रह।

इस ग्रन्थ में जिज्ञासु को स्वाभाविकता से होने वाली शंकाओं का अत्यंत मार्मिकता से समाधान किया गया है। वेदान्त के महत्व के ग्रन्थों को पढ़ने पर भी जिन शंकाओं का समाधान न होने से जिज्ञासु का चित्त अशान्त रहता है, वे शंकाएं इस ग्रन्थ को पढ़ने से समूल नष्ट हो जायंगी। ग्रन्थ को पढ़ते समय जो नयी शंकाएं उत्पन्न होंगी उनका समाधान आगे ही मिलने से पाठकों को अत्यंत आनंद होगा।

इसमें प्रत्येक विषय को प्रथम युक्तिपूर्वक समझा कर उसको अधिक दृढ़ करने के लिये प्रसंगानुकूल दृष्टान्त दिये गये हैं, जिससे ग्रन्थ अत्यन्त ही रोचक बन गया है। इसकी भाषा अत्यन्त सरल होने से सामान्य भाषा ज्ञान वाले भी इससे लाभ उठा सकते हैं। ग्रन्थ सबके लिये संग्राह्य है। सजिल्द मूल्य १॥) डाक महसूल अलाहिदा।

चर्पट पंजरिका।

"भज गोविंदं भज गोविंदं" पद्यका विवेचन सहित भाषानुवाद है। अनेक दृष्टांतों से रोचक और बोधप्रद है। सम श्लोकी पद्य भी हैं। मूल्य ।)

व्यवस्थापक—वेदान्त केसरी, बेलनगंज—आगरा

वेदान्त केसरी की छपी हुई पुस्तकें।

वेदान्त केसरी मासिक पत्र—नवाँ साल चालू है वार्षिक मूल्य ३) वर्ष के मध्य में ग्राहक होने वालों को वर्ष के आरंभ से सब अंक लेने होंगे मई मास से वर्ष आरंभ होता है नमूने की कापी मुफ्त नहीं मिलती। एक प्रति का मूल्य पाँच आना।

वेदान्त केसरी—पिछले सातों साल की जिल्द (प्रत्येक बारह अङ्कों की) तय्यार हैं, थोड़ी कापियां शेष रही हैं। श्रीमच्छङ्कराचार्य्य के अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण वेदान्त की प्रक्रिया आगई है।

अधिकारी के लक्षण, गुरु-शिष्य लक्षण, पंचकोष विवेक, जगत्, जीव, ईश्वर, ब्रह्म, माया, अविद्या, ज्ञान, अज्ञान, आसक्ति, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, महावाक्य, जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति; स्वाभाविकता से उठा करते हैं ऐसे चौबीस प्रश्नों के उत्तर, ब्रह्मसूत्र भाषादीपिका, (दूसरे अध्याय के दूसरे पाद के सूत्र २० तक) विवेचन सहित मणिरत्नमाला और चर्पट पंजरिका, छोटे छोटे उपनिषद्, स्तोत्र आदि अनेक लेख आये हैं, जो बोलचाल की बहुत ही सीधी भाषा में युक्तिपूर्वक समझाये गये हैं।

प्रत्येक जिल्द में विषय को स्पष्ट करके समझाने वाले क़रीब पिचहत्तर २ दृष्टान्त दिये गये हैं। बहुत ही रोचक होने से पढ़ने को लेने के बाद पुस्तक छोड़ने को चित्त नहीं चाहता। सामान्य भाषा जानने वाले भी बारम्बार पढ़ने से आत्म-बोध प्राप्त कर सकते हैं। यह पुस्तकें रागी और त्यागी सब के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं, वार्ता के प्रेमियों के मित्र हैं; मुमुक्षुओं के प्राण हैं और ज्ञानियों को विनोदरूप हैं।

आज तक सभी भाषाओं में प्रकट हुए वेदान्त के ग्रन्थ, मासिक पत्र, लेख और व्याख्यानादि सब से ही यह पुस्तकें विलक्षण हैं।

प्रत्येक पुस्तक का मूल्य ३) सम्पूर्ण सैट यानी आठों पुस्तक का मूल्य २४)

कौशल्य गीतावली भाग १—२—वेदान्त केसरी में आई हुई कविताओं का संग्रह। कविता रोचक सरल और ज्ञान के संस्कारों को प्रदीप्त करने वाली तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन रूप हैं। प्रत्येक भाग का मूल्य ।≠)

वेदान्त स्तोत्र संग्रह—श्रीमच्छङ्कराचार्य्य आदि के प्रतिभाशाली वेदान्त के मुख्य २ चुने हुए २१ स्तोत्रों का संग्रह किया गया है और प्रत्येक स्तोत्र का अर्थ भी सरल भाषा में दिया गया है, जो थोड़े पढ़े हुए मुमुक्षुओं को भी नित्य पाठ और श्रवण में अति उपयोगी है। कई संन्यासियों ने भी इसे बहुत पसंद किया है। मूल्य प्रति पुस्तक ॥) सब पुस्तकों का डाक खर्च ग्राहकों को देना होगा।

व्यवस्थापक—वेदान्त केसरी, बेलनगंज—आगरा।

केसरी प्रेस, बेलनगंज आगरा में सूरजभान गुप्त द्वारा मुद्रित और प्रकाशित।

REGD. NO. A. 1821

ॐ

वेदान्त केसरी

मासिक पत्र

पुस्तक ६ } आषाढ़ सं० १९८७ जुलाई १९३० { अंक ३

श्लोक—तावद्गर्जन्तिशास्त्राणि जम्बुका विपिनेयथा।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद्वेदान्त केसरी॥

अर्थ—जब तक महाबलवान् सिंह गर्जना नहीं करता तब तक बन में स्याल खूब गर्जना करते हैं। इसी प्रकार जब तक वेदान्त सिद्धान्त की गर्जना नहीं होती तभी तक अन्य लौकिक शास्त्रों की गर्जना हुआ करती है।



सम्पादक—
ब्रह्मचारी विष्णु,
बेलनगंज—आगरा।

वार्षिक मूल्य ३) एक प्रति का मूल्य ।-)

विषयानुक्रमणिका ।

वेदान्त केसरी के नियम ।

(१) यह पत्र प्रत्येक अंग्रेजी महीने के आदि में निकलता है ।

(२) वेदान्त विषय का विवेचन करना इसका मुख्य प्रयोजन है ।

(३) वार्षिक मूल्य ३) अग्रिम लिया जाता है । बिना मूल्य पत्र किसी को नहीं भेजा जाता है ।

(४) एक अङ्क का मूल्य ।–) नमूने का अङ्क पांच आने के टिकट आने पर भेजा जाता है ।

(५) जिन ग्राहकों के पास पत्र न पहुँचे उनको १५ तारीख तक सूचना देनी चाहिये ।

(६) एक वर्ष से कम के ग्राहक नहीं किये जाते । मध्य में ग्राहक होने वालों को चालू साल के आरम्भ से सब अङ्क लेने होंगे ।

(७) चिट्ठी लिखते समय प्रत्येक ग्राहक को अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखना चाहिये ।

ॐ

वेदान्त केसरी

पुस्तक ९ } आषाढ़ सं० १९८७ जुलाई १९३० { अङ्क ३

अज्ञानी जीव की दशा।

भुजंगी छन्द।

[१]

बिछा एक पर्यंक प्रासाद में है।
वहां एक राजा पड़ा नींद में है॥
नशे में हुआ चूर सोया हुआ है।
नहीं होश क्या राज्यमें हो रहा है॥

[२]

हुई राज्य की ओर से है रुखाई।
करी पास के भूप ने है चढ़ाई॥
किला घेर के शत्रु सैना खड़ी है।
चलो, लूट लो, मार दो हो रही है॥

[३]

मची राज्य में सैन्य में खलबली है।
करें हाय क्या यत्न सूझे नहीं है॥
करी रोक तो भी न पूरी पड़ी है।
प्रजा लूटती आय सैना गई है॥

[४]

प्रजा माल छोड़ा भगी जा रही है।
गया हाय सर्वस्व चिल्ला रही है॥
लगी लूटने द्रव्य को आय सैना।
न दे माल तो जान ही है य देना॥

[५]

पुरी लूट के भूप प्रासाद घेरा।
किया शत्रु चारों दिशा मांहि डेरा॥
प्रधानादि आ भूप को हैं जगाते।
न जागे घनी युक्तियां हैं लगाते॥

[६]

भरी शोक में रानियां आ गई हैं।
दया हाथ पैरादि चेता रही हैं॥
नहीं चेतता रो रहीं झींकती हैं।
दुखी हो रहीं छातियां पीटती हैं॥

[७]

विवेकी कहें योग्य राजा नहीं है।
बचा प्राण भागो भलाई यही है॥
नहीं रानियों को सके हैं बचाई।
खजाना लुटा आंच भी पास आई॥

[८]

सुने कान से आंख से देखता है।
दुःखी हो रहा है पड़ा औंघता है॥
यही दुर्दशा जीव की हो रही है।
न अज्ञान छोड़े न होता सुखी है॥

विक्षेप दोष।

मनुष्य चाहता है कुछ और कर बैठता है कुछ; एक निश्चय में स्थिर नहीं रहता, कभी कुछ और कभी कुछ इस प्रकार बुद्धि भ्रमण करती रहती है। बुद्धि ही मनुष्य रूप होने से मनुष्य भ्रमण करता रहता है। एक निश्चित ध्येय को धारण करके दृढ़तापूर्वक उसके प्रयत्न में लगे रहना कठिन होता है, ध्याता का ध्येय पर्यंत निर्विघ्न पहुंचना नहीं बनता, ऐसा क्यों होता है? ऐसा होना ही विक्षेप दोष है।

जैसे अधिक हवा में वृक्ष के पत्ते इधर उधर हिला करते हैं एक स्थिति में स्थिर नहीं रहते; वैसे ही पांच विषयों के अनेक प्रकार के पदार्थों में राग द्वेष की हवा से बुद्धि हिलती रहती है स्थिरता को प्राप्त न होने से वह स्वस्वरूप का वास्तविक ज्ञानको होने नहीं देती; यह विक्षेप है।

चित्त के साथ आवरण दोष होने से (कुछ अंधेरे में) चेतन का यथार्थ भान नहीं होता तब चित्तके आवरण दोष के पश्चात् यथार्थ बोध के न होने में-नित्यानित्य के पूर्ण बोध के अभाव में कुछ का कुछ दीखना और अनेक का भान होकर राग आदि को लेकर बुद्धिका भटकते रहना विक्षेप दोष है।

स्वस्वरूप का आवरण, आवरण दोष है। विक्षेप दोष आवरण सहित ही होता है, आवरण रहित विक्षेप नहीं होता क्योंकि आवरण सहित ही विक्षेप की सिद्धि है और आवरण रहित विक्षेप तो देखने मात्रका विक्षेप है, फलको देने वाला विक्षेप नहीं है। स्वस्वरूप के बोध के पश्चात जीवनमुक्त महात्माओं में जो विक्षेप दूसरों की दृष्टि में देखने में आता है वह छाया मात्र ही है, दोषका हेतु नहीं और जीवन्मुक्त की दृष्टि में यह विक्षेप ही नहीं है।

मलदोष जो पाप-मलिनता रूप है उसके सहित और रहित विक्षेप दोष हो सकता है ऐसा विक्षेप ... जब मलदोष की विशेषता होती है उसे मल दोष ही कहना चाहिये; मलदोष सहित चंचलता मल ही है और मलदोष की अधिकता में चंचलता गौण होती है इसीसे मल जड़ता के समान प्रतीत होता है। मल स्थूल रूप वाला है और उसकी अपेक्षा से विक्षेप कुछ सूक्ष्म है। स्थूल सूक्ष्म शरीरों का सम्बन्ध होने से दोनों में स्थूल सूक्ष्म भाव होते हैं परन्तु मल में स्थूल की और विक्षेप में सूक्ष्म की अधिकता होने से स्थूल सूक्ष्म कहे जाते हैं। बुद्धि की अपेक्षा से मन स्थूल होने से मलदोष मनमें और विक्षेप बुद्धिमें समझना चाहिये।

स्थूल पदार्थों का भावाभावरूप संस्कार ... अन्तःकरण में पड़ता है वही अन्तःकरण में चंचलता करके विक्षेप को पैदा करता है। जब तक अन्तःकरण के भावाभावरूप संस्कारों का ... अंश में क्षय नहीं होता तब तक अधिक चंचलता की निवृत्ति नहीं होती। अत्यन्त चंचलता व्यावहारिक और पारमार्थिक कार्यों को सफल होने नहीं देती; निश्चय से ही स्थिरता सहित सब कार्य हो सकते हैं और निश्चय-स्थिरता के विरोधी चंचलता में कार्य की सिद्धि नहीं होती।

विक्षेप दोष रूप चंचलता को हटाने के लिये प्रथम चंचलता को समझना चाहिये। क्या यह बुद्धि की चंचलता स्वाभाविक है अथवा किसी कारण से है? जो स्वाभाविक है, ऐसा माना जाय तो सब मनुष्यों में चंचलता होना चाहिये परन्तु देखने में

आता है कि किसी में चंचलता अधिक और किसी में न्यून होती है और जिसमें चंचलता अधिक है वह भी किसी कार्य में चंचलता रहित होकर कार्य करता है, इसीसे सिद्ध होता है कि चंचलता किसी कारण से ही होती है।

एक पदार्थ का भावको छोड़कर दूसरे पदार्थ का भाव करने में ही चंचलता होती है। राग वाला चित्त रागके समय में पदार्थ को पकड़ता है और राग रहित को छोड़ता है अथवा अधिक राग होने से जिसमें कम राग हुआ है उसे छोड़ता है और विरुद्ध राग यानी द्वेष में भी छोड़ता है, ऐसा होने से वारंवार होने वाले राग द्वेष ही चंचलता का कारण है।

जिस पदार्थ में एक समय जैसा राग हुआ है वैसा राग उसमें हमेशा रहता नहीं इसीसे पदार्थों में राग भी बदला करता है यह राग की बदली चंचलता है। जिसमें राग की अधिकता है और जब तक उसे कोई और राग न्यून करता नहीं है तब तक वह टिकता है उसी समय क्षणिक चंचलता मालूम नहीं होती।

सम्पूर्ण पदार्थों में समूल रागका निवृत्त करना सब किसीसे बन नहीं सकता ऐसा तो आत्म साक्षात्कार की दृढ़ता में ही होना संभव है। जिसको जितना राग कमती होता है उसे इतनी चंचलता कम होती है इसीसे प्रयत्न करके रागको न्यून करने से चंचलता कम होती है।

सिद्ध हुआ कि विक्षेप चंचलता से है और चंचलता राग से होती है, तब राग किससे है? उसका विचार करना चाहिये। राग अनुकूल प्रेमको कहते हैं, अनुकूल प्रेमका नाम राग होने से अनुकूलता एकसा हमेशा नहीं रहती; देश, काल, पदार्थ, वृत्ति, भाव, उपयोग और सामर्थ्यादि के भेद से अनुकूलता में भेद होता है इसीसे राग में भी भेद होता है यही चंचलता का कारण है।

रागका होना अविचार से है, जो रागका विषय नहीं है उसमें राग होता है उसकी सिद्धि अविचार विना नहीं होती। अविचार को ही अविवेक अथवा अज्ञान कहते हैं। यथार्थ विचार का न होना अविचार है; नित्यानित्य, योग्यायोग्य की पहिचान न होना अविवेक है और यथार्थ ज्ञानका न होना अज्ञान है इन तीनों शब्द का अर्थ एकही है। भ्रान्ति, भूल, माया भी उसीको ही कहते हैं।

जो पदार्थ जितनी योग्यता का है उसे उतनी योग्यताका न समझकर अधिक योग्यता वाला समझना अज्ञान है। अधिक योग्यता वाला समझने से ही वह प्रिय होता है, प्रियता ही रागरूप है। आत्म अनात्म का विचार-विवेक न होने से अनित्य, तुच्छ, विकारी और क्षणिक पदार्थ में राग होता है। रागको हटाने के लिये शास्त्र में वैराग्य का कथन है। पदार्थ के बाहर का सौंदर्य देखने से राग होता है, जिसके बाहर सौंदर्यता दीखती है उसीके भीतर में मलिनता है, जब मलिनता का भान होता है तब सौंदर्यता चली जाती है और सौंदर्यता से होने वाला राग भी जाता रहता है राग के जाने से राग से होने वाली चंचलता निवृत्त होजाती है; इस प्रकार दोष दर्शन से वैराग और इससे चंचलता हटती है। रागसे दूषित हुआ मन चंचल होकर बुद्धि को विक्षेप दोष में पटकता है।

मुमुक्षुओं को वर्णाश्रम धर्म के अनुसार बर्ताव करके मलदोष क्षीण करते हुये विक्षेप दोष की निवृत्ति

के हेतु वैराग्य करना चाहिये। दोष दृष्टि से देखना, राग से रहित होना, तिरस्कार करना और विचारपूर्वक सत् स्वरूप में राग करने से जगत् और जगत् के पदार्थों में वैराग्य की सिद्धि होती है। वैराग्य का बारंबार अभ्यास करने से क्रम क्रम से राग न्यून होकर एकाग्रता की सिद्धि होती है। चंचलता निवृत्त करने में एक तत्त्व का अभ्यास भी उपयोगी है और समझ के अनुसार ईश्वर स्वरूप में प्रेम होने से भी अनित्य जगत् और उसके ऐश्वर्य पर वैराग्य होता है। एक विषय में अधिक समय मन, बुद्धि को रखने के अभ्यास से भी बुद्धि को अधिक काल तक एक में रहने की आदत पड़ जाती है यह उपाय भी एकाग्र होने में मदद रूप होता है। जो विषय प्रिय होता है उसीके ऊपर मन स्वाभाविकता से जल्दी स्थिर होता है इसीसे ऐसा कोई एक पदार्थ में वृत्ति को स्थिर करने का अभ्यास करना चाहिये परंतु यह पदार्थ भी ऐसे भावसे युक्त न होना चाहिये जिससे विषय वासना तीव्र होती जाय। वैराग्य सहित एकाग्रता के अभ्याससे विक्षेप दोषकी निवृत्ति होती है, इस प्रकार मनुष्य ज्ञान के अधिकारी के लक्षणों से युक्त होकर स्वस्वरूप के बोध को कर सकता है। आत्म साक्षात्कार के पश्चात् दीखता हुआ विक्षेप किसी उपद्रव को पैदा नहीं कर सकता क्योंकि जिस अज्ञान से वह बलिष्ठ था वह अज्ञान ही नष्ट हुआ है।

जिज्ञासु मनुष्य कई संत महात्माओं से मिलते हैं, संत संग करते हैं अथवा दर्शन के लिये ही जाते हैं ऐसे पुरुषों में से कई ऐसा प्रश्न किया करते हैं कि जैसा प्रश्न एक संत के पास किया गया था वह प्रश्नोत्तर इस प्रकार है:—

एक पुरुष एक संत के पास जाकर कहने लगा:—महाराज मेरा मन बहुत चंचल है, बुद्धि स्थिर नहीं रहती। मैं चाहता हूं कि आप जैसे संत से और शास्त्र में से जो कुछ सुना है उसीके ऊपर अमल करूं, परन्तु मुझसे बन नहीं सकता। मनको मैं किस प्रकार वश करूं? मन की चंचलता किस प्रकार निवृत्त हो? मैं बहुत प्रयत्न करता हूं तो भी सफलता नहीं दीखती। यह तो निश्चय ही है कि जब तक मन वश में नहीं होता तब तक पारमार्थिक का लाभ नहीं हो सकता। बारंबार वैराग्य के भाव को धारण करता हूं परन्तु वह स्थिर नहीं रहता। व्यवहार में भी देखता हूं कि बुद्धि की अस्थिरता से बारंबार ठोकरें खाया करता हूं, सोचता हूँ कि इस प्रकार चांचल्य से हानि न उठाना चाहिये परन्तु जब चांचल्य की वृद्धि हो जाती है तब मेरा किया हुआ सब विचार और निश्चय मट्टी में मिल जाता है। आप कोई सहज उपाय बतलाइये और उपाय द्वारा मेरा मन वश में आने का आशीर्वाद भी दीजिये, मेरा प्रयत्न कुछ काम नहीं आता। आपके आशीर्वाद से मुझे प्रयत्न में सामर्थ्य मिले तब ही मन स्थिर होना संभव है इसके सिवाय मन का वश में करना मेरी सामर्थ्य से बाहर है।

संत:—(जिज्ञासु के युक्तिपूर्वक वचन सुन कर) हंसते हुए बोले-क्या तू मुझे लूटने आया है प्रयत्न भी बतादूं और साथ में सामर्थ्य बढ़ने के लिये आशीर्वाद भी दूं।

जिज्ञासु:—(हंसता हुआ) लूट धनाढ्य के घर हुआ करती है कंगाल के घर क्या मिलेगा आपके पास धन की अधिकता है मेरे जैसे हजारों और लाखों कंगाल मनुष्य आपके धन को लूटें तो भी आपका खजाना खाली हो जाय ऐसा नहीं है। हमेशा पूर्ण का पूर्ण रहने वाला खजाना ही आपके पास है। मेरा निश्चय है कि आप

आशीर्वाद से ही मैं अपना कल्याण कर सकूंगा।

संत:—मेरे पास से मिला हुआ धन रखने का पात्र तेरे पास खाली हो तो श्रवण कर:—मन की शिकायत करना व्यर्थ है मन तो तेरी सामर्थ्य के अनुसार कार्य करने वाला है। तू चैतन है मन जड़ है, जड़ मन तुझे बहकावे ऐसा किस प्रकार हो! तू ही अस्थिर होता है और मन को दोष देता है। जगत् के भाव से भरा हुआ अन्तःकरण में तुझे स्थिरता कैसे हो? तू अपने अन्तःकरण को निर्मल कर। संसारिक अनेक पदार्थों की आसक्ति से तूने अपनी स्वभाव सिद्ध स्थिरता को खो डाली है। वैराग्य विना कोई भी सुखी नहीं होता। चांचलता-दुःख ग्रहण में है और सुख-शांति त्याग में है। जिसको मैंने त्याग-वैराग्य कथन किया है उसे आन्तरिक समझना चाहिये, आन्तरिक वैराग्य न हो और स्थूल पदार्थों का कोई त्याग कर दे तो सुख-शांति को प्राप्त नहीं होता। तू मेरे कहे हुए वचन के अनुसार त्याग करने को समर्थ हो तो तुझे प्रयत्न करते हुए शान्ति प्राप्त हो सकती है।

जिज्ञासु:—आपका कहना यथार्थ है परन्तु मेरा तो कहना यह है कि मैं त्याग करूं कैसे? मैंने ग्रहण किया है, अमुक ग्रहण किया है, अमुक प्रकार से ग्रहण किया है उनका ही मुझे पता नहीं है और आन्तर त्याग करने की कौनसी विधि है यह भी मैं नहीं जानता। त्याग, वैराग्य और तिरस्कार बारंबार करता हूं परन्तु टिकता है क्षण दो क्षण।

संत:—संसार के पदार्थ और उनका भाव को तेंने अन्तःकरण में प्रेम से ग्रहण कर रखा है और अब ग्रहण भी करता ही जाता है व्यवहारादिक में थोड़ा भी प्रेम का भाव आते ही उसके संस्कार अन्तः-करण में घुस जाते हैं; इसी प्रकार संपूर्ण सृष्टि को तेंने अपने आन्तर में ग्रहण कर रखी है। संसार और उसके पदार्थ को विचार दृष्टि से देखा जाय तो प्रेम करने के योग्य नहीं है; अयोग्य से प्रेम करके तू दुःखी हो रहा है तेरे मन की चांचलता का कारण भी वह ही है। इसीसे जब कोई भी भाव भीतर से निकलता हो, किसी विचार परंपरा से आजाता हो अथवा किसी के शब्द के सुनने से होता हो तब उस भाव को काट डाल; उस समय शुद्ध बुद्धि से विचार करने लगजा उसमें तुझे अवश्य दोष दीखेगा, उस पर तिरस्कार कर, ग्लानि को प्राप्त हो। कम से कम एक दिन में बीश पचीस बार उत्थान भावको विवेक-विचार से काट और नियत समय पर शान्ति से बैठ कर मन की चाल को देखा कर और मन को एक विषय में अधिक काल तक रखने का अभ्यास कर। जिस समय मन से जो कार्य लेता हो उस समय दूसरे कोई ख्याल को आने न दे।

तुझे विचार से मालूम होगा कि मन जब एक विषय को छोड़ कर दूसरे विषय को पकड़ता है तब राग की मात्रा अधिक होने से ही पकड़ता है। राग में ही चित्त भागा करता है, राग न हो तो चित्त भागता नहीं है। द्वेष के ख्याल से भी चंचल होता है, द्वेष में भी विरुद्ध भाव का राग भरा हुआ होता है। राग के न्यून होने से विक्षेप दोष न्यून होता है। विक्षेप दोष निवारण करने के पश्चात् आवरण दोष का दूर करना तो बहुत सहज है। जिसने अनित्य पदार्थों में से राग को हटा दिया है उसका मन निर्मल और वशीभूत होता है वह मन पूर्व अज्ञान की दशा वाला नहीं रहता उसका दिव्य जन्म होजाता है और परम शान्ति का हेतु भी वह ही होता है।

चलितचंद्र नामके एक श्रीमान के यहां एक महमान आया वह चलितचंद्र को बाल्यावस्था में

मिला था बाद अब ही आया था। चलितचंद्र के घर में एक रसोई बनाने वाला और एक नोकर के सिवाय अन्य कोई मनुष्य न था। कई वर्षों से यह रसोइया नोकरी करता था, उसने भोजन बनाकर महमान सहित चलितचन्द्र को भोजन करने को बैठाया, भोजन उत्तम प्रकार से बनाया गया था; सब मसाला योग्य प्रमाण में पड़ा था तब भी चलितचंद्र को तरकारी में निमक कम मालूम हुआ वह उग्र होकर बोल उठा 'इतने साल रसोई बनाते हुए भी अभी तक मूर्ख ही रहा, आज तरकारी में निमक डालना भूल गया है कैसा मूर्ख है' रसोइए को मालूम था कि मैंने ठीक प्रमाण में निमक डाला है वह आंखें लाल करके बोल उठा मुझे धिक्कार है। मैं मूर्ख मालिक की नोकरी कर रहा हूं तेरी बुद्धि ठिकाने कहां है तेरे में निमक ही कहां है? तू निमक की पहिचान करे (कुडछली बटलोई में पटकते हुए बोला) ले अपनी धर्मशाला मैं तो जाता हूँ। चलितचंद्र गिड़गिड़ा कर हाथ जोड़ कर बोला, महाराज माफ करिये, मेरी भूल होगई। इस प्रकार रसोइया और मालक का वर्ताव देखकर महमान को बड़ा दुःख हुआ इसने उस समय तो कुछ न कहा परन्तु जब चलितचंद्र एकांत में बैठा था तब उसने कहा ऐसा दुष्ट रसोइया को क्यों नोकर रखा है? मालिक का कुछ समझता नहीं है बेहूदपने से वर्तता है आपके बदले मैं उसका मालिक होता तो उसकी हड्डियां ढीली करके उसी वखत घर से बाहर निकाल देता।

चलितचंद्र ने कहा, मित्र तेरा कहना सच है मैं भी पहिले ऐसा ही किया करता था परन्तु ऐसा करने में मैंने दुःख ही पाया है, तू उसे मेरा नोकर समझता है वह तो मेरा गुरु है, उसी की बारबार ताड़ना से मैं दुःख से बचा हुआ हूँ। मैं इसके संबंध में अपना वृत्तान्त कहता हूँ उसे श्रवण कर:—

तुझे मालूम है कि मैं एक श्रीमान् के यहां जन्म हुआ हूँ। जब मैं योग्य उमर का हुआ तब ही मेरे सब कुटुम्बियों की मृत्यु होगयी, मेरी स्त्री मर गई मेरे घर में और कोई भी मनुष्य न रहा मैं बचपन में लाड़ प्यार से बड़ा हुआ था इसीसे अलं अभिमानी और क्रोधी रहा, मेरी जबान बिगड़ी हुई थी सब से बारंबार गाली गलोंच किया करता था मेरी स्त्री भी मेरा दुष्ट स्वभाव से ही मृत्यु को प्राप्त हुई। मेरा दुष्ट-क्रोधी स्वभाव को आस पास वाले और जाति वाले जान गये थे इससे स्त्री मरने के बाद युवावस्था में भी मेरी दूसरी शादी नहीं हुई! कभी घर का कुछ भी काम मैंने अपने हाथ से किया नहीं था, मैंने मटकी में से अपने हाथ से प्याले में जल लेकर भी पिया नहीं था। घर में रसोइया और नोकर को रखता था परंतु मेरे दुष्ट स्वभाव से कोई टिकता नहीं था, रसोइया अथवा नोकर दो चार दिन से अधिक रहने नहीं पाते कई तो गाली गलोंच से भाग जाते थे कितने ही को मैं मार कर निकाल देता था और कोई २ तो मुझे भी मार कर चले जाते थे। रसोइया अथवा नोकर चला जाता तब सब प्रकार से मुझे दुःख होता था कई दिन घर झाड़ू दिये विना रह जाता। कई भूखा प्यासा ही रहना पड़ता था यहां तक कि कोई दूसरा मनुष्य मुझे कपड़ा न पहनावे वहां तक मैं अपने हाथ से कपड़ा भी पहन नहीं सकता था इस से दुःख ही दुःख सहना पड़ता था। मैं अन्य लोगों से अधिक तनखा रसोइया और नोकर को देता था परंतु मेरे स्वभाव को जानने वाले मेरे पास नोकरी नहीं करते थे, कोई अनजान नोकर रहता तो टिकता नहीं था; इस प्रकार पचासों नोकर रसोइए बदल गये कोई रहता नहीं था और मैं दुख भोगता रहता था।

अधिक दुःख होता था तब मैं निश्चय करता था कि अब से नोकरों के साथ लड़ूँगा नहीं परन्तु प्रसंग आते ही लड़ पड़ता था और नोकरों को न कहने के वाक्य कह देता था, ठीक कार्य हो तब भी दोष निकाला करता था इस प्रकार के स्वभाव से मैं खुद तंग होगया मैं कोई ऐसे उपाय की खोज में था कि मेरा गुस्सा निष्फल चला जाय दश रोज तक कोई रसोइया और नोकर न रहने से मैंने बहुत कष्ट पाया तब यह रसोइया मेरे पास आया, आस पास के लोगों से मेरे स्वभाव का हाल उसे मिल गया था। वह मुझसे बोला मैं रसोंई बनाने का काम करता हूँ मैंने सुना है आपके पास एक रसोई बनाने वाले की आवश्यक्ता है और यह भी सुना है आपका स्वभाव खराब है। मैंने कहा रसोइया की मुझे आवश्यक्ता है और स्वभाव भी मेरा क्रोधी है क्या किया जाय ? रसोईया ने कहा आप मुझे इस शर्त पर नोकर रख सकते हैं कि मैं आपकी एक बात सुनूंगा नहीं आप एक कहोगे तो मैं चार सुनाऊंगा। मेरा कहा सुनना पड़ेगा, आप मुझे गाली गलोंच करके अथवा मार कर निकाल नहीं सकते और मुझे नोकरी से छुड़ा दोगे उसी समय मैं तुम्हारे नाक कान काट लूंगा इस मतलब का एक दस्तावेज़ मुझे लिख कर दे दीजिये। मेरे पास रसोइया न होने से मैं दुःखी था और अपने स्वभाव से भी तंग हो गया था, मैंने उसके कहनेके अनुसार दस्तावेज करके रजिस्ट्री करा दिया, तबसे यह रसोइया मेरे पास है मेरा गुस्सा उसके सामने चलता नहीं है। अब मेरा स्वभाव बहुत अंशमें ठीक हो गया है तो भी कभी कभी पूर्व की प्रकृति प्रकट हो जाती है। जब मैं गुस्सा करता हूं तब रसोइया भी मुझे अनाप सनाप सुना देता है, इससे मेरा गुस्सा चला जाता है, कभी गुस्सा जाता नहीं है तब 'नाक कान कटवाना' पड़ेगा ऐसा ख्याल आते ही गुस्सा नहीं रहता। इस प्रकार मैं अपने रसोइया से बहुत सुखी हुआ हूं। इसलिये मुझे सुखी करने वाला मेरी बुरी आदत को छुड़ाने वाला यह रसोइया ही मेरा गुरु है, जो इस गुरु की मुझे प्राप्ति नहीं होती तो मैं आज कितना दुःखी होता कह नहीं सकता और कदाच इस दुनिया से रुखसत भी ले चुका होता। हे मित्र, यह मेरा वृत्तांत है।

संतः—महमान रसोइया की युक्ति से बहुत प्रसन्न हुआ और चलितचंद्र चंचलता को छोड़कर सुखी हुआ। जो मनुष्य इस प्रकार वैराग्य को अपने पास रखता है, वैराग्यको दस्तावेज कर देने के बाद उसके आधीन होता है तब वह पुरुष अपने चंचल स्वभाव को छोड़ कर शान्त सुखी होता है। जब जब राग एक वचन बोले तब तब वैराग्य दो वचन सुनावे इस प्रकार से वैराग्य को दृढ़ करना चाहिये। वैराग्यके वचन सुनते ही राग के वचन–वेग निष्फल जाते हैं। रागके वचन तिरस्कार के योग्य है। वैराग्य के भाव को ग्रहण करके न निभाना नाक कान कटवाना है, जो नाक कान कटवाने से डरते हैं वे ही वैराग्य का पालन करके सुखी होते हैं।

तू चंचलता से होने वाले दुःखका बारंबार स्मरण कर ऐसा स्मरण से "राग दुःख रूप है" ऐसा भाव तेरे हृदय में दृढ़ होगा, पश्चात् वैराग्य की स्थिरता होगी। बिना वैराग्य चंचलता की निवृत्ति नहीं होवी। मैं जो वैराग्य को दृढ़ करने को कह रहा हूं वह बाहर का त्याग रूप नहीं है, चंचलता आन्तर में है इससे उसके नाश के लिये आन्तर वैराग्य की अधिक आवश्यक्ता है।

चलितचंद्र जिस प्रकार चंचलता से अत्यन्त दुःखी होकर अपने स्वभाव को तीव्रतासे छोड़ने को चाहता था इस प्रकार जब तुझे चंचलता छोड़ने की पूर्ण लौ लग जायगी तब ही तू वैराग्य को ग्रहण करके विक्षेप दोष को निवृत्त करनेका अधिकारी बन जायगा।

तू मेरे धन को लूटने को कहता था वह लूटना कठिन है वैराग्य रूपी किलेमें रहा हुआ आत्मधन जगत् की आसक्तिसे अंधे हुए मनुष्य को दीखता नहीं है और कभी धन दीखे तो ग्रहण नहीं कर सकता और उसके पास उसे रखने का स्थान भी नहीं है। मेरा तुझे आशीर्वाद है कि पूर्ण प्रयत्न से वैराग्य को स्थिर करते हुए विक्षेप दोष को निवारण करके ज्ञानके अधिकारी के मार्ग में प्रवृत्त होगा। परन्तु यह याद रखना कि मेरा आशीर्वाद पूर्ण प्रयत्न सहित ही सफल होगा।

संतके वचन से मनुष्य चौंका और जिस प्रकार कोई भारी निद्रामें से जाग्रत होता है इसी प्रकार वैराग्य से राग के हटाने को कटिबद्ध होकर थोड़े समय में ही अधिकारीके लक्षणों से युक्त हुआ सद्गुरुके उपदेश से अज्ञानको निवारण करके स्वस्वरूप को प्राप्त हुआ।

धारणा।

प्यारे पाठक! आप प्राणायाम का विवरण सुन ही चुके हैं उससे आपको विदित होगया होगा कि प्राणायाम स्वतंत्र साधन है और परम सिद्धि यानी कैवल्य का दाता है, फिर भी प्राणायाम हटयोग की क्रिया है और स्थूल है, सब उसके अधिकारी नहीं हैं हानि का भी उसमें भय है, धारणा मानसी क्रिया है, राजयोग में इसका अंतर्भाव है, इसके अधिकारी सभी होसके हैं, चतुर मनुष्य के लिये इसमें हानि का भी भय नहीं है। मूर्ख के लिये तो पद पद पर हानि है, अणु २ में भ[य] है। परम हितैषी गुरु शास्त्र से भी मूर्ख की तो हा[नि] ही होती है और परम उपकारी माता पिता से [भी] मूढ़ बालक को तो भय ही होता है, इसलिये मू[र्ख] के सिवाय अन्य किसी को धारणा में किसी प्रका[र] की हानि का भय नहीं है।

समस्त ब्रह्मांड धारणा से उत्पन्न हुआ है औ[र] धारणा परही खड़ा हुआ है। स्थावर जंगम अपनी धारणा के अनुसार बने हुये हैं। भाव यह है [कि] पर्वत, वृक्षादिक स्थावर अपनी धारणा से ही अप[ने] को पर्वत वृक्ष मान रहे हैं, पशु पक्षी अपनी धारणा से अपने को पशु पक्षी जान रहे हैं, मनुष्य अप[नी] धारणा से अपने को मनुष्य समझते हैं और इ[न्द्र] चन्द्रादि देवता अपने को देव मानते हैं। भेद इत[ना] है कि पर्वत, वृक्ष, पशु, पक्षी अपनी धारणा में [इस] जन्म के लिये अथवा आगे के जन्म के लिये [कोई] परिवर्तन नहीं कर सक्ते, और देवता भी विशेष[कर] के अपनी धारणा में परिवर्तन करना नहीं चाह[ते] क्योंकि कई तो उनमें से मुक्त ही हैं और बहुत[से] भोग की और आयु की बाहुल्यता से अपनी धार[णा] में परिवर्तन करना नहीं चाहते। मनुष्य अप[नी] धारणा में इस जन्म के लिये अथवा आगे के जन्म[के] लिये परिवर्तन कर सक्ता है। यदि तीव्र धार[णा] होती है और इसी लोक की होती है और कोई प्रतिबंधक पूर्व कर्म भी नहीं होता, तो धारणा [का] फल इसी जन्म में प्राप्त होजाता है और दूसरे [जन्म] के लिये धारणा होती है, तो प्रतिबंध के क्षय हो[ने] पर फल देती है। सारांश यह है कि मनुष्य अ[पनी]

को जैसा दुखी और परतंत्र समझ रहा है, ऐसा ही नहीं किंतु अपने को जैसा चाहे, देर अथवा सवेर वना सक्ता है।

छोटो मोटो सिद्धियों की तो बात ही क्या है। यदि मनुष्य धारणा करे तो पृथिवी समान क्षमा वाला बन सक्ता है, चन्द्र समान शीतल बन सक्ता है, सूर्य समान तेज वाला बन सक्ता है, कुबेर समान श्रीमान् बन सक्ता है, इन्द्र समान ऐश्वर्य वाला बन सक्ता है, शेष समान बलवाला बन सक्ता है, ध्रुव समान अचल बन सक्ता है, ब्रह्मा समान सृष्टि की उत्पत्ति करने वाला बन सक्ता है, विष्णु के समान पालन करने वाला बन सक्ता है और रुद्र के समान सबका संहार करने वाला बन सकता है अधिक क्या कहें स्वतंत्र, परम सुखो स्वयं ब्रह्म बन सक्ता हैं। यद्यपि वेदवेत्ताओं के मत से ब्रह्म बन सक्ता हैं, ऐसा कहना महापातक रूप है क्योंकि जीव स्वयं ब्रह्म है ही, इसमें श्रुति, स्मृति और संतों का अनुभव प्रमाण हैं, फिर बन सक्ता है ऐसा कहना सर्वथा विरुद्ध है, फिर भी व्यवहार में ऐसा कहने में आता ही है। जैसे मनुष्य अपने को ऊंचा बना सक्ता है, इसी प्रकार नीचा भी बना सक्ता है। यद्यपि नीचा बनना कोई नहीं चाहता, फिर भी अज्ञान वश ऐसी धारणा कर बैठता है और सहजही में नीच बन जाता है। जैसे किसी को लोभ विशेष बढ़ जाने से लोभ की भावना दृढ़ होगई तो उसके लिये सर्प की योनि तैयार है, यदि किसी को क्रोध की भावना दृढ होगई तो सिंह, व्याघ्रादि योनि प्राप्त हो जायगी, यदि किसी को काम की भावना दृढ़ होगई तो श्वान, कुक्कुट आदि उसे अवश्य होना पड़ेगा, यदि निद्रा में विशेष प्रेम हुआ, तो उसे दूसरे जन्म में वृक्ष हुआ जानना, यदि किसी को यह भावना हो आवे कि मैं उछल कर चाहे जिस वृक्ष के फल तोड़ कर खा लिया करूं, ऐसी शक्ति मुझ में आजाय, तो वह आगे बंदर की योनि को अवश्य प्राप्त होगा, यदि किसी को आकाश में उड़ने की भावना होजाय, तो वह यदि पुण्यवान् हुआ तो वायुयान में उड़ेगा, नहीं तो पक्षी तो हो ही जायगा, यदि किसी को तैरने में बहुत प्रेम हुआ, तो संभव है कि वह आगे के जन्म में कछुवा, मगर और मछली होजाय, सारांश यह है कि जिसकी जो भावना होती है, वह देर सवेर पूरी होकर रहती है यह बात कपोल कल्पित नहीं हैं। श्रुति भगवती कहती है कि जो जैसे निश्चय वाला होता है, वैसा ही होजाता है। स्मृति में भी ऐसा ही कहा है कि जो जैसी भावना करता है, अपनी भावनानुसार वह वैसा ही होजाता है। निश्चय भावना और धारणा का एक ही अर्थ है। इसी को एंग्लो भाषा में Will Power कहते हैं। पाठक ! इस लिखने का भाव यह है कि आप ऐसी तुच्छ भावना कभी मत करना, किन्तु सर्वदा उच्च से उच्च भावना करना क्योंकि आप ऋषि मुनियों की संतान हैं और इस वेदान्त केसरी के प्रेमी हैं, जिसका उद्देश्य उच्च से उच्च भावना है। फिर आपको तुच्छ भावना करना शोभा नहीं दे सक्ता। आपको तो निर्विकार कूटस्थ, अक्षय, निरामय, परमामृत भूमा प्राप्तव्य है।

एक बार ब्रह्माजी के पुत्र वशिष्ठजी विचरते २ नीलगिरि पर्वत पर जा पहुंचे। वहां क्या देखते हैं कि काकभुशुंडिजी कथा कह रहे हैं और बड़े २ देवता हंस सारसादिका रूप धारण करके कथा श्रवण कर रहे हैं। वशिष्ठजी भी वहां बैठ गये और

जब विहंग पक्षी कथा समाप्त कर चुका, तो इस प्रकार प्रश्न करने लगे—

वशिष्ट—हे सर्वज्ञ पक्षी ! मैंने सुना है कि आपने बहुत सी सृष्टि प्रलय देखी हैं। प्रलय में तो एक केवल परमेश्वर ही शेष रहता है, सब सृष्टि लय हो जाती है फिर आप उस समय कहां रहते हैं? और फिर कैसे पृथिवी पर आजाते हैं। यह कोई सिद्धि है अथवा भगवद्भक्ति का प्रभाव है।

काकभुशुंडि—(मन में हंसकर) हे विप्रवर ! आप सब जानते ही हैं, फिर भी किसी उत्तम आशयसे पूछते हैं, तो सुनिये, मुझे भगवत् की कथा वर्णन करने में प्रेम है। भगवत् की कृपा से मुझे धारणा की सिद्धि हो गई है, इसलिये जब जिस तत्त्व की मैं धारणा करता हूं, तब उसी तत्त्व स्वरूप हो जाता हूं। जब प्रलय में प्राणियों के कर्म क्षय हो जाते हैं, तब महा मरी फैलती है और सब प्राणी मरने लगते हैं, उस समय मैं पृथिवी की धारणा करके पृथिवी में लय हो जाता हूं। पश्चात् शेष नाग पृथिवी को अपने फणों पर से छोड़ देते हैं और पृथिवी शीर्ण भावको प्राप्त होने लगती है, तब मैं जल की भावना करके जल में लय हो जाता हूं। जब जल अपने कारण रूप तेज में लय होने लगता है, तब मैं तेज की धारणा करके तेज में लय हो जाता हूँ। जब तेज वायु में लय होने को होता है, तो मैं वायु रूप हो जाता हूं। जब वायु आकाश में लय होनेको होता है, तो मैं आकाश में लीन हो जाता हूं और जब आकाश अपने कारण रूप अव्याकृत में लय होने लगता है, तो मैं अव्याकृत स्वरूप हो जाता हूं। जब तक प्रलय रहती है, तब तक अव्याकृत में रहता हूं, और जब फिर सृष्टि की उत्पत्ति होती है, तो फिर धारणा करके क्रम २ से पृथिवी में आकर अपने स्थान नीलगिरि पर आ जाता हूं; इस प्रकार मैं कई सृष्टि और कई प्रल देख चुका हूं। ये सब धारणा का प्रभाव है।

वशिष्टजी यह सुनकर काक भुशुंडि की प्रशंसा करते हुये वहां से चल दिये।

जब सीताजी के स्वयंवर में किसी रा से धनुष न टूटा, तो जनक राजा सीत को कुमारी रहा हुआ जानकर करुणा वश ह राजाओंको उपालम्भ देते हुये पृथिवी को से शून्य बताने लगे थे; तो इस धारणा के प्रभा से ही लक्ष्मणजी ने उच्च स्वर से वच कहकर जनक की समस्त सभा को और पृथिवी दिग्गजों को हिला दिया था। इसी धारणा प्रभाव से जैसे श्यन पक्षी को कपोत अपना शिका दिखाई देता है; इसी प्रकार लक्ष्मणजी को इक्की बार क्षत्रियों को जीतने वाले परशुराम दिखाई दे थे। इसी धारणा के बल से उन्होंने परशुराम स्पष्ट कह दिया था कि हम ईश्वर में आस्था वाले अपने क्षत्रिय धर्म पर आरूढ़ और पूर्ण धारणा वा हैं, इसलिये तुम क्षत्रिय बनकर हम से जीत न सक्ते और जिन क्षत्रियों को तुमने पूर्व में वध कि है, वे तो अपने पाप से मर गये थे। यदि तु ब्राह्मण में अपने ब्राह्मण धर्म की धारणा हो, तुम एक वचन से ही हमको भस्म कर सक्ते कुठार धरना तुम्हारा वृथा है। ब्राह्मणत्व धारणा से तुम हम से जीत सक्ते हो, क्षत्रियत्व धारणा का हमारे समान तुम में बल नहीं है, इस लिये तुम जीत नहीं सक्ते। इसी धारणा के बल श्रीराम ने खर-दूषण सहित चौदह हजार राक्षस को अपना रूप बनाकर एक से दूसरे का वध करा दिया था। इसी धारणा के बल से हनुमानजी छोटे

रूप धारण करके लंका में सीता को ढूंढने लगे थे ! इसी धारणा के बल से सारी लंका को जला दिया था और अपने मित्र विभीषण का घर शेष रक्खा था। इसी धारणा के बल से श्रीकृष्ण ने अकेले ही अनेक राक्षसों का वध किया था, काली नाग को नाथा था और गिरिराज पर्वत को अंगुली पर धारण करके ब्रजवासियों की रक्षा और इन्द्र का अभिमान हरण किया था। इसी धारणा के बल से अर्जुन के जले हुये रथ से भी भगवान् ने दिन भर काम लिया था। इसी धारणा के बल से ही भीष्मजी ने भगवान से भी अस्त्र उठवा लिया था और इसी धारणा के बल से उत्तरायण काल आने तक उन्होंने शर शय्या पर शयन किया था। इस धारणा के बल से ही शिर कटे हुये बभ्रु वाहन ने वृक्ष की शाखा पर बैठकर अठारह दिन तक महाभारत के युद्ध की सैर देखी थी। इस धारणा के बल से ही विश्वामित्र ने नयी सृष्टि रच ली थी। इस धारणा के बल से ही वशिष्ट की कामधेनु ने अनेक प्रकार की सैना रच कर विश्वामित्र को परास्त किया था। इसी धारणा के बल से कामधेनु की पुत्री ने सिंह बनकर दिलीप राजा की गुरु भक्ति की परीक्षा ली थी ! इस प्रकार अनेक दृष्टांत इतिहासों में मिलते हैं। सारांश यह है कि धारणा से कुछ भी प्राप्त होना दुर्लभ नहीं है, सब कुछ प्राप्त हो सक्ता है।

धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों में से पूर्व २ उत्तर का कारण है यानी धारणा ध्यान का कारण है और ध्यान समाधि का कारण है। इसलिये भगवान् सूत्रकार प्रथम धारणा का लक्षण इस सूत्र से कहते हैं। देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥३।१॥ अर्थ—'चित्तस्य'—चित्तका, 'देशबन्धः' किसी देश विशेष के साथ जो संबंध है, वह 'धारणा' धारणा नामक योग का अंग है। अर्थात् मूलाधार आदि किसी चक्र में नासिका, जिह्वा आदि के अग्र भाग में अथवा हिरण्यगर्भ, इन्द्रादिक बाह्य विषयों से वृत्ति द्वारा जो चित्तका संबंध है, उसका नाम धारणा है, भाव यह है कि स्थूल अथवा सूक्ष्म, बाह्य अथवा अभ्यंतर किसी विषय में चित्त को बांध देना यानी लगाये रहना, इसका नाम धारणा है।

विष्णु पुराण में भी धारणा का लक्षण इसी प्रकार कहा है कि प्राणायाम से पवन को और प्रत्याहार से इन्द्रियों को वश करके पीछे चित्त को शुभ आश्रय में स्थित करे शुभ आश्रय का अर्थ शास्त्रोक्त श्रेष्ठ आश्रय है। अर्थात् जिस देव अथवा परमात्मा के रूप में चित्त की अधिक रुचि हो, इसी में चित्त को स्थिर करे।

यद्यपि सूत्र और भाष्य में हृदयादि देशों में चित्त की स्थिति को ही धारणा कहा है तो भी देश रूप आधारों में ब्रह्म विषयक जो चित्त की स्थिति है इसी को धारणा समझना चाहिये, क्योंकि गरुड़ पुराण में ऐसा कहा है कि बारह प्राणायाम करने में जितना समय लगता है, उतने समय तक चित्त को ब्रह्म में स्थित करे और श्रुति में भी जहां कहीं उपासना कही है, वहां निर्गुण अथवा सगुण ब्रह्म की ही कही है, स्थान विशेष की उपासना कहीं नहीं कही है, संत महात्माओं का भी यह वचन है कि भगवद्भक्ति विना कर्म, उपासना और ज्ञान निष्फल है। शरण में आये हुये शिष्य को एक योगेश्वर इस प्रकार उपदेश देता है—

हे शिष्य ! प्रयत्नपूर्वक मन को स्थिर करके भ्रू मध्य में, हृदय में अथवा सहस्रार कमल में सर्वद ध्यान करे ! अथवा तृष्णा और क्रोध का त्याग

करके गणेश, दिनेश, वह्नि, विष्णु, शिव अथवा शिवा, इनमें से जो इष्ट प्रिय हो, उसका सदा ध्यान करे! अथवा प्रणव का सदा ध्यान करे, क्योंकि प्रणव संसार दुःख की औषधि है! अथवा दीपक की लौ के समान प्रभा वाले आत्माका सदा ध्यान करे! अथवा शिव स्वरूप परमबिन्दु का सदा ध्यान करे! अथवा जिस तेजोमय ब्रह्म से यह समस्त ब्रह्मांड आवृत्त है, उस ब्रह्म का ध्यान करे! ध्यान के हजारों उपाय हैं, परंतु सिद्धि की कांक्षा वाले को श्रीगुरु के कथनानुसार प्रयत्नपूर्वक ध्यान करना चाहिये।

ध्यान का फल—हे सोम्य! ध्यान से योगी सर्व दोषों को और सर्व रोगों को जीत लेता है। ध्यान से पाप नष्ट होते हैं और समाधि की सिद्धि होती है। ध्यान विज्ञान देता है, ज्ञान प्रदान करता है, शुभ मति उत्पन्न करता है, श्रद्धा को बढ़ाता है, वीर्य की वृद्धि करता है, महा आनन्द प्राप्त कराता है, शक्ति, सिद्धि, स्मृति और धैर्य का प्रदाता है। सूक्ष्म से भी सूक्ष्म अतीन्द्रिय पदार्थ ध्यान से पुरुषों के जानने में आता है, ध्यान से सत्य का लाभ होता है और देवताओं का पवित्र दर्शन होता है। महायोगी देव का ध्यान करने से देवस्वरूप होने के योग्य हो जाता है और ब्रह्म का ध्यान करने से योगी ब्रह्म पदको प्राप्त होता है, जो कोई मनुष्य तीव्र वेग से जिसकी धारणा करता है धारणा के प्रभाव से उसी को प्राप्त होता है। इसमें संशय नहीं है। मनुष्य विषयों का ध्यान करने से यमालय को जाता है और विश्वेश का ध्यान करने से उत्तम गति को प्राप्त होता है। इसलिये सब इन्द्रियों को सब ओर से हटाकर उनको बारंबार ध्येय विष्णु में यत्नपूर्वक स्थापित करे। प्रत्याहार और धारणा के बल से योगी का चित्त ध्येय में स्थिर हो जाता है। मन सदा इन्द्रियों को वश में करे और बुद्धि की श की सहायता से निरंतर मन को स्थिर करे। अभ्या से सनातन ध्येय में बुद्धि को स्थिर करने से भ भवभय नाशिनी समाधि को प्राप्त होता है, अ तुझे, पंच महाभूतों की धारणा बताता हूं, ध्य देकर सुन,—

पृथिवी की धारणा—पाद से जानु पर्यन्त पृथि का स्थान कहलाता है। पृथिवी चार कोण वा पीतवर्ण वाली और लकार वर्ण वाली है। पृथिवी स्थान में वायु को रोक कर लकार वर्णयुक्त भुज आकार वाले हिरण्मय चतुर्मुख की पांच तक धारणा करे तो पृथिवी पर जय प्राप्त पृथिवी की धारणा से योगी की मृत्यु नहीं होती

जलकी धारणा—जानु से लेकर पायु प जलका स्थान है, जल अर्धचन्द्र, शुक्ल और व वाला है। जल के स्थान में वायु को रोक कर व युक्त किरीटधारी, शुद्ध स्फटिक के समान पीत व धारी, चतुर्बाहु अच्युत नारायण की पांच तक धारणा करने से योगी सब पापों से मुक्त जाता है और फिर उसे जल से मृत्यु होनेका नहीं रहता।

अग्नि की धारणा—पायु से लेकर हृदय अग्नि का स्थान है, अग्नि तीन कोण वाला, और रेफ अक्षर से उत्पन्न हुआ है, अग्नि में को रोक कर रेफ अक्षर से युक्त तीन नेत्र तरुण आदित्य के समान तेज वाले, भस्म से स भूषित प्रसन्न वदन रूपकी पांच घड़ी तक धा करने से योगी अग्नि से नहीं जलता और मंडल में प्रवेश करने से भी उसके शरीरका नहीं होता।

वायु की धारणा—हृदय से लेकर भोओं के मध्य तक वायुक स्थान है। वायु षट् कोण वाला, कृष्ण वर्ण वाला और यकार अक्षर से युक्त है, वायु के स्थान में वायु को रोक कर यकार अक्षर युक्त विश्वतोमुख सर्वज्ञ ईश्वर की पांच घड़ी तक धारणा करे तो वायु के समान आकाशचारी हो जाय और उस योगी को वायु से मरने का भय नहीं रहता।

आकाश की धारणा—भ्रूमध्य से लेकर मूर्धा तक आकाश का स्थान है। आकाश गोल, धूम्र वर्ण वाला और हकार अक्षर युक्त है। आकाश में वायु को रोक कर हकार युक्त शंकर विन्दु रूप महादेव; बाल चन्द्रधारी, स्फटिक के समान, व्योमाकर सदा शिव, सोम्य, पांच मुख वाले, दश भुजा वाले, तीन नेत्र वाले, सर्व आयुध धारणा करने वाले और सर्व भूषणों से भूषित, उमार्ध देह वाले, कारण के कारण की धारणा करने से योगी आकाशचारी हो जाता है और जहां कहीं भी हो, अक्षय सुख भोगता है।

हे शिष्य ! अब चक्रों का संक्षेप से वर्णन करता हूं, ध्यान देकर सुन—

चक्र वर्णन—इस शरीर में अनेक शक्ति चैतन्य केन्द्र है, इन चक्रों को तंत्र शास्त्रवेत्ता पद्म कहते हैं। प्रथम चक्र आधार है। यह चक्र लाल वर्णका चार दल वाला गुदा से ऊर्ध्व और लिंग के नीचे स्थित है। यह निर्वाण मार्ग का मूल है और कुंडली का धारण करने वाला है, इसलिये मूलाधार कहलाता है। लिंग में दूसरा मनोहर स्वाधिष्ठान चक्र है। यह चक्र छे दल वाला, प्रकाशमान, सिन्दुर के उज्ज्वल वर्ण वाला है और प्राण और हंस का स्थान बिजली के समान प्रकाश वाला है। नाभि में मणि की प्रभा वाला मणिपूर तीसरा चक्र दस दल वाला, स्वच्छ और मेघ के समान नील वर्ण वाला है। चौथा अनाहत चक्र हृदय में स्थित है। यह बारह आरे वाला, शब्द ब्रह्ममय बंधूक कुसुम के समान वर्ण वाला है। अनाहत में शुभ्र अष्ट दल कमल स्थित है और नित्य सर्व कामनाओं का देने वाला शिवयुक्त जीव का स्थान है। पांचवां विशुद्ध नाम का महा प्रभा वाला कंठ में स्थित है, सोलह दल वाला, धूम्र रंग वाला और मन को विशुद्धि देने वाला है। तालू में छठा कला चक्र बारह आर वाला, लाल रंग का है। यह मन का मनोहर स्थान है और ललना कहलाता है। आज्ञा नामक सातवां चक्र भोओं के मध्य विराजमान है। यहां पर परमात्मा की प्रकाश करने वाली गुरु आज्ञा प्राप्त होती है। यह चक्र दो दल वाला श्वेत, मोक्ष देने वाला उत्तम तीर्थ है, इसमें प्रणव नामक महा बीज विराजमान है। इसी चक्र में महत्तत्त्व और प्रकृति विराजमान हैं और शुद्ध बुद्ध जीवात्मा चक्र के ऊर्ध्व अंश में विराजता है। यहां पर जीवात्मा दीपक की लौ के समान प्रकाशमान् शोभा देता है और आत्म तेज से सुषुम्णा का विवर-पोला स्थान अच्छी प्रकार से भासता है। आठवां मनोचक्र दो दल ऊंचा विराजमान है, यह शब्दादिका स्थान है और छैः दल से युक्त है। ये सब सुषुम्णाके विवर स्थान वाले चक्र हैं, गुरुके आदेशानुसार यथाक्रमसे इनकी धारणा करे। इससे ऊपर शिव देश में सहस्रार विराजमान है। यह महा पद्म महा रहस्य से मंडित ब्रह्म का धाम है। उदय होते हुये आदित्य के समान श्वेत वर्ण वाला है। इसका मुख नीचे को है, यह माहानन्दमय पद्म महा मोक्ष का देने वाला है। इस कमल की कलियों में पावन सोम चक्र स्निग्ध, ज्योतिर्मय, निर्मल षोडष आर वाला है। सोमचक्र में निरालम्बपुर शुद्ध और बहुत ही सुन्दर है।

यहां पर निर्वाण भाव में स्थित ईश्वर को योगी देखता है। निरालम्बपुर के ऊपर बारह दल का कमल ज्ञान देने वाला और श्रीगुरु के स्थान मणि पीठादि से मंडित है। सहस्रार के ऊपर चंद्रमंडल निर्मल प्रकाश वाला और परम अद्भुत है। चन्द्रमंडल के मध्य में परा शक्ति अमा कला स्थित है, जो ऊर्ध्व शक्ति स्वरूप नित्य उदय रूप निर्मल है। जो कभी परिच्छिन्न न हो, उसका नाम अमा है, यह चन्द्र को सोलहवीं कला है। यह अधोमुख वाली सूक्ष्म लोहित षोडषी कला सदा विश्व का मंगल करने वाली अमृत की धारा बहाया करती है। यहां पर अर्ध चन्द्र की आकृति वाली निबोधिका है, यह अव्यक्त नाद रूप है और तत्त्व ज्ञान की देने वाली है। इसके ऊपर अमाके मध्य में निर्वाण नाम की शुभ कला है। यह इष्टदेव स्वरूप और सहस्र सूर्यों की प्रभा से युक्त है। निर्वाण नाम की कला के मध्य में निबोधिका के ऊपर परविन्दु स्थित है जो शिव और शक्तिसे संयुक्त है परविन्दु में जो शक्ति है, वह निर्वाण शक्ति कहलाती है, यह जीव भूत, जगत् माता, महा माया चिदात्मिका है, कोटि सूर्य की प्रभा से युक्त है। शिव से अभेद वाली शिवा है और निर्वाण की देने वाली प्रेम की धारा बहाने वाली है। विन्दु के मध्य में शून्य, ब्रह्म का अव्यय पद शुद्ध अद्वैत स्वरूप, चिदात्मक, निर्विकल्प, निरालम्ब, निर्विकार, विनिष्क्रिय, मुक्त रूप, परंब्रह्म, निष्कल, देश काल से हीन, व्यायातीत, निरंजन, सत्य, सदानन्द सदा तृप्त है।

—सकल चराचरानुचर भोला।

जगत् ही ब्रह्म है।

एक श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु अपने शिष्य को वेदान्त सहित वेदों का अध्ययन कराकर अधिष्ठान परब्रह्म का लक्ष्य कराते हुए कहने लगे:—हे शिष्य! जैसे रज्जु ही भ्रांति काल में सर्प प्रतीत होता है, इसी प्रकार ब्रह्म ही भ्रांति काल में जगत् रूप होकर प्रतीत होता है। वास्तविक में तीनों काल में रज्जु ही है कभी रज्जु सर्प नहीं हुई, इसी प्रकार ब्रह्म तीनों काल में जगत् नहीं हुआ।

भ्रांति काल में मैं शरीर हूं, मैं मन हूं इस रीति से स्थूल सूक्ष्म संघात में आत्मा की एकता होकर जगत् रूप की प्रतीति होती है, वास्तविक सत्त रूप ब्रह्म का सामान्य रूप है, जो शरीर मन आदि का अधिष्ठान है और आत्मा का असंग, कूटस्थ, नित्य मुक्त स्वरूप का विशेष बोध भ्रांति में नहीं होता।

भ्रांति स्थल में अधिष्ठान का सामान्य रूप भ्रांति का आधार रहता है, इसी प्रकार मिथ्या प्रपंचका आश्रय जो ब्रह्म है उसका सत्‌रूप सामान्य अंश मिथ्या प्रपंच का आधार है।

शिष्य:—हे भगवन्, इस प्रपंच का द्रष्टा कौन है? आत्मा को द्रष्टा कह नहीं सकते क्योंकि वह अधिष्ठान और आधार होता है वह द्रष्टा नहीं हो सकता। जैसे सर्प का अधिष्ठान रज्जु है। वह रज्जु द्रष्टा नहीं हो सकती, किन्तु दूसरा ही पुरुष सर्प का द्रष्टा होता है। इसी प्रकार मिथ्या प्रपंच का अधिष्ठान आधार आत्मा है उससे भिन्न द्रष्टा होना चाहिये उससे भिन्न और कोई नहीं।

गुरु:—अधिष्ठान और आधार दो प्रकार के होते हैं। एक जड़ रूप अधिष्ठान और आधार होता है, दूसरा चेतन रूप अधिष्ठान और आधार

होता है। जैसे सर्प का अधिष्ठान तथा आधार रज्जु जड़ रूप है, स्वप्न का अधिष्ठान और आधार चेतन रूप है। जहां पर जिस वस्तु का जड़ रूप अधिष्ठान और आधार होता है, वहां पर अधिष्ठान तथा आधार से भिन्न उस मिथ्या वस्तु का द्रष्टा होता है। जैसे सर्पका आधार और अधिष्ठान जड़ रूप रज्जु है, इससे उस रज्जु से भिन्न कोई पुरुष ही सर्प रूप मिथ्या वस्तु का द्रष्टा होता है और जहां पर मिथ्या वस्तु का चेतन रूप अधिष्ठान तथा आधार होता है, वहां पर अधिष्ठान तथा आधार से भिन्न कोई द्रष्टा नहीं होता, किन्तु अधिष्ठान तथा आधार ही द्रष्टा होता है। जैसे मिथ्या स्वप्न का अधिष्ठान और आधार साक्षी चेतन है, उससे भिन्न कोई द्रष्टा स्वप्न का नहीं है, किन्तु साक्षी चेतन ही द्रष्टा है। इसी प्रकार प्रपंच का अधष्ठान और आधार ब्रह्म रूप चेतन आत्मा ही द्रष्टा है, उससे भिन्न कोई प्रपंच का द्रष्टा नहीं है।

यह जो प्रत्यक्ष का विषय जगत् है, हे शिष्य, उत्पत्ति से पूर्व असत् अर्थात् नामरूप करके प्रकट नहीं हुआ, क्योंकि "कथमसतः सज्जायेत" इस श्रुति प्रमाण से साफ प्रकट होता है कि असत् से अर्थात् शून्य से कैसे व्यवहारिक सत्‌रूप जगत् की उत्पत्ति हो सकती है? इस श्रुति वाक्य ने शून्य से जगत् की उत्पत्ति का निषेध किया है, इसलिये अव्यक्त ब्रह्म से नामरूप संयुक्त जगत् उत्पन्न हुआ। अर्थात् अव्यक्त शब्द का वाच्य जो कि ब्रह्म है, सो अपने को ही जगत् रूप होकर देखने लगा। ब्रह्म आप ही जगताकार हुआ, उसी कारण ब्रह्मको श्रुतियां जगत् का कर्ता कथन करती हैं। इसलिये ब्रह्म ही सम्पूर्ण जगत् का सार भूत है, समस्त जीवोंके सत्त्व प्रधान अन्तःकरण में प्रकट जो ब्रह्मानन्द है उसको प्राप्त होकर सुखी होते हैं। निरुपाधिक ब्रह्मानन्द करके विद्वान् लोग सुखी होते हैं और सोपाधिक आनन्द करके मूर्ख लोग सुखी होते हैं। सम्पूर्ण जीवों को आनन्द का करने वाला होने से आनन्द रूप ब्रह्म ही है, यदि सबका साक्षी भूत हृदयाकाश में अर्थात् बुद्धि रूपी गुहा में स्थित आनन्द रूप आत्मा न हो तो जीवन का हेतु प्राणादिकों के व्यापार को कौन करे। इसी से सिद्ध होता है कि प्राणादिकों का व्यापार भी चेतन के आधीन है और वही चेतन आनंद रूप आत्मा संपूर्ण लोकों को सुख प्राप्त करता है। साधक जिस अवस्था में इस ब्रह्म के अभय पद को प्राप्त होता है, उसी अवस्था में ब्रह्मानंद को भी प्राप्त हो जाता है, क्योंकि उसको अविद्याकृत नानात्व दर्शनका अभाव हो जाता है।

शिष्यः—हे भगवन्, वह साधक, ब्रह्म में अभय प्रतिष्ठा को कैसे प्राप्त होता है?

गुरुः—जो दृश्य प्रपंच से वर्जित है, शरीर से रहित है, जो यह है अथवा वह है ऐसा निर्देश करके नहीं कहा जा सकता, जो किसी के आश्रित भी नहीं है वही ब्रह्म है। हे प्रिय दर्शन, विद्वान् के लिये एकत्व दर्शन ही अभय का कारण है और अविद्वान के लिये नानात्व दर्शन भय का कारण है। जिस अविद्या में यह अनात्मदर्शी उस ब्रह्म में थोड़ा सा भी भेद करता है, यानी वह ईश्वर मेरे से प्रथक् है और मैं उससे प्रथक् हूँ इस प्रकार की भेद भावना करता है, उस भेददर्शी को भय होता है। भेद बुद्धि करने से केवल अविद्वान् को ही भय नहीं होता किन्तु विद्वान् को भी भय होता है। हे सौम्य उपास्यउपासक भाव में भी भय ही होता

है, क्योंकि एक में उपास्य उपासक का भाव बनता ही नहीं, द्वैत में ही उपास्य उपासक भाव होता है।

हे शिष्य ! उसी ब्रह्म के भय करके वायु रातदिन निरन्तर गमन करता रहता है, उसी ब्रह्म के भय से सूर्य नित्य ही उदय अस्त भाव को प्राप्त होता है, उसी के भय से अग्नि प्रज्वलित होती है, उसी के भय से इंद्र वर्षा आदि कार्य को करता रहता है और उसी ब्रह्म के भय से पंचम मृत्यु प्रतिदिन प्राणियों के कर्मों के अनुसार उन के नाश करने को दौड़ता ही रहता है। तात्पर्य यह है कि वायु, सूर्य, अग्नि, इन्द्र और यम ये पांचो जिसके भय से रात दिन अपने अपने कार्य करने के लिये दौड़ते फिरते हैं, उसी को हे प्रिय दर्शन ! तुम ब्रह्म जानो, वही पुरुषोत्तम है। जब वायु आदिको भय का हेतु ब्रह्म है तब इतर जीवों का कहना ही क्या है ? हे सौम्य ! ब्रह्म की प्राप्ति से जो आनंद है वही सब आनन्दों की अवधि है, यानी उसके आगे और आनन्द नहीं है। सब आनन्द उसी के अंतर्गत है, यानी मुख्य आनंद ब्रह्म ही है और सब गौण हैं। इस बातके साबित करने के लिये मानुषानंद से आरम्भ कर के समझाता हूँ सरल बुद्धि से ध्यानपूर्वक तोते की तरह कान लगाकर श्रवण कर।

जो पुरुष यौवन अवस्था वाला हो, सुन्दर रूप और सुन्दर स्वभाव वाला भी हो, सब प्रकार की विद्या से संपन्न हो, ऐश्वर्य वाला हो, माता पिता और आचार्य करके सुशिक्षित भी हो, शूरवीर हो, चित्त करके पूर्ण हो और संपूर्ण पृथ्वी उसके आधीन हो, ऐसे चक्रवर्ती राजा को जितना आनन्द प्राप्त होता है वह मनुष्य संबन्धी एक अंश आनन्द है, और मनुष्यानन्द का सौगुना एक गंधर्वानन्द है, यानी जो कर्म उपासना द्वारा गंधर्व योनि को प्राप्त हुआ है, उसको मानुषानन्द से सौगुना आन[न्द] अधिक प्राप्त होता है। जितना आनन्द उसको उतना ही शुद्ध चित्त निष्काम को मिलता है। गंधर्वानन्द से सौगुना अधिक आनन्द देव यो[नि] जन गन्धर्वों को होता है, यानी उन गंधर्वों को कल्प के आदिमें ही देव योनिमें उत्पन्न हुए [हैं] उतना ही आनन्द शुद्ध चित्त निष्काम विद्वान् [को] होता है। जितना आनन्द देव गंधर्वों को [इस] पदवी में होता है, उससे सौगुना अधिक आन[न्द] अग्निष्वात्तादि पितरों को होता है, यानी जो [पि]तर चिरकाल पर्यंत पितृलोक में सुखको अनुभव क[रते] हैं उतना ही आनन्द शुद्ध चित्त विद्वान् को भी [होता] है। जो आनन्द चिरकाल स्थायी पितरों को [होता] है उससे भी सौगुना अधिक आनन्द आजा[न] देवतों को यानी उन देवतों को जो स्मार्त कर्मों [का] अनुष्ठान करके देव योनिको प्राप्त हुए हैं। इनसे सौगुना आनन्द कर्म देवतों को होता है, यानी श्रौत कर्मों को करके देवता हुए हैं। इनसे सौगुना आनन्द देवतों को होता है, यानी जो [देव] योनिमें प्रथम से ही उत्पन्न हुए हैं। इनसे भी सौ[गुना] अधिक आनन्द देवतों का अधिपति इन्द्र को [होता] है, जो सौ यज्ञ निर्विघ्न समाप्त कर चुका है उसने [यह] पदवी प्राप्त होती है। इससे भी सौगुना [अधिक] आनन्द बृहस्पति को होता है, जो संपूर्ण देव[तों] के गुरु हैं। इससे भी सौगुना आनन्द प्रजापति [को] होता है, प्रजापति नाम विराट् का है जो [सबसे] प्रथम उत्पन्न हुआ है। इससे भी सौगुना [अधिक] आनन्द ब्रह्मा को होता है, उपरोक्त सब [आनन्द] जितना आनन्द ब्रह्मा को होता है, वह सब [आनन्द] निष्काम शुद्ध चित्त विद्वान् को होता है। [यह] आनन्द भी उस ब्रह्मानंद या आत्मानंद का लेश मात्र है, उसी आनन्द की एक मात्रा को संपूर्ण जगत आनन्दित हो रहा है। यही [...]

दासजी ने भी लिखा है–"शीकरते त्रयलोक सुपासी" जगत् प्रकाश्य प्रकाशक रामू। मायाधीश ज्ञान गुण धामू॥ विनु पद चलै सुनै विनु काना। कर विनु कर्म करै विधि नाना। इत्यादि" यह ब्रह्मानंद एक समुद्र है, इसकी एक बूंद मात्र से सम्पूर्ण संसार आनन्द को प्राप्त हो रहा है, इसी कारण से ब्रह्मानन्द निरतिशयानन्द है, निरवधिक आनन्द है। आनन्द ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही आनन्द है, यह जगत् भी एक अंश मात्र आनन्द ही है इसमें श्रुतियों का अनेक प्रमाण है, कि आनन्द से ही यह सर्व उत्पन्न होता है और आनन्द में ही स्थित है और आनन्द में ही लय होजाता है। एक पाद में यह सर्व है और त्रिपाद अमृतमय स्वयं प्रकाश है यानी अकथनीय है "त्रिपाद" इस करके श्रुति ब्रह्मकी अनन्तता दिखाती है वास्तव में अंशा अंशी भाव नहीं है। श्रोत्री हितैषिणी श्रुति श्रोता की बुद्धि में आरूढ़ करने के लिये उसकी भाषा में उत्तर देती है, इससे सिद्ध हुआ कि जगत् ही ब्रह्म और ब्रह्म ही जगत् है। हे सौम्य! ऐसा जान, जिस तत्त्ववेत्ता ने इस अत्यानन्द से एकता की है उसका आनन्द उपरोक्त आनंदों से अनंत गुणा अधिक है, यह सिद्ध हुआ।

शिष्यः—हे भगवन्! जब ब्रह्मानंद की एक मात्रा को लेकर संपूर्ण जगत् के लोक आनंदित होते है, तब तो सम्पूर्ण विषयानन्द भी ब्रह्मानंद का एक अंश मात्र ही हुआ। जैसे हाथ पांव सब शरीर के अंश हैं, शरीर अंशी है, वैसे ब्रह्मानंद भी अंशी है और विषयानंद उसका अंश है तो ब्रह्मानंद और विषयानंद दोनों एक ही हुए। हे भगवन्! तब शास्त्रकारों ने विषयानंद की निंदा क्यों की और महात्मा लोग भी विषयानन्द की निंदा क्यों करते हैं? विषयानंद की निंदा करने से ब्रह्मानंद की निंदा होती है यानी जगत की निंदा करने से ब्रह्म की ही निन्दा हुई, क्योंकि दोनों का अभेद है।

गुरुः—ब्रह्मानंद निरुपाधिक आनन्द है; विषयानन्द सोपाधिक आनन्द है। उपाधि के सम्बंध से विषयानन्द दुःख का हेतु होजाता है, जैसे शुद्ध गंगा का जल बरसात में मल मूत्र आदिकों के सम्बन्ध से रोग का जनक होजाता है, क्योंकि मलिन के साथ उसका सम्बन्ध होता है, इसी प्रकार ब्रह्मानन्द का लेश मात्र जो आनन्द है वह भी विषयों के साथ सम्बन्ध होने से दुःख का जनक होजाता है। वास्तव में वह ब्रह्मानन्द से भिन्न नहीं है, तो भी विषय रूपी उपाधि के भेद से उस का भेद ब्रह्मानन्द से होजाता है और उपाधि को दुःख रूप होने से वह भी दुःख रूप होजाता है। विषयानन्द स्वल्प है और क्षणिक है, क्योंकि उसकी उपाधि स्वल्प व क्षणिक है, इसी कारण से जन्म मरण का हेतु है। यदि विषयानंद करके ही यह जीव संतोष को प्राप्त होजाय, तो फिर महान् नित्यानंद की प्राप्ति इसको कदापि नहीं होगी और जन्म मरण रूपी दुःख की निवृत्ति भी इसकी कदापि नहीं होसकती। हे प्रिय दर्शन! नित्यानन्द की प्राप्ति के लिये और जन्म मरण की निवृत्ति के लिये शास्त्रकारों और महात्माओं ने विषयानन्द की निंदा की है।

जो वस्तु सब से बड़ी हो, अर्थात सर्व जगत् उसके अन्तर्भूत हो उसी का नाम ब्रह्म है, उसी व्यापक ब्रह्म को जो कोई अपना आत्मा करके जानता है, उसीका नाम ब्रह्मवित्त है। वह ब्रह्मवित्त ही देह त्याग के अनन्तर ब्रह्म को प्राप्त होता है, अर्थात् ब्रह्म में लय होकर ब्रह्म रूप होजाता है। हे सौम्य इसी

वार्ता को श्रुति ने कहा है "सत्य ज्ञानमनंतं ब्रह्म" यह ब्रह्म सद्रूप है, ज्ञान स्वरूप है, अनंत रूप है। जो वस्तु स्वरूप भूत भी हो और इतर जड़ पदार्थों से भेद करके लक्षक भी हो, उसी का नाम स्वरूप लक्षण है। सत्यादि ब्रह्म के स्वरूप भी हैं, और इतर जड़ पदार्थों के भेदक भी हैं, इसी वास्ते यह जगत् ब्रह्मका स्वरूप लक्षण है। यह संपूर्ण जगत् माया का कार्य और ब्रह्म का विवर्त है।

हे प्रिय दर्शन ! चाहे इस प्रकार समझ कि सब जगत् संकल्प मात्र है और मैं संकल्प का अधिष्ठान और आधार हूँ जब मैंने संकल्प को नष्ट कर दिया तब संपूर्ण जगत् भी नष्ट हुआ जान, क्योंकि कल्पना अधिष्ठान से रहित होकर नहीं रह सकती। कार्य का कारण में ही लय होता है यह नियम है। इस में श्रुति प्रमाण है "उसी ब्रह्म से शब्द, तन्मात्रा, आकाश प्रथम उत्पन्न हुआ आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधि, औषधि से अन्न, अन्न से रेत यानी वीर्य, रेत से पुरुष यानी वह शरीर उत्पन्न हुआ।" इस श्रुति वाक्य से ब्रह्म ही अधिष्ठान और आधार सिद्ध होता है। हे सौम्य ! स्वप्न द्रष्टा की भांति इस जगत् को जान, जैसे स्वप्न द्रष्टा से स्वप्न भिन्न नहीं होता, निद्रा दोष करके ही स्वप्न की प्रतीति होती है वास्तविक में स्वप्न द्रष्टा ही शेष रहता है, इसी प्रकार अविद्या करके भ्रांति समय में जगत की प्रतीति होती है जब अविद्या की की हुई भ्रांति, अविद्या सहित स्वरूप के बोध से नष्ट हो जाती है तब सर्व का आधार व अधिष्ठान ब्रह्म ही शेष रहता है। भ्रांति काल में ब्रह्म ही जगत होकर प्रतीत होता है इससे सिद्ध हुआ ब्रह्मही जगत और जगत ब्रह्म है।

इस प्रकार जो मुमुक्षु जानकर बर्ताव में ला[वे] वह मृत्यु के मुख से छूटकर अमर हो कभी भी [पुन]रागमन को प्राप्त नहीं होगा। यानी इस दुःख[रूप] संसार अर्थात् संसृति को प्राप्त नहीं होगा। [...] सांख्य आदि इसी के जानने के साधन हैं [...] आकर तीनों दुःखों की निवृत्ति हो चित्तकी वृत्ति[...] निरोध होकर परमानंद की प्राप्ति होती है, अन्[य] नहीं। यही परमपद है, यही विष्णु का धा[म] जहां से लौट कर फिर नहीं आते।

—स्वामी आत्मा[...]

सब तुच्छ ही करता रहा

हरिगीत छन्द।

(१)

बचपन गंवाया खेल में, उन्मत्त यौवन में [...]
सुत दार में आसक्त होकर, भूल ईश्वर को [...]
कर्तव्य अपना नहिं किया, करता रहा नित हाय[...]
आजन्मसे ले आज तक, सब तुच्छ ही करता र[हा]

(२)

आवृत्ति नहिं की वेदकी, नहिं पाठ गीताका कि[...]
नहिं नीति शास्त्र पढ़ा कभी, नहिं धर्म ग्रंथन मन [...]
सत्शास्त्र तो देखे नहीं, दुर्ग्रन्थ ही पढ़ता र[हा]
सत्संग में झांका नहीं, सब तुच्छ ही करता र[हा]

(३)

क्यानित्यवस्तुअनित्यक्या, नविवेकअबतककर[...]
वैराग्य भी कीन्हा नहीं, इस लोक या परलोक [...]
इच्छा करी नहि मोक्षकी, शम आदि से डरता [...]
आसक्त विषयोंमें हुआ, सब तुच्छही करता र[हा]

(४)

यम नियम पांचों नहिं किये, नहिंसिद्धआसनहीकिया।
नहिं प्राणका नहिं इन्द्रियोंका, जय अभी तुझसे भया॥
की धारणा नहिं ध्यान, शिर पर बोझही धरता रहा।
कीन्हा न किंचित स्वच्छ मन, सब तुच्छही करता रहा॥

(५)

नहिंजपकियानहिंतपकिया, नहिंदानअधिकारिनदिया।
नहिंकी क्षमा नहिंकी दया, नहिं तीर्थ व्रत कोई किया॥
संसारिकों के संग में, वे अर्थ ही फिरता रहा।
शिष्टाचरण पाला नहीं, सब तुच्छ ही करता रहा॥

(६)

चोरी करी खेला जुआ, ईर्षा करी चिन्ता करी।
या छल कपट पाखंड करि, शिर पापकी गठरी धरी॥
कामी हुआ लोभी हुआ, क्रोधाग्नि में जलता रहा।
नहिं मार्ग खोजा शांतिका, सब तुच्छही करता रहा॥

(७)

विश्वेशकी नहिं ली शरण, नहिं नाम ईश्वरका भजा।
सुख सिंधु मनमें ईश है, संमोह वश उसको तजा॥
आपत्ति में रोया किया, संपत्ति पा हंसता रहा।
सुख रूप शिव जाना नहीं, सब तुच्छही करता रहा॥

(८)

जो कुछ हुआ सो होगया, बीती हुई अब दे भुला।
तजदे विषय, भज ईश ले, यदि चाहता अपना भला॥
गुरुदेव हितकर वाक्य सुन, भोला मुमुक्षू जगगया।
भव तुच्छसे मुख मोड़कर, ईश्वर भजन में लग गया॥



सदाचार।

(गतांक से आगे)

ज्ञानं दृग्दृश्योर्भानं,
विज्ञानं दृश्य शून्यता।
एक मेवाद्वयं ब्रह्म नेह,
नानास्ति किंचन ॥४२॥

अर्थः—ज्ञान में द्रष्टा दृश्य दोनों का भान रहता है, विज्ञान में दृश्य मात्र का अभाव होजाता है और ब्रह्म एक ही केवल अद्वय है उसमें किसी प्रकार का नानात्व है ही नहीं।

विवेचन।

जगत् में दो पदार्थ हैं एक सत और दूसरा असत। सत एक ही है और असत अनेक भेद से युक्त है। सत्य को देखने वाला द्रष्टा और असत्य को दीखने वाला दृश्य कहते हैं। देखने वाले और दीखने वाले पदार्थ से सब ब्रह्मांड भरा हुआ है। देखने वाला द्रष्टा एक ही है तो भी दृश्य की उपाधियों से द्रष्टा में भी अनेक भेद की प्रतीति होती है; यह अनेकता द्रष्टा की नहीं है दृश्य रूप उपाधि की है। इस तरह उपाधि युक्त द्रष्टा आपेक्षिक द्रष्टा है इससे वास्तविक द्रष्टा नहीं है ऐसा द्रष्टा भी दृश्य रूप ही है, इससे यह सिद्ध हुआ कि देखनेवाला होकर भी दूसरे के देखने का विषय होता है वह सब दृश्य है दृश्य के दो भेद समझो, एक हमेशा दृश्य ही रहता है किसी का भी देखने वाला द्रष्टा नहीं होता और दूसरा भेद जो एक का द्रष्टा है और दूसरे का दृश्य है। वास्तविक द्रष्टा हमेशा द्रष्टा ही रहता है वह किसी का दृश्य नहीं होता ऐसा आत्मा है और अन्य सब अनात्म दृश्य है।

विषय दृश्य हैं, विषय किसी का द्रष्टा नहीं होता। इन्द्रियां विषय की द्रष्टा है और मनका दृश्य हैं। मन इन्द्रियों का द्रष्टा है और बुद्धि का दृश्य है। बुद्धि मन की द्रष्टा है और आत्मा का दृश्य है। इसी प्रकार विषय किसी का द्रष्टा न होने से केवल दृश्य ही हैं और इन्द्रियां, मन, बुद्धि तो एक का द्रष्टा और दूसरे का दृश्य हैं, इसी प्रकार वे सब दृश्य हैं। वास्तविक द्रष्टा तो एक आत्मा ही है क्योंकि आत्मा कभी भी किसीका दृश्य नहीं होता। जो कभी भी दृश्य नहीं होता वह द्रष्टा और सब दृश्य हैं। द्रष्टा और दृश्य के बोध का नाम ज्ञान है दूसरे प्रकार से आत्म अनात्म विवेक का नाम ज्ञान है। यह ज्ञान आत्म स्वरूप की स्थिति के लिये और अनात्म भाव के त्याग के लिये होता है। यह ज्ञान परोक्ष और शास्त्रजन्य है, जिसको वास्तविक ज्ञान कहते हैं जो मोक्ष का हेतु है वह अपरोक्ष होता है उसका नाम ही यहां विज्ञान है, बुद्धि का यहां विज्ञान रूप से कथन नहीं है। ज्ञान स्वरूप जो अनुभव स्वरूप है उसको ही विज्ञान कहा है। ज्ञान आत्मा का होते हुए भी अनात्म का द्रष्टा रूप से था, अनात्मा जो दृश्य है उसीकी अपेक्षा से था। जिस द्रष्टा में से दृश्य का द्रष्टापना निवृत्त होजाता है-दृश्य सामने नहीं रहता, तब दृश्य को देखने वाला द्रष्टा भी नहीं कहा जाता ऐसा जो तत्त्व है जहां संपूर्ण दृश्य लीन होते हैं उसको ही विज्ञान कहते हैं। ज्ञान दृश्य रूप संपूर्ण प्रपंच को हटाने वाला है, इसके बाद रहा द्रष्टा और ज्ञान ये दोनों का भी जहां विलय है उस स्थिति का नाम विज्ञान है। विज्ञान ही परम पद है, दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान जिस तत्त्व का होता है उसी का नाम विज्ञान है; परम पद की प्राप्ति का वह ही साधन और स्थान है। द्रष्टा दृश्यका विवेक विज्ञान का उपकारक है परन्तु जब तक यह दोनों भे… तब तक विज्ञान कहा नहीं जाता। यह वि… एक है, अद्वय है, ब्रह्म है और उसमें किन्चित… नानात्व-भिन्नता नहीं है, सब का आद्यतत्त्व… परब्रह्म है जो सब का अपना आप है।

अन्तिम तत्त्व एक से अधिक नहीं हो स… इसीसे परब्रह्म एक ही है जो अधिक को अन्ति… रखते हैं वे आत्म तत्त्व तक पहुंचे नहीं… अज्ञानकी दशामें उसका बोध नहीं होता तो भी… का आधार और वस्तु स्वरूप होने से वह ए… है। दूसरे तीसरे आदिक की अपेक्षा वाला… समझा जाय ऐसा नहीं है, उसको समझने के… अद्वैत शब्द का भी कथन किया है। ब्रह्म का… व्यापक है ऐसा अद्वैत तत्त्व स्वरूप होने से… माया, अविद्या और उनके सब कार्यों की किंचित… भिन्नता वहां नहीं है यह अद्वय और अव्यक्त… है। अवस्तुस्वरूप माया और अविद्या वस्तु स्व… तत्त्व में भेद करने को कभी भी समर्थ नहीं हो… अज्ञान में पड़े हुए मुमुक्षुओं को समझाने के… अद्वैत आदि शब्दों का उपयोग किया है जब… तत्त्व स्वरूप का अपने आत्मा से अभेद बोध… जाता है तब वह विज्ञान कहलाता है और… विज्ञान ही परम पद है।

द्रष्टा दृश्य का विवेक करने से संपूर्ण… निवृत्त हो जाता है, दृश्य की शून्यता हो जाती है… द्रष्टा वास्तविक स्वस्वरूप में रहता है, उसमें… नामरूप का आरोप ही मात्र था इसी से उ… निवृत्ति हो सकती है और पश्चात् जो शेष… रहता है वह ही मेरा आत्म स्वरूप से… चराचर में विराजमान है इस प्रकार के दृढ़ वि… से विकार भाव रहित स्थिति से यानी दृढ़ अप… ज्ञान से अनादि अज्ञानरूप संसार की उसके…

सहित संपूर्ण निवृत्ति होकर परमानंद की प्राप्ति हो जाना विज्ञान है। विज्ञान ही विज्ञान है अन्य सब कुछ भी नहीं है।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं,
तज्ज्ञानं ज्ञान मुच्यते।
विज्ञानं चो भयोरैक्यं,
क्षेत्रज्ञ परमात्मनोः ॥४३॥

अर्थः—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के ज्ञान को ज्ञान कहते है और क्षेत्रज्ञ और परमात्मा की एकता के अनुभव को विज्ञान कहते है।

विवेचन ।

द्रष्ट। दृश्य के विवेक से विज्ञान को समझाकर अब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के ज्ञान द्वारा विज्ञान को समझाते हैं। क्षेत्र जड़ होता है यह सब कोई जानते हैं, खेत को क्षेत्र कहते हैं। जैसे किसान खेत में से अन्नादि पदार्थों से सुखी दुःखी होता है इस प्रकार क्षेत्रज्ञ-खेतका मालिक जीव शरीर के सुख दुःखादि पैदा करके सुखी दुःखी होता है और शरीर के दुःखादिक को अपना मानता है। खेत से पैदा होने वाले किसान अन्न से भिन्न होता है इसी प्रकार शरीर से और सुख दुःख से जीव भिन्न है तो भी क्षेत्र के अभिमान से अपने को क्षेत्र रूप समझता है। क्षेत्र का मालिक जो क्षेत्रज्ञ है उसकी क्षेत्र के साथ में एकता होगई है इसीसे उसके विवेक की आवश्यक्ता है, विवेक किये विना कितना क्षेत्र है और कितना—किस प्रकार का क्षेत्रज्ञ है ये जानने में नहीं आता। दोनों मिली हुई वस्तु में से दोनों को पृथक् करके भिन्न भिन्न समझना विवेक है, उसके ज्ञान को क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का विवेक ज्ञान कहते हैं।

स्थूल शरीर क्षेत्र है, क्योंकि स्थूल शरीर से ही शुभाशुभ कर्म और मोक्ष की प्राप्ति होती है इसीसे यह क्षेत्र है। स्थूल शरीर जड़ है क्योंकि मरण समय में व्यवहारिक चेष्टा का अभाव देखते हैं इसीसे जड़ता का स्पष्ट बोध होता है और दुर्गंध युक्त व्यवहार के अनुपयोगी समझकर लोग उसे जला देते हैं अथवा जमीन में गाड़ देते हैं। स्थूल शरीर जितनी सामग्री सहित है वे सब जड़ हैं। देखने में आने वाले स्थूल शरीर के भीतर दो शरीर और हैं जो सूक्ष्म और कारण शरीर करके कहे जाते हैं। कारण शरीर की सत्ता सूक्ष्म शरीर में आती है और सूक्ष्म शरीर की सत्ता स्थूल शरीर में आती है तब स्थूल शरीर चेष्टा के योग्य होता है। जैसे पंचीकृत किये हुए पंच महाभूतों का स्थूल शरीर बना है ऐसे अपंचीकृत पंच महा भूतों का सूक्ष्म शरीर है इसीसे यह भी क्षेत्र है। सूक्ष्म शरीर दृष्टि का अविषय है परन्तु वह कार्य द्वारा जाना जाता है। प्राण, इन्द्रियां, अन्तःकरण और अन्तःकरण की सब वृत्तियां सूक्ष्म शरीर रूप हैं, चेतन की सत्ता से चैतन होय ऐसा दीखता है तो भी जड़ है क्योंकि वह जड़ माया का कार्य है। स्थूल शरीर के समान उसका मृत्यु होता नहीं, क्योंकि स्थूल शरीर कर्म का फल रूप है और सूक्ष्म शरीर तो अविद्या का होने से जब तक अविद्या का समूल नाश नहीं होता तब तक नाश को प्राप्त नहीं होता, उसमें संस्कारों की बदली हुआ करती है। तीसरा कारण शरीर अविद्या स्वरूप ही है इसीसे यह भी जड़ और क्षेत्र है। इस प्रकार तीनों शरीर और

इनका सब विकार क्षेत्र है। यानी अव्यक्त माया, पंच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, मन, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच प्राण, पांच विषय, इच्छा द्वेष सुख, दुःख, धैर्यादि वृत्तियां, सब का समुदाय रूप यह शरीर और उनमें पड़ा हुआ चेतन का आभास जो जगत् में चेतन दीखता है यह सब क्षेत्र है।

ऊपर बताये क्षेत्र को समझने के बाद उनसे शेष रहा हुआ आत्मा क्षेत्रज्ञ है। क्षेत्र को जानने वाला और क्षेत्र के मालिक को क्षेत्रज्ञ कहते हैं। क्षेत्रज्ञ हमेंशा है; कभी उत्पन्न हुआ नहीं है इसीसे अनादि है, जो लौकिक सत असत रूप से कहा नहीं जाता है, सब इन्द्रियों से रहित होकर भी सब इन्द्रियां और उनके गुणों को प्रकाशता है, निर्गुण है और गुणों का महा भोक्ता है, सबके भीतर और बाहर भरा हुआ है, प्रत्येक प्राणी का अपना आत्म स्वरूप है, वह क्षेत्रज्ञ अद्वय होते हुए भी अनेकों के साथ अनेक हुआ होय ऐसा दीखता है, वह ही सबका उत्पत्ति, स्थिति और लय स्थान है, अज्ञान से परे है ज्योतियों का ज्योति, ज्ञान, ज्ञान करने योग्य ज्ञान द्वारा जानने के योग्य और सबके हृदय में, विराजमान है उसको जानने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। वह सबका आधार अधिष्ठान और सबको सत्ता स्फूर्ति देने वाला है।

संपूर्ण ब्रह्मांड अविवेक—अज्ञान से, क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के संयोग से बना हुआ है। यह दोनों का मेल अविद्या स्वरूप है इस प्रकार जो संपूर्ण विकार सहित क्षेत्र को और अविकारी क्षेत्रज्ञ को जानता है उसीको ज्ञान कहते हैं। क्षेत्रज्ञ ही प्रत्यगात्मा है जिसको साक्षी कूटस्थ भी कहते हैं।

क्षेत्र अज्ञान स्वरूप है और क्षेत्रज्ञ ज्ञान स्वरूप है। ज्ञान करके अज्ञान की निवृत्ति होती है तब ज्ञान की भी आवश्यक्ता न रहने से ज्ञान की पृथ[क्] नहीं रहती; इस प्रकार अज्ञान और ज्ञानकी [नि]... एकता हो जाती है उसे विज्ञान कहते हैं विज्ञान वास्तविक परब्रह्म है। प्रत्यगात्मा जो क्षेत्रज्ञ रू[प] उसका ज्ञान होने के बाद परब्रह्म से एकता है है, परब्रह्म से अभिन्न है ऐसे निश्चय में टिकना उसी का नाम विज्ञान है। ज्ञानमें प्रत्यगा[त्मा] का बोध होता है और प्रत्यगात्मा से पर[ब्रह्म] में एकता का होना विज्ञान है। शुद्ध अद्वैत वि[ज्ञान] ही होता है, विज्ञान ही परब्रह्म है और वह मोक्ष है।

परोक्षं शास्त्रजं ज्ञानं,
विज्ञानं चात्म दर्शनम्।
आत्मनो ब्रह्मणः सम्य-
गुपाधि द्वयवर्जितम् ॥४४॥

अर्थः—शास्त्र जनित ज्ञान परोक्ष होता है ... आत्मा के साक्षात्कार से विज्ञान होता है इसमें ... और ब्रह्म दोनों की उपाधियों का त्याग होता है।

विवेचन।

आत्मबोध के निमित्त अध्यात्म शास्त्र की ... है। शास्त्र आत्मा और परब्रह्म को अनेक प्रकार[की] युक्तियों से समझाते हैं परन्तु शास्त्र शब्द में है ... शब्दजनित शास्त्र ज्ञान होता है, शब्दका जो ... समझा जाता है उसीके अनुसार परोक्ष ज्ञान है... है। जहां शब्दके अर्थ रूप वस्तुसे सम्बन्ध न है... पदार्थ परदे सहित होता है वह ज्ञान परोक्ष होता... परोक्ष ज्ञान मिथ्या नहीं होता परन्तु उसे पूर्ण ... नहीं कह सकते। सुनकर जो ज्ञान हुआ है...

अनुभव रूप न होने से परोक्ष होता है। शास्त्रमें पढ़ लिया कि "ब्रह्म है" उसको जान लिया परन्तु ब्रह्म कौन है, कहां है ? इस प्रकार जानकर ज्ञान नहीं हुआ है इसीसे परोक्ष है। गुरु शब्द से उपदेश करते हैं, शिष्य शब्द को सुनकर जानता है परन्तु शब्द के वास्तविक अर्थ रूप वस्तु ब्रह्मको उसकी बुद्धि ग्रहण नहीं करती तब तक परोक्ष ज्ञान ही होता है। जैसे स्वर्गमें अधिक सुख है ऐसा जो जाना गया वह परोक्ष ज्ञान है क्योंकि मनुष्य मृत्यु को प्राप्त हुए विना स्वर्गका अनुभव नहीं कर सकता। जब पदार्थ इस लोक से बाहर होता है तब बुद्धि वृत्तिका पदार्थाकार होना और चिदाभास से प्रकाशित होना नहीं होता इसीसे ऐसे सब ज्ञान परोक्ष ही होते हैं; परन्तु आत्मज्ञान, आत्मा अपना ही आत्मा होने से विशेष युक्ति द्वारा अपरोक्ष ज्ञान होने के योग्य है।

व्यवहारिक ज्ञानके पदार्थ जो ज्ञाता से भिन्न है उसका परोक्ष और अपरोक्ष दोनों प्रकारका ज्ञान हो सकता है; जब परदे सहित पदार्थ का ज्ञान होय, ज्ञाता पदार्थ से भिन्न रहकर पदार्थ को जानता है तब परोक्ष ज्ञान है और जब ज्ञाता पदार्थ के देशमें पदार्थ का ज्ञान करता है तब अपरोक्ष ज्ञान होता है। अपरोक्ष ज्ञान परदे रहित होता है। जैसे एक टोपी को जानना है वह दोनों प्रकार से है, टोपी सामने पड़ी है इसीसे प्रत्यक्ष कही जाती है तो भी उसके परोक्ष ज्ञानमें अप्रत्यक्ष के समान ही होती है। जिस स्थान पर टोपी है वहां बुद्धिकी वृत्ति जाकर वहां ही "यह टोपी है" ऐसा ज्ञानका होना अपरोक्ष ज्ञान है और टोपी को बुद्धिकी वृत्ति व्याप्त होकर, चिदाभास से प्रकाशित होकर ज्ञाताके अन्तःकरण देशमें "टोपी है" ऐसा बोध करे तब वह ज्ञान परोक्ष होता है। पदार्थ के स्थान में पदार्थ का ज्ञान करना अपरोक्ष ज्ञान है।

आत्मज्ञान दो प्रकारका होता है, परोक्ष और अपरोक्ष। आत्मा नित्य प्रत्यक्ष है तो भी अज्ञान से परोक्ष हो रहा है; इसीसे बुद्धिकी वृत्ति और चिदाभास से प्रकाशित आत्मा परोक्ष होता है वह ज्ञान आत्म देशके अज्ञान के कारण होने से परोक्ष है और जब बुद्धि वृत्ति से आत्मा व्याप्त होकर स्वयं प्रकाश से प्रकाशित होता है तब आत्म देशमें आत्मा का ज्ञान होने से अपरोक्ष ज्ञान होता है। सारांश यह कि शास्त्र और गुरु द्वारा शब्द से हुआ सामान्य ज्ञान परोक्ष होता है और वह ही अनुभव से अपरोक्ष होता है। अपरोक्ष आत्म ज्ञानमें ज्ञाताकी ज्ञेय से एकता होती है, अपरोक्ष ज्ञानका नाम विज्ञान है, विज्ञान में आत्मदर्शन होता है—विज्ञान ही आत्मदर्शन है।

जैसे अन्य पदार्थ का ज्ञान त्रिपुटी सहित होता है वैसे आत्मज्ञान नहीं होता। त्रिपुटी में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीन वस्तु होती हैं। जानने वाला ज्ञाता, जानना ज्ञान और जिसको जाना जाता है वह ज्ञेय। आत्म ज्ञानमें तो जानने वाला, जानना और जानने का पदार्थ एकही होने से आत्मज्ञान लौकिक ज्ञानसे विलक्षण है। लौकिक ज्ञानसे विलक्षण होने से भी जो ज्ञान हुआ है वह ज्ञान ही है। विज्ञान करके जो आत्मदर्शन हुआ है वह प्रत्यक् आत्मा का हुआ है यह यथार्थ दर्शन है तो भी इतने से ही विज्ञान की समाप्ति न समझना चाहिये। आत्मा जो जीव है उसकी सब उपाधिओं का त्यागकर चैतन्य का ग्रहण करके और परब्रह्म जो ईश्वर है उसकी उपाधिओं का त्याग करके रहा हुआ चैतन्य जीव चैतन्य से अभिन्न

है इस प्रकार अभिन्न बोध ही विज्ञान की परिसीमा है, विज्ञान में माया अविद्या के अभाव सहित एकता है। विज्ञान अद्वय बोध स्वरूप है, इस प्रकार का जीवात्मा वस्तुतः परब्रह्म से अभिन्न है ऐसा जब बोध होता है तब परमपद होता है।

त्वमर्थ विषयं ज्ञानं
विज्ञानंतत्पदाश्रयम् ।
पदयोरैक्य बोधस्तु
ज्ञान विज्ञान संज्ञकम् ॥४५॥

अर्थः—त्वंके अर्थ (जीव) को विषय करने वाला ज्ञान है और तत् पदके अर्थ (ब्रह्म) का विषय विज्ञान है, दोनों पदों के ऐक्य के ज्ञानको ज्ञान विज्ञानरूप अनुभव ज्ञान कहते हैं।

विवेचन ।

ऊपर जो जीव ईश्वर की उपाधिका त्याग करके विज्ञान का कथन किया है उसीको यहां महा वाक्य के पद द्वारा अधिकता से समझाते हैं। सामवेदका महा वाक्य जो तत्त्वमसि है उसीमें तीन पाद हैं। तत् त्वं और असि। तत् का अर्थ वह है यानी ईश्वर है त्वं का अर्थ तू यानी जीव है और असिपद से दोनों पदों की एकता की गई है।

त्वं पदका अर्थ जो जीव है वह जितना ज्ञान करता है वह विषयरूप से करता है क्योंकि अविद्या उपाधि से युक्त जीव विषय ज्ञान छोड़कर स्वस्वरूप के ज्ञान करने में असमर्थ है। जीवका संपूर्ण व्यवहार चिदाभास से युक्त होता है इसीसे जीव भाव सहित उसने किया हुआ आत्म बोध परोक्ष ज्ञान ही है। जब जीव अविद्या के भावसे रहित होता है तब शुद्ध स्वरूप होता है, शुद्ध होना ही आत्मबोध... पद जीवके दो अर्थ हैं वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ... कर्ता भोक्ता व्यवहारिक जीव त्वंपद का वाच्यार्थ है। वाच्यार्थ वाले जीवका स्वरूप, कूटस्थ, ... अज्ञान और आभास तीनों का एक भाव है ... कूटस्थ प्रत्यगात्मा साक्षी है। व्यष्टि अज्ञान ... चिदाभास मायिक है ये दोनों उपाधियां जोंकि ... यह उपाधि युक्त जीव वाच्यार्थ है और जब वह ... उपाधियां का बाध करता है तब शेष रहा हुआ ... कूटस्थ है वह जीवका सच्चा स्वरूप होने से त्वं ... लक्ष्यार्थ है। तत् पद जो ईश्वर है उसके भी वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ दो अर्थ हैं। सृष्टि कर्ता सर्वज्ञ ... तत् पदका वाच्यार्थ है। वाच्यार्थ वाले ईश्वर ... स्वरूप, ब्रह्म, माया और उसमें पड़े हुए आभास ... का एक भाव है। उसमें ब्रह्म चैतन्य परम ... माया और उसमें पड़े हुए चैतन्य का आभास ... उपाधि हैं, इन उपाधियों का त्याग करने ... रहा हुआ ब्रह्म, ईश्वर का स्वस्वरूप होने ... पदका लक्ष्यार्थ है। इसी प्रकार जीवके ... कूटस्थ और ईश्वर के लक्ष्यार्थ ब्रह्म दोनों ... हैं, दोनों भिन्न नहीं हैं एक हैं, दोनोंका ... करण है इसीसे असिपद से दोनों की एकता ... भिन्नता के हेतु दोनों की उपाधियों का त्याग ... से चैतन्य तत्त्व में किसी प्रकार का भेद न ...

यह विज्ञान परब्रह्म है।

जीव विषय का ज्ञान करने वाला है ... विषय ज्ञानका आश्रय कहा है। जीव वृत्ति ... परोक्ष ज्ञानको करता है। ईश्वर उपाधि युक्त है ... कथन जीवको समझने के लिये ही है वास्तव ... ईश्वर उपाधियों के संयोग से भी विकार रहित ... इसीसे ब्रह्मस्वरूप है, उसके आश्रय रहे हुए ...

विज्ञान कहते हैं। जीवके हृदय में रहा हुआ चिदाभास विषयका ज्ञान करने वाला है और कूटस्थ में विज्ञान होता है। कूटस्थ जैसे व्यष्टि जीवका शुद्ध स्वरूप है वैसे समष्टि ईश्वरका शुद्ध स्वरूप परब्रह्म है दोनों की एकता होने से कूटस्थ में विज्ञान है। इस प्रकार जीव ईश्वर ज्ञान विज्ञान की एकता विज्ञान तत्त्व है।

वृत्ति ज्ञान यानी सविकल्प ज्ञान परोक्ष ज्ञान होता है, निर्विकल्प यानी अपरोक्ष ज्ञान विज्ञान होता है; विज्ञान ब्रह्म स्वरूप है इसीसे जिसको अनुभव ज्ञान होता है वह ब्रह्म स्वरूप है। जैसे ब्रह्मको माया अविद्या अवस्तुरूप होने से विकार को पैदा करने वाली नहीं होती, इसी प्रकार जीवन्मुक्त को भी विकार पैदा करने वाली नहीं होती। जैसे ब्रह्मके आधार में अविद्या का फैलावा और उसका प्रकाश है इसी प्रकार जीवन्मुक्त भी ब्रह्म स्वरूप होने से सबका आधार और प्रकाशक होता है। मरी हुई माया-अविद्या मुरदारूप दीखने में भी उसे किसी प्रकार की हानि पहुंचा नहीं सकती, वह हर हालत यानी शरीर सहित और शरीर रहित आनंद स्वरूप में मग्न होता है। जीवन्मुक्त स्थिति में भी ब्रह्म निर्वाण के अखंडित सुखका आस्वाद लेता है।

अपूर्ण।



महोपनिषत्।

(गतांक से आगे)

दृश्य है ही नहीं ऐसा जानकर मन में से यदि दृश्य को संपूर्ण रूप से हटाया जाय तो वही श्रेष्ठ निर्वाण सुख है ॥३८॥ अशेष रूप से वासना का जो त्याग उसी को सज्जन उत्तम मोक्ष कहते हैं। यही शुद्ध क्रम है ॥३९॥ वासना न रहने से फिर जन्मादि अनर्थ को प्राप्त नहीं होते और जिन्होंने जानने का सब जान लिया है, ऐसे बुद्धिवान् पुरुष जीवन्मुक्त कहे जाते हैं, ॥४०॥ पदार्थों की भावना दृढ़ रहने को ही बंध और वासना के क्षीण हो जाने ही को मोक्ष कहते हैं ॥४१॥ तप आदि के हेतु से भी जिसको पुनः यहां भोग में रुचि नहीं होती उसको जीवन्मुक्त कहते हैं ॥४२॥ समय पर प्राप्त हुए सुख दुःख में जो रत नहीं होता और हर्ष शोक नहीं करता उसको जीवन्मुक्त कहते हैं ॥४३॥ हर्ष, द्वेष, भय, क्रोध, काम, कृपणता आदि विकारों से जिसका अंतर पराभूत नहीं होता, उसको जीवन्मुक्त कहते हैं ॥४४॥ जो अहंकार मय लीलारूप वासना का त्याग कर ध्येय रहित यानी चाहना रहित रहता है वह जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥४५॥ जिसके अंतर्मुख दृष्टि में किसी भी प्रकार की इच्छा अइच्छा नहीं रहती और जो सोये हुए के समान सब व्यवहार करता है उसको जीवन्मुक्त कहते हैं ॥ ४६ ॥ जो सदा आत्मानंद का ही अनुभव करता रहता है, सदा पूर्ण और पवित्र मन वाला होता है, जिसको सबसे उच्च प्रकार की विश्रान्ति प्राप्त हुई है, जो कुछ भी नहीं चाहता और जो स्नेह रहित जीवन व्यतीत करता है, उसको जीवन्मुक्त कहते हैं ॥ ४७ ॥ जिसका हृदयाकाश इन्द्रियों के

विषयों से जरा भी लेपायमान नहीं होता और जिस की प्रज्ञा सदा जाग्रत रहती है, उसको जीवन्मुक्त कहते हैं ॥४८॥ राग, द्वेष, सुख दुख, धर्म अधर्म, सुफल अथवा निष्फल, सब कार्य जो अपेक्षा रहित करता है, उसको जीवन्मुक्त कहते हैं ॥४९॥ जो मौन, निरहंकार, मान और मत्सर रहित होता है और जो उद्वेगरहित कार्य करता है, उसको जीवन्मुक्त कहते हैं ॥५०॥ जिसका कहीं भी स्नेह नहीं होता, जो सर्वत्र साक्षी रूप रहता है और सब कार्यों में निरिच्छ रहता है, उसको जीवन्मुक्त कहते हैं ॥५१॥ धर्म और अधर्म को मन के धर्म मान कर जिसने दोनों को अंतर से त्याग दिया है, उसको जीवन्मुक्त कहते हैं ॥५२॥ जितना जो कुछ दृश्य का भान होता है उसका जिसने भली प्रकार त्याग किया है उसको जीवन्मुक्त कहते हैं ॥५३॥ कडुआ, खट्टा, तीता, कच्चा या पक्का, सब को जो समान ही समझकर खाता है उसको जीवन्मुक्त कहते हैं ॥५४॥ जरा,मरण वा आपदा तथा राज्य वा दारिद्र्य सब ही सुखमय है, ऐसा जानकर जो उनको भोगता है उस को जीवन्मुक्त कहते हैं ॥५५॥ धर्म अधर्म, सुख दुःख तथा जन्म मरण इन सब का जिसने बुद्धिपूर्वक भली प्रकार त्याग किया है उसको जीवन्मुक्त कहते हैं ॥५६॥ समान और शुद्ध बुद्धि से जो उद्वेग और आनंद से रहित रहता है, न शोक करता है न हर्ष को प्राप्त होता है, उसको जीवन्मुक्त कहते हैं ॥५७॥ सब इच्छाएं, सब शंकाएं, सब कामनाएं सब निश्चय जिसने बुद्धिपूर्वक त्याग दिये हैं उस को जीवन्मुक्त कहते हैं ॥५८॥ ऊंच नीच अवस्था वाले जन्म स्थिति और विनाशमें उदय और अस्त में जिसका मन समान रहता है उसको जीवन्मुक्त कहते हैं ॥५९॥ जो किसी का द्वेष नहीं करता किसीकी इच्छा नहीं करता है जो प्रकृतिसे प्राप्त हुए भोगोंको भोगता है; उसको जीवन्मुक्त कहते हैं ॥६०॥ जिसका संसार का भाव चला गया है, जो विभक्त होते हुए भी अविभक्त है और जो चित्त वाला होते हुए भी चित्त रहित है, उस को जीवन्मुक्त कहते हैं ॥६१॥ जैसे पूर्णात्मा निस्पृह रहता है वैसे व्यवहार करते हुए भी समस्त विषय काल में जो निस्पृह रहता है उसको जीवन्मुक्त कहते हैं ॥६२॥ अपना देह कालवश हो जाने पर ऐसा पुरुष जीवन्मुक्ति पद का त्याग करके, हवाका बहना जैसे बंद हो जाय वैसे, विदेह मुक्त पद को प्राप्त होता है ॥६३॥

विदेह मुक्त का न जन्म होता है न मृत्यु न अ... शान्त हो जाता है, वह न सत् है न असत्, न ... दूर होता है, न वह मैं हूँ और न वह अन्य कोई है ॥६४॥ (विदेह मुक्ति के) पश्चात् न निश्चल और गंभीर ऐसा तेज होता है, न अंधकार फैला हुआ होता है। अव्यक्त और अकथनीय ऐसा कोई एक सत् ... जाता है ॥६५॥ वह न शून्य है न आकार युक्त है न दृश्य है न दर्शन भी है न भूत पदार्थों के प्रवाह रूप अनन्तता से अवस्थित ऐसा सत् है ॥६६॥ वह ऐसी वस्तु है जिसका किसी प्रकार भी कथन नहीं हो सकता, वह पूर्ण से भी पूर्ण स्वरूप है, वह न सत् है न असत् न सत और असत् उभय विध है वह न भाव है न भावना ॥६७॥ वह विशेष चेतना रहित केवल शुद्ध चैतन्य है, वह अनन्त, जरा रहित और शिव स्वरूप है जिस को आदि, मध्य और अन्त नहीं है और जो अनादि और सदा शुद्ध ॥६८॥ द्रष्टा, दर्शन और दृश्य इन सब में जो दर्श स्वरूप है उससे श्रेष्ठ हे मुने, और कोई वस्तु नहीं है ॥६९॥ तूने अपने आप जाना और फिर गुरुसे

सुना है कि अपने संकल्प ही से बंधन है और संकल्प रहित हो जाने से मोक्ष हो जाता है ॥७०॥ इसलिये तूने स्वयं उस महात्मा से जानने योग्य सत्य को जान लिया है और तुझे भोगोंसे तथा समस्त दृश्य से वैराग्य हुआ है ॥७१॥ तप स्वरूप अपने आप में सावधानता से तूने जो कुछ प्राप्त करना था सो सब प्राप्त कर लिया है, इसलिये अब तू मुक्त ही है, भ्रान्ति को छोड़ दे ॥७२॥ बुद्धि के अतिबाह्य, बाह्य, आंतर और अभ्यंतर जो कुछ तू बुद्धि से देखता हुआ भी नहीं देखता ऐसा तू केवल परिपूर्ण स्वरूप सबका साक्षी है ॥७३॥ (इस प्रकार सुनकर) शुक जी अपने भीतर रही हुई परम वस्तु में तूष्णी (चुप) होकर विश्रान्ति को प्राप्त हुए। उनके शोक, भय तथा कष्ट दूर हो गये, इच्छा और संशय नष्ट हो गये ॥७४॥ और वे मेरु के शिखर पर अखंड समाधि के लिये चले गये ॥७५॥ वहां रह कर एक सहस्र वर्ष तक निर्विकल्प समाधि प्राप्त करके तेल बिना जैसे दीपक शान्त हो जाता है, वैसे शान्ति को प्राप्त हुए ॥७६॥ भेद ज्ञान के कलंक से शुद्ध हुआ, जिस प्रकार पानी की बूंद समुद्र में समा जाय वैसे अपने परम शुद्ध आत्म स्वरूप में महात्मा शुक वासना क्षीण होने से एकताको प्राप्त हुआ॥ ७७॥

॥ इति द्वितीय अध्याय ॥

निदाघ नाम का एक मुनीश्वर अपनी बाल्यावस्था में विद्या प्राप्त करके पिता की आज्ञा प्राप्त करके तीर्थ यात्रा करने के लिये चला गया ॥१॥ साढ़े तीन कोटि तीर्थों में स्नान करके वह घर चला आया और उस महायशा निदाघ मुनिने प्रभु को नमस्कार करके अपना सब वृत्तान्त सुनाया ॥२॥ साढ़े तीन कोटि तीर्थों में स्नान करने के पुण्य के प्रभाव से मेरे मन में जो विचार उठा है वह इस प्रकार है ॥३॥ लोग जन्मते हैं, मरते हैं, और मरते हैं, तो फिर जन्मने के लिये ही मरते हैं। ये सब चर और अचर पदार्थ अस्थिर हैं तथा उनके ऐश्वर्य प्राप्ति के अर्थ किये हुए कर्म सब पापमय हैं यानी (अन्त में) कष्ट को ही देने वाले हैं ॥४॥ ऐसे भाव पदार्थ लोहे के सलाइयों के समान सदा एक एक से अलग ही रहते हैं और मन को इस प्रकार की कल्पना ही से वे नीरस होजाते हैं ॥५॥ मरुजल में जैसे पथिक को विरति होती है वैसी ही इन भावों से पदार्थों में विरति होजाने से इस दुःख का अन्त किस प्रकार होगा इस विचार से मेरा मन संतप्त रहता है ॥६॥ मेरे लिये धन तो एक वार २ चिंता लगाने वाला चक्र है, इसमें कोई आनन्द मुझे नहीं दीखता और बाल बच्चों और स्त्रियों से युक्त मेरा गृह मुझे हिंस्र पशुओं के घर के समान मालूम होता है ॥७॥ इस संसार में यह अतुल और मोहक संपत्ति केवल मोह के लिये है, इससे कदापि कल्याण नहीं हो सकता ॥८॥ पत्ते के कोने में लटकी हुई पानी की बूंद के समान यह जीवन क्षणभंगुर है। एक उन्मत्त के समान अकस्मात् इस शरीर को जीव छोड़ जाता है ॥९॥ विषय रूपी सर्प का विष के संग से जिनका चित्त जर्जरित (कष्टी) हुआ है ऐसे आत्म अनात्मका विवेक न जानने वाले बालबुद्धि पुरुषों का जीवन कष्ट ही का हेतु है ॥१०॥ वायुको बांधना आकाश को तोड़ना और तरंगों को ग्रथना युक्त हो सकता है परन्तु आयुष्य में आस्था नहीं की जा सकती ॥११॥

प्राप्त करने योग्य वस्तु जिससे प्राप्त होती है, फिर जिसमें सोच करना नहीं रहता, इस प्रकार परम सुख का जो स्थान है उसी को जीवन कहते हैं ॥१२॥ वृक्ष भी जीते ही हैं पशु पक्षी भी जीते ही हैं परन्तु उसी का जीना वास्तविक है जो मनन करते

हुए जीता है ॥१३॥ उन ही प्राणियोंका इस जगत् में जन्म लेना सफल है। जिन साधु पुरुषों को पुनः जन्म ग्रहण न करना पड़े और सब बूढ़े गदहे हैं ॥१४॥ विवेकी के लिये शास्त्र भार रूप हैं, रागी पुरुषों के लिये ज्ञान भाररूप हैं, अशान्त के लिये मन भाररूप है। और ज्ञानी के लिये देह भाररूप होजाता है ॥१५॥ अहंकार से कष्ट है, अहंकार से आधि यानी मानसिक दुःख है, अहंकार से कामना होती है इसलिये अहंकार के समान और कोई शत्रु नहीं है ॥१६॥ अहंकार वश ही मैंने जिन २ चराचर पदार्थों का भोग किया वे सब ही अवस्तु रूप है, अहंकार रहित ही वस्तु है ॥१७॥ ग्राम में कौलिक यानी वाममार्गी घूमा करता है वैसे यह चित्त व्यर्थ ही यहां से वहां अति व्यग्र होकर भटकता रहता है ॥१८॥ तृष्णा रूपी स्त्री के पीछे पीछे जाने वाले चित्त रूपी क्रूर कौलिक से युक्त हुआ, हे ब्रह्मन् मैं उसके वश होकर जड़ता को प्राप्त हुआ हूं ॥१९॥ समुद्र का प्राशन करने से, मेरुको उखाड़ डालने से अथवा अग्नि को भक्षण करने से भी चित्त का निग्रह करना कठिन है ॥२०॥ विषयों का कारण चित्त ही है चित्त के होने ही से तीनों लोक हैं, एक चित्त का क्षय होजाने से जगत् ही नहीं रहता, इसलिये चित्त की चिकित्सा प्रयत्नपूर्वक करनी चाहिये ॥२१॥ जिस प्रकार दुष्ट चुहिया वीणाके तार कुतर डालती है, हे मुनिश्रेष्ठ, जिस जिस उत्तम गुण का मैं आश्रय करता हूं उन२उत्तम गुणों को तृष्णा नष्ट कर देती है ॥२२॥ जहां कोई पहुंच नहीं सकता ऐसे स्थान पर तृष्णा पहुंचती है और यदि तृप्त हो जाय तो दूसरा फल चाहती है इस प्रकार चपल बंदरी के समान यह तृष्णा कभी एक स्थान पर नहीं रहती ॥२३॥ क्षण में तृष्णा पाताल में निकलती है, क्षण में आकाश में पहुंचती है और क्षणमें सब दिशाओं में भ्रमण करती है, तृष्णा हृदय की एक भ्रमरी है ॥२४॥ संसार के दुःखों से भी अधिक दुःख तृष्णा देती है और अन्तःपुर में होते हुए भी उसको कठिन संकट डालती है ॥२५॥ तृष्णा विषूचिका (हैज़ा) है चिन्ता त्यागना यही उसको दूर करने का मंत्र क्षण में सुखी होता है क्षण में दुखी होता है ऐसे इस देह के समान शोचनीय नीच और रहित और कोई पदार्थ नहीं है ॥२७॥ अहंकार गृहस्थ का देह घर है, वह नष्ट होजाय चाहे गुरु, इससे मुझे क्या ? ॥२८॥ जिसमें इन्द्रिय पशु पंक्ति में बांधे हुए हैं, जो चपल तृष्णा नाचने का आंगन है और जिसमें चित्त रूपी रहता है; ऐसा यह देह रूपी गृह मुझे इष्ट ॥२९॥ जीभ रूपी बंदरी जहां बैठी है ऐसे मुख रूपी द्वार वाला और जिसमें हड्डियों के रूप दांत बाहर दिखाई देते हैं ऐसा देह मुझे है ॥३०॥ हे मुने, यह बाहर से और भीतर मांस मय है और विनाश मात्र इसका एक ऐसी काया में रमणीयता कैसी? ॥३१॥ शरत्काल के बादलों में और गन्धर्व नगरों में स्थिरता का निश्चय हो वह इस देह का विश्वास करे ॥३२॥

अपूर्ण

ब्रह्मसूत्र भाषा दीपिका

(गतांक से आगे)

यदि कोई शंका करे कि जीव को अणु एकदेशी हो जायगा और उसको सर्व देहका होता है उसका बाध होगा, क्योंकि देखा यही है कि गंगा के गहरे जल में गोता लगाने शरीर में सरदी का अनुभव होता है तथा

रहने से सब शरीर में गरमी का अनुभव होता है। इसका उत्तर आगे देते हैं कि—

अविरोधश्चन्दनवत् ॥२।३।२३॥

अन्वय और **अन्वयार्थः—अविरोधः** इसमें विरोध नहीं है, **चन्दनवत्** चन्दन के समान।

टीकाः—जैसे चन्दन का एक विंदु शरीरके किसी एक भाग में लगाया हो तो भी उसका सब शरीर को आनन्द प्राप्त होता है; वैसे ही जीव भी शरीर के एक देश में रहकर सब शरीर का अनुभव कर सकेगा। उसका त्वचा के साथ संबंध होने से उसको सब शरीर में अनुभव की प्राप्ति में कोई विरोध नहीं दीखता; क्योंकि आत्मा का त्वचा से संबंध है और त्वचा सब शरीर को व्यापती है ॥२३॥

अवस्थिति वैशेष्यादिति चेन्नाभ्युप-गमाद्धृदि हि ॥२।३।२४॥

अन्वय और **अन्वयार्थः—अवस्थिति वैशेष्यात्** [चन्दन विंदु की] एक विशिष्ट स्थान पर स्थिति होने से [वह दृष्टान्त ठीक नहीं है] **इति चेत्** यदि ऐसा कहो तो **न** वह ठीक नहीं है क्यों-कि [जीव की स्थिति] **हृदि** हृदय में **हि** ही [है ऐसा] **अभ्युपगमात्** माना गया है।

पूर्वपक्ष में शंकाः—'चन्दन के समान विरोध नहीं है' ऐसा जो कहा है वह ठीक नहीं है; क्योंकि यहां दृष्टांत और द्राष्टान्तिक में समानता नहीं है। जीवात्मा शरीर के किसी एक भाग में रहता होता तो चन्दन का दृष्टान्त ठीक लगता। चन्दन का एक विशिष्ट स्थान पर रहना और उससे सब शरीर को आनन्द मिलना, ये दोनों बातें प्रत्यक्ष हैं। परन्तु जीवात्मा के विषय में तो उसको सब शरीर में अनु-भव मिलता है इतना ही प्रत्यक्ष है, उसकी एक देश में स्थिति प्रत्यक्ष नहीं है। ऐसा कहो तो उसका अनुमान हो सकता है परन्तु वहां अनुभव तो संभवता ही नहीं; क्योंकि, जीवात्मा को सब शरीरमें जो अनुभव मिलता है वह जीवात्मा त्वचा इन्द्रिय के समान सब शरीर में व्यापक है इसलिये मिलता है या जीवात्मा आकाश के समान सर्वव्यापी है इसलिये मिलता है अथवा वह चन्दन विंदु के समान शरीर के विशेष स्थान पर है इसलिये मिलता है, इस शंका का निरसन ही नहीं होता।

समाधानः—यह दोष नहीं प्राप्त होता, क्योंकि जीवात्माका विशेष स्थान माना गया है। चंदनबिंदु के समान जीवात्मा का भी शरीर के एक देशमें विशेष स्थान है ऐसा माना गया है। किस प्रकार माना गया है कहते हैं। वेदान्त ग्रन्थोंमें यह आत्मा हृदयमें ही रहता है ऐसा लिखा है। जैसे 'हृदि ह्येष आत्मा।' [प्रश्न० ३।६] (यह आत्मा हृदय में है), 'स वा एष आत्मा हृदि।' [छां० ८।३।३] (ऐसा यह आत्मा हृदय में ही है), 'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः।' [बृ०४।३।७] (आत्मा कौनसा है पूछो तो जो विज्ञानमय है, प्राणों में और हृदय में जो ज्योतिः स्वरूप पुरुष है वही आत्मा है)। अर्थात् दृष्टान्त और द्राष्टान्तिक में विषमता न होने से पहिले जो कहा था कि 'चंदन के समान विरोध नहीं है,' यह ठीक ही है॥ २४॥

गुणाद्वा लोकवत् ॥ २ । ३ । २५ ॥

अन्वय और अन्वयार्थः—**वा** अथवा **लोकवत्** जैसे लोक में देखा जाता है **गुणाद्व** [वैसे जीवके चैतन्य] गुण के कारण [विरोध की प्राप्ति नहीं होती]।

टीका:—अथवा जीवात्मा अणु होते हुए भी उसका चैतन्य गुण सब शरीर में व्यापक होने से उससे सब शरीर व्यापी कार्य होने में कुछ भी विरोध नहीं दीखता। जैसे व्यवहार में मणि, दीप आदि पदार्थ कोठरी के एक भाग में हो तो भी उनकी प्रभा सब कोठरी में फैलने वाली होने से वह सब कोठरी में अपना कार्य उत्पन्न करती है; वैसे ही यह जानो। चंदन सावयव होने से उसके सूक्ष्म अवयव चारों ओर फैल जानेसे उससे सब शरीर को आनंद होता है, परन्तु जीव अणु होने से उसमें अवयव ही नहीं हैं कि जिनसे वह सब शरीर को व्यापेगा ऐसी कोई शंका करे तो उसके निरसनार्थ यह सूत्र लिखा है ॥ २५ ॥

फिर भी शंका रहती है कि गुणी को छोड़कर अन्य स्थान पर गुण कैसे रह सकेंगे ? वस्त्र का गुण जो शुभ्रता वह वस्त्र को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी देखने में नहीं आता। यदि कहो कि दीप की प्रभा तो उसको छोड़कर अन्यत्र दीखती है तो वह ठीक नहीं है। प्रदीप की प्रभा भी द्रव्य ही है, ऐसा ज्ञात होता है, क्योंकि घनी भूत अवयवों वाला तेज द्रव्य ही प्रदीप है और अत्यंत विरल अवयवों वाला तेज द्रव्य ही प्रभा है। इसका उत्तर आगे देते हैं—

व्यतिरेको गंधवत् ॥ २ । ३ ।

अन्वय और अन्वयार्थः— गंधके समान [चैतन्य गुण जीवात्मा से] **रेकः** पृथक् [रह सकेगा]।

टीका:—जैसे गंध गुण होते हुए भी पदार्थ को छोड़कर पाया जाता है; सुगंधी पदार्थ दूर हो तो भी उनसे सुगंध होती है, वैसे ही जीवात्मा अणु है तो भी चैतन्य गुण उसको छोड़कर रह सकेगा। गुण होने ही के कारण रूप आदि गुणों के चैतन्य अपने आश्रय से पृथक् नहीं रह नियम सार्वत्रिक नहीं है। गंध यह गुण हो उसका अपने आश्रय से पृथक् रहना देखने है। यदि कहो कि गंधके आश्रय रूप गंध साथ ही पृथक् देखने में आता है तो नहीं है। यदि ऐसा होता तो मूल द्रव्य गंध होजाने से घट जाना चाहिये; परन्तु वह द्रव्य से अल्प भी क्षीण नहीं होता ऐसा देखने में है क्योंकि यदि वह घट जाता तो उसके (वजन) आदि भी घट जाते।

शंका:—जिन गंधके आश्रय रूप अव मूल द्रव्य से वियोग होता है। वे अत्यंत मे [मूल द्रव्य के गुरुत्व आदि ये] जो भी होता है वह देखने में नहीं आता। गंध सूक्ष्म होते हैं वे ही चारों ओर फैलकर पुट में प्रवेश करते हैं तब गंध का होता है।

समाधान:—ऐसा नहीं है, क्योंकि गंध तो अतीन्द्रिय होते हैं और नागकेसर आदि

स्पष्ट मालूम होती है। दूसरे, व्यवहार में ऐसी प्रतीति नहीं होती कि गंध वाले द्रव्य का गंध लिया गया, परन्तु गंध का ही अवघ्राण किया यही लोगों का अनुभव होता है। रूप आदि गुणों की प्रतीति उनके आश्रय को छोड़कर नहीं होती इसलिये गंध की भी आश्रय से पृथक् प्रतीति मानना युक्त नहीं है ऐसा कोई कहे तो वह ठीक नहीं; क्योंकि जहां प्रत्यक्ष अनुभव है वहां अनुमान की आवश्यकता नहीं होती। इसलिये लोगों का जैसा प्रत्यक्ष अनुभव होता है उसका निरूपण कर्ता को अनुमान करना चाहिये, उसके विरुद्ध नहीं। रस यह गुण है और जीभ से जाना जाता है वैसे ही रूप आदि भी गुण होने से जीभ से जाने जा सकते हैं ऐसा (अनुमान द्वारा) कोई नियम प्रतिपादित नहीं कर सकता ॥२६॥

तथा च दर्शयति ॥२।३।२७॥

अन्वय और अन्वयार्थः—**च** और [श्रुति भी] **तथा** वैसा ही **दर्शयति** कथन करती है।

टीकाः—जीवात्मा हृदय में रहता है और वह अणु परिमाण है, ऐसा कथन करके आगे श्रुति, 'आलोमभ्य आनखाग्रेभ्यः' [छां० ८।८।१] (लोम पर्यंत और नखों के अग्र पर्यंत आत्मा शरीर में प्रविष्ट हुआ है) ऐसा कह कर जीवात्मा चैतन्य गुण से सब शरीर में व्याप रहता है ऐसा कथन करती है ॥२७॥

पृथगुपदेशात् ॥२।३।२८॥

अन्वय और अन्वयार्थः—[जीवात्मा चैतन्य गुण से ही सब शरीर में व्याप्त रहता है] क्योंकि **पृथक्** [श्रुतिमें वैसा] अलग **उपदेशात्** उपदेश किया है।

टीकाः—'प्रज्ञया शरीरं समारुह्य' [कौशी० ३।६] (बुद्धि से शरीर पर आरोहण करके), इस श्रुति में जीवात्मा को कर्ता और बुद्धि को करण इस प्रकार पृथक् उपदेश किया है। इसलिये यह जीवात्मा चैतन्य गुण ही से सब शरीर में व्याप्त रहता है; ऐसा विदित होता है। 'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय (बृ०२।१।१७) (इन्द्रियों की शक्ति रूप प्राणों के ज्ञान द्वारा ज्ञान प्राप्त करके) इस श्रुति में कर्ता रूप जीवात्मा से चैतन्य का पृथक् वर्णन किया है। इस से भी जीवात्मा अणु है यही अभिप्राय दृढ़ होता है ॥२८॥

इस पूर्व पक्ष पर हमारा यह उत्तर है:—

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॥२।३।२९॥

अन्वय और अन्वयार्थः—**तु** परन्तु (जीव में) **तद्गुणसारत्वात्** उसके यानी बुद्धि के गुण प्रधान होने से **प्राज्ञवत्** ईश्वर के समान **तद्व्यपदेशः** उसका वर्णन है।

टीकाः—परन्तु शब्द से सूत्रकार पूर्वपक्षका निराकरण प्रारंभ करते हैं कि 'आत्मा अणु है यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि श्रुति में जीवात्मा की उत्पत्ति का कथन नहीं है, परब्रह्म ही का (जीवरूप से शरीर में) प्रवेश होता है ऐसा कथन है और दोनों के ऐक्य का भी श्रुति में उपदेश होने से परब्रह्म ही जीव है यही प्रतिपादन किया गया है जब परब्रह्म ही जीव है तब जितना परब्रह्म है उतना ही

जीव होना चाहिये और परब्रह्म सर्वव्यापक है ऐसा श्रुति का कथन है, इसलिये जीवात्मा भी सर्व व्यापक है, यही सिद्ध हुआ। और ऐसा हो जब ही 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमय: प्राणेषु' [बृ० ४। ४। २२] (प्राणोंमें जो विज्ञान-मय है ऐसा यह आत्मा महान् और अज है), इस प्रकार की श्रुतियों में तथा स्मृतियों में जो जीव का विभुत्व प्रतिपादित है उसका समर्थन होता है। यदि जीव अणु हो तो उसको संपूर्ण शरीर में अनुभव नहीं हो सकता। यदि कहो कि त्वचा के संबंधसे जीव को ऐसा अनुभव बन सकता है तो वह ठीक नहीं है। यदि ऐसा ही माने तो कांटा लगने पर सब शरीर में वेदना होनी चाहिये, क्योंकि, त्वचा और कांटे का संबंध संपूर्ण त्वचा से है और त्वचा सब शरीर को व्यापती है परंतु जिसको कांटा लगता है उसको तो पांव के तलुवे में ही वेदना होती है।

अणु पदार्थ का गुण सब शरीर को नहीं व्याप सकता; क्योंकि, गुण तो गुणी के देश में ही रहता है। यदि गुण गुणी को छोड़ कर रहेगा तो वह उसका गुण ही नहीं रहेगा। प्रदीप की प्रभा भी एक प्रकार का द्रव्य ही है ऐसा कहा गया है। और गन्ध भी गुण होने से अपने आश्रय के साथ ही दूर जा सकता है यदि आश्रय छोडे तो वह उसका गुण ही नहीं रहेगा। द्वैपायन ने भी यही कहा है:-'उपलभ्याप्सु चेद्गंधं केचिद्ब्रूयुरनैपुणा:। पृथिव्यामेवतं विद्यादपो वायुं च संश्रितम्॥' (जल में गंध पाकर यदि कोई गंध जल का है ऐसा कहे तो वे अज्ञानी हैं। वह गंध तो पृथिवीका ही है और वह जल और वायु का आश्रय करता है ऐसा ही जानना चाहिये)। यदि जीव का चैतन्य गुण सब शरीर को व्याप रहेगा तो जीव अणु नहीं रहेगा, क्योंकि जिस प्रकार उष्णता और प्रकाश अग्नि का स्वरूप है वैसे ही चैतन्य जीव का स्वरू[प] यहां चैतन्य गुण और आत्मा गुणी, इस प्र[कार] भेद नहीं है। 'जीव का शरीरके समान परिम[ाण] इस मत का खंडन कर चुके हैं' इसलिये शे[ष] हुआ जो जीव विभु है यह पक्ष ही म[ानना] पड़ेगा।

कोई शंका करे कि, जीवात्मा अणु है श्रुति में क्यों कहा है ? तो उसका उत्तर देते [हैं] जीव में इसके गुण प्रधानता से प्रतीत हो[ने से] ऐसा व्यवहार होता है। उसके यानी बुद्धि के गुण हैं उन ही को तद्गुण कहा है। इच्छा, सुख, दु:ख आदि जो बुद्धि के गुण हैं वे ही यानी प्रधान जिस संसारी।जीव में है उसी को गुण सार और उसी के भाव को तद्गुण क[हते] कहते हैं! बुद्धि के गुण आत्मा में न हो तो संसारी नहीं बन सकता। अकर्ता अभोक्ता असंसारी ऐसे आत्मा में बुद्धि रूप उपाधि के का अध्यास होता है, इसीलिये उसको भोक्तृत्व आदि लक्षण वाला संसारित्व प्राप्त होत[ा] इसीलिये आत्मामें बुद्धि के धर्मों की प्रधान[ता] जाने से जो परिमाण (वास्तव में) बुद्धि का है आत्मा का परिमाण है ऐसा व्यवहार होता है बुद्धि की उत्क्रांति आदि क्रियाएं होती हैं वे ही की उत्क्रान्ति आदि क्रियाएं हैं ऐसा व्यवहा[र] है; वास्तव में जीव की कोई भी क्रिया वा परि[णाम] नहीं है।

अपूर्ण



उपासना ।

इस पुस्तकमें साकार, सगुण, निर्गुण, कार्य ब्रह्मकी तथा कारण ब्रह्मकी आदि कई प्रकार की उपासना को भिन्न २ प्रकार से समझाया है। उपासना की स्थिरता ही से मन एकाग्र होता है, आत्म साक्षात्कार होता है और समाधि की प्राप्ति होती है।

इसमें यह दृष्टान्त आये हैं:—कुमार अवीक्षित और किमिच्छकं व्रत, ध्रुव की तपश्चर्या, धर्मनगर से मुक्तिनाथ तक जाने वाले दो मुसाफिर, गुलाम राजा बना, पांच मित्रों की मुसाफरी, अलौकिक मंदिर, समुद्र पार के देश का राजा, राजकुमार और राजकुमारी, महात्मा के उपदेश से साधु को ॐ दिखा दिया, अर्जुन, दुर्योधन और धात्री की कथा। इसमें उपासना, ब्रह्मोपासना, गायत्री, ॐकार और ब्रह्मतरंग हैं।

इस उपासना के अनुसार अभ्यास करके समाधि तक पहुँचे हुए और आत्म साक्षात्कार किये हुए मनुष्य इस समय भी मौजूद हैं। मूल्य ॥) डाक महसूल अलाहिदा।

वेदान्त दीपिका ।

वेदान्त के प्रथम और द्वितीय वर्ष में आये हुए वेदान्त विषयक चौवीस प्रश्नोत्तरों का अपूर्व संग्रह ।

इस ग्रन्थ में जिज्ञासु को स्वाभाविकता से होने वाली शंकाओं का अत्यंत मार्मिकता से समाधान किया गया है। वेदान्त के महत्व के ग्रन्थों को पढ़ने पर भी जिन शंकाओं का समाधान न होने से जिज्ञासु का चित्त अशान्त रहता है, वे शंकाएं इस ग्रन्थ को पढ़ने से समूल नष्ट हो जायंगी। ग्रन्थ को पढ़ते समय जो नयी शंकाएं उत्पन्न होंगी उनका समाधान आगे ही मिलने से पाठकों को अत्यंत आनंद होगा।

इसमें प्रत्येक विषय को प्रथम युक्तिपूर्वक समझा कर उसको अधिक दृढ़ करने के लिये प्रसंगानुकूल दृष्टान्त दिये गये हैं, जिससे ग्रन्थ अत्यन्त ही रोचक बन गया है। इसकी भाषा अत्यन्त सरल होने से सामान्य भाषा ज्ञान वाले भी इससे लाभ उठा सकते हैं। ग्रन्थ सबके लिये संग्राह्य है। सजिल्द मूल्य १।) डाक महसूल अलाहिदा।

चर्पट पंजरिका ।

"भज गोविंदं भज गोविंदं" पद्यका विवेचन सहित भाषानुवाद है। अनेक दृष्टांतों से रोचक और बोधप्रद है। सम श्लोकी पद्य भी हैं। मूल्य १)

व्यवस्थापक—वेदान्त केसरी, बेलनगंज—आगरा

वेदान्त केसरी की छपी हुई पुस्तकें ।

वेदान्त केसरी मासिक पत्र—नवाँ साल चालू है वार्षिक मूल्य ३) वर्ष के मध्य में ग्राहक होने वालों को वर्ष के आरंभ से सब अंक लेने होंगे मई मास से वर्ष आरंभ होता है नमूने की कापी मुफ्त नहीं मिलती। एक प्रति का मूल्य पाँच आना।

वेदान्त केसरी—पिछले सातों साल की जिल्द (प्रत्येक बारह अङ्कों की) तय्यार हैं, थोड़ी कापियां शेष रही हैं। श्रीमच्छङ्कराचार्य्य के अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण वेदान्त की प्रक्रिया आगई है।

अधिकारी के लक्षण, गुरु-शिष्य लक्षण, पंचकोष विवेक, जगत्, जीव, ईश्वर, ब्रह्म, माया, अविद्या, ज्ञान, अज्ञान, आसक्ति, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, महावाक्य, जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति; स्वाभाविकता से उठा करते हैं ऐसे चौबीस प्रश्नों के उत्तर, ब्रह्मसूत्र भाषादीपिका, (दूसरे अध्याय के दूसरे पाद के सूत्र २० तक) विवेचन सहित मणिरत्नमाला और चर्पट पंजरिका, छोटे छोटे उपनिषद्, स्तोत्र आदि अनेक लेख आये हैं, जो बोलचाल की बहुत ही सीधी भाषा में युक्तिपूर्वक समझाये गये हैं।

प्रत्येक जिल्द में विषय को स्पष्ट करके समझाने वाले क़रीब पिचहत्तर २ दृष्टान्त दिये गये हैं। बहुत ही रोचक होने से पढ़ने को लेने के बाद पुस्तक छोड़ने को चित्त नहीं चाहता। सामान्य भाषा जानने वाले भी बारम्बार पढ़ने से आत्म-बोध प्राप्त कर सकते हैं। यह पुस्तकें रागी और त्यागी सब के लिये अत्यन्त उप-योगी हैं, वार्त्ता के प्रेमियों के मित्र हैं, मुमुक्षुओं के प्राण हैं और ज्ञानियों को विनोदरूप हैं।

आज तक सभी भाषाओं में प्रकट हुए वेदान्त के ग्रन्थ, मासिक पत्र, लेख और व्याख्यानादि सब से ही यह पुस्तकें विलक्षण हैं।

प्रत्येक पुस्तक का मूल्य ३) सम्पूर्ण सैट यानी आठों पुस्तक का मूल्य २४)

कौशल्य गीतावली भाग १—२—वेदान्त केसरी में आई हुई कविताओं का संग्रह। कविता रोचक सरल और ज्ञान के संस्कारों को प्रदीप्त करने वाली तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन रूप हैं। प्रत्येक भाग का मूल्य ।≈)

वेदान्त स्तोत्र संग्रह—श्रीमच्छङ्कराचार्य्य आदि के प्रतिभाशाली वेदान्त के मुख्य २ चुने हुए २१ स्तोत्रों का संग्रह किया गया है और प्रत्येक स्तोत्र का अर्थ भी सरल भाषा में दिया गया है, जो थोड़े पढ़े हुए मुमुक्षुओं को भी नित्य पाठ और श्रवण में अति उपयोगी है। कई संन्यासियों ने भी इसे बहुत पसंद किया है। मूल्य प्रति पुस्तक ॥) सब पुस्तकों का डाक खर्च ग्राहकों को देना होगा।

व्यवस्थापक—वेदान्त केसरी, बेलनगंज—आगरा।

केसरी प्रेस, बेलनगंज आगरा में सूरजभान गुप्त द्वारा मुद्रित और प्रकाशित।

REGD. NO. A. 1821

ॐ

वेदान्त केसरी

मासिक पत्र

पुस्तक ६ } श्रावण सं० १९८७ अगस्त १९३० { अंक ४

श्लोक—तावद्गर्जन्तिशास्त्राणि जम्बुका विपिनेयथा ।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद्वेदान्त केसरी ॥

अर्थ—जब तक महाबलवान् सिंह गर्जना नहीं करता तब तक बन में श्याल खूब गर्जना करते हैं। इसी प्रकार जब तक वेदान्त सिद्धान्त की गर्जना नहीं होती तभी तक अन्य लौकिक शास्त्रों की गर्जना हुआ करती है।



सम्पादक—

ब्रह्मचारी विष्णु,

वार्षिक मूल्य ३) बेलनगंज—आगरा। एक प्रति का मूल्य।—)

विषयानुक्रमणिका ।

वेदान्त केसरी के नियम ।

(१) यह पत्र प्रत्येक अंग्रेजी महीने के आदि में निकलता है ।

(२) वेदान्त विषय का विवेचन करना इसका मुख्य प्रयोजन है ।

(३) वार्षिक मूल्य ३) अग्रिम लिया जाता है । विना मूल्य पत्र किसी को नहीं भेजा जाता

(४) एक अङ्क का मूल्य ।-) नमूने का अङ्क पांच आने के टिकट आने पर भेजा जाता

(५) जिन ग्राहकों के पास पत्र न पहुँचे उनको १५ तारीख तक सूचना देनी चाहिये ।

(६) एक वर्ष से कम के ग्राहक नहीं किये जाते । मध्य में ग्राहक होने वालों को चाल आरम्भ से सब अङ्क लेने होंगे ।

(७) चिट्ठी लिखते समय प्रत्येक ग्राहक को अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखना चाहिये

ॐ

वेदान्त केसरी

पुस्तक ९ | श्रावण सं० १९८७ अगस्त १९३० | अङ्क ४

प्राज्ञ वाणी।

हरिगीत छन्द।

(१)

"मैं हूँ निरंजन शांत, निर्मल बोध माया से परे।
हूँ काल का भी काल मैं, मन बुद्धि काया से परे॥
मैं तत्त्व अपना भूलकर, व्यामोह में था पड़ गया।
श्रुति संत गुरु ईश्वर कृपा, अब मुक्त बंधनसे भया॥

(२)

जैसे प्रकाशूँ देह मैं, त्यों ही प्रकाशूं विश्व सब।
हूँ इसलिये मैं विश्व ही, अथवा नहीं हूँ विश्व अब॥
सशरीर सारे विश्व का है, त्याग मैंने कर दिया।
सब ठौर मैं ही दीखता, हूँ ब्रह्म केवल नित नया॥

(३)

जैसे तरंगें झाग बुद्बुद, सिंधु से नहिं भिन्न कुछ।
मुझ आत्मसे उत्पन्न जग, मुझसे नहीं त्यों अन्य कुछ॥
ज्यों तंतुओं से भिन्न पट की, है नहीं सत्ता कहीं।
मुझ आत्म से इस विश्वकी, त्यों भिन्न सत्ता है नहीं॥

(४)

ज्यों ईख के रस मांहि शक्कर, व्याप्त होकर पूर्ण है।
आनन्दघन मुझ आत्मसे, सब विश्व त्यों परिपूर्ण है॥
अज्ञान से ज्यों रज्जु अहि हो, ज्ञान से हट जाय है॥
अज्ञान निजसे जग बना, निज ज्ञानसे मिट जाय है॥

(५)

जब है प्रकाशक तत्त्व मम, तो क्यों न होंउ प्रकाश मैं।
जब विश्व भरको भासता, तो आप भी हूँ भास मैं॥
ज्यों सीप में चांदी मृषा, मरुभूमि में पानी यथा।
अज्ञान से कल्पा हुआ, यह विश्व मुझमें है तथा॥

(६)

ज्यों मृत्तिका से घट बने, फिर मृत्तिका में होंय लय।
उठतीं यथा जल से तरंगें, होंय फिर जल में विलय॥
कंकण कटक बनते कनक से, लय कनकमें हों यथा।
मुझसे निकलकर विश्व यह, मुझ मांहि लय होता तथा॥

(७)

होवे प्रलय इस विश्व का, मुझको न कुछ भी त्रास है।
ब्रह्मादि सबका नाश हो, मेरा न होता नाश है॥
मैं सत्य हूं मैं ज्ञान हूं, मैं ब्रह्मदेव अनन्त हूँ।
कैसे भला हो भय मुझे, निर्भय सदा निश्चिंत हूँ॥

(८)

आश्चर्य है आश्चर्य है, मैं देह वाला हूँ यदपि।
आता न जाता हूँ कहीं, भूमा अचल हूँ मैं तदपि॥"
सुन प्राज्ञ वाणी चित्तदे, निज रूपमें अब जाग जा।
भोला! प्रमादी मत बने, भय जेल से उठ भाग जा॥

आवरण दोष।

अध्यात्म विद्या के उपदेश से जिस अज्ञान की निवृत्ति होती है उस अज्ञान के परदे का नाम ही आवरण दोष है। आवरण परदे को कहते हैं, आच्छादित करने वाला-ढांपने वाला आवरण होता है। जिस पर परदा पड़ता है उसका यथार्थ बोध नहीं होता। आत्मा के ऊपर अज्ञान के परदे से परदेयुक्त जीवको अपने आत्माका यथार्थ बोध नहीं होता। आत्मा के यथार्थ बोध न होने में अज्ञान कहा जाता है और आत्मा के बोध में ज्ञान कहा जाता है। अज्ञान में संसार और उसके अनेक प्रकार के कष्ट हैं ज्ञान से स्वस्वरूप की प्राप्ति और अखंड स्वानुभवानंद होता है।

अज्ञान की दो वृत्तियां हैं, एक असत्त्वापादक और दूसरी अभानापादक। अस्तित्व का भान न होने देने वाली असत्त्वापादक है और दीखने न देने वाली अभानापादक है। जो है उसे नहीं है ऐसा भान कराने वाली असत्त्वापादक है और जो दीखता है उसे दीखता नहीं है ऐसा भान कराने वाली अभानापादक है। जब आवरण दोष निवृत्त होता है तब अज्ञान सहित असत्त्वापादक और अभानापादक भी निवृत्त होजाते हैं और स्वयंप्रकाश वाला आत्मा प्रतिबन्ध रहित प्रकाशित होता है।

वेद के कर्म उपासना और ज्ञान तीनकांड कहे जाते हैं ये तीनों कांड तीन प्रकार के दोषों की निवृत्ति करने वाला है। शास्त्रविधि युक्त कर्मों से मलदोष की निवृत्ति होती है, उपासना से विक्षेप दोष की निवृत्ति होती है और ज्ञान से आवरण दोष की निवृत्ति होती है। मल और विक्षेप दोष से रहित होकर ही अधिकारी के लक्षणों से युक्त मुमुक्षु ज्ञान का अधि[कारी] होता है उसे एक आवरण दोष ही निवृत्ति करने होने से बहुत जल्दी से ज्ञान होना संभव है। और विक्षेप दोष को रहते हुए आवरण दो[ष] निवृत्त होना अशक्य है। कोई अपने को आ[वरण] दोष की निवृत्ति करने का अधिकारी समझ ज्ञान को प्राप्त करने को चाहता है, प्रयत्न करत[ा है] तब भी जब तक मल विक्षेप दोष निवृत्त नहीं [होते] तब तक आवरण नहीं हटता और प्रयत्न करते भी ज्ञान प्राप्ति में विलंब ही होता है, उसका कारण है कि मल और विक्षेप दोष की जितनी निवृत्ति चाहिये इतनी हुई नहीं है। वेदान्त शास्त्र का [अधि]कारी मल विक्षेप दोष रहित ही कथन किया है मध्यम और मंद अधिकारी है उनमें मल और वि[क्षेप] दोष के कारण से ही अधिकार में मध्यमत्व और [मंदत्व] है। तीव्र अधिकारी में मल विक्षेप रहित एक आ[वरण] दोष ही होता है।

जैसे कोई मनुष्य चद्दर ओढ़ कर सोया है है सब बाजू से उसका शरीर ढ़पा है शरीर ऊपर से दीखती हुई लंबी आकृति और ओढ़े वस्त्र से मनुष्य है ऐसा अनुमान कर सकते हैं [अथवा] नहीं भी करते और यह पुरुष है अथवा स्त्री जवान है अथवा बूढ़ा है, मरा हुआ है अथवा [जीवित] है इसका निर्णय नहीं हो सकता; इसी प्रकार [आत्मा] का कुछ अनुमान किसी को होय तो भी वह [किस] प्रकार का है ऐसा विशेष बोध नहीं होता [इसी प्रकार] आत्मा के ऊपर अविद्या की चद्दर है जीव [अविद्या] सहित अपने आत्मा को जानने में समर्थ [नहीं] होता।

जिस प्रकार कुछ अन्धेरे में पड़ी हुई रस्सी [का] यथार्थ बोध न होय और कुछ लंबाकृति का [बोध] होय इस समय यह रस्सी अन्धेरे रूप आवरण

ढपी हुई है, इसी प्रकार आत्मा अपने ही अज्ञान के आवरण से ढपा हुआ होने से स्पष्ट प्रतीत नहीं होता।

आवरण दो प्रकार का है, एक ही सत्ता का आवरण और भिन्न सत्ता का आवरण। जहां एक ही सत्ता में आवरण होता है वहां आवरण भी उसी सत्ता का पदार्थ होने से क्रिया से हटाया जाता है, जहां भिन्न सत्ता का आवरण होता है वहां जिस सत्ता में आवरण की प्रतीति होती है उस सत्ता को हटा देना ही आवरण की निवृत्ति है। जैसे मनुष्य चद्दर ओढ़कर सोया है उसके यथार्थ ज्ञानके लिये हाथ आदि से चद्दर को हटाना आवरण दोष का निवारण करना है क्योंकि आवरण रूप चद्दर भी व्यवहारिक दशा की है और जहां रस्सी का अंधेरे में भान नहीं होता वहां अँधेरे की प्रातिभासिक सत्ता को हटा देनेपर व्यवहारिक सत्ता में आना आवरण दोष की निवृत्ति है अथवा अनेक प्रकार से स्वप्न के दुःख से दुःखी हुआ स्वप्न रूप प्रातिभासिक आवरण को व्यवहारिक जाग्रत् अवस्था में आने से हटा देते हैं। आत्मा के ऊपर अज्ञान का आवरण इस प्रकार का है। जगत् की व्यवहारिक सत्ता में आत्मा के ऊपर अज्ञान का आवरण है, उस आवरण को हटाने का उपाय व्यवहारिक सत्ता का हटाना है। अपने स्वस्वरूप की सत्ता जो पारमार्थिक कही जाती है उसीमें आने से ही आवरण दोष निवृत्त हो जाता है। अज्ञान में जिस आवरण की सिद्धि है वह ज्ञान स्वरूप में नहीं रहती वहां हमेशा ही उसका अभाव है।

अपरोक्ष ज्ञान होने में असत्वापादक जो आवरण का अंश है, उसका नाश होता है यह नाश भी परोक्ष होता है प्रत्यक्ष नहीं क्योंकि ज्ञान भी परोक्ष है और अपरोक्ष ज्ञान होने में असत्वापादक अंश का नाश सहित अभानापादक अंश का भी नाश होता है। जब दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान असंभावना और विपरीत भावना से रहित होता है तब अज्ञान के दोनों अंश के नाश सहित परमपद का हेतु होता है इसी समय ही आवरण दोष की संपूर्ण निवृत्ति होती है। सैकड़ों प्रकार के व्यवहार में आवरण होते हैं और निवृत्त होते हैं परन्तु आपेक्षिक आवरण भंग होने से और आवरण के कारण का समूल नाश न होने से फिर फिर हुआ करता है; जैसे नित्य निन्द्रा दोष का आवरण हो होकर जागृत होते ही निवृत्त हो जाता है। अज्ञान और व्यवहार का परिश्रम ही उसका कारण है और आत्मा के ऊपर का आवरण दोष की निवृत्ति अनादि अज्ञान को समूल काट कर होती है इससे अज्ञान रहता ही नहीं है इसी कारण फिर कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकता।

ज्ञान होने के पश्चात् प्रारब्ध वश शरीर चेष्टा करता है, व्यवहारिक सत्ता में आता है तब भी आत्मा के ऊपर का गया हुआ आवरण ज्ञानी को नहीं होता क्योंकि आवरण का स्थान अब अज्ञान ही नहीं है। शेषाविद्या अन्यों की दृष्टि में दीखती है परन्तु बोध स्वरूप को प्राप्त हुए ज्ञानी के निश्चय में परब्रह्म सिवाय अन्य सत्ता ही नहीं है।

आत्म ज्ञान से अविद्या आवरण दोष युक्त निवृत्त होती है अथवा आवरण दोष सहित अविद्या का निवृत्त होना स्वरूप स्थिति है। आवरण रूप अविद्या और उसके कार्य रूप मल और विक्षेप दोष की निवृत्ति करना मुमुक्षुओं का मुख्य कर्तव्य है। जब सब दोषों सहित अविद्या की निवृत्ति होती

है तब मुमुक्षु ज्ञानी होता है और ज्ञान की दृढ़ता से स्वस्वरूप स्थिति को प्राप्त होता है यह ही उसके संसार चक्र की निवृत्ति सहित परमानंद की प्राप्ति है।

मल और विक्षेप दोष के निवारण करने में मुमुक्षु को जितना समय लगता है उन दोनों दोषों के निवारण करने के पश्चात् आवरण दोष को निवारण करने में उतना समय नहीं लगता। जिसके मल और विक्षेप दोष निवृत्त हुए हैं उसके आवरण दोष की निवृत्ति जल्दी होती है इससे कहा गया है कि "आंख के पलक गिराने में जितनी देरी होती है उतनी देरी आत्म बोध होने में नहीं होती।"

अनादि मायाके चक्रमें अविद्या और उसके दोषों भी प्रवाह रूप से अनादि है "वह किस प्रकार हुआ" आदि शंकाएं तत्त्वके अज्ञानसे होती हैं, मुमुक्षुओंको ऐसी शंकाएं न करके अविद्या का निवृत्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये। अविद्याकी निवृत्ति विना उसकी आदि का पता नहीं लग सकता। अविद्या भूल स्वरूप होनेसे जब भूल ही नहीं रहती तब भूल की आदिका कुछ प्रयोजन नहीं रहता और ठीक २ समझमें आ जाता है कि वस्तुतः कुछ बना ही नथा। इस प्रकार निशंक बोधमें शंकाका स्थान नहीं है।

एक योगी अपने नित्यके अभ्यासके समय योगाभ्यास की क्रियामें लगा हुआ था, उसने प्रत्याहार धारणा और ध्यान करके समाधि की। थोड़ी देर में ही चित्त समाधिमेंसे जाग्रत होकर संकल्पमें पड़ गया। उसने देखा कि मैं ब्राह्मण हूँ नदी पर स्नान करने जा रहा हूँ। "मैं योगी हूँ योगाभ्यास कर रहा हूं, ऐसा कुछ भी बोध न रहा। उसका चित्त ही नदी की तरफ जा रहा था परन्तु जैसे स्वप्नमें स्थूल शरीरके साथ सब चेष्टा सच्ची होती हुई दीख है; इसी प्रकार उसे भी सब सच्चा ही दीख रहा उसनेस्नान करने को नदी में डुबकी लगाते ही भान खो दिया और एक रमणीक स्थान दीख वह उसीके तरफ चलने लगा सामनेसे एक शेर आ गया और उसने उसे मार डाला योगी भान न रहा और उसे मालूम हुआ कि मैं चांडालि के गर्भ में पड़ा हूँ। मल मूत्र के साथ हुआ दुर्गंधिका अनुभव करता हुआ बहुत दुखी गर्भ बढ़ने लगा और नौ मास पूर्ण होने से बालक जन्म लिया। बाहर आते ही गर्भ की स्मृति न जैसे सबको अपना बालक प्यारा होता है वैसे बालक भी चांडाल को बहुत प्यारा था। चांडा कुटुम्ब बालक को देखकर अपने को कृतार्थ स लगे। यह बालक श्याम वर्णका और आकृति अच्छा न था तो भी उसके माता पिता को यह कन्हैया ही दीखता था। वह दिन पर दिन बढ़ लगा और चांडाल के बालक और कुत्तोंके साथ लगा और कई कुत्तोंको साथ में लेकर जंगलमें पशुओंका वध करनेलगा। जब और कुछ बड़ा तब एक चांडालि से उसकी शादी हो गई। लड़कीयां होने लग गई और कई वर्ष बीते एक भारी कुटुम्बी हो गया। वह अपने चांड व्यवहार करते हुए मग्न था।

एक समान समय किसी का नहीं जाता प्रकार यह चांडाल के ऊपर भी आपत्तियां लगीं। एक तरफसे दुष्कालने उग्र रूप धारण रखा था और दूसरी तरफसे महामारीने चांडालके कुटुम्ब को पकड़ लिया। उस चांडा

स्त्री, पुत्र, पुत्री, भाई, भोजाई और माता पिता सब को महामारी ने ले लिया। कुटुम्बके नाश से अत्यंत दुःखी होकर चांडाल रोता था और पागल के समान बकने लगा। घर बार भयंकर प्रतीत होता था उसमें आग लगाकर वह वहांसे जंगलमें भाग गया।

कुटुम्ब के दुःखसे दुःखी हुआ बहुत समय तक जंगल में भटका और जंगल के बाहर निकलकर कई देशोंमें भी भ्रमण किया परन्तु, किसी स्थान पर उसे शान्ति प्राप्त न हुई, वह भटकता हुआ कीरदेश की राजधानी मायापुरी में आया। वहां का स्थान स्थान कई वृक्षों और लताओं से घिरा हुआ रमणीक था उसे देखता हुआ एक मंडप में पहुंचा। वहां बहुत मनुष्य इकट्ठे हुए थे और चारों तरफ सुगंधित पुष्प खिल रहे थे मध्य में कई स्त्रियां नृत्यकर रहीं थीं और वाजिंत्र बज रहे थे और आस पासमें उच्चासनों के ऊपर सरदार वर्ग बैठे हुए थे और सबका चित्त गायन और नृत्यमें लगा हुआ था। वह चांडाल वहां खड़ा रह गया और अपने पूर्वके दुःखोंको भूल गया। सामने से एक बड़ा हाथी आता हुआ देखकर सबका चित्त नृत्यगायन में से हटा और हाथी की तरफ सब देखते थे जैसे जैसे हाथी समीप आता था लोग उसे चलने का मार्ग देते थे। हाथी रेशमी वस्त्र और जेवर से शणगारा हुआ था उसने अपनी सूंड में एक बहु मूल्य रत्नों की माला ग्रहण की हुई थी जैसे कोई ग्राहक अपने रत्नों के लिये जौहरी को ढूंढे इस प्रकार इकट्ठे हुए मनुष्यों में से हाथी किसीको ढूंढ रहा था। बहुत समय तक हाथी घूमता हुआ सब मनुष्यों को देखता था उसने जैसे चांडाल को देखा तुरन्त उसके गलेमें रत्नोंकी माला पहना दी और सूंडसे उठाकर अपनी पीठ पर होदे में बैठा दिया। लोगों ने एक साथ हर्ष नाद किया और हर्षके वाजिंत्र बजे "धन्य भाग्य हमरा हमको राजाकी प्राप्ति हुई है" ऐसे शब्दोंके साथ हर्ष की आवाज आकाश में गूंजने लगी। हाथी की मनोकामना पूर्ण हुई थी, हाथी जिसे ढूंढ रहा था वह भाग्यशाली उसे मिल गया।

महावतने हाथीको खड़ा किया और हाथी पर बैठा हुआ चांडालको नीचे उतारा कई स्त्रियोंने मोती की माला उसके गलेमें डाली इस समय बना हुआ नया राजा रत्न और पुष्पोंसे लिपटा हुआ कल्प वृक्ष के समान दीख रहा था। फिर राजाको नमन करने के लिये प्रधान मंडल और मुख्य मुख्य प्रजाजन आये सबने अत्यंत नम्रतापूर्वक नमन किया बाद पंडितों ने आकर राजाको शास्त्रविधिवत् राज्याभिषेक किया और बहुत प्रकार से दान दक्षिणा बटी। बाद राजाको उस सजे हुए हाथी पर बैठाकर शहरमें फिराते हुए राजमहल में ले आये। वह चांडाल अपने पूर्वके सब दुःखको भूलकर राज्य काज करते हुए उत्तम भोगको भोगने लगा। वहां उसका नाम गवल हुआ। उसने सब देशमें अपने प्रभावको फैलाया और उस सब देशमें उसकी आज्ञाका पालन होने लगा।

कई वर्षों इस प्रकार व्यतीत होने के बाद राजा गवल एक दिन राजमहल से बाहर निकलकर राजमार्ग में टहल रहा था। वहां कितनेक चांडाल आये और बीन बजाते हुए गाने लगे। उसमें एक वृद्ध चांडाल ने राजाको पहिचान लिया और उत्तम वस्त्र पहने हुए का ख्याल न करके उसने राजाको कहा:—हे कंटज, (यह उसका चांडालपने का नाम था) तेरा कंठ अच्छा है तू भी गाने लग। आज बहुत दिनके बाद हमको तेरा दर्शन हुआ है, बांधव के दर्शन होना भारी लाभ है। राजाने उसका कुछ भी उत्तर न दिया परन्तु भरूखे

में बैठी हुई रानी और प्रधान आदिकों ने यह चांडाल की बात सुन ली थी। रानी और प्रधान जान गये कि राजा जाति का चांडाल है। वहांसे राजा निस्तेज होकर महल में चला गया परन्तु महलके मनुष्योंमें से किसी ने भी राजा को स्पर्स न किया, सब नौकर लोग राजासे दूर ही रहने लगे, राजा की आज्ञा का भी कोई पालन करता न था।

रानी, प्रधान और प्रजाके प्रतिष्ठित मनुष्योंने मिलकर विचार किया कि चांडाल के संगमें बहुत दिन रहनेसे लगे हुए दोप की निवृत्तिका अन्य कोई प्रायश्चित ही नहीं, अग्निमें देह त्याग करनेसे ही दोप की निवृत्ति होगी। ऐसा निश्चय करके सबने लकड़ीका ढेरकर अग्नि लगा दी और प्रायश्चित रूप अपने अपने शरीरकी आहुति देने लग गये; इस प्रकार धार्मिक वृत्ति वालोंने अपना देहका नाश कर दिया। गवल राजा जिसकी बुद्धि मंत्री आदि के संसर्ग से कुछ पवित्र हुई थी वह महा शोक में पड़ा! और विचारने लगा कि यहां विना प्रलय का प्रलय हो रहा है, इस नाश रूप प्रलय का कारण मैं ही हूँ। अब मैं भी जी कर क्या करूंगा? निंदित होकर जगत में जीता रहनेसे तो मर जाना ही अच्छा है। इस प्रकार निश्चय करके उसने भी अपना शरीर को अग्निके स्वाधीन किया।

जैसे उसने अग्निमें प्रवेश किया कि तुरन्त उसने अपने को नदी में स्नान करके बाहर निकलता हुआ देखा। यह आश्चर्यमें पड़ा और विचारने लगा कि स्नान करनेके थोड़े समयमें मैंने क्या क्या देखा! मैं चांडाल और मेरा चांडाल कुटुम्ब! महामारीसे सबकी मृत्यु! भागकर घूमते हुए कीर देशका मैं राजा हुआ! वहां मैं चांडाल हूँ ऐसा सब को मालूम हो जाने से सब प्रजा ने और मैंने अग्नि में प्रवेश किया! क्या स्वप्न था! नहीं स्वप्न तो नहीं स्वप्न तो नींद में ह है मैं तो स्नान कर रहा था अब कीर देश में ज देखना चाहिये कि यह सब वृत्तांत सच्चा है या ऐसा विचार वह कीर देशके तरफ चला गया।

कीर देशमें जाकर सब को पूछनेसे मालूम कि "यहां एक चांडाल राजा हुआ था कई उसने राज्य किया। जब 'राजा चांडाल है' ऐसा को मालूम हो गया तब सब प्रजाने और राजा अग्नि में प्रवेश किया था"। वह ब्राह्मण चांडाल की बात सच्ची जान कर चांडाल के गांव पर गया वहां अपना मकान और गांव वाले को भली प्र पहिचान लिया। उसने निश्चय किया कि मैं नहीं देखा था, मेरा जन्म ही चांडाल के यहां था। आश्चर्य को प्राप्त हो वह अपने स्नान तट पर आया। यह सब रचनाका समाधान स्वयम् न कर सका इससे उसके समाधान के जो कोई योग्य संत दिखाई देते उनसे वह प्रार्थना था परन्तु कितने कालतक उसका समाधान हुआ

एक दिन एक अव्यक्तलिंग धारी पाग दीखता हुआ मनुष्य उस ब्राह्मण के पाससे था उसकी निगाह उस ब्राह्मण पर पड़ी वह एक से उसे देखता रहा ऐसा देख कर ब्राह्मण बोला टिक टिकी लगा कर क्यों देखता है? क्या तुझे कुछ विलक्षणता मालूम देती है? वह खिलखिला कर हंस कर बोला—तेरे में बहुत वि णता दीखती है इससे मैं तुझे टिकटिकी लगा देख रहा हूं।

ब्राह्मण ने निश्चय किया कि यह कोई पुरुष है उस पर उसकी श्रद्धा हुई और वह

पूर्वकी शंकाका समाधान भी चाहता था इसी से उसने हाथ जोड़ कर नम्रता से कहा, हे प्राज्ञपुरुष, मेरे में कौनसी विलक्षणता है कि जिसका आप प्रत्यक्ष कर रहे हो ? आइये मेरे यहां चलकर शान्ति से मेरी शंका का समाधान कीजिये । प्राज्ञ पुरुष उसके मकान पर गया । वहां ब्राह्मण ने एक आसन बिछाकर सत्कारपूर्वक बैठाया और पूर्वमें जो चांडाल, राजा आदि होन का अनुभव किया था सबको आदि से अन्ततक सुनाया और यह भी कहा कि मैं उस देश में जाकर सबसे पूछ आया हूँ यह वहां का वृत्तान्त ठीक ही है यह क्या था ? आप स्वप्न कहो तो मैं उसे स्वप्न कैसे मानूं ?

प्राज्ञः—तेंने जो देखा और अनुभव किया वे सब स्वप्न के पदार्थ न होंय ऐसा कोई नियम नहीं है, तेरा स्वप्न होय और दूसरे की व्यवहारिक चेष्टा होय ऐसा बन सकता है। मेरे को बड़ा आश्चर्य तो यह है कि तू जो मेरे साथ बात कर रहा है यह भी स्वप्न ही है । अपने को शरीरधारी हाड, चाम, मांस, वाला अल्पज्ञ जीव मान रहा है यह ही मुझे बड़ा आश्चर्य मालूम होता है। तू तो महायोगीराज है प्रकाश वाला और सर्वज्ञ है, भ्रान्तिसे-अज्ञान की नींद से अपने को तुच्छ जीव मानकर दुःखी हो रहा है ।

ब्राह्मणः—मैं तो एक स्वप्न के आश्चर्य में पड़ा था आपने तो मुझे दूसरा स्वप्न में पड़ा हुआ कह कर महान आश्चर्य में डाल दिया है। आपका यह कथन सच्चा ही है ऐसा मैं किस प्रकार जानूं ? मैं योगीराज कहां हूँ, मेरे में प्रकाश दिव्यता कहा है ? आपने मेरा योगी होना किस प्रकार जान लिया ?

प्राज्ञः—मुझे तू प्रकाश स्वरूप दिव्य योगी दीखता है और तू अपने को तुच्छ जीव मानता है यह तेरा अज्ञान है, इस मूर्खता से ही तू दुखी होता है तू स्वप्न में है ।

ब्राह्मणः—नहीं महाराज' मैं नींद में सोया हुआ नहीं जाग्रत अवस्था में हूँ आपके साथ बात कर रहा हूँ । यह मेरा स्वप्न है उसे आप प्रमाण से सिद्ध करिये ।

प्राज्ञः—नींदवाले को कोई भी नींद में कहे कि तू स्वप्न में है तब वह कभी भी कबूल नहीं करता, जब जाग जाता है तब ही कहता है कि स्वप्न में था-सोया हुआ था तेरी नींद का पता तुझे जाग्रत हुए बिना लग नहीं सकता । यदि मेरे वचन पर तुझे विश्वास हो तो मैं तुझे जाग्रत होने का उपाय दिखलाता हूँ उसे कर, जाग्रत होते ही तेरी सब भ्रांति दूर होजायगी ।

ब्राह्मणः—मैं सोया हुआ हूं ऐसा मानता नहीं हूं फिर भी आपके कथन पर विश्वास करके मानता हूँ मैं नींद में भी होसकता हूँ । आप उपाय बतलाइये, जाग्रत होने के लिये आपके कहने के अनुसार मैं प्रयत्न करूंगा ।

प्राज्ञः—'मैं प्रकाश स्वरूप हूँ, अखंड हूँ, योगीराज हूँ ऐसी दृढ़ भावना को कर । मैं योगी हूँ, मैं योगी हूँ, सच्चिदानंद स्वरूप हूँ' पूरे सामर्थ्य से इस प्रकार चिल्ला और शरीर को तोड़ मरोड़ कर झाड़ कर चौंक जा, इस प्रकार चौंकते ही तेरे शरीर का मल झर जायगा, चौंकने से ही तेरी अज्ञान की नींद टूट जायगी पूर्ण रूप से चौंकना, होगा चौंकने के साथ आन्तर लागणी के साथ चिल्लाने से अत्यंत आश्चर्य और भयभीत होने से नींद खुल जाती है ।

ब्राह्मण संस्कार वाला था ही; प्राज्ञ पुरुष के कहने के अनुसार धारणा करके शरीर को तोड़ मरोड़ कर झाड़ते हुए आश्चर्य के साथ पूर्ण सामर्थ्य से चौंका। चौंकते ही ब्राह्मण शरीर नदी तट घर और प्राज्ञ पुरुष सब अदृश्य हो गये और योगी को बोध हुआ कि मैं समाधि में से संकल्प सृष्टि में चला गया था। स्वस्वरूप में सावधान होते ही वहां अज्ञान और अज्ञान का कार्य कुछ भी न रहा स्वस्वरूप की अखंड समाधि में मग्न हुआ।

संसार और संसार के सब कार्य अज्ञान और उसके कार्य रूप हैं जब मल दोष और विक्षेप दोष निवृत्त करके आवरण दोष की निवृत्ति होते ही बोध स्वरूप में स्थिति होती है। जब तक यह अज्ञान की महानींद निवृत्त नहीं होती तब तक कोई भी परमानन्द को प्राप्त नहीं हो सकता।

अविद्या के तीन दोष में से मल और विक्षेप दोष की अधिकता है वहः मुमुक्षु ही नहीं है ऐसा पुरुष आवरण दोष की निवृत्ति का प्रयत्न करते हुए भी सफल नहीं होता। अज्ञान की नींद में से चौंकना ही ज्ञान स्वरूप में जाग्रत होने का उपाय है। जब संसार में वार वार कष्ट भोगने से अन्तःकरण की शुद्धि से मल और विक्षेप दोष निवृत्त होकर शुद्ध वैराग्य की प्राप्ति होती है तब ही संसार में से चौंक कर स्वस्वरूप में जाग्रत हो सकता है। शास्त्र और गुरु के अनेक प्रकार से समझाये हुए वचनों से मुमुक्षु को ही चौंककर जाग्रत होना होगा। जिसका अज्ञान है उसे ही निवृत्त करना होगा, सोने वाला ही जाग्रत होगा। जिसने इस प्रकार आवरण—अज्ञान को हटाया है उसे धन्य है वह ही कृतार्थ है।

ध्यान।

घटादि जड़ पदार्थ स्फूर्ति रहित होने से [illegible] नहीं कर सक्ते, परब्रह्म ठोस है, उस में त्रिपुटी [illegible] अभाव है, इसलिये परब्रह्म में ध्यानका अभाव [illegible] शेष ब्रह्मा से लेकर गुल्म लता पर्यन्त जितने [illegible] हैं, उन में से कोई भी ध्यान रहित नहीं है; [illegible] मूर्च्छा और समाधि के सिवाय सब ही प्रति[illegible] किसी न किसी का ध्यान करते ही रहते हैं। [illegible] इतना है कि विद्वान् के ध्यान का विषय एक [illegible] है, इसलिये विद्वान् का चित्त स्थिर रहता है [illegible] अविद्वान् के ध्यान के विषय अनेक हैं, इस[illegible] अविद्वान् का चित्त अस्थिर रहता है। अस्थिर [illegible] सुख रूप परमात्मा का प्रतिबिम्ब स्पष्ट नहीं [illegible] इसी कारण संसारी मनुष्य प्रायः सुख का [illegible] नहीं करते किंतु विशेष करके दुःख का ही [illegible] करते हैं, स्थिर मन में सुख स्वरूप परमात्म[illegible] प्रतिबिम्ब स्पष्ट प्रतीत होता है, इसी कार[illegible] त्यागी पुरुष सर्वदा सुखी रहते हैं। इससे [illegible] हुआ कि जिस को सुख की इच्छा हो, उसे [illegible] विषयों में से चित्त को हटाकर एक विषय में [illegible] चाहिये यदि वह एक परमात्मा हो, तब तो [illegible] उत्तम है, नहीं तो अपने इष्टदेव का ध्यान करते [illegible] होना चाहिये। बिना एक के ध्यान के मन [illegible] हो सक्ता, स्थिर मन हुये बिना जीव सुखी [illegible] सक्ता, इसलिये ध्यान की आवश्यकता है।

गीता में कहते हैं श्री भगवान्, हे पार्थ! [illegible] से श्रेष्ठ है ज्ञान, ज्ञान से उत्तम है ध्यान, [illegible] त्याग देता है मनुष्य सब जहान, त्याग से है [illegible] शान्ति महान्, शांत पुरुष का होता है [illegible]

निश्चय पाता है कैवल्यपद निर्वाण ! जो नहीं करता ध्यान, उसका दूर नहीं होता अज्ञान, नहीं पाता वह सम्यक् ज्ञान, सम्यक् ज्ञान विना पाता है कष्ट महान, रहता है हैरान, परेशान, सुख से कभी नहीं सोता, वह मूढ़ अंजान ! ठीक कहते हैं भगवान्, यह ही कहते हैं सब संत सुजान; इसलिये आवश्यक है ध्यान !

परम सुजान, सनत्कुमार भगवान्, नारद शिष्य को शोकातुर जान, इस प्रकार करते हैं ध्यान का व्याख्यान, जिसको सुन कर मुर्दे के शरीर में भी आ जाती है जान, अतिवादी बन जाता है मूर्ख नादान, जान जाता है क्या है भूमा, क्या है प्राण, हो जाता है ज्ञान निधान !

सनत्कुमार—हे नारद ! शब्द रूप से ब्रह्म की उपासना करने वाला वेदादि समस्त शास्त्रोंका ज्ञाता हो जाता है। शब्द से वाणी श्रेष्ठ है, इसलिये वाणी की ब्रह्म रूपसे उपासना करने वाला सर्व शास्त्रों का वक्ता हो जाता है। वाणी से मन श्रेष्ठ है, इसलिये मन की ब्रह्म रूप से उपासना करने वाला सब के मन की बात जान जाता है। मन से संकल्प श्रेष्ठ है, इसलिये संकल्पकी ब्रह्म रूपसे उपासना करने वाला सत्य संकल्प होजाता है, संकल्प मात्रसे चाहे जिस लोक में जा सक्ता है और चाहे जिस प्राणीको अपने पास बुला सक्ता है। संकल्प से चित्त श्रेष्ठ है; इसलिये चित्त की ब्रह्म रूप से उपासना करने वाला भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों काल का ज्ञाता हो जाता है। चित्त से ध्यान श्रेष्ठ है, ध्यान का माहात्म्य मैं तुझसे कहता हूँ, ध्यान देकर सुन—

हे नारद ! स्वर्ग, अंतरिक्ष तथा भूलोक आकाशादि पंच महाभूत, हिमालय आदि पर्वत तथा देव समान शम दमादि साधन संपन्न मनुष्य ये सब निश्चल होने से ध्यान करते हुये पुरुष के समान प्रतीत होते हैं, इसलिये ध्यान अत्यंत श्रेष्ठ है। इस लोक में जो २ पुरुष अपने शम दमादि गुणों से सर्व मनुष्यों में पूज्य होता है, वह ध्यान के सहज फल को जानता है, ऐसा समझना चाहिये क्योंकि ध्यान विना इस जन्म में अथवा जन्मांतरमें कोई भी महान् फल को प्राप्त नहीं होता किंतु ध्यान के प्रभाव से ही सब महान् फल को प्राप्त होते हैं। जो लोग सर्वदा पराये दूषणों को खोजा करते हैं, सब की निन्दा करते रहते हैं। अन्य पुरुषों का अपकार करते हैं और सर्वदा कलह कराने के उद्यम में लगे रहते हैं, उन सबको अधम समझना चाहिये। ये अधम पुरुष ध्यान के अभावसे सर्वदा विक्षिप्त चित्त वाले होते हैं। ध्यान करने वाले के चित्त में कभी विक्षेप नहीं होता किंतु ध्यान के प्रभाव से यह पुरुष सर्वदा समाहित चित्त वाला होता है और सर्व मान्य होता है। ध्यान की जो ब्रह्म रूप से उपासना करता है; वह चित्त की उपासना करने वाले से अधिक फल प्राप्त करता है। ध्यान के प्रभाव से सर्व शास्त्रों का विज्ञान, सर्व प्रकार का बल यानी देह बल, बुद्धि बल, धर्म बल और आत्म बल प्राप्त होता है। ध्यान के प्रभाव से योगी पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश, इन पांचों तत्त्वों पर विजय पाता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा है कि पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश में पंचभूत जिस योगी के वश में हो जाते हैं, उसका देह तेजोमय हो जाता है और तेजोमय देह वाले योगी को न तो रोग होता है, न जरा प्राप्त होती है और न मृत्यु होता है। हे नारद ! ध्यान के प्रभाव से योगी सर्व विश्व के धारण करने वाले प्राण को अपने वश में कर लेता

है और इस ध्यान के प्रभाव से ही प्राणों के प्राण सत्य रूप भूमा को जानकर परमार्थ रूप से अति वादी होकर अक्षय पद को प्राप्त होता है । सारांश यह है कि ध्यान करने वाले के लिये तीनों लोकों में कोई वस्तु दुर्लभ नहीं है, सब वस्तुयें सुलभ हैं ।

इस ध्यान का लक्षण पतंजलि भगवान् इस सूत्र से कहते हैं

'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥' (३।२) अर्थ— 'तत्र' उसमें यानी उस पूर्वोक्त देश अर्थात् विपय में 'प्रत्ययैकतानता' ध्येयाकार चित्त वृत्ति की एकाग्रता 'ध्यानम्' ध्यान कहलाता है ।

भाव यह है कि जिस विपय में धारणा द्वारा चित्त को लगाया हो, उसी विपय में विजातीय वृद्धि प्रवाह से रहित सजातीय वृद्धि का निरन्तर प्रवाह कर देना ध्यान है । जो ध्यान का विपय है यानी जिसका ध्यान किया जाता है, उस विपयक ही चित्त वृत्ति का प्रवाह रहना, अन्य विपयक नहीं होना इसका नाम विजातीय प्रत्यय से रहित सजातीय वृत्ति प्रत्यय प्रवाह है ।

ध्यान का विपय स्पष्ट करने के लिये एक योगेश्वर और उसके शिष्य का संवाद लिखते हैं—

गुरुशिष्य का संवाद ।

एक शिष्य ने एक दिन अपने गुरु से इस प्रकार प्रश्न किया—

शिष्य—हे भगवन् ! ध्यान कितने प्रकार का होता है और मुझे ध्यान किसप्रकार करना चाहिये ।

गुरु—हे प्रिय ! मैं तुझे चार प्रकार का ध्यान बताता हूं, जिसको जानकर महर्पि सदा काल की सिद्धि को प्राप्त होते हैं । योग वेत्ताओं ने चार प्रकार का ध्यान का आलंबन कहा है । प्रथम आलम्बन रे और पूरक के अभ्यास से वायु को स्थिर करके प्राप्त करना और मन को मन का आलम्बन देकर करना क्योंकि वायु स्थिर होने से मन भी स्थिर हो जाता है । दूसरा आलम्बन—बाह्य प में से सूर्य, चन्द्र, इनकी किरणों, उनकी श्री अथवा आभ्यंतर पदार्थोंमें से नासिकाग्र, वि आदि में से किसी एक का चित्त को आलम्बन उससे भी मन स्थिर हो जाता है । तीसरा आल जाग्रत् और निद्रा के मध्यम में जो अस्मिता भासती है उसका आलम्बन करना, यह आलम्बन है । चौथा आलम्बन—जो अपना इ जैसे कि नील ग्रीव शिव, पीताम्बराधरी वि षट् चक्र, देवता आदि; इनमें से चाहे जिसका को आलम्बन देकर स्थिर करना यह चौथा म्बन है ।

हे वत्स ! महर्पि सदा ही ज्ञान से तृप्त हों उनका मन निर्वाण में स्थित होता है, वे जिस उचित हो, इसी प्रकार ध्यान करते हैं । जो संसार रूप दोप से मुक्त हो गये हैं, जिनके लेना रूप दोप क्षीण हो गये हैं । ऐसे योगी में स्थित होकर फिर संसार में नहीं आते । वे शीतोष्ण आदि का सहन करने वाले, निरंतर यानी प्रकाश में रहने वाले, लोभादि से मुक्त हैं और शौच संतोपादि का नियम से पालन हैं । स्त्री आदि के संग से रहित, प्रतिपक्ष शून्य विवाद शून्य होते हैं और उनका स्थान मन को देने वाला होता है । ऐसे शांति प्रद स्थान में करके ध्येय वस्तु के साथ एक भाव होकर मन एकाग्र करना चाहिये । ध्येय विपय का ही मन स्फुरण हो, दूसरे शब्दादि विपयों का स्फुरण न

इसका नाम एकाग्रता है। इस प्रकार मन को एकाग्र करने का उपाय यह है कि ध्यान करने वाला योगी इन्द्रिय समुदाय को समेट कर यानी एकत्र करके लकड़ी के समान बैठकर ध्यान करे। जैसे कछुआ सब अंगों को समेट कर बैठता है; इसी प्रकार इन्द्रियों को समेट कर मन को एकाग्र करे, ऐसा करने से इन्द्रियां विषयोंका स्पर्श नहीं करतीं; क्योंकि इन्द्रियां मन रूप कछुये के अंग हैं। इन्द्रियों को समेटने की युक्ति गुरु से पूछ कर मन को एकाग्र करना चाहिये। जब कान में शब्द सुनाई न दे। त्वचा से स्पर्श जानने में न आवे, नेत्र से रूप दिखाई न दे, जीभ से रस जानने में न आवे और नासिका से किसी पदार्थ की गंध मालूम न हो; तब समझना चाहिये कि इन्द्रियां समेट ली गई हैं। इस प्रकार योगी को पांचों इन्द्रियों के पांचों विषय त्यागने चाहिये और इन्द्रियोंको मथन करने वाले उन पांचों विषयोंकी इच्छा भी न करनी चाहिये पीछे योगी को ऐसा करना चाहिये कि पांचों इन्द्रियों सहित भ्रमण करने वाला मन पांचों इन्द्रियों सहित ध्येय विषयमें ही लगा रहे। विषयोंमें संचार करनेके स्वभाव वाले और पांच इन्द्रियरूप द्वार वाले मनको प्रथम देहादि आलम्बनोंसे रहित करके धैर्यपूर्वक हृदयाकाशमें पूर्वोक्त चार प्रकार के आलम्बनों में से किसी एक आलम्बन में स्थिर करना चाहिये। इन्द्रिय और मन को एकत्र करने से ही कृतकृत्यता नहीं होती क्योंकि ध्यान करने वाले की पांच इन्द्रिय, मन और बुद्धि और छट्ठा अंतरंग मन; जो कि पूर्व में रोका था अत्यन्त चंचल होने से जैसे मेघ में बिजली चमक उठती है, इसी प्रकार उद्भ्रांत होकर पीछे स्फुरण करने लगता है। जैसे पत्ते में रक्खी हुई जल की बूंद इधर उधर हिलती रहती है, स्थिर नहीं रहती इसी प्रकार ध्यान में मन भी स्थिर नहीं रहता, चलता ही रहता है। प्रथम ध्यान मार्ग में मन कुछ स्थिर होता है परंतु पीछे वायु के मार्ग को यानी नाड़ियों के मार्ग को प्राप्त होकर वायु के समान चंचल हो जाता है क्योंकि योग मार्ग की नाड़ियां शुक्ल, नील, पिंगल, रक्त तथा हरित अनेक वर्ण की हैं, उनमें अनेक प्रकार के वर्णों को देख कर मन फिर चलित हो जाता है जब चित्त इस प्रकार भटकने लगे और ध्यानाभ्यासी को श्रम होने लगे तो भी उसको निरुत्साह होकर ध्यान का त्याग न करना चाहिये किंतु ध्यानाभ्यासी को आलस छोड़कर अन्य प्रत्यय में से चित्त को हटाकर अपनी ध्येय वस्तु में चित्त को फिर स्थिर करना चाहिये। जिस किसी ने पहिले ध्यान न किया हो किंतु पहिले पहल ही ध्यान का आरंभ किया हो, उसको प्रथम विचाराख्य ध्यान, विवेकाख्य ध्यान अथवा वितर्काख्य ध्यान होता है। मध्यम अधिकारी का विचाराख्य ध्यान होता है। मन से कल्पी हुई पीले वस्त्र वाली सूक्ष्म मूर्ति आदि में मन को स्थिर करना, इसका नाम विचाराख्य ध्यान है। यह ही ध्यान जब स्थूल मूर्ति का होता है, तब उसको वितर्काख्य ध्यान कहते हैं। यह ध्यान कनिष्ठ अधिकारी का है। जब इस विचार और वितर्क का आलम्बन व्यक्त होता है, तब वह अनुक्रम से मध्यम तथा कनिष्ठ अधिकारी के योग्य होता है। जब उसी विचार और वितर्क का आलम्बन अव्यक्त होता है तब वह उत्तम और अत्युत्तम अधिकारी के योग्य होता है और उसी को अनुक्रम से 'सानन्द' और 'सास्मित' कहते हैं।

गुरु की बतायी हुई युक्ति के अनुसा रजबर अव्यक्त में चित्त को धारण किया जाता है औ ऐसा करते २ जब देह का अत्यंत विस्मरण हो जात

है, तब 'यह सर्व जगत् मैं ही हूं' ऐसा अनुभव होता है और सर्वात्मपना तथा कामपना आदि ईश्वरीय गुण प्रकट होते हैं। यह सानन्द समाधि उत्तम अधिकारी के लिये है। जब इस सर्व का लय करने में आता है, तब मात्र अस्मित (हूँ) रह जाती है। इसको अस्मिता समाधि कहते हैं। यहां तक विचार और वितर्क का विवरण हुआ।

बुद्धि—सत्व और पुरुष को एक समझना, इसका नाम हृदय ग्रन्थि है। इस हृदय ग्रन्थि के भेदन को 'विवेक' कहते हैं। भाव यह है कि बुद्धि जड़ है और क्षेत्रज्ञ पुरुष चेतनहै, ऐसा समझने का नाम "विवेक" है। जिसकी समग्र भोग की वासनायें नष्ट हो गई हैं, ऐसे परम वैराग्य वाले पुरुष को ऐश्वर्य आविर्भाव हुये विना भी यह "विवेक" होता है। इसमें सानन्द समाधि का अंतर्भाव है। निद्रा के आरंभ में और जाग्रत् के अंत में जो भाव होता है, उस भाव की मन में भावना करने से अक्षय सुख की प्राप्ति होती है, यह बात शास्त्र में स्पष्ट कही है परन्तु गुरु के उपदेश विना देहाभिमान वालों को यह समाधि—ध्यान दुर्गम और क्लेश साध्य है। इसमें व्यक्त और अव्यक्त दोनों आलम्बन वाले प्राणालम्बन की गति है। इन चार प्रकार की योग विद्याओं में से वितर्काख्य ध्यान स्थूल, सूक्ष्म, कारण और चैतन्य से अनुगत है, विचाराख्य ध्यान सूक्ष्म, कारण और चैतन्य तीन से अनुगत है, विवेक ध्यान कारण और चैतन्य से अनुगत है और अंत का ध्यान जिसको निर्बीज समाधि कहते हैं, वह मात्र चेतन्य से अनुगत है। यह कैवल्य रूप फल भूत समाधि है इसलिये उसको साधनों में नहीं गिना है।

हे प्रिय! समाधि करने वाले मुनि के म क्लेश हो तो भी समाधि का त्याग करना नहीं है किंतु करते ही रहना चाहिये क्योंकि में योगी का हित है। मन चंचल है इसलि धीरे वश में आता है। इसलिये प्रथम् इन्द्रिय की भावना करनी चाहिये। पीछे दूसरे अं भावना करनी चाहिये। जब सब मूर्ति पर स्थिर होता जाय, तो एक २ अंग छोड़कर पर पग रख के ऊपर चढ़ने के समान पीछे के का आलम्बन न करना चाहिये किंतु मूर्ति चिन्मात्र की भावना करनी चाहिये। इस प्रका चित्त विराम को प्राप्त होता है तो मन अत्यं थानी निर्विकल्प हो जाता है। भाव यह है कि वितर्क समाधि करनी चाहिये, वितर्क से में जाना चाहिये, विचार से सानन्द में जाना और सानन्द से सास्मिता में जाना सास्मिता के अंत में कैवल्य की प्राप्ति होती शिष्य! प्रति दिन के अभ्यास से चित्त निरो प्राप्त होता है और चित्त निरोध में जो सुख है, वह सुख इसलोक में सार्व भौम राजा के होता और परलोक में ब्रह्मा को भी नहीं है प्रकार योगी द्वैत भाव रहित होकर कैवल्य प्राप्त होते हैं।

—सकल चराचरानुचर

त्याग से स्वरूप की प्राप्ति।

दो मित्र श्रीभागीरथी के किनारे सघन वृक्षोंकी छाया में बैठे श्रीगंगाजी के दर्शन करते हुए शीतल मंद सुगंध से प्रफुल्लित हो आपस में धार्मिक विचार कर रहे थे, उनमें से एकका नाम स्वरूपानन्द और दूसरे का नाम मायानन्द था।

स्वरूपानन्दः—हे मित्र! जीव को सावधान होकर स्वरूपानुसंधान करना चाहिये, कर्तव्य कार्य को विचारना चाहिये, मैं कौन हूँ, कहां हूँ, क्या कर्तव्य है और क्या कर रहा हूं? मैं एकत्व भाव को प्राप्त कैसे होऊंगा।

मायानन्दः—मित्र! प्रकृति, जीव, ईश्वर तीनों अनादि हैं और इनका परस्पर भेद भी अनादि है। प्रकृति सत् रूप है, जीव सत् चित् है, ईश्वर सत् चित् आनन्द रूप है तो भला फिर यह तीनों परस्पर पृथक्क् २ धर्म युक्त होने से कैसे एकत्व भाव को प्राप्त हो सकता है।

स्वरूपानन्दः—अब इसमें यह विचारणीय है कि इन तीनों में जो सत्यत्व है सो एक है या भिन्न २ है। यदि भिन्न २ है तो सत् नहीं क्योंकि सत्का यह लक्षण है कि "त्रिकालाबाध्यत्व सत्यत्वम्" तीनों काल में जिसका बाध न हो अर्थात् अखंड एक रस रहे उसको सत् कहते हैं। यह तीनों में सत्यत्व भिन्न २ है तो सत् नहीं और जो एक है तो सत्गुण में तीनों का भेद नहीं एक ही हैं। बस, प्रकृति तो आपकी लय होचुकी क्योंकि सत् रूप के सिवाय और तो उसका कुछ स्वरूप नहीं वह सत्य एकत्व भाव को प्राप्त है तब कहिये प्रकृति लय हुई। रहा जीव सत् चित् और ईश्वर सत् चित् आनंद सो सत् तो दोनों में एक ही है। अब चित् (चैतन्यता) को बतलाओ? दोनों में एक है व भिन्न २ है यदि भिन्न २ है तो चित् नहीं क्योंकि चैतन्य तो आपके कथन से ही दोनों में एक है; बस जीव ब्रह्म से भिन्न कुछ न रहा, क्योंकि सत् चित् से अतिरिक्त तो जीव का कोई स्वरूप ही नहीं और ब्रह्म सो सच्चिदानन्द स्वरूप है ही, उसमें तो कुछ कथन श्रवण ही नहीं, वही जीव सत् चित् आनन्द स्वरूप है। क्योंकि जीव को सत् चित् मान कर आनन्द गुण उनमें न मानना यह भूल की बात है।

यदि जीव में आनन्द गुण न हो तो उसको आनन्द की इच्छा न होनी चाहिये। क्योंकि जिस वस्तु का अनुभव नहीं किया होता तो उसकी इच्छा किसी को नहीं होती सो प्रत्येक को सदैव सुख की इच्छा रहती है; बस सिद्ध हुआ जीव में आनन्द गुण भी है। केवल इतना ही अंतर है कि देह, इन्द्रियादि संघात में जो आसक्त हो, रहता है इससे आनन्द स्वरूप आत्मा को भली प्रकार अनुभव नहीं कर सकता। जैसे मृग अपनी नाभिमें स्थित कस्तूरी की सुगंधि को अनुभव करके भ्रम से उसको अपने से बाह्य समझ कर उसकी इच्छा से जंगलों में भ्रमता फिरता है। यदि मृग की नाभि में कस्तूरी नहीं होती, तो उसको स्वप्न में भी कस्तूरीके सुगन्धि की इच्छा नहीं होती। इसी प्रकार आनन्द स्वरूप आत्मा जीव को नित्य प्राप्त है परन्तु भ्रम से प्राप्त को अप्राप्त मान कर प्राप्ति की इच्छा करता है। जब संघात से मुख फेर कर सतगुरु की शरण लेता है तब वह कृपा करके उसका उसी में ही लखा देता है। बस गुरुदेव के लक्ष्य कराये हुए को यह जीवात्मा लक्ष्य करके स्वयं सच्चिदानन्द स्वरूप होजाता है उस स्वरूप से फिर कभी चलायमान

नहीं होता, इसी का नाम मुक्ति है कि जिसको प्राप्त होकर फिर आवागमन रूपी प्रवाह में नहीं आता।

मायानन्दः—नवीन वेदान्तियों में इस कथनका प्रचार मैंने बहुत देखा है।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥

यह उनका कथन सत्य नहीं होसकता, क्योंकि जीव अल्प होने से आवरण में आता, शरीर के साथ प्रकट होने रूप में जन्म लेता, पाप रूप कर्मों के फल भोग रूप बंधन में फंसता, उससे छूटने का साधन करता, दुःख से छूट कर परमानन्द को प्राप्त होकर मुक्ति भोगता है।

स्वरूपानन्दः—हे मित्र ! आपने यह जो वाक्य कहा इसका न कुछ पता ही दिया कि कहां का है और न कुछ अर्थ करा; ऊपर ही से अपनी आला मालागा निकले, अब इसका अर्थ सुनो। यह मांडुकोपनिषद् के ऊपर की ३२ वीं कारिका है इसका अर्थ यह है कि जब अपने स्वरूप का ज्ञान होता है तब निरोध यानी प्रलय नहीं है, और न उत्पत्ति है, न बद्ध है यानी (संसारी जीव), न साधक है यानी मोक्षके साधन से सम्पन्न और न मुमुक्षु यानी बंधनसे छूटने की इच्छा वाला और न मुक्त यानी बंधन से छूटा हुआ कुछ शेष नहीं रहता केवल स्वयं आत्मा ही लक्ष्य होने लगता है इसी का नाम परमार्थ है। अब बतलाइये इसमें क्या नवीन वेदान्तीपने की बात है। हे मित्र ! मुंडक उपनिषद् की श्रुति के अर्थ को सुनाता हूं। सुनिये, परब्रह्म का पूर्ण ज्ञान होने से ज्ञानी के हृदय की भेद रूपी ग्रंथि भेदन हो जाती है, सर्व संशय छेदन हो जाते हैं और पुण्य पाप रूप कर्म सर्व नष्ट हो जाते हैं। अब बतलाइये इसके अनुसार व्याख्यान को आप नवीन वेदांती कहते हैं और अपने प्राचीन वेदांती होने पर भी गंतव्य मार्ग का नहीं कि संन्यासियोंके मुक्ति रूप धाम का कौन मार्ग है ?

मायानंदः—आपका मुक्ति स्वरूप निरूपण इस श्रुति से विरुद्ध है "ते ब्रह्मलोकेह परान्त परामृतात्परि मुच्चंति सर्वे !" यह मुक्त जीव में प्राप्त होके ब्रह्म में आनंद को तब तक भो महाकल्प के पश्चात् मुक्ति सुख को छोड़ के संसार आते हैं और मुक्ति में जीव को ज्ञान रहता है आप कैसे कहते हो कि मोक्ष को प्राप्त होकर फिर नहीं लौटता।

स्वरूपानंदः—धन्य है महाशय जी, स्वार्थ सिद्धि के लिये श्रुति भी अस्त व्यस्त ही रण की और मुक्ति का फैसला भी बहुत शीघ्र दिया। अब पूरी श्रुति सुनिये—

"वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्थाः,
संन्यास योगाद्यतयः शुद्ध सत्त्वाः।
ते ब्रह्म लोकेषु परान्त काले,
परामृतः परमुच्चन्ति सर्वे।" मु० उ०

जिन्होंने वेदान्तजन्य विज्ञान (अनुभव ब्रह्माभिन्न आत्म रूप अर्थ का निश्चय किया है शील सर्वस्व त्याग रूप संन्यासयोग से शुद्ध निश्चल चित्त हो गये हैं वे सर्व विद्वान् संन्यासी ब्रह्म रूप लोक में यावत् जीव वर्तमान परान्त में यानी विद्वत् देह पात काल में पर ब्रह्म है जिनका ऐसी जीवन्मुक्ति दशा ही में परामृत को प्राप्त हुए विदेह कैवल्य मोक्ष को प्राप्त होते इसी कारण से श्रुति भगवती ने परान्त काल

है। क्योंकि अज्ञानी के शरीर पात काल का नाम अपरान्त काल है, यानी जिस शरीर से परे भावी शरीर होने वाला है, तिस अपर शरीर का जो अन्त काल है वह अपरांत काल कहा जाता है और विद्वान् का इस वर्तमान शरीर से परे भावी शरीर होना नहीं इस कारण परांत काल कहा है। यानी ज्ञानी के देह पात काल को परांत काल कहते हैं, इसी कारण से श्रुति में "ब्रह्मलोकेषु" यह बहु वचन दिया है, क्योंकि ब्रह्म रूप लोक तो एक है बहुत नहीं है, परन्तु विद्वानों की स्थिति की अपेक्षा से अनेकवत् प्रतीत होता है। अर्थात् जीवन्मुक्ति ही ब्रह्मलोक है कि जिसको प्राप्त होकर फिर जन्म मरण में नहीं आता और इसी की दृढ़ता को आगे की श्रुति प्रतिपादन करती है। क्योंकि पुरुष कारण सहित संसार बंधन की निवृत्ति परमानंद की अखंड प्राप्ति रूप मोक्ष की इच्छा करते हैं, कार्य रूप मोक्ष की नहीं।

"गताः कलाः पञ्च दश प्रतिष्ठा,
देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्माणि विज्ञान मयश्च आत्मा,
परे अव्यये सर्व एकी भवन्ति ॥"

अर्थः—भावी शरीर का आरम्भिक जो १५ कला हैं:-वह यह हैं १ प्राण, २ श्रद्धा, ३ आकाश, ४ वायु, ५ तेज, ६ जल, ७ पृथ्वी, ८ इन्द्रिय, ९ मन, १० अन्न ११ वीर्य १२ तप १३ मंत्र १४ कर्म १५ लोक ये ज्ञानी के मोक्ष काल में अपने २ कारण में लय भाव को प्राप्त हो जाती हैं। देह के आश्रित चक्षु आदिक करण में स्थित जो देवता हैं वह सूर्यादिक प्रति देवता में प्राप्त होते हैं और वर्तमान शरीर के आरम्भिक भोगने ही से क्षय होने वाले प्रारब्ध कर्म से भिन्न सर्वकर्म और विज्ञानमय आत्मा बुद्धि) में पड़ा जो चैतन्य का प्रतिबिम्ब) वह बुद्धि सहित पर, अव्यय, अक्षर, अजर, अमर, अभय, अकार्य, अकारण, अनंत, अद्वैत शांत ब्रह्म में एकी भाव को प्राप्त होते हैं। जब कि पुनः उत्पत्ति का बीज पंचदश कला अपने २ कारण में देवताओं सहित लय हो गई तो पुनः जन्म किसका होगा यानी मोक्ष को प्राप्त होकर फिर जन्म मरण में नहीं आते कैवल्य मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

अब यह और भी विचारणीय है कि जब ज्ञान से जीवन्मुक्त होता है और आप ही के कथन से मोक्ष में महाकल्प भर जीव को ज्ञान ही बना रहता है तो यह बतलाइये कि जब थोड़े काल के ज्ञान के फल से जीव को महाकल्प भर मोक्ष हुई तो उस महाकल्प के ज्ञान का फल कितने महाकल्प मोक्ष होगी? इसी प्रकार आप ही के कथन से सिद्ध होता है कि जीव मुक्ति को प्राप्त होकर संसार में नहीं आता। अब टुक सोचो तो सही कि जब कुछ ज्ञान के फल से जीव को कल्प भर की मोक्ष हुई तो बतलाइये कल्प भर के ज्ञान का क्या यह फल होगा कि जीव फिर जन्म मरण रूप घोर नरक में पड़े। शिव! शिव!! शिव!!! हा जन्म मरण का महा दुःख है और इसी की निवृत्ति के वास्ते ज्ञानी ज्ञान, ध्यानी ध्यान, योगी योग करते हैं और आपने इसका खिलौना समझ लिया। हे मित्र! पुनः जन्म की इच्छा मत करो। यह इच्छा ही बंधन का हेतु है।

हे मित्र! पिताके शरीरमें अत्यन्त अशुचि रेतरूप से स्थित होना फिर शिश्न छिद्र द्वारा निकलना हा! हा!! हा!!! कैसा अत्यंत कष्ट फिर माता के उदर में मल मूत्र के स्थान में विष्ठा कृमिवत् रहना फिर योनि द्वारा निकलना फिर मलरूप शरीर धारण

करना अहो ! हो !! हो !!! महान् कष्ट ! महान् दुःख !! अत्यन्त दुःख !!! आश्चर्य ! आश्चर्य !! आश्चर्य !!! इतने पर भी किंचित् भी जीवको वैराग्य नहीं होता। सत्य है विष्णु पुराण में लिखा है:- 'स्वदेहाशुचिगन्धेन न विरज्येत यः पुमान। वैराग्य कारणं तस्य किमन्यदुपदिश्यते ॥'

मायानंदः—मित्र बड़ा आश्चर्य है कुछ समझमें नहीं आता, जब कि जीव मुक्तिको प्राप्त होकर नहीं लौटेंगे तो मुक्ति के स्थान में बड़ा भीड़ भड़क्का हो जायगा, धक्का मुक्की होने लगेगा। क्यों जब वहां आगमकी अधिकता और व्यय कुछ भी नहीं होगा तो बढ़ती का पारावार न रहेगा और इधर संसार का उच्छेद हो जायगा। दूसरे मन भर बोझ उठाने वाले पुरुषके सिर पर दश मन पक्का भार धरने वाले की निंदा होती है। मुक्ति में जाना वहां से आना ही अच्छा है। क्या थोड़े से कारागार से जन्म भरके कारागार को कोई भी प्राणी अच्छा समझता है यदि मुक्ति से जीव नहीं लौटा तो मुक्ति क्या हुई जन्म कैद या फांसी होगई।

स्वरूपानंदः—आश्चर्य ! आश्चर्य !! अहो हो कैसा आश्चर्य !! धन्य दैवी माया तुझको और तेरे परिवार को; अपनी चमक दमक में ऐसा दबा दिया कि अपनी पूर्व स्मृति को भूल अध्यस्त को अधिष्ठान और अधिष्ठान को अध्यस्त मानता है। हे मायादेवी मरे को मारने वाली तू अघटित घटना घटानेमें बड़ी चतुर है परन्तु जो विश्वेश की शरण हुए हैं उनका तू बाल बांका भी नहीं कर सकती। हे मित्र मायानन्द, आपका दोष नहीं इस माया ने अनेक ठग डाले हैं इसका काम ही यही है। आपके कथन से यह प्रतीत होता है कि चकाचक भंग पीने वाले भंग की तरंग में बात करते हैं; इसी प्रकार आपका कथन है। वाह, वेद शास्त्र के सर्वस्व को दश मन पक्का बोझ समझ लिया और आश्चर्य तो यह प्रतीत होता है कि सीधे मार्ग चलने वालों को तो आप नवीन वेदांती ब... और अपने को मुक्ति मार्गका ज्ञान नहीं संन्यासियों का मुख्य उद्देश्य यही है ... आपको विपरीत ज्ञान हुआ है।

देखो श्रुति क्या कहती है:-"जैसे नदि... रूप को त्यागकर स्यंदायमान समुद्र में लीन ... हैं, तैसे ही विद्वान् नामरूप को त्यागकर पर... परम पुरुष परमात्मा है तिसको प्राप्त होता है ... उ० " बतलाइये समुद्र में नदियों से भीड़ ... होता है ? यदि नदियों का जल समुद्र में ... पृथक् होजावे तो मुक्त जीव भी मुक्ति से ... सो ऐसा तीन काल होता नहीं। "ब्रह्म... संपद्यते न च पुनरावर्तते न चपुनरावर्तते।" ... "अनेक जन्म संसिद्धस्ततोयातिपरां गतिम्।" ... अ० ६ "अनावृत्ति शब्दात् अनावृत्ति शब्दात् ... सू०; अनेकान् श्रुति स्मृतियों पर आपने ... दिया। वाह, धन्य है, वेदशास्त्र का सिद्धांत ... उपासना का फल, ध्यानियों के ध्यान, ज्ञानियों के ज्ञान, योगियों के योग, संन्यासियों के सर्वस्व की सफलता के रूप मोक्ष को खूब ही ... बनाया।

हे मित्र, जीवों को मनुष्यका जन्म ... उनमें भी नर देह दुर्लभ है, उसमें भी वेदों का ... दुर्लभ है, उसमें भी वेदोक्त मार्ग में तत्पर होना ... है, उसमें भी वेदों के अर्थ का ज्ञान होना ... उसमें भी आत्मा अनात्मा का विवेक ... उसमें भी आत्मा का साक्षात्कार होना दुर्लभ है ... भी ब्रह्म के साथ अभेद स्थिति रूप ब्रह्म नि...

है ऐसी मुक्ति अनन्त कोटि जन्मों के सुकृत निष्काम पुण्यों विना नहीं प्राप्त होती। हे प्रियवर मित्र, मोक्ष कारागार नहीं है कारागार तो यही है जिसकी आप के मन में आस्था होरही है; हे मित्र ! इस आस्था का त्याग कर, नहीं तो बड़ा अनर्थ होगा। संसारासक्त देहाभिमानियों को त्याग महा विषधर सर्प के समान प्रतीत होता है यह उनकी भूल है त्याग रूप महासर्प ही पूजनीय है वारंवार पूजनीय है। एक दृष्टान्त से समझाता हूँ सरल रीति से समझ में आजायगा कि जिसको हम तन, मन, धन अर्पण कर चुके हैं यही कारागार है और इस कारागार रूप महान् दुःख से यह त्याग रूपी महा विषधर सर्प ही छुड़ाने वाला और मोक्ष का साधन है, सावधान होकर मन, चित्त बुद्धि लगा कर श्रवण कर।

बोधसिंह नामी सार्वभौम राजा अपनी राजधानी में सुख चैन से वास करता था। एक दिन उसको स्वप्न हुआ स्वप्न में क्या देखता है कि मैं एक बड़े भारी कारागार में लाया गया हूँ और मुझको चक्की पीसने का काम दिया गया है। चक्की कभी चलाई नहीं चलाते ही हाथों में छाले पड़ गये क्या करूं ? यदि नहीं चलाता हूँ तो सिपाही डंडों से मारते हैं, जब कभी सिपाहियों से नम्रतापूर्वक विनय करता हूँ तो वे मेरी तो सुनते ही नहीं और लालताती आखें करके मेरी ओर टकटकी लगा कर देखते हैं, मैं भयभीत होकर फिर चलाने लगता हूँ। जब अत्यंत दुःखी होकर रोने लगा तब सिपाहियों ने मुझको डंडों से ऐसा मारा कि मैं चेष्टा से रहित होकर अचेत हो पृथ्वी पर गिर गया। थोड़ी देर पश्चात् चेत हुआ तो क्या देखता हूँ कि मेरे शरीर में नख से लेकर शिखा तक बहुत घाव होगये हैं और उनमें मक्खी मच्छरादि जन्तु चिपटे हुए हैं, जिनसे मुझको इतना दुःख होरहा है जिसको वाणी कथन करने को समर्थ नहीं है हाय ! हाय !! हाय !!! करता हूँ, तड़फता हूँ परन्तु मेरी कोई नहीं सुनता। क्या करूं ? हाथ भी इतने सूझ गये हैं और घाव होगये हैं कि उठाने से भी नहीं उठते; हाय ! विधाता हा राम !! हा राम !!! जब बहुत भारी शब्द से चिल्लाने लगा तब कहीं जेलर ने सुन लिया वह शीघ्र आया और इस प्रकार की दशा देख करुणाजनक हो सिपाहियोंसे कहा—भाई इसको इतना क्यों मारा ? सिपाहियोंने अपनी बचतके लिये अपने को अपराधी न ठहरा कर उलटा मुझको ही विशेष अपराधी ठहराया। यह सुन कर जेलर ने मुझको कालकोठरी की आज्ञा की, मुझको दश महीने कालकोठरी में रहना पड़ा वहां का दुःख यदि सातों समुद्रों की स्याही बनाई जाय और सर्व पृथ्वी का कागज बनाया जाय और सरस्वती के हाथ में लिखने दिया जाय तो वह भी ठीक २ पूरा लिखने में असमर्थ होगी। बस क्या देखता हूँ कि एक महा विषधर सर्प बड़े वेगसे फुसकार देता हुआ मेरी ओर दौड़ा आरहा है, मैं भयभीत हो एकाएक तड़फ कर जो हटा त्योंही पलंग से नीचे गिरा। गिरते ही झट जाग गया। अहा ! हा !! हा !!! यह क्या हुआ ? वह महा विषधर सर्प कहां गया, जिसने मुझको इतने बड़े भारी कष्ट से बचाया। वह कहां लोप होगया वही पूजने योग्य है वह ही सर्व पूजनीय है उसीकी मैं तन, मन, धन से पूजा करूंगा। यह विचार कर वह राजा बोधसिंह स्थान स्थान ऋषि महात्माओंसे अपने स्वप्न की चरचा करके उसका सारांश पूछता फिरता था परन्तु कोई कुछ और कोई कुछ बताता इससे उसकी शांति नहीं हुई। ढूंढते २ एक विरक्त महात्माके पास पहुंचा जो शरीरसे नग्न ब्रह्मानंदमें मग्न, कौपीन-

धारी कंदमूल आहारी भद्रा मुद्रा लगा ध्यानावस्थित हो बैठे थे। राजा भी बैठ गया, जब महात्माजी समाधि से उत्थान हुए तब राजा ने साष्टांग दंडवत् किया आज्ञानुसार बैठ कर अपना स्वप्न का वृतान्त सुनाया। संत सुन कर अट्टहास कर हँसने लगे, हे राजन्! इसका सारांश तुझको समझाता हूं सावधान होकर श्रवण कर।

संतः—यह संसार ही कारागार है, चक्की रूप प्रवृत्ति है, जेलर ईश्वर है, सिपाही ईश्वरके कर्मचारी कुटुम्बी हैं, जब प्रवृत्ति के प्रभाव के अनुसार नहीं वर्तता है तभी कर्मचारी लोग दुःख देते हैं। काल कोठरी रूपी माता की गर्भयोनि है। संसारासक्तिका त्याग महाविषधर सर्प है, जिसके द्वारा तेरी काल कोठरी का दुःख निवृत हुआ। इसी त्याग रूप सर्प के भय से भयभीत हो अपनी पूर्व जाग्रत को प्राप्त हो सुखी हुआ। यदि जो कोई इस त्यागरूप सर्प को तन, मन, धन से सर्व पूजनीय मान गले लगावेगा, वह माता की योनिमें जो कालकोठरी से अनंत गुणा दुःख जिसमें है उसको पुनः प्राप्त न होगा। हे राजन्! इस त्याग रूपसे ही स्वस्वरूप की प्राप्ति होती है अन्यथा नहीं। हे राजन्, इसी त्याग रूप सर्प से तीनों दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति होती है। इसलिये हे राजन्! यदि अपना भला चाहे तो संसारासक्ति का त्याग कर परम सुख रूप स्वरूप को प्राप्त हो।

बोधसिंहः—श्री महाराज, कालकोठरी का मुझ को अच्छे प्रकार से अनुभव है मेरे नेत्रों के सन्मुख घूम रहा है, हे भगवन्! इससे मेरी रक्षा कीजिये, मैं आपकी शरण हूँ! शरण हूँ!! तन, मन, धनसे आपकी शरण हूँ!!! रक्षा करो! रक्षा करो!! रक्षा करो!!! अहा हा! इस महान् दुःख से बचाइये और रूपी महाविषधर सर्प को मेरे गले में पहना जिसका मैं कभी त्याग नहीं करूंगा। निरंतर आदरपूर्वक सेवन कर परमपद अपना स्वरूप है उसको प्राप्त होऊंगा; फिर गर्भ योनिरूप कालकोठरी में नहीं आऊंगा। राज, कालकोठरी का स्मरण होते ही मेरा कांपने लगता है, महान् आश्चर्य है ऐसे पदार्थ से सैकड़ों करोड़ों कोस दूर भा और संसार रूपी कारागार से प्रेम करते हैं पुरुषों को धिक्कार है! धिक्कार है!! धिक्कार है!!!

स्वरूपानंदः—हे मित्र बोधसिंह राजा प्रकार निश्चय कर त्याग को परम पूजनीय मान काल में साधन संपन्न हो गुरु उपदेश द्वारा शरीर से स्वरूप को प्राप्त हुआ यानी जीवन्मु सुख चैन से विचरने लगा; अन्तमें विदेह कैवल्य प्राप्त हुआ।

मायानंदः—मित्र आपके उपदेश से मेरा नष्ट होगया, धन्य है मित्र हो तो ऐसा हो, अब पूर्ण विश्वास होगया कि मैंने लोगों को बाग डाला उसका मुझको बड़ा पश्चात्ताप होता है बड़ा अनर्थ किया।

स्वरूपानंदः—मित्र चिंता मत करो सब कुछ बनता है। भेद दृष्टि रूप कलंक गिरना जिसने त्याग दिया है और परमार्थ से अनर्थ कष्टादिकों से रहित है यानी कष्ट रूप की इच्छा जिसको नहीं है, बुद्धि शुद्ध होकर स्वरूप सुन्दर परब्रह्म में लीन होगई है वही मुक्त है। यह जीवनमुक्ति विचार रूप श्रेष्ठ

है, यह विचारवान् दृष्टि पुरुष के निर्मल चित्त रूप थामले में उत्पन्न होता है, यह जीवनमुक्ति विचार रूप कल्पवृक्ष मल से रहित है कैवल्य मुक्ति फल के देने वाला है और अभ्यास रूप अमृत के सींचने से उत्पन्न होता है। ऐसा कल्प वृक्ष जिसके चित्तमें स्थित हुआ है वही जीवन मुक्त होता है। मुनियों करके मान्य है, मुनींद्र है और महान् है, यही जीवनमुक्ति सुख अपना स्वरूप है परमहंसों का मुख्य उद्देश्य है। यदि कोई कहे इससे अन्य कल्प वृक्ष भी तो कामना की पूर्ति करता है, उसका उत्तर यह है कि कामना की पूर्ति तो करता है परन्तु कामनाओं की निवृत्ति नहीं करता और यह स्व स्वरूप कल्प वृक्ष मूल सहित सर्व कामनाओं को भस्म कर देता है, इससे इसमें विशेषता है। हे मित्र ! कामनाओं का सर्वथा त्याग ही कामना की पूर्ति है अन्यथा नहीं इसलिये आप सर्व कामनाओं को त्याग कर साधन संपन्न होकर स्व स्वरूप को प्राप्त हूजिये।

मायानंदः-वाह मित्र ! दुःखागार संसृति से मुझ को छुड़ा दिया धन्य है ! सत संगति संसृति का अंत करती है इस महा पुरुषों के वचन को आपने सार्थक कर दिखाया। मैं आपका अत्यंत आभारी हूँ, आपने मुझको ज्ञान दान प्रदान किया। अन्न दान तो १ दिन ही ठहरता है और विद्यादान आयु भर ठहरता है। परन्तु ज्ञान दान अविचल है इसका कभी आदि अन्त नहीं होता वह आपने मुझको निर्हेतु दयालुता करके प्रदान किया है। अब मेरे सब संदेह नष्ट हो गये और अपने स्वरूप की स्मृति आ गई, गत संदेह होकर सबको त्याग आपके कथनानुसार स्वरूप में स्थित रहने का अभ्यास करूंगा।

प्रिय पाठको ! मायानंद स्वरूप के अभ्यास की प्रबलता से जीवन मुक्त हो विचरने लगा अंत में विदेह कैवल्य रूप परम पद को प्राप्त हुआ। इसलिये नर देह धारण करनेका यही लाभ है कि एन केन साधन द्वारा स्व स्वरूप की प्राप्ति करे यदि नहीं करेगा तो पशु ही है।

—आत्मानंद।

सदाचार।

(गतांक से आगे)

आत्मानात्म विवेकस्तु,
ज्ञान माहुर्मनीषिणः।
अज्ञानं चान्यथालोके,
विज्ञानं तन्मयं जगत् ॥४६॥

अर्थः-आत्मा और अनात्माका के विवेक को विद्वान् पुरुष ज्ञान कहते हैं, अन्यथा ज्ञान को अज्ञान कहते हैं और ब्रह्म ही जगत है ऐसे जानना विज्ञान है।

विवेचन।

तत् पद और त्वं पदका वाच्यार्थ में रही हुईं दोनों की उपाधि अनात्म स्वरूप है और दोनों का लक्ष्यार्थ आत्म स्वरूप है उसी को यहां आत्म अनात्मका विवेक द्वारा समझाते हैं। संपूर्ण जगत् में दो पदार्थ हैं, आत्मा और अनात्मा प्रथम जिसको क्षेत्रज्ञ करके वर्णन किया है वह आत्मा है और क्षेत्र रूपसे वर्णन किया हुआ अनात्मा है। दोनों के विवेक को विद्वान् पुरुष ज्ञान कहते हैं। जो उत्पत्ति नाश वाला, विकारों को प्राप्त होने वाला, हमेशा एक हालत में न

रह कर बदलने वाला, माया अविद्याका और महा भूतों का कार्यरूप है, परिछिन्न है वे सब अनात्म हैं और इनसे विरुद्ध सत् स्वरूप, चित् स्वरूप, आनंद स्वरूप, उत्पत्ति नाश रहित, विकार रहित, अपरिछिन्न, अखंडित तत्त्व स्वरूप, सबका अपना आप आत्मा होता है।

आत्मा और अनात्मा दोनों भिन्न है ऐसा बोध अज्ञान से नहीं होता। अज्ञान और उसके कार्य करके अज्ञानिओं का आत्मा ढका हुआ होने से आत्मा की प्रतीति नहीं होती, जब पूर्वके शुभ संस्कारों का उदय होकर योग्यता प्राप्त करके मनुष्य आत्म ज्ञान की इच्छा करता है तब ऐसे मुमुक्षुओं को आत्मा अनात्मा का विवेक करने की आवश्यक्ता है। अव्यक्त प्रकृति से लेकर स्थूल शरीर तक अविद्या का कार्य नाम रूप से आत्मा ढपा है। अविद्याके कारण शरीर से लेकर स्थूल शरीर तक पांच कोप रूप पांच परदा है इनसे आत्मा ढपा है। उस परदे का बोध करके उनको अनात्म समझकर हटाने से आत्मा शेप रहता है, इसको पंचकोप विवेक कहते हैं यह ही आत्म अनात्मा का विवेक है। इस प्रकार तीनों शरीरके भाव को हटाने से अथवा नाम रूपका वाध करने से भी आत्मानात्म का विवेक होता है।

स्थूल शरीर में एक कोप है उसे अन्नमय कोप कहते हैं, यह अन्नमय कोप माता पिताके खाये हुए अन्न से बने हुए रज वीर्य से उत्पन्न होता है, अन्न से ही जीता रहता है और जब नाश को प्राप्त होता है तब अन्नमय पृथ्वीमें ही लय होता है। उत्पत्ति है, है, बढ़ता है, युवा होता है, वृद्ध होता है और मरता है ऐसे विकारों से युक्त है। पंचीकरण किये हुए पंच महाभूतों से बना है इसी से अनात्मा है, आत्मा नहीं है।

प्राणमयकोप सूक्ष्म शरीर में तीसरा को प्राणवायु का स्वरूप है। प्राण, अपान, समान, उ और व्यान; यह पांच प्रकार का वाक्, पाणि, पाद, गुदा और उपस्थ यह पांच क इनसे बना हुआ प्राणमयकोप है। अपने वाले कोप में से सत्ता लेकर कार्य करता है, का कार्य है, उत्पत्ति नाश वाला, विकारी और इसी से अनात्मा है।

मनोमयकोप सूक्ष्म शरीर का दूसरा को मन और श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्रा पांच ज्ञानेन्द्रिय से बना है, जीवात्मा को विष कराने का साधन रूप है यह उत्पत्ति नाश विकारी और परिछिन्न होने से अनात्मा है।

विज्ञानमयकोप सूक्ष्म शरीर में प्रथम है बुद्धि उसका स्वरूप है उस कोप में कर्ता भो अभिमान होता है। बुद्धि और मनोमय दिखाई हुई पांच ज्ञानेन्द्रिय सहित विज्ञान है मनोमयकोप में रही हुई ज्ञानेन्द्रिय साधन और विज्ञानमयकोप में रही हुई ज्ञानेन्द्रिय युक्त है। विज्ञानमयकोप भी अविद्या का उत्पत्ति नाश वाला और विकारी हो अनात्मा है।

आनंदमयकोप व्यष्टि अज्ञान रूप है जड़ है, कभी होता है और कभी नहीं होता। विकारी और अन्य कोपों का कारण होने से है। इस प्रकार क्रम क्रम से पांचों कोपों को करने पर एक अखंड चैतन्य तत्त्व सबका शेप रहता है उसे आत्मा समझना चाहिये। प्रकार मुंजमें से ऊपर के छिलके को हटाकर सलाई का ग्रहण करते हैं; इसी प्रकार पांच को

बोध करके रहा हुआ आत्मा का ग्रहण करना आत्म अनात्म विवेक है।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीन शरीर हैं। कारण शरीर को सूक्ष्म शरीर ने ढांपा है और सूक्ष्म शरीर को स्थूल शरीर ने ढांपा है। पंचीकृत पंच महाभूतों का बना हुआ स्थूल शरीर जड़, विकारी, उत्पत्ति नाश वाला होने से अनात्मा है, ऐसा समझ कर हटाना। सूक्ष्म शरीर स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म है और अपंचीकृत पंच महाभूतों का कार्य है; पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच प्राण और मन बुद्धि ऐसे सतरह तत्त्वों से बना हुआ विकारी जड़ होने से अनात्मा समझ कर हटाना। कारण शरीर अव्यक्त है, अविद्या का है, विकारी और जड़ है उसको भी अनात्मा समझ कर हटाना ऐसे तीनों शरीर को हटाकर शेष रहे हुए को आत्मा समझना आत्म अनात्म विवेक रूप ज्ञान है।

नाम रूप अविद्या का कार्य होने से अनात्मा है और नाम रूप का आधार अस्ति, भांति, प्रिय सच्चिदानन्द स्वरूप होने से आत्मा है इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ में आत्मा का विवेक करना। ऐसे विवेक को ज्ञान कहते हैं, ऐसे विवेक से उलटे भाव सब अज्ञान है ज्ञान से अज्ञान का नाश होता है तब ज्ञानाज्ञान दोनों का जो वास्तविक स्वरूप है वह ब्रह्म है। ज्ञान से अज्ञान का नाश होकर ज्ञान भी लय होता है तब विज्ञान शेष रहता है विज्ञान तत् ब्रह्म स्वरूप है इसी से संपूर्ण जगत् भी वस्तुतः परब्रह्म ही है।

अन्वय व्यतिरेकाभ्यां,
सर्वत्रैकं प्रपश्यति।
यत्तु तद्वृत्तिजं ज्ञानं,
विज्ञानं ज्ञान मात्रकम् ॥४७॥

अर्थः—अन्वय और व्यतिरेक द्वारा जो सर्वत्र एक ही को देखना है वह तो वृत्ति द्वारा किया हुआ ज्ञान है, विज्ञान केवल ज्ञान ही ज्ञान है।

विवेचन।

ऊपर जो विवेक दिखलाया है उसे अन्वय व्यतिरेक की युक्ति द्वारा भी दिखलाते हैं। सबका आद्य आधार कारणों का कारण और वास्तविक सबका अस्तित्व-रूप परब्रह्म होने से अन्वय और व्यतिरेक की युक्ति से भी वह ही शेष रहता है। अन्वय नाम सम्बन्ध का है और व्यतिरेक सम्बन्धसे रहित को हटाकर अलग करने को कहते हैं। एक पदार्थ में रहा हुआ दूसरे पदार्थ का सम्बन्ध से अथवा उसके कारण दूसरे पदार्थ को ग्रहण करना उसे अन्वय कहते हैं और प्रथम पदार्थ जिसका सम्बन्ध अंश दूसरे पदार्थ से नहीं है अथवा जो दूसरे का कार्य है उसे हटा देना व्यतिरेक है। अन्वय को महत्व देना और व्यतिरेक को तुच्छ समझकर हटाते जाना। जिसको अन्वय करके ग्रहण किया था उसमें भी फिर अन्वय और व्यतिरेक को करना। इस प्रकार करते करते जिस अन्वय के पदार्थ में व्यतिरेक करने का कोई न रहे वह शुद्ध स्वरूप परब्रह्म होता है। जगत् और जगत् के सब पदार्थों में अविद्या का सम्बन्ध है परन्तु वह अवस्तु होने से अंतिम टिक नहीं सकती और परब्रह्म तो सत् स्वरूप होने से सबका आद्य हैं। माया-अविद्या अपने कार्य सहित निवृत्ति हो जाती है, पर ब्रह्म किसी प्रकार भी निवृत्त नहीं होता।

स्थूल शरीर से जगत् का सब प्रकार का व्यवहार होता है, स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर सहित सब प्रकार

के कार्य करता है, सूक्ष्म शरीर रहित स्थूल शरीर कोई भी कार्य नहीं कर सकता। मुरदा शरीर है परन्तु उसमें सूक्ष्म शरीर न होने से व्यवहार की चेष्टा कर नहीं सकता, इसीसे स्थूल शरीर तुच्छ है और सूक्ष्म की महत्ता है ऐसा समझ स्थूल शरीर के भाव को हटा देना स्थूल शरीर का व्यतिरेक हुआ और सूक्ष्म शरीर का भाव करना अन्वय हुआ। सूक्ष्म शरीर भी कारण शरीर युक्त है, कारण शरीर न होय तो सूक्ष्म शरीर भी नहीं रहता, जैसे वृक्ष की जड़ वृक्ष के रहने का कारण है ऐसे सूक्ष्म शरीर का कारण, कारण शरीर है। सूक्ष्म शरीर थकित होकर कारण शरीर में ही दबता है, इसीसे सूक्ष्म शरीर तुच्छ है और कारण शरीर को महत्व है। सूक्ष्म शरीर के भाव का हटाना व्यतिरेक हुआ और कारण शरीर का ग्रहण अन्वय हुआ। कारण शरीर अविद्या से युक्त है, कारण शरीर अप्रत्यक्ष व्यष्टिरूप है और अविद्या समष्टिरूप है इसीसे कारण शरीर तुच्छ और अविद्या की महत्वता है ऐसा समझकर कारण शरीर का भाव को छोड़ना व्यतिरेक है और शेष अविद्याका ग्रहण करना अन्वय है। अब रही जो अविद्या; उसमें अपना अस्तित्व नहीं है परब्रह्म के अस्तित्वसे ही उसकी प्रतीति है ऐसी यह अविद्या है इसीसे उसकी तुच्छता है और परब्रह्म की विशेषता है; ऐसा समझ कर अविद्याके भाव को हटाना उसका व्यतिरेक हुआ और शेष परब्रह्म का ग्रहण अन्वय हुआ। यह अन्तिम अन्वय है, परब्रह्म अखंड होने से उसमें से व्यतिरेक करने का कोई भी पदार्थ नहीं है उसको जानना ज्ञान है।

जैसे तीनों शरीरों का अन्वय व्यतिरेक करके अन्तिम आत्मा को—परब्रह्म को जाना ऐसे प्रत्येक पदार्थ में से अन्वय व्यतिरेक करके तत्त्व को जान सकते हैं, नाम रूप वाले सब पदार्थों में से अ[न्वय] व्यतिरेक से ज्ञान कर सकते हैं। ऐसा किया [हुआ] ज्ञान अन्तःकरण की वृत्तिजन्य है यानी अ[न्तः]करण की वृत्ति द्वारा होता है। सब पदार्थों में [से] ही तत्त्व का बोध होता है। ज्ञान के पश्चात् ज्ञान वृत्तिका भी अभाव होता है तब स्वस्व[रूप] रहता है यह अखंड है, यह विज्ञान ही विज्ञान है।

अज्ञानंध्वसकं ज्ञानं,
विज्ञानं चोभयात्मकम्।
ज्ञान विज्ञान निष्ठेयं,
तत्सद्ब्रह्मणि चार्पणम् ॥४[८]

अर्थः—अज्ञान का नाश करने वाला ज्ञा[न] और उभयात्मक विज्ञान है यह ज्ञान विज्ञान की स्वस्वरूप ब्रह्म में अर्पण की जाती है।

विवेचन।

मैं जीव हूँ सुखी दुःखी हूँ अल्पज्ञ और जन्म[ने] वाला हूं ऐसा जीव भाव अज्ञान है। जगत् स[त्य] और जगत् में का एक मैं हूं ऐसा समझना अपने शुद्ध तत्त्व को न जानना उसका नाम [अज्ञान] है। जगत् व्यवहारिक दशा में सत्य है और सुख दुःख जन्म मरण भी सत्य हैं ऐसा न [समझ] कर पारमार्थिक में सच्चा समझना अज्ञान है। [...] से जो जैसा है ऐसा न जानना अज्ञान है। [...] वास्तविक स्वरूप का पूर्ण बोध न होने में [...] होता है। अज्ञान में अनेक प्रकार के कष्ट [सहने] पड़ते हैं। जब अनेक जन्म कष्ट भोगते भोगते [...] उकता जाता है और पूर्व के शुभ संस्कार [उदय] होते हैं तब उसे जगत् रूप बन्धन में से [मुक्त] होने की इच्छा होती है; योग्यता प्राप्त कर[ने]

शरण जाकर स्वस्वरूप का विशेपता से बोध करता है उसका नाम ज्ञान है। अपने सच्चे स्वरूप को पर ब्रह्म से अभेद जानना और इसके सिवाय सब को माया और माया का कार्य जानना-तुच्छ समझना उसको आत्म ज्ञान कहते हैं ऐसे ज्ञान में शुद्ध आत्म स्वरूप, असंग, अकर्ता, अभोक्ता, जन्म मरण से रहित मोक्षस्वरूप हूं ऐसा दृढ़ बोध होता है। अनादि काल का अज्ञान जो नीच ऊंच योनियों में जन्म धारण कराता था और अनेक प्रकार के दुख का हेतु था ज्ञान होने से उसका नाश हो जाता है। ज्ञान के न होने में ही अज्ञान की स्थिति थी इसीसे आत्म ज्ञान होते ही अज्ञान का नाश हो जाता है। ज्ञान और अज्ञान एक दूसरे से विरुद्ध प्रकाश और अन्धेरे के समान है प्रकाश होते ही अन्धेरा नहीं रहता; इसी प्रकार ज्ञान होते ही अज्ञान निवृत्त हो जाता है। ज्ञान दो प्रकार का है, परोक्ष और अप-रोक्ष। परोक्ष ज्ञान सामान्य ज्ञान होने से अज्ञान का नाश नहीं कर सकता परन्तु अपरोक्ष ज्ञान विशेपता वाला होने से, विशेपता वाले अज्ञान कहनाश करता है। अज्ञान है यह सामान्य अज्ञान और मैं अज्ञानी हूँ यह विशेप अज्ञान है। परब्रह्म है यह परोक्ष ज्ञान है और यह मेरा आत्मा ही परब्रह्म स्वरूप है यह अपरोक्ष ज्ञान है। मैं शुद्ध चैतन्य स्वरूप अखंड हूं इस प्रकार का विशेप ज्ञान—अपरोक्ष ज्ञान मैं अज्ञानी हूँ इस प्रकार के विशेप अज्ञान का नाश करता है।

परब्रह्म के संपूर्ण प्रकाश को आवरण करने के लिये अज्ञान समर्थ नहीं है। इसीसे परब्रह्म का विशेप बोध न रहने में ही अज्ञान की सिद्धि होती है। परब्रह्म स्वरूप सब किसी को सामान्य होने से उसका सामान्य बोध विशेप अज्ञान का नाश नहीं करता और यह विशेपता वाला अज्ञान जगत् में दुःख रूप है उसे हटाने के लिये विशेप ज्ञान की आवश्यक्ता है। परब्रह्म वृत्ति रहित सामान्य होनेसे वृत्ति वाला विशेप अज्ञान को हटाता नहीं है इसी से वृत्ति युक्त विशेप अपरोक्ष ज्ञान ही विशेप अज्ञान को हटाने में समर्थ है। 'मैं ब्रह्म स्वरूप हूँ' ऐसा वृत्ति जन्य विशेप ज्ञान से सामान्य और विशेप सबके अज्ञान की निवृत्ति द्रष्टा को होती है।

परब्रह्म स्वरूप प्रकाश ज्ञान अज्ञान और सब कार्यों का सामान्य प्रकाशक है परब्रह्म को ज्ञान प्रिय होय और अज्ञान अप्रिय होय, इस प्रकार नहीं है ज्ञान और अज्ञान का भेद अविद्या की कल्पना में है यह भेद परब्रह्म में नहीं है वह अद्वय अखंड स्वरूप है, यह परब्रह्म मैं हूँ इस प्रकार के अपरोक्ष ज्ञान से जब अज्ञान की निवृत्ति होती है तब ज्ञान शेप रहता है, अज्ञान को निवृत्त करने के लिये ही ज्ञान को उत्पन्न किया जिस निमित्त उसको उत्पन्न किया था वह कार्य उसने कर दिया अब उसकी आवश्यक्ता न रही इसीसे जैसे अग्नि लकड़ियों को जला कर स्वयम् भी शान्त होजाती है इसी प्रकार ज्ञान भी शांत होजाता है; अपने अधिष्ठान में लय भाव को प्राप्त होजाता है, वृत्ति युक्त अज्ञानको निवृत्त करके नहीं रहता है तब विज्ञान परब्रह्म ही शेप रहता है। विज्ञान में ज्ञान और अज्ञान का लय है; वह ज्ञान और अज्ञान का आधार होने से लय स्थान है, दोनों का वास्तविक स्वरूप भी विज्ञान ही है। ज्ञान और अज्ञान का लय होने तक अविद्या की कल्पना थी इसलिये व्यवहारिक सत्ता थी सब का शेप विज्ञान ही पारमार्थिक सत्ता स्वरूप है। ज्ञान और विज्ञान की निष्ठा करके मैं का व्यक्तित्व को ब्रह्म में अर्पण कर देना ब्रह्मार्पण है। अपना भिन्न भाव न

रहना ब्रह्मार्पण है ऐसी निष्ठा से परब्रह्म ही परब्रह्म रहता है। ज्ञान अन्तकरण की वृत्ति से उत्पन्न होता है इसीसे वृत्ति ज्ञान है, विज्ञान वृत्ति रहित है। ज्ञान जीव ने किया था और वृत्ति रहित विज्ञान साक्षी के सहारे था, वृत्ति ज्ञान में परब्रह्म से प्रथकता और विज्ञान में कुछ अंश में विज्ञान का ज्ञाता ये दोनों प्रत्यगात्मा का भाव का परब्रह्म में होम कर देना यह भाव एक होजाय ऐसे ब्रह्मार्पण में ज्ञाता मिटकर ब्रह्म स्वरूप होजाता है यह अन्तिम तत्त्व है परमपद मोक्ष स्थान और ब्रह्म निर्वाण है।

जब ज्ञाता इस प्रकार ज्ञान विज्ञान को परब्रह्म में एक कर देता है और व्यवहारिक चेष्टा शरीर से होती है इसी समय वह जीवन्मुक्त कहलाता है। इस अवस्था में वह ब्रह्मस्वरूप होने से ज्ञान से और अज्ञान से उसे कोई प्रयोजन नहीं रहता। वह निजानंद में ही मग्न है, उत्थान रहित सहज समाधि को प्राप्त होता है, शरीर की चेष्टा से भी उसे कोई हानि लाभ नहीं है। जैसे जगत् और जगत् के व्यवहार होने में सबका अधिष्ठान पर ब्रह्म अलिप्त ही रहता है; इसी प्रकार ब्रह्म भावको प्राप्त हुआ जीवन्मुक्त अलिप्त सबका आधार रूपही होता है। उसकी दृष्टि में अन्तःकरण और शरीर की चेष्टा से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

भोक्ता सत्वगुणः शुद्धो,
भोगानां साधनं रजः।
भोग्य तमोगुणः प्राहु-
रात्मा चैषां प्रकाशकः ॥४६॥

अर्थः—शुद्ध सत्त्वगुण भोक्ता है, रजोगुण भोग का साधन है, तमोगुण भोग्य है और आत्मा इन सब का प्रकाशक है।

विवेचन।

प्रकृति के गुणों से सब व्यवहार हो[ते हैं।] प्रकृति तीनों गुणों की साम्यावस्था वाली है, [उस] से हुई विकृति में तीनों गुणों की प्रथक् प्रतीति है यह सतो रजो और तमोगुण तीन प्रक[ार] हैं। सतोगुण निर्मल है इसीसे सतोगु[ण] भोक्ता होता है, ज्ञान भी सतोगुण में ही हो[ता है] इसीसे उसमें ज्ञान शक्ति है। रजोगुण भो[ग का] साधन रूप है, भोग रजोगुणमें होता है और [चंचल] होने से क्रिया शक्ति है, तमोगुण जड़ स्वभा[व] से द्रव पदार्थ रूप है उन पदार्थों का [भोग] होता है।

आत्मा असंग निर्विकार अखंड है तो भी [उस] से अन्तःकरण और वृत्ति सहित चिदाभास[से] होय; इस प्रकार अपनेको समझकर पदार्थों[का भोक्ता] बनता है। अन्तःकरण की बुद्धि वृत्ति कर्[ता] वाली होती है, उसके अभिमान से जीव [अपने को] कर्ता भोक्ता मानता है। सतोगुण जिसमें अ[धिक] और रजो तमोगुण दबे हुए हैं ऐसे निर्मल [अन्तःकरण] में जीव भोक्ता बनता है। अन्तःकरण की वृत्ति मनरूप है वह भोक्ता का साधनरूप है, इन्द्रियों से युक्त होकर भोक्ताका साधन बनता है वह मन ज्ञानेन्द्रियां से युक्त होता है तब ज्ञान है और जब कर्मन्द्रियसे युक्त होता है तब कर्म है। क्रिया साधन रूप है वह रजोगुण में है जिसमें सतो तमोगुण दबे हुए और रजोगुण [अधिक] होता है ऐसा रजोगुण क्रियात्मक है। मन इन्द्रियादि भोगका साधन है। भोग विषय [तमोगुण] है, भोग पदार्थ जड़ है उसमें सतो रजोगुण [दबे] होते हैं और तमोगुण अधिक होता है।

इसी प्रकार तीनों गुणों से भोक्ता भोगका साधन और भोग व्यवहार में होते हैं, आत्मा असंग है इसीसे उसमें तीनों गुणोंकी सिद्धि नहीं है तो भी अज्ञान से भोक्ता आत्मा ही माना जाता है, वास्तविक तो वे तीनोंका प्रकाशक है यानी भोक्ता बुद्धि सहित चिदाभासको आत्मा प्रकाशता है; मन, प्राण, इन्द्रियादि भोगके साधनको आत्मा प्रकाशता है और भोग्य पदार्थ को भी आत्मा प्रकाशता है। भेद रहित ही आत्माका प्रकाश होता है और भेद ज्ञानका हेतु तो अन्तःकरण में रहा हुआ चिदाभास ही होता है। भेद ज्ञानमें भी भेद ज्ञानको छोड़कर रहा हुआ ज्ञान-प्रकाश आत्म स्वरूप है इसीसे आत्मा में वास्तविक सुख दुःख और परिछिन्नता नहीं है। आत्मा में सुख दुःखका भान अज्ञान रूप भ्रांति से होता है। आत्मा अन्तःकरण उसकी वृत्ति शरीर और पदार्थ आदि सबको प्रकाशता हुआ असंग निर्विकार ही अपने स्वरूप में रहता है। वहां बन्ध और मोक्ष नहीं है, जिस अज्ञानी को बन्धकी प्रतीति होती है उसे मोक्ष प्राप्ति के लिये प्रयत्न–पुरुषार्थ करना चाहिये। आत्मा मोक्ष स्वरूप होते हुए भी अज्ञानिओं को आत्म बोधके सिवाय मोक्ष स्वरूप परमानन्द नहीं होता। मैं आत्म स्वरूप से सर्वत्र व्यापक हूँ, अखंड हूँ, अद्वय स्वयम् प्रकाश स्वरूप हूँ ऐसा दृढ़ निश्चय–अनुभवका नाम आत्मबोध है और बोध स्वरूपमें टिकना ही परमपद है।

अपूर्ण।

महोपनिषद्।

(गतांक से आगे)

इसको बचपन में गुरु तथा माता पिता से, बड़े लड़कों से तथा लोगों से भय रहता है इसलिये बाल्यावस्था भय का निवास स्थान है ॥ ३३ ॥ अपने चित्त रूपी बिलमें रहकर नाना भ्रम पैदा करने वाले काम रूपी पिशाच से यह विवश होकर पराजित होता है ॥३४॥ उन्मत्त को देखकर हँसते हैं वैसे वृद्धावस्था में कांपने वाले बूढ़ों को देखकर दास, पुत्र, स्त्रियां, बंधु और मित्र सब हंसी करते हैं ॥३५॥ वृद्धावस्था में दीनता का दोष उत्पन्न करने वाली इच्छा अधिक बढ़ती है। यह इच्छा सब आपदाओं की अत्यंत प्रिय सखी है और हृदय को सदा जलाया करती है ॥३६॥ संसार में जो कुछ सुख की भावना रहती है आयु को तृणवत् नष्ट करके उसका भी काल नाश कर देता है ॥ ३७ ॥ तृण, मिट्टी, महेन्द्र, सुवर्ण, मेरु, सरसों आदि सब को अपने ही में धारण करने वाला यह, इन सब को हड़प करने के लिये सर्वदा उद्यत रहता है सर्व संहार करने वाले काल से तीनों लोक आक्रान्त हैं ॥३८॥ जोड़, पुट्ठे हड्डी वाले, कल से चलने वाले अंग पंजर की मांस की गुड़ियाके समान स्त्री के शरीर में क्या शोभा धरी हुई है ॥३९॥ त्वचा, मांस, रक्त और आंसू इनको आंख में अलग अलग देखा जाय तो उसमें सौंदर्य कहां है ? तू वृथा ही उसमें मोह करता है ॥४०॥ जहां के मोतियों के हार को मेरु शिखरों के तटोंपर क्रीडा करते हुए गंगा के प्रवाह की उपमा देकर प्रसन्न होता था ॥४१॥ वही स्तन युवतीके अत्यंत दूर स्मशान में भात के

पिण्ड के समान कुत्ता बड़े स्वाद से खाता है ॥४२॥ केश और काजल धारण करने वाली स्पर्श को अप्रिय परंतु देखने में सुंदर ऐसी मानों पाप रूप अग्नि की शिखा धारण करने वाली स्त्रियां पुरुष को तृण के समान जला देती हैं ॥४३॥ सुखप्रद दीखते हुए भी दुःख परंपरा को प्राप्त कराने वाली स्त्रियां दूरसे भी गलते हुए नरकाग्नि के सुंदर इन्धन का काम देती हैं ॥४४॥ काम रूपी किरात ने मूढ पुरुष रूपी पक्षियों को बांधने के लिये स्त्रियां रूपी जाल फैला रखा है ॥४५॥ जन्म रूपी तलाब में चित्त रूपी कीचड़ में विहार करने वाले पुरुषों के लिये स्त्री दुर्वासना रूपी रस्सी में बंधे हुए कांटे वाले आमिष के समान है ॥४६॥ दुःख रूपी जंजीर से बंधी हुई सब दोषरत्नों की पिटारी रूप स्त्रियां मुझसे अब सदा दूर रहें ॥४७॥ जिसकी स्त्री होती है उसीको भोग की इच्छा होती है; स्त्री ही न हो तो भोग बने ही कहां से ? स्त्रियों के त्याग से संसार का त्याग होता है और संसार के त्याग से पुरुष सुखी हो जाता है ॥४८॥ दिशाएं देखने में नहीं आतीं, देश कथन में रह जाते हैं, पहाड़ टूट जाते हैं, तारागण भी गिर जाते हैं ॥४९॥ समुद्र भी सूख जाते हैं और ध्रुवों का जीवन भी क्षणिक हो जाता है । सिद्ध लोग भी नाश को प्राप्त होते हैं और राक्षस भी नष्ट हो जाते हैं ॥५०॥ परमेष्ठि प्रजापति निष्ठा युक्त होते हुए भी नाश को प्राप्त होता है । अज होते हुए भी विष्णु नाश को प्राप्त होता है, विश्व का अभाव हो जाता और दिगीश्वर विनाश को प्राप्त होता है ॥५१॥ ब्रह्मा, विष्णु और शिव तथा अन्य उत्पन्न हुए पदार्थ, जैसे जल समुद्र की ओर दौड़ता रहता है, सब नाश की ओर ही दौड़ते रहते हैं ॥५२॥ क्षण में आपत्ति आपड़ती है क्षण में संपदा प्राप्त होती है और क्षणमें जन्म मरण प्राप्त होते हैं, ये सब ही नश्वर हैं। कायर शूरों को मारता है और एक सौ को है । भिन्न २ विषय ही विष है विष वास्तवि नहीं है ॥५४॥ क्योंकि विष एक जीवन का करता है और विषय दूसरे जन्मों में भी ना हैं । इस प्रकार विषय दोषों के प्रचंड अग्नि हुए मेरे चित्त में अब, ॥५६॥ जैसे मृग ज (पथिक की) इच्छा नहीं होती वैसे, भोगों की इच्छा नहीं स्फुरती । इसलिये मुझे अब त्वरित तत्त्व ज्ञान का बोध कराइ नहीं तो मैं मान मत्सर का त्याग कर मौन किए हुए हृदय में विष्णु का ध्यान धरते हु के समान निश्चल बैठ जाऊंगा ॥५७॥

॥इति तृतीय अध्याय ॥

हे विद्वानों में श्रेष्ठ निदाघ, तुझे कुछ भी नहीं है । ईश्वर की कृपा युक्त बुद्धि से तू सब है; परन्तु चित्तकी मलिनता से जो भ्रम तुझे उसको, हे मुने, अब मैं दूर करता हूं ॥ १ ॥ मो दरवाजे के चार द्वारपाल कहे जाते हैं, शम, वि संतोष और सत्संग ॥ २ ॥ और सब छोड़कर से किसी एक का, सर्व प्रयत्न से आश्रय ये चारों वश होजाते हैं ॥ ३ ॥ सज्जनों से ज्ञान प्राप्त करके तथा तप और दम द्वारा प्रज्ञा को बढ़ाना चाहिये ॥ ४ ॥ अपना अनुभव शास्त्र गुरु वचन की एक वाक्यता जिस चित्तके नि होती है, उसीसे आत्माका अखंड दर्शन होता संकल्प और आशा के अनुसंधान को यदि तू छोड़ता रहेगा तो तू परम पवित्र चित्त वस्थाको प्राप्त होगा ॥ ६ ॥ चित्त कार्य करना यही श्रेष्ठ समाधि कही जाती है, यही कैवल्य

और यही कल्याणप्रद परम आनंद है ॥ ७ ॥ सब भावों से अपने चित्तको चित्त ही से हटाकर गूंगे बहिरे या अन्धे के समान यथा प्राप्त अवस्था में रह जा ॥ ८ ॥ वह सब है, प्रशान्त है, अज; एक और आदि, मध्य और अन्तसे रहित है आनन्दमय है और विशेष चेतना रहित शुद्ध चैतन्य है। सब कुछ है ही नहीं यह दृष्टि भी व्यर्थ बाधारूप ही है, इसलिये इसको 'ॐ' कहते हैं ॥ ९ ॥ जो कुछ यहां पर दृश्य देखने में आता है, वह चित् समुद्र में ही है, चित्का एक तरंग मात्र है, चित् से भिन्न कुछ भी नहीं है, ऐसा समझ ॥ १० ॥ अपने मनको सदा जागृत रखकर जगत् की क्रिया करते हुए यह सब एक आत्मा ही है ऐसा जानकर महासागर के समान प्रशान्त बना रह ॥ ११ ॥ वासना रूपी तृण को जलाने वाला अग्नि केवल यह तत्त्व बोध ही है, समाधि शब्द से यही भाव है, केवल चुप हो बैठना इसका अर्थ नहीं है ॥ १२ ॥ रत्न किसी की इच्छा नहीं करता तो भी जिस प्रकार रत्न के लिये लोगों की प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार केवल सत्ता स्वरूप परमतत्त्व के लिये सब ब्रह्माण्ड की प्रवृत्ति होती है ॥ १३ ॥ इसलिये आत्मामें हे मुने, कर्तृत्व और अकर्तृत्व दोनों हैं; उसमें इच्छा न होने से वह अकर्ता है और उसके संनिधि से कर्म होता है इसलिये वह कर्ता है ॥१४॥ कर्तृत्व और अकर्तृत्व दोनों ब्रह्ममें हैं; जिसमें ऐसा चमत्कार है उसीका आश्रय लेकर, हे मुने तुम स्थिर होजाओ ॥ १५ ॥ ऐसा करने से 'मैं नित्य अकर्ता हूं' इस भावना से युक्त परम अमृत स्वरूप जो समता वही शेष रह जाती है ॥ १६ ॥ हे निदाघ, इस पृथ्वीतल पर महान् गुणवान् तत्त्वनिष्ठ पुरुष होगये हैं, जो सदा ही प्रबुद्ध और आकाश के चन्द्रमा के समान सदा आनंदित रहते हैं ॥ १७ ॥ जैसे कमल रातमें नहीं मुंदता वैसे ही वे आपत्ति प्राप्त होने से दुःखी नहीं होते और जो स्वाभाविक प्राप्त है उससे अतिरिक्त की इच्छा न करते हुए शिष्ट पुरुषों के समान आचरण रखते हैं ॥ १८ ॥ मैत्री आदि गुणों के आचरण द्वारा तथा आकृति से ही साधु पुरुष प्रकाशित होते हैं। हे सोम्य, वे सदा सम और एकसे प्रमुदित बने रहते हैं ॥ १९ ॥ शुद्ध बुद्धि वाले पुरुष सागर के समान मर्यादा का पालन किया करते हैं और सूर्य के समान नियम का उल्लंघन नहीं करते ॥ २० ॥ 'मैं कौन हूं, यह संसार रूपी मल कहां से फैल गया' इत्यादि बातों का साधु पुरुषों के साथ परिश्रमपूर्वक विचार करके ॥ २१ ॥ बुरे कर्मों में प्रवृत्त नहीं होना चाहिये, न अनार्यों का संग करना चाहिये, वैसे ही सबके संहार करने वाले मृत्यु को अवहेलना से नहीं देखना चाहिये ॥ २२ ॥ अस्थि मांस, तथा रक्त आदि के शरीर को छोड़कर भौतिक पदार्थ रूप मोतियों के मालाके बीच रहे हुए तन्तुरूप शुद्ध चैतन्य को देखना चाहिये ॥ २३ ॥ प्राप्य वस्तु के पीछे पड़ना और त्याज्य वस्तु को एक साथ भूल जाना यह जो मनका स्वरूप है, वही एक त्याज्य है और कुछ भी नहीं ॥ २४ ॥ गुरु और शास्त्र के कथन किये हुए मार्ग से अपने अनुभव द्वारा 'मैं ही ब्रह्म हूं' इस प्रकार चिद्घन ब्रह्म ही मैं जानकर, हे मुने, शोक रहित होजा ॥ २५ ॥

जहां तीक्ष्ण तलवारों के सैकड़ों प्रहार, मानो तालाब पर किये गये हों इस प्रकार सहना चाहिये; अग्नि का दाह मानो बरफ की वर्षा के समान, जलते कोयले लगना मानो चन्दन लगाने के समान, असंख्य बाणों की वृष्टि को मानो धूप की गर्मी निवारण करने के लिये ठंडे घरके फव्वारे की वर्षा के समान, अपना शिरच्छेद सुख निद्रा के समान,

मुख बंद किया जाय तो मुख मुद्राके समान और कान बंद किये जांय या फोड़ दिये जाय तो उसको बड़ा भाग्य समझना चाहिये, इसमें जरा भी ढील नहीं करनी चाहिये, क्योंकि ऐसे दृढ़ वैराग्य से बोध होता है।

गुरु के उपदेश से उदित अति शुद्ध स्वानुभव से बोध होता है और उसका अभ्यास करने से आत्मा का अखंड दर्शन होता है ॥२६॥ दिशाभ्रम दूर होने पर जिस प्रकार दिशाएं पहिले की सी प्रतीत होने लगती हैं, उसी प्रकार विज्ञान द्वारा नष्ट हुआ जगत् है ही नहीं ऐसा समझ ॥२७॥ धन, मित्र और बांधव कोई भी काम नहीं आते, न शरीर के कष्ट (तप) काम आते हैं, न तीर्थों का निवास, केवल जो मन को तत्त्वमय रखता है उसीको वह पद प्राप्त होता है ॥२८॥ जितने दुःख तृष्णा या दुःसह मानसिक पीड़ाएं, जैसे सूर्य के आगे अंधेरा नष्ट हो जाता है, शान्त चित्त के आगे ये सब नष्ट हो जाते हैं ॥२९॥ जैसे क्रूर या शान्त सब ही प्रकार के प्राणी अपनी माताके पास आनंद से जाते हैं, इसी प्रकार शमवान् पुरुष के पास इस जगत् के सब भूत प्राणी विश्वास से जाते हैं ॥३०॥ रसायन पीने से तथा साक्षात् लक्ष्मी के आलिंगन से भी वह सुख नहीं प्राप्त होता जो अंतःकरण में शम द्वारा सुख होता है ॥३१॥

शुभ अथवा अशुभ बात सुनकर, स्पर्श कर, खाकर, देखकर या जानकर जो हर्ष शोक को नहीं प्राप्त होता उसको ज्ञानी कहते हैं ॥३२॥ मृत्यु में, उत्सव में या युद्ध में चंद्र बिंब के समान जिसका स्वच्छ मन ताप रहित रहता है उसको शान्त कहते हैं ॥३३॥ तपस्वी, बहुश्रुत, भाजक, राजा, बलवान् और गुणवान् इन सब में शम संपन्न ही श्रेष्ठ है॥३४॥

संतोष रूप अमृत के पीने से जो शान्त पुरु[ष] हुए हैं, वे अपने ही में रमण करने वाले म[हात्मा] परमपद को प्राप्त हुए हैं ॥३५॥ अप्राप्त की [इच्छा] न रखते हुए जो प्राप्त पदार्थ में अविकारी ए[वं] जिनको सुख और दुःख कभी होता ही नहीं, [उन] को संतुष्ट कहते हैं ॥३६॥ प्राप्त नहीं हुए प[दार्थ की] जो निन्दा नहीं करता और प्राप्त पदार्थ को उ[पभोग] भोग करता है, इस प्रकार जिसके सौम्य [...] हैं उसको संतुष्ट कहते हैं ॥३७॥ जैसे अंत[ःपुर में] साध्वी स्त्री भोग करती है वैसे ही जिसमें यथा प्राप्त पदार्थ में प्रमुदित रहती है वही स[दा आ]नंद देने वाली जीवन्मुक्ति अवस्था है ॥३८॥ [जिस] समय जिस देश में जो शास्त्र और जो [...] अनायास प्राप्त हो वही उपयोग करना, य[ह ...] मार्ग का क्रम है। तब तक विचार करना [...] जब तक आत्मा में विश्रान्ति का [...] हो ॥३९॥

ब्रह्मसूत्र भाषा दीपिका

(गतांक से आगे)

'बालाग्र शत भागस्य शतधा कल्पितस्य भागो जीवः सविज्ञेयः सचानन्त्याय कल्पते।' [श्वे० ५। ९] (बालाग्र के सौ भागकर, उसका [सौवां] भाग जितना होता है, उतना वह जीवात्मा है और वही अनन्त मानने के योग्य है), इस[के] आरंभ में जीवको अणु बताकर बाद [में अनन्त] ऐसा कथन है। यह वर्णन, जीवात्मा का [अणुत्व] आरोपित माना जाय और अनंतत्व [...]

माना जाय, तबही ठीक बैठता है; क्योंकि, जीव में अणुत्व और अनंतत्व दोनों वास्तविक हैं यह कल्पना ही नहीं बन सकती। उसमें अनंतत्व आरोपित है, यह भी मान नहीं सकते; क्योंकि, जीवात्मा परब्रह्म स्वरूप है यही प्रतिपादन करने का सभी उपनिषदों का अभिप्राय है। 'बुद्धिर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपिदृष्टः।' [श्वेता० ५। ८] (बुद्धि के गुण से और आत्मा के गुण से वह अंकुश के नोंक के समान अथवा उससे भी छोटा देखने में आता है।], इस श्रुतिमें भी जीवका जो अंकुश के नोंक के समान परिमाण बतलाया है। वह भी बुद्धि के गुण के संबंध ही से बतलाया है, आत्मा के स्वरूप से नहीं। 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः।' [मुण्ड० ३। १। ९] (यह अणु आत्मा अन्तःकरण से जानने योग्य है) इस श्रुतिमें भी जीवको अणु परिमाण नहीं कहा है; क्योंकि, चक्षु आदि इन्द्रियों से जो नहीं जाना जा सकता, विशुद्ध ज्ञानसे वह जाना जाता है, यह परमात्मा के वर्णन में आया है। वैसे ही, जीवका मुख्यता से अणु परिमाण है यह [किसी प्रकार] सिद्ध भी नहीं होता। इसलिये श्रुतिमें जीवात्मा के अणु परिमाण का जो कथन है वह उसको कठिनता से जाना जाता है इसलिये है अथवा बुद्धिके उपाधि से है ऐसा समझना चाहिये।

'प्रज्ञया शरीरं समारुह्य' [कौषी० ३। ६] (बुद्धि से शरीर पर आरोहण करके) इस प्रकार की श्रुतियों में भी जीवका जो पृथक् निर्देश किया है वहां वह उसके उपाधि भूत 'बुद्धि से शरीर पर आरोहण करता है' । ऐसा अर्थ समझना चाहिये। अथवा गुड़िया का शरीर कहते हैं इस प्रकार वह भी पृथक् भाव केवल व्यवहार मात्र के लिये ही है, ऐसा समझना चाहिये; क्योंकि यहां एक गुण और दूसरा गुणी ऐसा भेद भी नहीं संभवता, यह पहिले बता चुके हैं। श्रुतिमें हृदय उसका आश्रय स्थान है ऐसा कहा है वह भी हृदय बुद्धिका आश्रय होने से कहा है। 'कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि।' [प्रश्न० ६। ३] (किसकी उत्क्रान्ति से मेरी उत्क्रान्ति होगी और किसकी स्थिति से मेरी स्थिति होगी), 'स प्राणमसृजत' [प्रश्न० ६। ४] (उसने प्राण उत्पन्न किया), इन श्रुतियों में उत्क्रान्ति आदि भी उपाधि के अधीन है ऐसा प्रतिपादन किया है। जीवात्मा को वास्तविकता से उत्क्रान्ति ही नहीं है इसलिये उसको परलोक गमन और पुनरागमन भी वास्तविकता से नहीं होते ऐसा जानना चाहिये। क्योंकि शरीर से निकले विना गमनागमन बन ही नहीं सकता। इस प्रकार उपाधि के गुण ही जीवमें प्रधानतासे प्रतीत होने से ही उसको अणु परिमाण वाला आदि कहा गया है, जैसे ईश्वर के संबंध में भी कहते हैं। जिस प्रकार सगुण उपासना में उपाधि के जो गुण होते हैं वे ही प्राज्ञ यानी ईश्वर में प्रधान होनेसे 'अणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा।' [३।१४।२] (परमात्मा धान या जौ से भी सूक्ष्म है), 'मनोमयः प्राण शरीरः सर्वगन्धः सर्वरसः सत्य कामः सत्य संकल्पः।' [छां० ३। १४। २] (वह मनोमय, प्राणरूपी शरीर वाला; सर्वगंध, सर्वरस, सत्य काम और सत्य संकल्प है।) इत्यादि श्रुतियों में वह सूक्ष्म है ऐसा व्यवहार होता है, वैसाही यहां पर समझना चाहिये ॥ २९ ॥

यहां पर यह शंका हो सकती है कि बुद्धि के गुण ही प्रधानता से आत्मा में आजाने से यदि आत्मा संसारी बनता है ऐसा माना जाय तो बुद्धि और जीवात्मा दोनों भिन्न होने से उनके संयोग का अन्त कभी न कभी होगा अवश्य; अब बुद्धिका

वियोग होने पर आत्मा का ज्ञान होनेसे या तो उसका अस्तित्व ही नहीं रहेगा या संसारित्व नहीं रहेगा। इसी शंका के उत्तर में आगे का सूत्र है—

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॥२।३।३०॥

अन्वय और अन्वयार्थः—यावदात्मभावित्वात् जब तक जीव भाव है तब तक [बुद्धि की] स्थित होने से **च** और **तद्दर्शनात्** [शास्त्र में] वैसा प्रमाण होने से **दोषः** [यह] दोष **न** नहीं प्राप्त होता।

टीकाः—पूर्व में कहे हुए दोष की आशंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि जब तक जीव भाव है तब तक बुद्धि का संयोग रहता ही है। जब तक यह आत्मा संसारी होता है, जब तक इसका सम्यक् ज्ञान द्वारा संसारित्व निवृत्त नहीं होता, तब तक इसका बुद्धि से संयोग नहीं छूटता। और जब तक इसको बुद्धि की उपाधि से संबंध है तब तक जीव का जीवभाव और संसारी भाव भी बना रहता है। परमार्थ से देखा जाय तो बुद्धि की उपाधि से कल्पना किये हुए जीव के स्वरूप को छोड़कर जीव कोई भिन्न पदार्थ नहीं है, न नित्य मुक्त स्वरूप और सर्वज्ञ ऐसे ईश्वर को छोड़ और कोई चेतन तत्त्व उपनिषदोंके तत्त्व निरूपण में उपलब्ध होता है। नान्योऽस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता' [बृ० ३।७।२३] इससे भिन्न ऐसा कोई द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता नहीं है), 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ श्रोतृ मन्तृ विज्ञातृ ! [छां० ६।८।७] (इससे भिन्न ऐसा कोई देखने वाला, सुनने वाला, मनन क वाला और जानने वाला नहीं है), 'तत्त्वं [छां० ६।१।६] (वह तू है), 'अहं ब्रह्मा [बृ० १।४।७] (मैं ब्रह्म हूँ) आदि श्रुतियोंसे यही सिद्ध होता है।

कोई पूछे कि जब तक जीव संसारी है तक उससे बुद्धि का संयोग रहता है, यह जाना जाय, तो कहते हैं कि वैसा श्रुति में है। 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पु स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति ध्यायतीव ले यतीव।' [बृ० ४।३।७।] (जो प्राणों में वि नमय है, जो हृदय में रहने वाला तेजोमय पु वही आत्मा है। वह समान होने से दोनों लो गमन करता है, मानो ध्यान करता हो, करता हो) इस श्रुति में यही बात बताई है। विज्ञानमय का अर्थ बुद्धिमय समझना क्योंकि श्रुति में अन्य स्थान पर 'विज्ञानमयो मयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमय' [बृ० ४।४। (वह विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुमय श्रोत्रमय है) इसमें विज्ञानमय का मन आदि साथ उल्लेख किया है, और बुद्धिमय का अर्थ के गुण जिसमें प्रधान है वह यही है। स्त्रियों प्रेम आदि विशेष होने से यह देवदत्त स्त्रीमय ऐसा जैसे लोग कहते हैं वैसा ही यह कथन 'समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति।' [बृ० ४।३ (वह समान होने से दोनों लोकों में संचार है) यह श्रुति परलोक को गमन करते समय जीव का बुद्धि से वियोग नहीं होता, ऐसा करती है। वह किसके समान है ऐसा कोई तो बुद्धि उसके समीप होने से उसी के समान है, ऐसा समझना चाहिये। यही 'भाव ध्याय लेलायतीव' [बृ० ४।३।७] (मानो

करता हो, चलता हो) इस श्रुति में दिखाई देता है, उसका अभिप्राय यही है कि वह न तो स्वयं ध्यान करता है न चलता है, परन्तु बुद्धि के ध्यान करने से ध्यान करता सा और बुद्धि के चलने से चलता सा प्रतीत होता है ।

आत्मा का बुद्धि की उपाधि से संबंध मिथ्या ज्ञान पर ही निर्भर है और उस मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति तत्त्वज्ञान को छोड़कर और किसी से भी नहीं होती । इसलिये जबतक जीव ब्रह्म स्वरूप है यह बोध नहीं होता तब तक उसका बुद्धिरूप उपाधि से संबंध टूटता नहीं । यही भाव श्रुति बताती है कि 'वेदाहमेनं पुरुषं महान्तमादित्य वर्णं तमसः परस्तात् । तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥' [श्वेता० ३ । ८] (आदित्य के समान तेजवाला तथा अंधकार से भी परे ऐसे उस पुरुष को मैं जानता हूँ । उसी को जानने से अमृतत्त्व की प्राप्ति होती है मोक्ष का दूसरा कोई मार्ग ही नहीं है) ॥ ३० ॥

यदि कोई कहे कि सुषुप्ति और प्रलय में जीवात्मा का बुद्धि से संबंध हो ऐसा मान नहीं सकते; क्योंकि श्रुति ही कहती है कि 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति ।' [छां० ६।८।१] (हे सोम्य, उस समय वह सत् से संपन्न हो जाता है वह अपने में लीन हो जाता है) और प्रलय सब विकारों ही का होता है ऐसा स्वीकार किया गया है, इसलिये जब तक जीव संसारी है तब तक उस का बुद्धि से संबंध रहता है ऐसा कैसे कह सकते हैं ?

इसका उत्तर देते हैं—

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ॥२।३।३१॥

अन्वय और अन्वयार्थ:—पुंस्त्वादिवत् पुरुषत्वके लक्षणों के समान **तु** ही **अस्य** इस [बुद्धि के संयोग] की **सतः** [बीजरूप से] रहे हुए की **अभिव्यक्तियोगात्** [आगे] अभिव्यक्ति होने से [सुषुप्ति आदि में भी बुद्धि संयोग मानना युक्त है] ।

टीका:—जिस प्रकार जगत् में पुरुषत्व के चिन्ह बाल्यादि अवस्थाओं में बीज रूप से होने के कारण पाये नहीं जाते, इसलिये उस समय वे न हों ऐसा प्रतीत होता है और तरुणावस्था में वे प्रकट हो जाते हैं । ये यदि अविद्यमान ही होते तो उत्पन्न ही न होते क्योंकि ऐसा माने तो वे नपुंसक में भी उत्पन्न होने चाहिये । इसी प्रकार बुद्धि संयोग भी बीजरूप से सुषुप्ति और प्रलय में विद्यमान ही रहता है, और वही जागने के समय और सृष्टि के समय पुनः प्रकट हो जाता है, ऐसा मानना ही ठीक है; क्योंकि किसी की अकस्मात् यानी बिना कारण के उत्पत्ति हो नहीं सकती । 'सति संपद्य न विदुः सति संपद्या मह इति ।' [छां० ६ । ९ । २] (सुषुप्ति में सत् से युक्त होकर हम सत् से युक्त होते हैं ऐसा लोग नहीं जानते), 'त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा ।' [छां० ६ । ९ । ३] (वे इस लोक में बाघ या सिंह होते हैं यानी जैसे पहिले थे वैसे ही होते हैं) इत्यादि श्रुतियों में सुषुप्ति अवस्था से जो उत्थान होता है वह अज्ञान रूपी बीज के अस्तित्व ही से होता है यही बताया है । इससे यह सिद्ध हुआ कि जब तक जीवात्मा संसारी है तब तक उसका बुद्धि आदि उपाधियों से संबंध बना रहता है ॥ ३१ ॥

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धि प्रसंगोऽन्यू-तरनियमो वाऽन्यथा ॥ २।३।३२ ॥

अन्वय और अन्वयार्थः—नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसंगः [अन्तकरण का अस्तित्व न मानें तो अनुभव की] प्राप्ति नित्य होगी या कभी भी नहीं होगी **वा** अथवा **अन्यथा** अन्य प्रकार से मानें [यानी अन्तकरण का अस्तित्व न माने तो] **अन्यतरनियमः** दोनों में से एक की शक्तिका प्रतिबंध मानना पड़ेगा ।

टीकाः—जीवात्मा की उपाधि रूप अन्तःकरण यानी आन्तर इन्द्रिय का श्रुति में भिन्न २ स्थानों पर मन, बुद्धि, विज्ञान, चित्त आदि अनेक प्रकार से वर्णन किया है। कहीं पर तो उसकी वृत्ति के विभाग करके संशय आदि वृत्ति वाले आंतर इन्द्रिय को मन और निश्चयात्मक वृत्ति युक्त को बुद्धि ऐसा कहा है। इस प्रकार वर्णन किये हुए अन्तःकरण का अस्तित्व अवश्य मानना पड़ेगा । यदि अन्तःकरण के अस्तित्व को न माने तो ज्ञान की या तो नित्य प्राप्ति होगी या उसकी कभी भी प्राप्ति नहीं होगी। आत्मा, इन्द्रिय और विषय, ये ज्ञान के साधन जब समीप होंगे तब ज्ञान सदा ही होता रहेगा, और जब ये पास होते हुए भी ज्ञान रूपी कार्य न बन सका तो ज्ञान कभी होगा ही नहीं परन्तु व्यवहार में ऐसा देखने में नहीं आता ! अथवा, दोनों में से एक की यानी आत्मा की या बुद्धि की शक्ति का प्रतिबंध होता है ऐसा मानना पड़ेगा। परन्तु आत्माकी शक्तिका प्रतिबंध संभवता नहीं, क्योंकि आत्मा अविकारी है और इन्द्रियोंकी शक्तिका प्रतिबंध भी नहीं संभवता क्योंकि पूर्व और उत्तर क्षणमें जब इन्द्रियों की शक्तिका प्रतिबंध नहीं है तो बीच ही में [illegible] शक्ति का प्रतिबंध होता है ऐसा कह नहीं [illegible] अर्थात जिसका अवधान होने से ज्ञान होता [illegible] अवधान न होने से नहीं होता वही मन है। [illegible] भी है कि 'अन्यत्रमना अभूवंनादर्शमन्यत्रमना[illegible] नाश्रौपम् ।' (बृ० १।५।३) (मेरा मन अन्यत्र [illegible] लिये मैंने नहीं देखा, मेरा मन अन्यत्र था [illegible] मैंने नहीं सुना); मनसाह्येव पश्यति मनसा शृ[illegible] [बृ० १।५।३] (मनही से देखता है मन ही से [illegible] है) । 'कामःसंकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा [illegible] धृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव।' [बृ० १।५।३] [illegible] संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य [illegible] लज्जा, बुद्धि, तथा भय, ये सब मन ही है), [illegible] में काम आदि मन की वृत्तियां हैं ऐसा [illegible] अर्थात् बुद्धिके धर्मों की प्रधानता से ही [illegible] धर्मों से आत्माका निर्देश होता है ऐसा कहा [illegible] ठीक ही है ॥३२॥

१४ कर्त्रधिकरण ।

कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ।२।३।[illegible]

अन्वय और अन्वयार्थः—(जीव [illegible] कर्ता है क्योंकि **शास्त्रार्थवत्त्वात्** ([illegible] तब ही) शास्त्र सार्थक होते हैं ।

टीकाः—बुद्धि के धर्मों की प्रधानता [illegible] होती है यह पूर्व अधिकरण में बताया, [illegible] और भी धर्म हैं उसको बताते हैं, कि जीव [illegible] मानना चाहिये, क्योंकि ऐसा माने तब [illegible] सार्थक होते हैं ।

उपासना ।

इस पुस्तकमें साकार, सगुण, निर्गुण, कार्य ब्रह्मकी तथा कारण ब्रह्मकी आदि कई प्रकार की उपासना को भिन्न २ प्रकार से समझाया है। उपासना की स्थिरता ही से मन एकाग्र होता है, आत्म साक्षात्कार होता है और समाधि की प्राप्ति होती है।

इसमें यह दृष्टान्त आये हैं:—कुमार अवीक्षित और किमिच्छकं व्रत, ध्रुव की तपश्चर्या, धर्मनगर से मुक्तिनाथ तक जाने वाले दो मुसाफिर, गुलाम राजा बना, पांच मित्रों की मुसाफरी, अलौकिक मंदिर, समुद्र पार के देश का राजा, राजकुमार और राजकुमारी, महात्मा के उपदेश से साधु को ॐ दिखा दिया, अर्जुन, दुर्योधन और धात्री की कथा। इसमें उपासना, ब्रह्मोपासना, गायत्री, ॐकार और ब्रह्मतरंग हैं।

इस उपासना के अनुसार अभ्यास करके समाधि तक पहुँचे हुए और आत्म साक्षात्कार किये हुए मनुष्य इस समय भी मौजूद हैं। मूल्य ॥) डाक महसूल अलाहिदा।

वेदान्त दीपिका ।

वेदान्त के प्रथम और द्वितीय वर्ष में आये हुए वेदान्त विषयक चौवीस प्रश्नोत्तरों का अपूर्व संग्रह ।

इस ग्रन्थ में जिज्ञासु को स्वाभाविकता से होने वाली शंकाओं का अत्यंत मार्मिकता से समाधान किया गया है। वेदान्त के महत्व के ग्रन्थों को पढ़ने पर भी जिन शंकाओं का समाधान न होने से जिज्ञासु का चित्त अशान्त रहता है, वे शंकाएं इस ग्रन्थ को पढ़ने से समूल नष्ट हो जायंगी। ग्रन्थ को पढ़ते समय जो नयी शंकाएं उत्पन्न होंगी उनका समाधान आगे ही मिलने से पाठकों को अत्यंत आनंद होगा।

इसमें प्रत्येक विषय को प्रथम युक्तिपूर्वक समझा कर उसको अधिक दृढ़ करने के लिये प्रसंगानुकूल दृष्टान्त दिये गये हैं, जिससे ग्रन्थ अत्यन्त ही रोचक बन गया है। इसकी भाषा अत्यन्त सरल होने से सामान्य भाषा ज्ञान वाले भी इससे लाभ उठा सकते हैं। ग्रन्थ सबके लिये संग्राह्य है। सजिल्द मूल्य १।।) डाक महसूल अलाहिदा।

चर्पट पंजरिका ।

"भज गोविंदं भज गोविंदं" पद्यका विवेचन सहित भाषानुवाद है। अनेक दृष्टांतों से रोचक और बोधप्रद है। सम श्लोकी पद्य भी हैं। मूल्य ।)

व्यवस्थापक—वेदान्त केसरी, बेलनगंज—आगरा

नित्योपलब्धनुपलब्धि प्रसंगोऽन्यूतरनियमो वाऽन्यथा ॥ २।३।३२ ॥

अन्वय और अन्वयार्थः—नित्योपलब्धनुपलब्धिप्रसंगः [अन्तकरण का अस्तित्व न मानें तो अनुभव की] प्राप्ति नित्य होगी या कभी भी नहीं होगी **वा** अथवा **अन्यथा** अन्य प्रकार से मानें [यानी अन्तकरण का अस्तित्व न माने तो] **अन्यतरनियमः** दोनों में से एक की शक्तिका प्रतिबंध मानना पड़ेगा ।

टीकाः—जीवात्मा की उपाधि रूप अन्तःकरण यानी आन्तर इन्द्रिय का श्रुति में भिन्न २ स्थानों पर मन, बुद्धि, विज्ञान, चित्त आदि अनेक प्रकार से वर्णन किया है। कहीं पर तो उसकी वृत्ति के विभाग करके संशय आदि वृत्ति वाले आंतर इन्द्रिय को मन और निश्चयात्मक वृत्ति युक्त को बुद्धि ऐसा कहा है। इस प्रकार वर्णन किये हुए अन्तःकरण का अस्तित्व अवश्य मानना पड़ेगा। यदि अन्तःकरण के अस्तित्व को न माने तो ज्ञान की या तो नित्य प्राप्ति होगी या उसकी कभी भी प्राप्ति नहीं होगी। आत्मा, इन्द्रिय और विषय, ये ज्ञान के साधन जब समीप होंगे तब ज्ञान सदा ही होता रहेगा, और जब ये पास होते हुए भी ज्ञान रूपी कार्य न बन सका तो ज्ञान कभी होगा ही नहीं परन्तु व्यवहार में ऐसा देखने में नहीं आता! अथवा, दोनों में से एक की यानी आत्मा की या बुद्धि की शक्ति का प्रतिबंध होता है ऐसा मानना पड़ेगा। परन्तु आत्माकी शक्तिका प्रतिबंध संभवता नहीं, क्योंकि आत्मा अविकारी है और इन्द्रियोंकी शक्तिका प्रतिबंध भी नहीं संभवता क्योंकि पूर्व और उत्तर क्षणमें जब इन्द्रियों की शक्तिका प्रतिबंध नहीं है तो बीच ही में उसकी शक्ति का प्रतिबंध होता है ऐसा कह नहीं सकते। अर्थात् जिसका अवधान होने से ज्ञान होता है और अवधान न होने से नहीं होता वही मन है। श्रुति भी है कि 'अन्यत्रमनाअभूवंनादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्।' (बृ० १।५।३) (मेरा मन अन्यत्र था इस लिये मैंने नहीं देखा, मेरा मन अन्यत्र था इसलिये मैंने नहीं सुना), मनसाह्येव पश्यति मनसा शृणोति।' [बृ० १।५।३] (मन ही से देखता है मन ही से सुनता है)। 'कामःसंकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव।' [बृ० १।२।३] (काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, बुद्धि, तथा भय, ये सब मन ही है), इस श्रुति में काम आदि मन की वृत्तियां हैं ऐसा कहा है। अर्थात् बुद्धिके धर्मों की प्रधानता से ही बुद्धि के धर्मों से आत्माका निर्देश होता है ऐसा कहा था सो ठीक ही है ॥३२॥

१४ कर्त्रधिकरण।

कर्ता शास्त्रार्थवत्वात् ॥२।३।३३॥

अन्वय और अन्वयार्थः—(जीव) कर्ता कर्ता है क्योंकि **शास्त्रार्थवत्त्वात्** (ऐसा माने तब ही) शास्त्र सार्थक होते हैं।

टीकाः—बुद्धि के धर्मों की प्रधानता आत्मा में होती है यह पूर्व अधिकरण में बताया, अब जीव के और भी धर्म हैं उसको बताते हैं, कि जीव को कर्ता मानना चाहिये, क्योंकि ऐसा माने तब ही शास्त्र सार्थक होते हैं।

अपूर्ण।

उपासना ।

इस पुस्तकमें साकार, सगुण, निर्गुण, कार्य ब्रह्मकी तथा कारण ब्रह्मकी आदि कई प्रकार की उपासना को भिन्न २ प्रकार से समझाया है। उपासना की स्थिरता ही से मन एकाग्र होता है, आत्म साक्षात्कार होता है और समाधि की प्राप्ति होती है।

इसमें यह दृष्टान्त आये हैं:—कुमार अवीक्षित और किमिच्छकं व्रत, ध्रुव की तपश्चर्या, धर्मनगर से मुक्तिनाथ तक जाने वाले दो मुसाफिर, गुलाम राजा बना, पांच मित्रों की मुसाफरी, अलौकिक मंदिर, समुद्र पार के देश का राजा, राजकुमार और राजकुमारी, महात्मा के उपदेश से साधु को ॐ दिखा दिया, अर्जुन, दुर्योधन और धात्री की कथा। इसमें उपासना, ब्रह्मोपासना, गायत्री, ॐकार और ब्रह्मतरंग हैं।

इस उपासना के अनुसार अभ्यास करके समाधि तक पहुँचे हुए और आत्म साक्षात्कार किये हुए मनुष्य इस समय भी मौजूद हैं। मूल्य ।।) डाक महसूल अलाहिदा।

वेदान्त दीपिका ।

वेदान्त के प्रथम और द्वितीय वर्ष में आये हुए वेदान्त विषयक चौबीस प्रश्नोत्तरों का अपूर्व संग्रह ।

इस ग्रन्थ में जिज्ञासु को स्वाभाविकता से होने वाली शंकाओं का अत्यंत मार्मिकता से समाधान किया गया है। वेदान्त के महत्व के ग्रन्थों को पढ़ने पर भी जिन शंकाओं का समाधान न होने से जिज्ञासु का चित्त अशान्त रहता है, वे शंकाएं इस ग्रन्थ को पढ़ने से समूल नष्ट हो जायंगी। ग्रन्थ को पढ़ते समय जो नयी शंकाएं उत्पन्न होंगी उनका समाधान आगे ही मिलने से पाठकों को अत्यंत आनंद होगा।

इसमें प्रत्येक विषय को प्रथम युक्तिपूर्वक समझा कर उसको अधिक दृढ़ करने के लिये प्रसंगानुकूल दृष्टान्त दिये गये हैं, जिससे ग्रन्थ अत्यन्त ही रोचक बन गया है। इसकी भाषा अत्यन्त सरल होने से सामान्य भाषा ज्ञान वाले भी इससे लाभ उठा सकते हैं। ग्रन्थ सबके लिये संग्राह्य है। सजिल्द मूल्य १।।) डाक महसूल अलाहिदा।

चर्पट पंजरिका ।

"भज गोविंदं भज गोविंदं" पद्यका विवेचन सहित भाषानुवाद है। अनेक दृष्टांतों से रोचक और बोधप्रद है। सम श्लोकी पद्य भी हैं। मूल्य १)

व्यवस्थापक—वेदान्त केसरी, बेलनगंज—आगरा

REGD. NO. A. 1821

केसरी प्रेस, बेलनगंज आगरा में सूरजभान गुप्त द्वारा मुद्रित और प्रकाशित।

REGD. NO. A. 1821

ॐ

वेदान्त केसरी

मासिक पत्र

पुस्तक ६ } भाद्रपद सं० १९८७ सितम्बर १९३० { अंक ५

श्लोक—तावद्गर्जन्तिशास्त्राणि जम्बुका विपिनेयथा ।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद्वेदान्त केसरी ॥

अर्थ—जब तक महाबलवान सिंह गर्जना नहीं करता तब तक वन में श्याल खूब गर्जना करते हैं। इसी प्रकार जब तक वेदान्त सिद्धान्त की गर्जना नहीं होती तभी तक अन्य लौकिक शास्त्रों की गर्जना हुआ करती है।



सम्पादक—
ब्रह्मचारी विष्णु,
बेलनगंज—आगरा।

वार्षिक मूल्य ३) एक प्रति का मूल्य ।=)

विषयानुक्रमणिका।

वेदान्त केसरी के नियम।

(१) यह पत्र प्रत्येक अंग्रेजी महीने के आदि में निकलता है।

(२) वेदान्त विषय का विवेचन करना इसका मुख्य प्रयोजन है।

(३) वार्षिक मूल्य ३) अग्रिम लिया जाता है। बिना मूल्य पत्र किसी को नहीं भेजा जाता है।

(४) एक अङ्क का मूल्य ।-) नमूने का अङ्क पांच आने के टिकट आने पर भेजा जाता है।

(५) जिन ग्राहकों के पास पत्र न पहुँचे उनको १५ तारीख तक सूचना देनी चाहिये।

(६) एक वर्ष से कम के ग्राहक नहीं किये जाते। मध्य में ग्राहक होने वालों को चालू साल के आरम्भ से सब अङ्क लेने होंगे।

(७) चिट्ठी लिखते समय प्रत्येक ग्राहक को अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखना चाहिये।

ॐ

वेदान्त केसरी

पुस्तक ९ } भाद्रपद सं० १९८७ सितम्बर १९३० { अङ्क ५

तेरा अबोध तुझको दुःख दे रहा है।

वसंत तिलका छन्द।

(१)

विख्यात अज्ञ दुःख से सुख पूर्ण ज्ञानी।
ना दुःख वास्तविक केवल है कहानी॥
भासे न एक सम जो दुःख तो कहां है।
तेरा अबोध तुझको दुःख दे रहा है॥

(२)

संसार चक्र सम घूमत है सदाई।
आई अभी सुबह है फिर सांझ आई॥
स्वाभाविकीय जग में दुःख लापता है।
तेरा अबोध तुझको दुःख दे रहा है॥

(३)

ना बाह्य है न मन में निज अन्य में ना।
ना दुःख है विषय मांहि अभाव में ना॥
ना दुःख नारि धन रोग वियोग का है।
तेरा अबोध तुझको दुःख दे रहा है॥

(४)

आकार है न दुःख का नहिं जन्म होई।
माता पिता न दुःख दें नहिं अन्य कोई॥
तू खोज तो तनिक दुःख रहे कहां है।
तेरा अबोध तुझको दुःख दे रहा है॥

(५)

शास्त्रादि दुःख जग में बतलांय हैं क्यों?।
कैसे निवृत्त दुःख हो जतलांय हैं क्यों॥
तू दुःख है पकड़ता दुःख यों कहा है।
तेरा अबोध तुझको दुःख दे रहा है॥

(६)

आये सभी जगत में करने तमाशा।
सच्चा उसे समझ होय रहे हिरासा॥
जो स्वांग मानि करिये, दुःख ना जरा है।
तेरा अबोध तुझको दुख दे रहा है॥

(७)

चैतन्य में न दुःख ना जड़ में बने है।
तीजा सिवाय इनके नहिं विश्व में है॥
तू ही बता किधर दुःख रहे कहां है।
तेरा अबोध तुझको दुःख दे रहा है॥

(८)

नाशी प्रशान्ति भ्रम से दुःख भासता है।
होवे कृपा गुरुन की दुःख नाशता है॥
भासे स्वरूप अपना दुःख भाग जाता।
आनन्द सिंधु जग में परिपूर्ण पाता॥

मुमुक्षु को उपयोगी बातें।

एक गुरु के दो शिष्यों में एक दिन ये प्रश्नोत्तर हुये:—

प्रश्न:—भाई! आपकी स्मरण शक्ति बहुत ही शोभन है, जो कुछ श्री गुरुजी बताते हैं आप झट ही याद कर लेते हैं, मैं भूल जाता हूँ। आज श्री गुरुजी ने ६ बातें कहीं थीं—(१) परमात्मा का स्वरूप, (२) पूर्ण ज्ञान से मुक्ति, (३) पूर्ण ज्ञान का उपाय, (४) अद्वय ज्ञान की प्राप्ति कराने वाली परम समाधि, (५) वैराग्य यानी सर्व संग का त्याग और (६) ब्रह्म ज्ञानी के लक्षण। ये सब बातें मैं आप से फिर सुनना चाहता हूँ, कृपया दोहरा कर कहिये।

उत्तर:—(१) भाई! श्री गुरुजी ने कहा था कि ब्रह्म पास भी पास है और दूर से भी दूर है, ब्रह्म अपना आप है इसलिये पास से पास है। सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है इसलिये अज्ञानियों के लिये दूर से भी दूर है, इसलिये तत्त्व दर्शियों का कथन है कि भोग में आसक्त चित्त वालों के लिये परमेश्वर दूर से भी दूर है, ज्ञानियों के लिये समीप से भी समीप है, भक्तों के लिये प्यारे से भी प्यारा है और विवेकियों के लिये श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ है। विचार बिना अपना आप ही जानने में नहीं आता तो ब्रह्म किस प्रकार जानने में आवे? अपना आप मानने में लोक में और दार्शनिकों में मत भेद है। कोई शरीर को अपना आप मानता है, कोई प्राण को अपना आप जानता है, कोई मन को अपना आप समझता है, कोई बुद्धि यानी विज्ञान को अपना आप कहता है और कोई आनन्दमय—कारण शरीर—अज्ञान को आत्मा मान बैठा है। मुमुक्षु को समझाने के लिये श्रुति भी पांच प्रकार का आत्मा—अपना आप बताती हुई सम्यक् आत्मा क बोध कराती है। श्रुति में कहा है कि अन्नमय आत्मा, प्राणमय आत्मा, मनोमय आत्मा, विज्ञानात्मा और आनन्दमय आत्मा ये पाँच आत्मा हैं। अन्नमय आत्मा प्राणमय आत्मा के भीतर स्थित है, प्राणमय आत्मा मनोमय आत्माके भीतर स्थित है, मनोमय आत्मा विज्ञान आत्मा के भीतर स्थित है, विज्ञानात्मा आनन्दमय आत्मा के भीतर स्थित है और ये पाचों आत्मा परमात्मा में स्थित हैं; परमात्मा अन्य किसी में स्थित नहीं है।

उपरोक्त पांच आत्माओं को वेदवेत्ता कोश कहते हैं। तलवार के ढांकने वाले म्यान का नाम कोश है। जैसे कोश तलवार को ढांकता है, इसी प्रकार ये पांचों कोश आत्मा को ढांकते हैं। इसलिये कोश कहलाते हैं। शिव गीता में कहा है कि (१) अन्न का विकार होने से स्थूल शरीर अन्नमय कोश है, (२) पांच कर्मेन्द्रियों सहित पांच प्राण प्राणमय कोश है, (३) पांच ज्ञानेन्द्रियों सहित (४) मन मनोमय कोश है, पांच ज्ञानेन्द्रिय सहित बुद्धि विज्ञानमय कोश है और (५) अहंकारात्मक अथवा अविद्यात्मक आनन्दमय कोश है।

पंचदशीकार इन पांचों कोशों का स्वरूप और उन पांचों को अनात्मा इस प्रकार सिद्ध करते हैं:—

(१) पिता माता के भोजन किये अन्न से उत्पन्न हुये वीर्य से देह उत्पन्न होता है, अन्न से बढ़ता और अंत में पृथिवी रूप अन्न में मिल जाता है। पूर्व में नहीं था, पीछे भी नहीं रहेगा इसलिये देह—स्थूलशरीर आत्मा नहीं है। (२) जो वायु देह में पूर्ण होकर देह को बल देता है और इन्द्रियों का प्रवर्तक है, वह वायु

प्राणमय कोश है। यह प्राणमय कोश आत्मा नहीं है क्यों कि चेतना रहित और जड़ है। (३) जो मन देह में अहंता, गृहादि में ममता करता है और कामादि अवस्थाओं में भ्रांत है, वह मनोमय कोश आत्मा नहीं है। (४) विज्ञान सुषुप्ति में लीन हो जाता है, जाग्रत में नख के अग्रभाग से लेकर समस्त शरीर में पूर्ण रहता है और चेतन की छाया से युक्त है, इसलिये विज्ञानमय आत्मा नहीं है। (५) कभी २ पुण्य के भोग काल में बुद्धि की वृत्ति अंतर्मुख होकर आनन्द के प्रतिबिम्ब को भोगती है और भोग के शान्त हो जाने पर निद्रा रूप से लीन हो जाती है, इसका नाम आनन्दमय है। यह आनन्दमय कोश भी कभी होने से और कभी न होने से आत्मा नहीं है।

परब्रह्म का कोई कारण नहीं है, परब्रह्म सब कारणों का कारण है, सब आधारों का आधार है, स्वयं निराधार है, निर्गुण है यानी सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण तीनों गुणों से रहित है, गुणों का भासक यानी प्रकाश करने वाला है। परब्रह्म स्वयं सर्वदा ही भासता है और संपूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है, उसके प्रकाश से सूर्य समस्त ब्रह्मांड को प्रकाशित करता है।

परब्रह्म सब का अपना आप है, इसलिये परब्रह्म को सर्वात्मा कहते हैं। यह आत्मा तीनों काल में विद्यमान है, इसलिये सत् है, चैतन्य स्वरूप यानी स्वयं प्रकाश है, इसलिये चित् है और आत्मा में किसी प्रकार का दुःख नहीं है इसलिये आनन्द है। सच्चिदानन्द आत्मा को कोई निवारण नहीं कर सक्ता। जो मूढ़ सर्वात्मा का बाध मानता है, वह अपना ही बाध मानता है। जिसको जानकर दूसरा ज्ञेय जानने योग्य नहीं रहता, वह ही परम शिव अपना आप है, जिसको प्राप्त करके अन्य कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रहता, वह ही परमेश्वर अपना आप है। संसार ज्वर से पीड़ित पुरुषों के लिये वह ही परम गति है, वह ही परम मोक्ष है, जिसको प्राप्त करके फिर लौटना नहीं होता।

(२) ब्रह्मचर्य आदि आश्रम मोक्ष के कारण नहीं हैं, शास्त्र का ज्ञान मोक्ष का कारण नहीं है, ब्राह्मणादि जाति मोक्ष का कारण नहीं है, काषाय वस्त्र दंडादि लिङ्ग भी मोक्ष के कारण नहीं है, और कर्म भी मुक्ति का कारण नहीं है। सम्यक् ज्ञान ही मोक्ष का कारण है। पूर्ण ज्ञान से ही मुक्ति होती है, अन्य किसी प्रकार से नहीं होती, यह बात निश्चित है।

(३) गरुड़ पुराण में कहा है कि ब्रह्मप्रकाशक ज्ञान भव बंध का नाश करने वाला है, परब्रह्म में एकचित्तता होना योग है, यह योग मुक्तिदायक है, इसमें संशय नहीं है। जो जितेन्द्रिय होता है, जो अन्तःकरण को वश में करता है, जो ज्ञान से तृप्त होता है और परमात्मा में स्थित होता है, वह योगी मुक्त कहलाता है। सांख्य ज्ञान से, योग से और वेदान्त श्रवण से आत्मा की जो प्रत्यक्षता यानी साक्षात्कार होता है, वह ही मुक्ति कहलाती है।

(४) यह मुक्तिप्रद ज्ञान परम समाधि से प्राप्त होता है, अन्य किसी प्रकार से प्राप्त नहीं होता, यह अटल सिद्धांत है। ध्यान की पराकाष्ठा यानी परम सीमा समाधि कहलाती है। समाधि में ब्रह्म के साथ जीव की पूर्ण एकता हो जाती है। त्रिपुटी रहित शुद्ध चैतन्य स्वरूप ही परमानन्द रूप है और सर्व उपाधियों से रहित है। पुट अथवा पुटी ढकन का नाम है। ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय, ध्याता ध्यान ध्येय, उपासक, उपासना, उपास्य आदि

पुटों से ढका हुआ आत्मा त्रिपुटी रहित होने पर जानने में आता है त्रिपुटी मायिक है, परमात्मा वस्तु स्वरूप है, नाम रूप का नाम उपाधि है, पर-ब्रह्म नाम रूप उपाधि से रहित है।

देह बन्धन है, प्राण बन्धन है, मन बन्धन है, कर्तापना बन्धन है, भोक्तापना बन्धन है, अज्ञान बन्धन है, स्त्री, पुत्र, गृहादि में ममता बन्धन है, सर्व प्रकार का संग बंधन है, इन सब बंधनों को त्यागकर अधिकारी पुरुष को परम ब्रह्म रूप से स्वरूप में स्थित होना चाहिये। जब तक पुरुष अपने आपको शिवसे भिन्न मानता है, तभी तक पुरुष का जीवत्व है, बन्धन है और भय है। ध्यानयोग समाधि द्वारा निर्गुणी होकर पुरुष निर्गुण, निरंजन, निरपेक्ष, परम ब्रह्म में प्रवेश करता है।

जब तक 'मैं देह हूँ' ऐसा अभिमान है, जब तक हृदय में भोग, ऐश्वर्य आदि की अनेक कामनायें हैं; तब तक ध्यान, ज्ञान, समाधि और मोक्ष कैसे होसक्ता है? नहीं होसक्ता। काम रूपी शत्रु मोक्ष द्वार का कपाट—किवाड़ है कामने मोक्षके द्वार को बन्द कर रक्खा है, इसलिये कामको त्यागकर सर्वदा उदासीन होकर अधिकारी को महादेव का ध्यान निरंतर, प्रीतिपूर्वक नियम से करना चाहिये। सर्व प्रकार से शांत होकर, बुद्धि को स्थिर करके, श्रद्धा और आस्तिक्य से युक्त होकर भक्तिमान पुरुष को नित्य ही ब्रह्म ध्यान परायण होना चाहिये। जो संसर्ग रूप कीचड़ से निकल कर सर्व प्रकार के परिग्रह से छूटकर तप करता है, ध्यान करता है और तप ध्यान करने से विशुद्ध अंग वाला होजाता है, वह योगी ही सिद्धि का भागी होता है। जिसका प्राण भ्रुकुटियों के मध्य है, जिसका चित्त परमेश्वर में है, जिसका देह आसन पर निश्चल है, उसके लिये मुक्ति दूर नहीं है किंतु समीप ही है। जो पुरुष प्रज्वलित ज्ञान दीपक से नित्य परमेश्वर को देखता है और जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, आशा, तृष्णा, चिंता आदि दोषों से मुक्त है, उसके लिये काल का भय कहां है? कहीं भी नहीं है। संसारासक्त विषयी जीवोंका निस्संदेह यह बड़ा दुर्भाग्य है कि कल्याणकारी शिवको छोड़कर कामके मन्दिर रूप शरीर का सेवन करते हैं। जिस किसी इन्द्रिय का विषयों के साथ संसर्ग होजाता है, वह इन्द्रिय ही काम को उत्पन्न करती है यह ही काम का कारण होती है। भाव यह है कि जब श्रोत्र इन्द्रिय का शब्द से संसर्ग होता है, तब शब्द की कामना होती है, त्वचा का स्पर्श से संसर्ग होने से स्पर्श की कामना होती है, नेत्रका रूप से संसर्ग होने से रूपकी कामना होती है, जिह्वा का रस से संसर्ग होने से स्वाद की कामना होती है और घ्राण का गन्ध से संसर्ग होने से गन्ध की कामना उत्पन्न होती है। मन सब विषयों के ग्रहण करने का साधारण कारण है। ये विषय ही पुरुष के लिये बंधन हैं। श्रुतिमें इन्द्रियों को ग्रह और विषयों को प्रतिग्रह कहा है यानी विषयों द्वारा इन्द्रियां पुरुष के बंधन का हेतु हैं। जैसे जलता हुआ लोहे का गोला छूने मात्र से निश्चय देह को जला देता है, इसी प्रकार विषय देही को देखने मात्र से जलाते हैं। जैसे विष से चित्त मोहित होजाता है, इसी प्रकार विषय चित्तको मोहने वाले हैं, इसलिये विष रूप विषयों को त्यागकर दुर्धर्ष, दुर्जय मन रूप महा शत्रु को मारना चाहिये, जिस समय पुरुष किसी विषय को देखता है, इसी समय मन परम ब्रह्म को छोड़कर चला जाता है। यदि सामान्यता से भी चित्तका विषयों से संबंध रहता है, तो चंचल चित्त ध्येय से

हट जाता है। यदि 'ध्यान के पीछे मैं अमुक कार्य करूंगा' ऐसा चिंतवन करके पुरुष ध्यान आरंभ करता है तो वह समाधि को प्राप्त नहीं होता। एक मृग के बच्चे का सेवन करने से साधक भरत पतित होगया था, तो अगणित विषयों को प्राप्त करके मनुष्य ईश्वर को कैसे प्राप्त करेगा? इसलिये निरंतर सर्व संगका परित्याग करके वेदों में गुप्त, परम अद्भुत स्वरूप ब्रह्म को अपने स्वरूप से देखना चाहिये।

जो पुरुष ब्रह्मको अपना आत्मा जानता है, वह महान् शान्ति वाला होता है। किसी की निन्दा नहीं करता, किसीसे अहित वचन नहीं कहता, कोई उससे अहित वचन कहे, तो भी वह उससे अहित वचन नहीं कहता। यदि कोई पुरुष उसे मारने को आवे तो भी ऐसा शांत पुरुष उसे मारने की इच्छा नहीं करता ऐसा पुरुष यथा प्राप्त में वर्तता है, प्राप्त वस्तु से हर्ष को नहीं प्राप्त होता, अप्राप्त वस्तु का शोच नहीं करता, ऐसा पुरुष महान् बुद्धिमान होता है, काम क्रोधको जीता हुआ होता है, मनसे, वाणी से, कर्म से किसीका अपराध नहीं करता। ऐसा धीर पुरुष पराई समृद्धि देखकर ईर्षा नहीं करता और कभी परिश्रम को प्राप्त नहीं होता। निंदा और प्रशंसा में ऐसा पुरुष समान रहता है, निन्दा सुनकर खिन्न नहीं होता और प्रशंसा सुनकर प्रसन्न नहीं होता। उसके हृदय की ग्रन्थि टूट जाती है; ऐसा पुरुष अपनी इच्छानुसार चाहे जहां विचरता है। उसको कोई बांधव नहीं होता और वह भी किसी का बांधव नहीं होता। उसका कोई शत्रु नहीं होता और वह भी किसी का शत्रु नहीं होता। ऐसा पुरुष सुख से सोता है, सुख से जागता है, ब्रह्मादि देवता भी उसके समान सुखी नहीं होते।

हे मुमुक्षुओ! यदि तुम सुखी होना चाहते हो, तो वेदोक्त उत्तम आचरण करो, वेदों का अध्ययन करो, उत्तम आचरण का भी अभिमान मत करो। राग द्वेषादि अवगुणों का परित्याग करके शूर बनो और आलस्य का सर्वथा त्याग करो, स्वप्न में भी दीर्घसूत्री मत हो! जो अध्यात्म शास्त्र की विधि और तत्त्व को जानता है, वह क्षमाशील और जितेन्द्रिय होता है, सरल और सत्यवादी होता है, इसलिये तुम अध्यात्म शास्त्र के तत्त्वको जानने का प्रयत्न करो। जो पुरुष तेज से, यश से, बुद्धि से, ज्ञान से, विनय से, जन्म से और तप से वृद्ध होता है, वह सर्वत्र पूजा जाता है, उत्तम शील वाला, निरंतर सुख से शयन करने वाला, सतोगुणी भोजन करने वाला, पवित्र और सत्य वचन कहने वाला, किसी से ईर्षा न करने वाला सर्वत्र पूजा जाता है, इसलिये तुम इन सब शुभ गुणों की प्राप्ति का प्रयत्न करो! जो सबका कल्याण चाहता है, दूसरे का अनर्थ देखकर प्रसन्न नहीं होता; वेद, शास्त्र और आख्यानों में से अर्थ को निकालता है, सहन शील होता है, अवज्ञा को प्राप्त नहीं होता, वह सर्वत्र पूजा जाता है। जो पुरुष सर्वत्र सम भाव वाला होता है यानी जिसको कोई प्रिय अप्रिय नहीं होता, सबके हित की वाणी बोलता है, वह पूजा जाता है। जो पुरुष बहु श्रुत होता है, विचित्र कथायें जानता है, पंडित होता है, लोभी नहीं होता, शठता, दीनता और क्रोध से रहित होता है, वह सर्वत्र पूजा जाता है। जोपुरुष धनादि किसी पदार्थ के लिये किसी से झगड़ा नहीं करता, दोषों से रहित होता है, दृढ़ भक्ति वाला, अनिंदित अन्तःकरण वाला, वेद का जानने वाला, सौजन्य वाला और निर्मोही होता है, वह सर्वत्र पूजा जाता है।

उपरोक्त लक्षण सिद्ध पुरुष के स्वाभाविक होते हैं और साधक को प्रयत्न करने से प्राप्त होते हैं, उपरोक्त लक्षण वाला शीघ्र ही अन्तःकरण की शुद्धि करके समाधि द्वारा परब्रह्म का अपने आत्म रूप से साक्षात्कार करता है, तब इसको समस्त विश्व अपना होजाता है फिर उसे किसी प्रकार का दुःख नहीं होता किंतु सर्वदा के लिये सुखी होजाता है। परब्रह्म को आत्म रूप न जानने से ही दुःख और सुखका तारतम्य है, परब्रह्म के जानने पर आनन्द ही आनन्द है। इसलिये अनात्म रूप वस्तुओं से विरक्त होकर आत्म रूप परब्रह्म का साक्षात्कार करके सुखी होजाओ। अपना आप पास से भी पास ब्रह्म अज्ञान से दूर भासता है और ज्ञानसे पास से भी पासहोजाता है, हो क्या जाता है? है ही! परब्रह्म अपना आप पास से भी पास है, ऐसा अनुसंधान करते हुये सुखी होजाओ!

हे भाई! यह श्रीगुरुजी का उपदेश है। मैंने गांठ बांध लिया है, तू भी गांठ बांध ले।

ॐत्सतत्॥

पाठक! इस सब कथन का सार यह है—

छप्पय।

ब्रह्म पास से पास, परम प्यारा है अपना।
सचा सोही एक, विश्व सारा है स्वप्ना॥
तजो विश्वका संग, आप अपना ही ध्याओ।
जन्म मरण से छूट, राज्य निष्कंटक पाओ॥
आप आपको भूलना, पाप यही अति घोर है।
भोला!निज पहिचानना पुण्य न या सम और है॥

—सकल चराचरानुचर भोला।

भगवत्स्तुति।

एक बाबू ने एक दिन एक संत से इस प्रकार प्रश्न किया—

बाबू—महाराज! मैं डाकखानेमें नोकर हूं, थोड़ी अंग्रेजी जानता हूं काम चला लेता हूं भाषा अच्छी तरह पढ़, लिख और समझ सकता हूं, संस्कृत का नाम मात्र भी संस्कार नहीं है। पिताजी तीनों काल की संध्या और हवन किया करते थे। संध्या और हवन करना उन्होंने मुझे भी सिखा दिया है। संध्या हवन मैं भी करता हूं परन्तु तीन काल के बदले दो ही काल करता हूं क्योंकि दोपहर की संध्या करने को समय नहीं मिलता। सुबह के आठ बजे से शाम के चार बजे तक दफ्तर में काम करना पड़ता है इसलिये दोपहर की संध्या नहीं हो सकती। मैंने सुना है कि परब्रह्म के तटस्थ लक्षण और स्वरूप लक्षण दो प्रकार के लक्षण हैं। कृपया कोई ऐसी भगवत् की स्तुति बताइये, जिसका प्रातः और संध्या में पाठ कर लिया करूं, जिससे भगवान् का स्वरूप समझ में आ जाय और मन प्रसन्न रहा करे! अन्य भी हितोपदेश दीजिये, जिससे मेरा कल्याण हो।

संत—(प्रसन्न होकर) बच्चा! तू धन्य है, अंग्रेजी पढ़ कर भी तुझे संध्या और हवन में श्रद्धा है यह आश्चर्य है। अंग्रेजी पढ़ कर आजकल प्रायः मनुष्य अपने धर्म कर्म से अज्ञात और श्रद्धाहीन देखने में आते हैं। आजकल तो प्रायः संध्या, भजन, हवनादिक का लोप सा होगया है यह भारत का दुर्भाग्य है। भगवान् तेरी सी बुद्धि सबको दें। संसार में ईश्वर भजन ही सार है। तू भगवान् की

स्तुति मुझसे पूछता है, इसलिये तू मुझे बहुत ही प्यारा है! आजकल के लोग तो ऊटपटांग प्रश्न किया करते हैं; तेरा प्रश्न बहुत सुन्दर है, तेरी बुद्धि भी निर्मल है। तेरे प्रश्न से तेरा लाभ तो है ही, दूसरों का भी उपकार होगा इसलिये तेरे प्रश्न का उत्तर देने में मुझे बहुत ही प्रसन्नता है, क्योंकि जहां भगवत् का भजन और स्तुति होती है वहां सर्व देवता, सर्व तीर्थ और सर्व ऋषि, मुनि आजाते हैं ऐसा संत महात्माओं का मत है।

इस प्रकार अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हुये और प्रश्नकर्ता का उत्साह बढ़ाते हुये संत इस प्रकार अमृत की धारा बहाने लगे:—

संत—हे भावुक! सायंकाल में प्रसन्नता-पूर्वक स्नान करके सायंकाल की संध्या का अनुष्ठान करे और शास्त्र विधि के अनुसार ज्वलित हव्य वाहन यानी दीप्तिमान अग्नि में होम करे! पश्चात् दिन का जो २ कृत्य शेष रहा है उसको संपूर्ण करे और दिन के भाग में जो कोई कुकृत्य बन आया हो उसका शोधन करे और भविष्य में फिर वह कुकृत्य न हो; ऐसा प्रयत्न करने की प्रतिज्ञा करे! ऐसा करने से मनुष्य शीघ्र ही शिष्टाचारी, शुद्ध अन्तःकरण वाला और भगवत् की कृपा का पात्र होजाता है। जिसकी विश्वेश में आस्था होती है जगन्नाथ उसकी प्रति क्षण सहाय करते हैं और शीघ्र ही दर्शन देते हैं। सायं कृत्य करके नियत समय पर पोष्य गण सहित भोजन करे! रात्रि में लघु यानी हलका आहार सर्वथा प्रशंसनीय है इसलिये रात्रि में हलका भोजन करना चाहिये। भोजन के अंत में सुख से बैठ कर एक मुहूर्त तक विश्रान्ति ले और पश्चात् भक्तिपूर्वक अविनाशी शिव का मन से पूजन करे! पांच मिनट का एक मुहूर्त होता है। शुद्ध सत्त्व में स्थित होकर प्रसन्न मन से शिव की भावना करे, शिव में कभी किसी प्रकार का क्षोभ नहीं होता इसलिये शांत हैं। शिव आलम्बन रहित हैं इसलिये निरालम्ब कहलाते हैं, शिव में प्रपंच—जगत् नहीं है इसलिये निष्प्रपंच कहलाते हैं, उससे पर कोई नहीं है इसलिये परात्पर कहलाते हैं ऐसे शुद्ध बुद्ध परमात्मा देव शिव की शुद्ध भाव से इस प्रकार स्तुति करे:—

स्तुति—हे देवों के देव महादेव! आपको नमस्कार है! आप परम अद्वैत हैं; परम अमृत हैं, आकार और आधार से हीन हैं सत्, रज और तम तीनों गुणों से परे हैं, आपको नमस्कार है! प्रलय और सुषुप्ति में आपेक्षिक अद्वैत है, आपमें अपेक्षा रहित अद्वैत है, इसलिये वेदवेत्ता आपको परम अद्वैत कहते हैं। जीव भी अमर है परन्तु स्वरूप ज्ञान यानी मोक्ष दशा में जीव का जीवत्व नहीं रहता और आप तो सर्वदा अमर हैं, इसलिये तत्त्वदर्शी आपको परम अमृत कहते हैं। हे प्रभो! आप मन वाणी का विषय नहीं हैं, संज्ञा यानी नाम से रहित हैं, आपका कोई नाम नहीं है, आप आदि, मध्य और अन्त से रहित हैं, शाश्वत यानी सनातन हैं, आपको नमस्कार है। हे देव! आप में आभास यानी छाया नहीं है, इसलिये आप निराभास कहलाते हैं, आपमें पांच प्रकार का अथवा देश, काल, वस्तु परिच्छेद रूप तीन प्रकार का भेद नहीं है, इसलिये संत महात्मा आपको निर्विशेष कहते हैं, आप प्रकाश स्वरूप हैं, अंधकार का आप में लेश भी नहीं है, इसलिये ऋषि मुनि आपको निरंजन कहते हैं, आप में इच्छादि सोलह कलाओं में से कोई कला नहीं है अथवा आप अवयव से रहित हैं, इसलिये

संत जन आपको निष्कल कहते हैं, आपको नमस्कार है! आप किसी के जानने में नहीं आते, आप ही अपने को जानते हैं, इसलिये श्रुति आपको अनिर्देश्य कहती है, आपमें किसी प्रकार का विकल्प-कल्पना नहीं है, इसलिये वेद भगवान् आपको निर्विकल्प कहते हैं, आपमें कोई उपद्रव अथवा रोग संभव नहीं है क्योंकि आप अशरीर हैं और उपद्रव अथवा रोग शरीर में रहते हैं, इसलिये योगी जन आपको निरामय कहते हैं, आपमें न द्वैत है, न अद्वैत है क्योंकि द्वैत अद्वैत मन के कल्पे हुये हैं, आप सर्वत्र व्यापक हैं, आपके चलने के लिये कोई स्थान नहीं है, इसलिये आप निश्चल हैं। आपको नमस्कार है! आपका किसी काल में बाध नहीं होता, इसलिये अबाधित सत्य हैं, चर अचर विश्व में पूर्ण हैं, सर्व का कल्याण करने वाले होने से आप शंकर कहलाते हैं, निर्विकार होने से आप अव्यय हैं, धर्माधर्म से रहित होने से विशुद्ध हैं, क्रिया रहित होने से अशोक हैं, आपको नमस्कार है। ब्रह्मांड भर का आनन्द आप का अंश मात्र है, इसलिये आप परमानन्द स्वरूप हैं, सर्व का क्षय होने पर भी आपका क्षय नहीं होता, इसलिये आप परमाक्षर हैं, आपको नमस्कार है! बारंबार नमस्कार है, नमस्कार है! नमस्कार है !! नमस्कार है !!!

जब इस नाम रूपात्मक जगत् में से कुछ भी नहीं था, न आकाश था, न वायु था, न तेज था, न जल था और न पृथिवी थी, न दिन रात थे, न तिथि थीं, न सप्ताह थे, न पक्ष थे, न मास थे, न ऋतु थी, न अयन थे, न संवत्सर थे, न युग थे, न मन्वन्तर थे, न कल्प थे, न मरण था, न अमरण था, न सत् यानी स्थूल था, न असत् यानी सूक्ष्म था तब आप अद्वैत रूप से अपने पूर्णत्व में विराजमान थे। जैसे कोई समाधिस्थ योगी अचल हो, इसी प्रकार आप स्वयं ज्योति आत्माराम अचल स्थित थे। जब द्रष्टा और दृश्य कुछ नहीं था, तब आप चेतन स्वरूप प्रकाशमान थे। आप गंभीर से भी अति गंभीर हैं, ठोस से भी अति ठोस हैं, गूढ़ से भी अत्यंत गूढ़ हैं, इसलिये आप में किसी वस्तु का प्रवेश नहीं हो सक्ता, सर्वदा शांत रूप हैं, फिर भी आपकी शक्ति आश्चर्य रूप है कि जिस शक्ति के प्रभाव से आपमें अनेक ब्रह्मांड स्फुरण होते हैं। जैसे समुद्र में से अनेक तरंगें उठतीं और लय होती रहती हैं, इसी प्रकार आपमें से करोड़ों ब्रह्मांड उत्पन्न होते रहते हैं और आपमें लय होते रहते हैं। आपकी महिमा अपार है, कोई पार नहीं पासक्ता। आप नित्य चैतन्य समुद्र में से अगणित विश्व रूप बुद्बुदे आविर्भाव और तिरोभाव होते रहते हैं! विचित्र २ रूपके असंख्य विश्व अनेक प्रकार से आप निर्विकार और निर्लेप में सर्वदा घूमते रहते हैं। संपूर्ण विश्व चंचल हैं, आप अचल हैं, चंचल विश्वों में आप अचल रूप भीतर और बाहर विराजमान हैं, फिर भी आप उनमें रत यानी आसक्त नहीं होते क्योंकि आप महान् आत्मा हैं, सम हैं और निरन्तर शांत हैं। सबमें मिले हुये रहकर भी आप सबसे अलग हैं, ऐसे महामायावी देवको शास्त्र कभी नहीं जान सक्ते, आपको मैं नमस्कार करता हूं।

प्रत्येक विश्वमें आप फैले हुये हैं, अनेक पर्वत वन और सागरों से युक्त हैं, ब्रह्मादि देवताओं से समायुक्त हैं और चन्द्र सूर्य आदि से शोभित हैं, परम आश्चर्य रूप आप प्रकाश रूप प्रत्येक विश्व को अपना प्रकाश अर्पण करते हैं, आपको नमस्कार है।

उपाधि रहित परोक्ष तत्पदार्थ यानी ईश्वर रूपसे आकाश के समान निरंतर पूर्ण यानी व्यापक हैं, नामरूप उपाधि युक्त व्यवहार करने वाला जो त्वंपदार्थ रूप जीव है, उसमें भी आप उपाधि रहित रूप से पूर्ण हैं। विशेष रूपको प्राप्त हुये आप कारण स्वरूप में से यदि पूर्ण निकाल लिया जाता है तो भी आप पूर्ण ही रहते हैं; क्योंकि पूर्ण आत्म स्वरूप का निकालना असंभव है। विद्या द्वारा कार्य ब्रह्म रूप आपके पूर्णत्व को लेकर ही अविद्या रूप उपाधि के तिरस्कार पूर्वक पूर्ण ही यानी निरंतर प्रज्ञानघन एक रस स्वरूप केवल ब्रह्मरूप आप ही शेष रहते हैं, आपको नमस्कार है। आप पूर्ण हैं, पूर्ण रूप हैं, दिव्य यानी अलौकिक हैं, अच्युत हैं यानी आप अपने रूप से कभी च्युत नहीं होते—हटते नहीं हैं, सम रस हैं, नित्य हैं, आपको नमस्कार है। आपही इदं—यह हैं, आपका ही यह है, आपमें ही यह सब है, इसमें संशय नहीं है, आप ही इस देह और ब्रह्मांड में महादेव हैं, आप शिवरूप हैं, आपको नमस्कार है। आप ही कारण हैं, आप ही कार्य हैं, आप ही करण हैं, आप ही अव्यक्त हैं, यानी इन्द्रियों से आपका प्रत्यक्ष नहीं होता, आप ही व्यक्त हैं, यानी नाम रूपसे आप इन्द्रियों के विषय हैं, आप एक हैं और सबके प्रकाशक हैं। आप स्थिर यानी अचल हैं, लीलाधर हैं, आप सनातन स्थिर लीलाधर में अनेक नश्वर ब्रह्मांड नाचते रहते हैं और हो २ कर आपमें लीन होजाते हैं।

हे जगन्नाथ! आप इस जगत् रूप नाटकशाला के नाट्येश्वर हैं, नित्य हैं, सीमाहीन हैं यानी आपकी हद नहीं है। आप चेतन समुद्र हैं और ब्रह्मांडों की उत्पत्ति, स्थिति और लय के कालमें भी सदा एकसे ही हैं, किसी प्रकार का परिणाम आपमें नहीं है। आप आनन्द स्वरूप अक्षय अविनाशी को जब तक जीव प्राप्त नहीं होता है, तब तक जीवका बंधन है, तभी तक संसार यानी जन्म मरण है और तभी तक तीन प्रकार के ताप हैं। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक ये तीन प्रकार के ताप हैं। ज्वरादि शरीर की पीड़ा आध्यात्मिक ताप हैं, अग्नि सर्पादि से दाह और दंश आधिभौतिक ताप हैं और वर्षा आदि से होने वाले दुःख आधिदैविक ताप हैं। जब पुरुष आपको प्राप्त होता है तो तीनों तापों से मुक्त होजाता है और परमानन्द स्वरूप निरामय निर्वाण कैवल्य को प्राप्त होता है। आप वाणी से कथन करने में नहीं आते इसलिये अनिर्देश्य हैं, परम अद्भुत हैं, संगहीन हैं, आलम्बन रहित हैं, निर्गुण हैं और नाम रूप सर्व उपाधियों से रहित हैं, फिर हे नाथ! मैं आपको किस प्रकार प्राप्त होसका हूं?

हे विश्व स्वामिन्! आपको नेत्र देख नहीं सका किंतु आप नेत्रको प्रकाशित करते हैं, फिर हे शंभो! आप निराकार और इन्द्रियों के अविषय को मैं किस प्रकार देख सका हूँ? आप चित्त से चितवन करने में नहीं आते किंतु चित्तको प्रकाश देते हैं, फिर आप अप्रतर्क्य—तर्क से जानने में न आने वाले, अलक्षण—लक्षण रहित देवको मैं किस प्रकार जान सका हूँ? आप भावगम्य हैं यानी सर्वदा अनन्य भक्ति से प्राप्त होते हैं। श्रद्धायुक्त बुद्धिमान्, निर्दोष मनुष्य ही आपको प्राप्त कर सका है। भक्ति से तत्त्व जानने में आता है, भक्ति से ही सत्य का साक्षात्कार होता है और भक्ति से ही स्वरूपावस्थिति रूप परम शाश्वती मुक्ति प्राप्त होती है। इसलिये हे अनाथों के नाथ! भक्ति के सिवाय मैं आपसे

अन्य किसी वस्तु की याचना नहीं करता किंतु आपकी अनन्य भक्ति हो चाहता हूँ। आपत्ति के समय केवल आपकी भक्ति ही मनुष्यों के लिये बल और परम सम्पत्ति है। हे दीनबंधो! मैं केवल आपके सामने ही दीन होऊं, अन्य किसीके सामने हाथ न फैलाऊं! हे सुर नर मुनि सेवो! मैं सर्वदा काया से, मनसे और वाणी से आपकी ही सेवा करूं, अन्य किसी की सेवा न करूं। हे दयानिधे! आप शुद्ध बुद्ध चिदात्मक की शुद्ध भक्ति हो मैं आपसे मांगता हूँ; हे कृपासिंधो! कृपा करके मुझे अपनी अनन्य भक्ति दीजिये। हे करुणासागर! मुझ दंभ मोहमद जीवको बंधन से मुक्त कीजिये और हे जगन्नाथ! आप ब्रह्म रूप महासागर में मुझे मिलाकर एकमेक कर लीजिये। हे जगत्पते! आप एक ही विराजिये, आप केवल ही विजय प्राप्त कीजिये, आप ही अद्वितीय प्रमोद मानिये और आपही सबको आवृत्त करके स्थित हूजिये। हे चैतन्य घन! आप चिन्मय ही मुझे सर्वत्र दिखाई दें, आप चिन्मात्र के सिवाय कहीं भी मुझे जड़त्व न भासे। सब चराचर वस्तुओं में आप मधुरूप को झड़ते हुये मैं निरंतर देखूं! हे मनोहर मूर्ति! परमाणुओं में और शैल—पर्वतों में आपही मुसकराते हुये दिखाई दीजिये। सर्वदा दशों दिशाओंमें आप पुण्य रूप, प्रेम रूप, ज्ञानरूप शिव ही बहते हुये नजर आइये। हे प्रभो! गंगा जमुना आपकी महिमा—कीर्तिको गाती हुई सुनाई देवें। जगत् का प्राणरूप वायु बहता हुआ आपका ही संदेशा मेरे कानों में पहुंचावे। हे शंकर! शोणित—रक्त के प्रवाह में भी आप ही नररूप से नृत्य करते हुये दिखाई दीजिये और हे प्रभो! चित्ताकाश और महाकाश को अमृत से परिपूर्ण कर दीजिये। आपके ही नेत्रों को मैं सर्वदा देखूं, अन्य किसी को कभी कहीं भी न देखूं। आपका ही श्रवण सदा मेरे कान सुनें, अन्य कोई वार्ता मेरे कानों में न पहुंचे। एक स्थिर, शांत, निरंजन देव आप सर्वदा स्थित हूजिये। संसार अंधकार के नाश करने वाले एक ही देव सर्वत्र स्थित हूजिये। आप निर्मल स्वरूप के चरणों में नमस्कार है। आप प्रकाश स्वरूप के अर्थ नमस्कार है, आपके बल के लिये नमस्कार है। आप शिवके लिये नमस्कार है! नमस्कार है! नमस्कार है!! नमस्कार है!!!

इस प्रकार सनातन देवकी स्तुति समाप्त करके ब्रह्म भावका चिन्तवन करता हुआ मनुष्य समाहित चित्त होकर पवित्र उत्तम शय्या पर जाकर शयन करे।

शय्या—खाट तीनों दोषों को नाश करने वाली है, तकिया तोशक वात कफ के नाशक हैं। पृथिवी की शय्या जठराग्नि बढ़ाने वाली और शुक्र-वीर्य की वृद्धि करने वाली है, काष्ठ की पट्टी वात नाशक है। सुन्दर शय्या पर शयन करना हृदय को प्रिय, पुष्टिकारक, निद्रा और धैर्य देने वाला है, श्रम और वातको हरने वाला और वीर्य की वृद्धि करने वाला है।

पूर्व अथवा दक्षिण की तरफ शिर करके सोना चाहिये। जितेन्द्रिय पुरुष वाम अथवा दक्षिण करवट से सोवे। ब्रह्मचर्य का क्षय होना मरण के समान है, इसमें सन्देह नहीं है, शुक्र ही प्राणी का जीवन है, इसलिये काम वश होकर शुक्र का त्याग न करे!

शुक्र—[शुच् (शुचौ) + रक्] मज्जा से उत्पन्न हुये धातु का नाम शुक्र यानी वीर्य है, पुंस्त्व, पौरुष,

तेज, इन्द्रिय बल ये सब इसीके नाम हैं। इससे रक्त उत्पन्न होता है, रक्त से मांस और मांस से मेद उत्पन्न होता है, मेद से हड्डी, हड्डी से मज्जा और मज्जा से शुक्र उत्पन्न होता है। श्वेत और स्निग्ध होता है, बल और पुष्टि का देने वाला है। गर्भ का बीज है, शरीर का सार है, जीवका उत्तम आश्रय है, जीव सर्वत्र देह में वास करता है और वीर्य में विशेष रूप से रहता है। वीर्य, रक्त और मल के क्षय होने से जीव का नाश हो जाता है। जैसे दूध में घी और ईख में रस गुप्त रूप से रहता है, इसी प्रकार संपूर्ण देह में शुक्र स्थित है। शुक्र काम से प्रवृत्त होता है। शुक्र के स्थित रहने से प्राण, आयु, मन और शक्ति स्थित है, शक्ति के स्थित होने से योग और जीवन सफल है। इन्द्रियों का संयम करके और ब्रह्म में मन स्थापित करके नियत समय पर जागजाय। रात का जागना रूक्ष रूप है और कफ का बढ़ाने वाला है। यथा काल निद्रा का सेवन करने से धातुओं की साम्यता, अनालस्य, पुष्टि, वर्ण, बल, उत्साह बढ़ता है और अग्नि की दीप्ति होती है, इसलिये नियत समय पर सोना चाहिये और नियत समय जागना चाहिये।

हे भावुक! उपरोक्त स्तुति प्रातः और सोते समय करने से दिन भर तेरा मन प्रसन्न रहा करेगा और शीघ्र ही तुझे परमात्मा का दर्शन होने से परम शांति प्राप्त होगी! परमात्मा महान् सामर्थ्य वाला है, जीव अल्प शक्ति वाला और ईश्वराधीन है। जब जीव परमेश्वर के शरण जाता है, तो परमात्मा उसके पाप क्षय करता है और अपना सामर्थ्य देता है। परमात्मा के दिये हुये सामर्थ्य से जीव पुरुषार्थ करने में समर्थ होता है। अपने में जो कुछ सामर्थ्य हो, ईश्वर का दिया हुआ समझ कर पुरुषार्थ करना चाहिये अपनी करनी का किंचित भी अभिमान करना युक्त नहीं है जो कुछ कर रहा है परमात्मा ही कर रहा है, ऐसा समझकर अपना अभिमान त्यागना चाहिये। जहां पर अपनी शक्ति काम न दे वहां ईश्वर से सच्चे मनसे प्रार्थना करनी चाहिये। प्रार्थना करने से ईश्वर प्रसन्न होता है। जगदीश्वर की कृपा बिना संसार समुद्र से कोई पार नहीं होसक्ता। शिवके सिवाय कोई कुछ करने को समर्थ नहीं है, शिवके सिवाय दूसरा कोई देने वाला नहीं है, विष्णु के सिवाय कोई त्राता—रक्षक नहीं है, अन्तर्यामी भगवान् के सिवाय कोई प्रयोजन को जान नहीं सक्ता और सिद्ध भी नहीं कर सक्ता। जिसकी शिव सहायता करते हैं, उसकी सब सहाय करते हैं, जिस पर रामकी कृपा होती है, उस पर सब कृपा करते हैं, जिस पर विश्वनाथ का अनुग्रह होता है, उसका सर्वदा मंगल होता है। स्वप्न में भी अमंगल नहीं होता, इसलिये सबकी आशा भरोसा छोड़कर एक परमात्मा की ही शरण लेनी चाहिये।

हे भावुक! मनुष्य शरीर जनार्दन भगवान् की भक्ति करने को ही प्राप्त हुआ है। इसी शरीर में भगवान् का दर्शन होता है, अन्य शरीर में परमात्मा का साक्षात्कार होना कठिन है, प्रातः सायं को संध्या और हवन तू करता है, यह तेरा काम बहुत प्रशंसनीय है, दोपहर की संध्या न सही, उस समय अपना काम ही संध्या और भगवान् का पूजन समझकर किया कर, जो काम तुझे प्राप्त हुआ है, ईश्वर की तरफ से प्राप्त हुआ है, ईश्वर का ही है, ऐसा समझकर करने से वह कार्य भी तेरा पूजन

स्वरूप ही होजायगा और परमेश्वर के अनुग्रह से तेरे ऊपर के हाकिम और तेरे नीचे काम करने वाले सभी तुझसे प्रसन्न रहा करेंगे, तुझे लोक में महान कीर्ति प्राप्त होगी और तेरा अंतिम कल्याण भी हो जायगा।

जो लोग ईश्वर में आस्था और विश्वास रखते हैं, उनके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है, चारों पुरुषार्थ उनके सिद्ध हुये से ही समझना चाहिये क्योंकि जब तक जीव ईश्वर से विमुख रहता है और अपने कर्तव्य का अभिमान किया करता है, तब तक कष्ट पाता है और जहां जीव भगवत् के सन्मुख हुआ, फिर सुखी होने में देर नहीं लगती। गीता में भगवान् का वचन है कि हे अर्जुन! जो भक्त मेरा ध्यान किया करते हैं, उनको मैं भी सर्वदा याद किया करता हूं, एक क्षण भी उनको नहीं भूलता। भगवान् अपने भक्त का किंचित् भी दुःख देख नहीं सक्ते, तुरन्त ही निवारण करते हैं, जिस रूपसे भक्त भगवान् का स्मरण करता है, उसी रूपसे भगवान् दर्शन देते हैं। भगवान् निर्गुण, निराकार, अव्यय हैं, फिर भी अपने भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये निर्गुण होकर भी सगुण रूप धारण कर लेते हैं, निराकार होकर भी साकार होजाते हैं क्योंकि सर्व शक्तिमान हैं।

हे भावुक! एक बात और भी याद रख, जैसे मैं ऊपर बता आया हूं। शुक्र यानी वीर्य ही शांति में सार है, इसी की सब उछल कूद है इसलिये इसका दुरुपयोग भूल कर भी मत कीजियो! काम भावना करने से वीर्य अस्थिर होजाता है, काम भावना न करने से स्थिर रहता है और ओज रूप में परिणत होजाता है। ओज से ही मनुष्य का जीवन है जब तक शरीर में ओज है, मृत्यु नहीं हो सकती। इसलिये स्त्री का कभी ध्यान मत किया कर। मात्र ऋतुकाल में स्त्री से समागम किया कर और अन्य काल में दूर रहा कर और स्त्री को भी वीर्य रक्षा के गुण और वीर्य हानि के दोष समझाया कर! जैसे तू भजन करता है, इसी प्रकार स्त्री से भी कराया कर! ऐसा करने से जब तक जिओगे, तुम स्त्री पुरुष दोनों सुखी रहोगे। संतान भी निरोगी और आयुष्मान् होगी और अन्त में परम सुखी हो जाओगे! अच्छा! तेरा मंगल हो!

बाबू ने शिर झुका कर संत की आज्ञा शिर पर धारण कर ली और उसी के अनुसार वर्तने लगा। आजकल उसकी उमर साठ वर्ष की है, ढाई सौ रुपये पेंशन मिलती है, भगवत् भजन और साधु संग किया करता है, उसका कुटुम्ब भी सब भगवत्परायण है। दुनियां भरमें कलियुग का राज्य है, उसके कुटुम्ब में तो साक्षात् सत्ययुग वर्तमान है। सच है भगवत्त की शरण में रहने वालों के शत्रु भी मित्र होजाते हैं।

कुं०—ईश्वरकी जिन ली शरण, तिनकी दूर बलाय।
कलियुग ह्वै सत्ययुग, शत्रु मित्र होजाय॥
शत्रु मित्र होजाय, भक्ति की यही बड़ाई।
लोमश दीन्हा शाप, कीर्ति कौवा ने पाई॥
भोला! भज जगदीश, एक शाश्वत परमाक्षर।
सच्चित् परमानन्द, द्वन्द्व माया पर ईश्वर॥

—सकल चराचरानुचर भोला।

ज्ञानी का स्वानुभव

एक मुमुक्षु वेद वेदांग के पारंगत श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी यथा विधि शरण में आकर इस प्रकार सविनयपूर्वक प्रश्न करने लगा ।

मुमुक्षु—श्रीमहाराज, शास्त्रों में पढ़ा है और संत महात्माओं के द्वारा श्रवण किया है कि व्यवहार करते समय भी छोटी २ समाधियां होती हैं, सो हे भगवन्, ऐसी निर्विकल्प समाधियां किन किन अवसरों में हुआ करती हैं। मेरी बुद्धि में स्थित होने के निमित्त कृपाकर वर्णन करिये ।

गुरुः—हे शिष्य, तूने अति उत्तम प्रश्न किया है; तुझको धन्य है और तेरे पुण्यों को भी धन्य है कि जिनके बलसे तेरी बुद्धि मोक्ष परायण हुई है। सावधान होकर श्रवण कर मैं युक्ति प्रतियुक्ति से समझाता हूं।

जिस स्त्री पर अत्यन्त प्रेम हो उसे पहिली मुलाकात में गाढ आलिंगन देते समय बाहर और भीतर कुछ भी भासमान नहीं होता और न नींद की ही अवस्था रहती है, यह स्थिति समाधि की कही जा सकती है। अथवा यदि बहुत दिनों से किसी बातकी बड़ी भारी इच्छा हो और मनमें यह भाव होगया हो कि यह इच्छा पूर्ण नहीं हो सकती; उस समय उस वस्तु के अकस्मात् प्राप्त होजाने पर भी प्रत्येक मनुष्य को निर्विकल्प समाधि होती है। अथवा मनमें किसी वस्तु की कल्पना तक न हो तथा आनन्द के साथ बिल्कुल निडर होकर मार्ग में जारहा हो ऐसे समय यदि अकस्मात् कालके समान बाघ आदि भयंकर प्राणी दिखाई पड़े तो चित्तकी जो स्थिति उत्पन्न होती है वह समाधि ही है। अथवा यदि यह सुनाई पड़े कि हमारा अत्यन्त प्रेमभाजन और सारी गृहस्थी चलाने वाला हट्टा कट्टा लड़का अचानक मर गया तो भी मन निर्विकल्प समाधि में पहुंच जाता है। दरिद्री को धन की प्राप्ति में, वियोगिनी स्त्री को फिर भर्ता की प्राप्ति में, दूर हुए बालक को माता की प्राप्ति में, अवर्षा से चिन्तित किसान को जलकी वर्षा देखने में, जन्मांध को आंख पाने में, डूबते को नौका पाने में, भयभीत को बचाव का स्थान पाने में, बहुत दिनों के भूखे को छत्तीस व्यंजन के पाने में, बहुत प्यासे को पानी मिलने में, कृपण को व्यापार द्वारा बड़ा धन पाने में, योगी को इष्टदेव की प्राप्ति में, उपासक को भजन कर भक्ति पाने में अन्तर्बाह्य कुछ भी भान नहीं रहता और निद्रा भी नहीं होती। अतएव ये अवस्थायें भी क्षणिक समाधियां हैं। ऐसी समाधिके और भी अनेक अवसर बार बार आया करते हैं। ये समाधियां जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति के संधिकाल में होती हैं।

जब बहुत दूर की वस्तु को सूक्ष्म दृष्टि करके देखना पड़ता है तब मन दूरी पर चला जाता है। शरीर में रहते समय मन देहाकार रहता है, पदार्थ पर जाता है तब पदार्थाकार बन जाता है। परन्तु दोनों की मध्य अवस्था में वह निर्विकल्प रहता है। बस इसी अवस्था को सदैव ध्यान में रखने से सब कार्य सिद्ध होजाता है। अधिक कहने की कोई आवश्यकता नहीं है, व्यवहार के किसी भी भाग में मन अखंड एकाकार नहीं रहता, अनेक भिन्न भिन्न खंडित ज्ञानों का समूह बन कर व्यवहार होता है इसलिये सुगत कणाद आदि मतवादी कहते हैं कि आत्मा और बुद्धि प्रतिक्षण भिन्न भिन्न होती है; इस क्षणिक अथवा

खंड ज्ञानके बीचमें अर्थात् चित्तमें से एक पदार्थ हटकर दूसरे पदार्थ के आने तक निर्विकल्प अवस्था का अनुभव होता है। हे सौम्य, जो विचारे तो उसके लिये प्रतिक्षण समाधि है नहीं तो खरगोश के सींग की तरह वह कहीं भी नहीं है। यह अकथ कहानी है कही नहीं जा सकती है, अधिक क्या कहूं?

शिष्यः—हे भगवन्, जब व्यवहार में सब लोगों को समाधि प्राप्त हुआ करती है तब यह संसार अभी तक कैसे चल रहा है? इसका लोप क्यों नहीं हुआ? सुषुप्ति अवस्था में अनुभव में आने वाले निर्विकल्प ज्ञानसे जड़ अव्यक्त का भान होता है अतएव उससे मोक्ष नहीं मिलता। परन्तु निर्विकल्प का ज्ञान क्या शुद्ध चैतन्य का अनुभव नहीं है? तो फिर उसके होने पर भी यह संसार समाप्त क्यों नहीं होता? निर्विकल्प समाधि मोक्ष का मूल और सब अज्ञान को नष्ट करने वाला शुद्ध ज्ञान है। फिर यह क्या? हे दयासागर मेरे इस संदेह को दूर कीजिये।

गुरुः—मैं तुझे समस्त रहस्य समझाता हूं सचेत हो, ध्यानपूर्वक श्रवण कर। यह संसार अनादिकाल से अज्ञान में प्रवृत्त है। सुख दुःखों के अनुभव से उसका प्रवाह लगातार जारी है। सब जीव स्वप्न की तरह सदैव उसका अनुभव कर रहे हैं उसका नाश ज्ञानसे होता है; परन्तु अज्ञान के नाश करने वाले इस ज्ञानको सविकल्प होना चाहिये, निर्विकल्प ज्ञानसे अज्ञान दूर नहीं होता। निर्विकल्प ज्ञान स्वयं किसीका भी विरोधी नहीं है, सविकल्प ज्ञानके आश्रय से नाना आकारों के भासमान होने के लिये वह अधिष्ठान है। निर्विकल्प ज्ञानका अर्थ केवल ज्ञान है। विकल्प उत्पन्न होने पर वह सविकल्प ज्ञान होजाता है इस दृष्टि से अज्ञान भी सविकल्प ज्ञान ही है। कार्य, कारण रूपों से वह अनेक प्रकार का है। आत्म स्वरूप के विस्मरण का कारण अज्ञान कहाता है, चिदात्मा परिपूर्ण भरा हुआ है, उसे किसी मर्यादा का बंधन नहीं है। मर्यादा करने वाले देश काल आदि की भी सिद्धि उसीसे होती है। ऐसे चैतन्य का जो अपूर्ण भान होता है अर्थात् जब ऐसा मालूम होता है कि "मैं यह हूं, अब यहां हूं" वह कारण अज्ञानका स्वरूप है इसीको योग सूत्रमें 'भव प्रत्ययो विदेह प्रकृतिलयानाम्' ॥१।१९॥ कहा है। "भवन्तिः जायन्ते जन्तवोऽस्यामिति भवोऽविद्या" इस वाचस्पति मिश्र के लेखानुसार भव नाम अज्ञान का है। सूत्रार्थ यह है कि विदेह-प्रकृतिलयों को जो वृत्ति निरोध प्राप्त होता है वह भव प्रत्यय अर्थात् अज्ञानजन्य है। फिर देह के स्वत्व से उसका भान होना कारण अज्ञान की शाखा है। ब्राह्मणोहं आदि यह कार्य अज्ञान है। इस अज्ञान के निवारण हुए बिना संसार लय नहीं होता। जब तक सर्वत्र भरे हुए परिपूर्ण आत्मा के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान नहीं होता तब तक यह अज्ञान नहीं हटता।

आत्म स्वरूप का ज्ञान दो प्रकार का होता है, परोक्ष और प्रत्यक्ष। परोक्षज्ञान सद्गुरु और शास्त्रों से होता है, परन्तु यह ज्ञान मोक्षरूप पुरुषार्थ की प्राप्ति करा देने में साक्षात् कारण नहीं होता। तुझे परोक्षज्ञान हुआ है। यह स्पष्ट है कि शास्त्रों से और श्रद्धा से प्राप्त किया हुआ परोक्षज्ञान फलदायक नहीं होता। प्रत्यक्ष अथवा साक्षात् ज्ञान समाधि के परिपाक होने पर उत्पन्न होता है। यह अज्ञान और अज्ञानजन्य संसार का नाश करने में समर्थ है। यह महाशुभ फल प्राप्त कराने में भी समर्थ है, यह फल ज्ञानपूर्वक समाधि से मिलता है। यदि अज्ञ पुरुषों को समाधि होजावे तो भी

कुछ लाभ नहीं। जैसे रत्न की पहिचान न करने वाला मनुष्य खजाने में प्रत्यक्ष रत्नको देखता रहता है परन्तु यह यह नहीं जानता कि मैं रत्न देख रहा हूं। जिसे रत्न का ज्ञान रहता है उसे देखते ही समझ जाता है। मनुष्य बड़ा चतुर हो, रत्न पारखी हो और रत्न सामने रखा हो परन्तु उसकी ओर ध्यान न होने पर उसकी पहिचान नहीं कर सकता।

हे सौम्य, इसी प्रकार यदि अज्ञान के कारण विज्ञानजन्य महाफल मूर्खों को न मिले तो क्या किया जा सकता है? हे प्रियदर्शन, बहुत से पंडित इस विषय में बहुत प्रकार से मनन करते हैं परन्तु इस विषय में सच्ची आस्था न रहने के कारण उन्हें भी यह ज्ञान नहीं होता, वे भी कोरे ही रह जाते हैं। इसमें श्रुति प्रमाण है "एतस्मिन्नुदरमंतरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति तत्त्वमेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य" तैत्तिरीय ॥२। ७॥ अर्थ—उस ब्रह्म विषे थोड़ा भी भेद रखता है तब उसको भय अवश्य होता है। अद्वैत के न मानने वाले विद्वान् को भी वह ब्रह्म भयका हेतु 'तू' होता है। यानी उपास्य उपासक भावमें भी भय हो होता है, क्योंकि एकमें उपास्य उपासक भाव बनता ही नहीं, द्वैत में ही उपास्य उपासक भाव बनता है। जैसे कोई मनुष्य आकाश को प्रत्यक्ष देखता है परन्तु वह इतना नहीं जानता कि मैंने अमुक तारा देखा है। या तो वह उसका चिन्ह नहीं जानता अथवा जानकर भी उसे नहीं जानता। शुक्र तारे की ही बात ले लो, जो कोई चाहता है कि यह मुझे दिखाई पड़े वह यह जान लेता है कि वह किस दिशा में रहता है, कितना बड़ा होता है आदि और फिर उसके पीछे लग कर उसे शीघ्र पहिचान भी लेता है। सारांश यह है कि अज्ञान होने और उत्सुकता न होने के कारण, बारंबार निर्विकल्प समाधि प्राप्त होने पर भी, मूर्ख लोग आत्म स्वरूप को जान नहीं सकते। पास के खजाने को भूल कर दुर्भाग्यवश भीख मांगने वाले पुरुष की तरह भटकते भटकते वे हास्यास्पद हो जाते हैं। फलतः व्यवहार के समय में अनुभव में आने वाली क्षणिक समाधि की सब अवस्थायें संसार के छुड़ाने में निरुपयोगी हो जाती हैं। इसी कारण से निर्विकल्प स्थिति रहने पर भी बालकों और मूढ़ों के अज्ञान की निवृति नहीं होती।

हे वत्स, आत्म स्वरूप को जानने के लिये ज्ञान आवश्यक है। ज्ञान सविकल्प होना चाहिये संसार के बीज रूपी अज्ञान को वही दूर कर सकता है। जब अनेक जन्मों के पुण्य उदय होते हैं तब ससार से मुक्त होने की इच्छा होती है; नहीं तो करोड़ों कल्प योंही बीत जाते हैं। पहिले प्राणियों में जन्म मिलना अत्यंत कठिन है, फिर मनुष्य जन्म का मिलना बड़ा ही दुर्लभ है। इस संसार में स्थावरों के शतांश भी चेतन देख नहीं पड़ते। मनुष्यों का परिमाण समस्त प्राणियों से तो एक शतांश से भी कम है और फिर इनमें भी पशु तुल्य मनुष्य करोड़ों हैं। वे न तो भला बुरा और न पुण्य पाप को ही जानते हैं। शेष लोग विषय सुख के पीछे दौड़ रहे हैं। पांडित्य के भ्रम से अभिमान हो जाने के कारण उन्हें बार २ जन्म लेना पड़ता है। उनमें बहुत से बुद्धिमान् भी होते हैं परन्तु उनके चित्त की मलिनता पूरी पूरी नष्ट न होने के कारण उन्हें अद्वैत आत्म पद "कुछ भी नहीं है" ऐसा मालूम होता है और वे नास्तिक हो जाते हैं। यह ठीक भी है, अद्वैत परम पद ईश्वर की माया से आच्छादित है, फिर उसकी माया में अन्धे बने हुए अभागी लोग उसे

कैसे पा सकते हैं ? यह परम पद माया मुग्ध पुरुषों की बुद्धि में नहीं आता कुछ आदमी ऐसे विकृत बुद्धि होते हैं कि उस पद को समझ कर भी एक निराले ही मत का अभिमान कर कुतर्क करते रहते हैं। ओह ! आश्चर्य !! आश्चर्य !!! यह माया कितनी प्रबल है कि लोग उस पद को देख कर भी कुतर्क करके हाथ में आये हुए चिंतामणि को फेंक देते हैं और अनित्य क्षणिक सुख का अवलंब बन लेकर मुग्ध हो जाते हैं !

जो भाग्य शाली पुरुष हैं, जो इस माया जाल से छूट कर सद्विचार और श्रद्धा का आश्रय लेते हैं। उन्हें अद्वैत पद पर निष्ठा है उन्हें परम पावन पद मिलता है।

हे वत्स, तू इसका क्रम एकाग्रता से समझ ले। अनन्त जन्मों के पुण्य से देवता पर भक्ति होती है जिससे उसकी आराधना दीर्घ काल तक हो सकती है। फिर उसकी कृपा से विषयों के संबंध में वैराग्य उत्पन्न होता है। फिर उस पद को प्राप्त करने के लिये उत्कंठा और तत्परता होती है। तत्पश्चात् विषय वैराग्य और परम पद प्राप्ति की सच्ची उत्कंठा को शोभा देने योग्य श्रद्धा उत्पन्न होने पर प्रसंग वश सद्गुरु से भेंट होती है। उनके उपदेश से अद्वैत परम पद का ज्ञान प्राप्त होता है। यह ज्ञान परोक्ष ही रहता है, यानी इस समय केवल यह भरोसा उत्पन्न हो जाता है कि अद्वैत पद 'है अवश्य' फिर साधक को उस अद्वैत आत्म स्वरूप का सम्यक् विचार करना पड़ता है। अनन्तर सुविचार की सहायता से क्रम क्रम से उसकी उन्नति मालूम होने लगती है और सब सन्देह नष्ट होते जाते हैं। फिर निश्चित किये हुए आत्म स्वरूप अद्वैत तत्त्व का बड़े दृढ़ निश्चय से निदिध्यास करना पड़ता है। दीर्घ प्रयत्न और नियंत्रण से चित्त एकाग्र और तदाकार रखना पड़ता है। फिर "वह तत्त्व मैं ही हूं" के प्रकाश पूर्ण सविकल्प ज्ञान से जब निदिध्यासपूर्ण हो जाता है तब यह संसार का कारण अज्ञान अवश्य नष्ट हो जाता है। जब विकल्प रहित ध्यान साध्य होकर समाधि तक परिपक्व रहता है तब अद्वैत का साक्षात्कार होता है। इसके आगे केवल स्मृति होते ही उस पद का प्रत्यक्ष दर्शन होने लगता है "वह अद्वैत परमात्मा मैं ही हूं" ऐसा सविकल्प ज्ञान जब प्रत्यक्ष अनुभव में आजाता है तब सारा अज्ञान तत्क्षण नष्ट हो जाता है। विकल्प का न होना ही ध्यान की परिपक्व दशा है।

विकल्प कई प्रकार के होते हैं निर्विल्प स्थिति एकाकार रहती है। अन्य भावनाओं का उदय न होने पर विकल्प का अन्त हो जाता है। विकल्प का अन्त हो जाने पर निर्विकल्प अवस्था का हो जाना स्वयं सिद्ध है। विकल्प के त्याग का ही अर्थ निर्विकल्प शुद्ध आत्म स्वरूप संपत्ति है। इसी विषय में माया की प्रबलता के कारण बड़े बड़े विद्वान भी मूढ़ हो जाते हैं परन्तु उत्तम विद्वानों को इस पद का आकलन यानी निश्चय क्षण भर में हो जाता है। हे प्रिय दर्शन अधिकारी पुरुष उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ तीन प्रकार के होते हैं। उत्तम पुरुष उपदेश के समय ही इस आत्म स्वरूप को पहिचान जाते हैं। उनका विचार और ध्यान दोनों सुनते सुनते ही होते हैं, ऐसे अधिकारियों को आत्म पद की प्राप्ति में कष्ट नहीं होता। मैं तुझे अपना पूर्व इतिहास सुनाता हूँ:—

गर्मी के दिन थे भूमंडल में चांदनी फैली हुई थी। गंगोत्री और बूढ़े केदार के बीचमें भिलंगना

गंगा के किनारे में एक रमणीक पर्वत की शिला पर एकांत में बैठा था, गंगा की सुन्दर तरंगों को देख रहा था देखते २ मेरा मन एकाग्र होगया। उसी समय मुझे हृदयाकाश में अद्वैत संबंधी सिद्ध मंत्रका मधुर भापण सुनाई पड़ा। मुझे वह पद तत्काल समझ में आगया। हे सोम्य! मैंने उतने ही समय में विचार किया, ध्यान भी किया और अंतमें आत्म स्वरूप को जान भी लिया। इस तरह से अर्ध मुहूर्त में उस पदके ध्यान में आजाने पर फिर आगे एक मुहूर्त तक मुझे निर्विकल्प समाधि होगई, मैं आनन्द के समुद्र में डूबने लगा। कुछ देर में सावधान होकर मैं मन ही मन कहने लगा कि "अहा! परमानन्द से भरा हुआ यह अद्भुत और अपूर्व स्थान मुझे आज मिला है, मैं फिर उसी में प्रवेश करूंगा। इन्द्रादिकों का स्वर्गीय सुख इसके एक अंश के बरावर भी नहीं है, ब्रह्म लोक तक का सुख इसके सामने तुच्छ है। मेरे इतने दिन व्यर्थ बीत गये। अपने कोप को न जान कर मूर्ख जैसे भीख मांगते फिरते हैं उसी तरह लोग परमानन्द को न जान कर भ्रांति से जी तोड़ परिश्रम करते हैं और कौड़ी मूल्य के वाहरी विपय सुख का संपादन करते हैं। यह बड़े आश्चर्य की वात है! मैंने वाहरी क्षुद्र सुखों के लिये वहुत श्रम किया अव मैं इस असीम आनन्द को अनुभव करने के लिये विल्कुल तत्पर रहा करूंगा। वाहरी व्यवहार वहुत हो चुके अव पिष्ट पेपण करने से कोई लाभ नहीं। वार-म्वार वही अन्न, वही शरीर, वे ही पुष्प मालाएं, वे ही विछौने, इन सब में नयापन क्या है? फिर इनमें स्वाद क्या है? अलंकारों और सुन्दरी स्त्रियों की भी यही वात है, पहिले भी इन्हीं का सेवन किया, अब भी इनका सेवन करता हूं। इसका क्या अर्थ है? सारी दुनियां इसी मार्ग से चल रही है, मुझे भी इन पर घृणा मालूम नहीं हुई। वाह रे मोह! वाह री विचित्र वाजीगरी!! वाह रे अद्भुत वाजी-गर!!! वाह रे बुद्धू मन!!!"

हे वत्स, इस प्रकार से इस वाह्य संसार का तिरस्कार कर मैं फिर अंतर मुख होने की तैयारी कर रहा था उसी समय मुझे एक और शुभ विचार सूझ पड़ा! मुझे ऐसा मालूम होने लगा कि "मेरे चित्त को यह कैसा मोह होगया है? आनन्द से परिपूर्ण भरा हुआ आत्मा तो मैं ही हूँ, फिर कुछ करने का विचार मन में मैं क्यों कर रहा हूँ? मुझे अब क्या प्राप्त करना है? यदि जो आज अप्राप्त है उसकी प्राप्ति कल हो भी गई तो क्या होगा? वह स्थिर कैसे रह सकेगा? मेरे अनन्त चैतन्य स्वरूप में क्रिया ही कैसे होगी? देह, इन्द्रिय, मन तो स्वप्न सरीखे मिथ्या हैं। उसी तरह मैं जब अखंड, एक रस, चिदात्मा हूँ तो वे सभी मेरे हैं, फिर एक अंतःकरण को निरुद्ध करने से क्या होगा? और निरुद्ध न होने वाला मन क्या किसी दूसरे का है? वह तो मेरा ही है। संसार के निरुद्ध अनिरुद्ध सभी मन मुझमें भासित होते हैं, फिर एक ही मन के निरोध करने का मुझे यह क्या मोह हो गया है? मेरा स्वरूप ऐसा है कि सव मनों का निरोध करने पर भी मेरा निरोध ही नहीं हो सकता। मैं महाकाश से भी विस्तृत हूँ, मेरा निरोध कहां से हो सकता है? इसी तरह मेरे पूर्ण आनन्द स्वरूप में समाधि कैसे होगी! चिदा-नन्द से भरे हुए और आकाश से भी पूर्ण मेरे आत्मा का शुभ अथवा अशुभ करने वाली कौन सी क्रिया है! वह हो कैसे सकती है? मेरे ही सामर्थ्य से देहात्मत्व के करोड़ों भास होते हैं, यदि उससे

कुछ अधिक आभासात्मक क्रियायें भासमान होने लगीं तो क्या है और न हुईं तो क्या है? मेरा न कर्तव्य है और न अकर्तव्य है। फिर निरोध से क्या लाभ? सत्य और पूर्ण स्वभाव वाला मैं समाधि अथवा उत्थान अवस्था में सदैव आनंद पूर्वक रहता ही हूँ; फिर शरीर, इन्द्रियां, मन, बुद्धि सब पूर्व संस्कार से स्वभावतः जिस कर्म में, विषय में, अथवा विचार में प्रवृत्त होते हैं उसमें उन्हें प्रवृत्त होने दिया जावे, वे जिनसे स्वभावतः निवृत्त होते हों उस कर्म, विषय या विचार से उन्हें निवृत्त होने दिया जावे। उनकी प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति से मेरे निस्संग चिदानन्द पूर्ण और सर्वगामी आत्मा का क्या लाभ अथवा हानि हो सकती है?

हे प्रिय दर्शन, इस तरह से स्वस्वरूप का अनुसंधान कर चुकने पर मुझे सदैव स्वस्थता और परमानन्द मिल रहा है। मेरे प्रकाश का अन्त नहीं है, मैं अत्यन्त परिपूर्ण और सर्व संग रहित हूं। मैंने तुझे यह उत्तम अधिकारियों की स्थिति बतलाई है। मध्यम अधिकारियों को क्रमशः श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना पड़ता है, तब उन्हें ज्ञान उत्पन्न होता है। कनिष्ठ अधिकारियों को, साधन की पूर्णता होने पर अनेक जन्मों में ज्ञान प्राप्त होता है। साधारणतः ज्ञान युक्त समाधि दुर्लभ होती है अतएव ज्ञान रहित ऐसी सैकड़ों समाधियों से कुछ नहीं होता। उनका कुछ भी उपयोग नहीं है, व्यवहार में भी देखा जाता है कि क्षण क्षण में मनकी निर्विकल्प अवस्था में अनेक पदार्थ होते हैं, परन्तु उनमें मनकी कल्पना न होने के कारण उनके संबंध का अज्ञान ज्यों का त्यों रह जाता है। इसी प्रकार ये छोटी बड़ी समाधियां आत्म स्वरूप की पहिचान न होने के कारण निष्फल होजाती हैं। विकल्प रहित केवल निर्विकल्प ज्ञान ही आत्मा का स्वरूप है। सब मर्यादित भानों का आश्रय होने के कारण सदैव भासमान होने पर भी वह विकल्पों के आच्छादन होने के कारण मालूम नहीं होता। विकल्पों का निवारण होने पर सदैव भासमान रहने वाला वही आत्म-स्वरूप फिर भासित होने लगता है। शुद्ध निराकार ज्ञान और उसके आधार पर भासित होने वाले साकार ज्ञेयके भेद को न जानने के कारण जो आत्म स्वरूप अज्ञात रहता है वह आगे चलकर ज्ञात होजाता है और कुछ दूसरा पदार्थ नहीं मिल जाता। सारांश में आत्मज्ञान होने का व्यवस्थित क्रम तूने पूरा पूरा सुन लिया है। जब तू विचार के द्वारा इस क्रम का आकलन (विचार) करेगा। जब आत्म तत्वका ज्ञान तुझे प्रत्यक्ष हो जायगा तब तू कृतार्थ हो जायगा।"

मुमुक्षु कुछ काल गुरुके समीप रह कर मनन और निदिध्यासन की सहायता से परमात्म स्वरूप को जान गया। उसके सब संशय अन्तमें नष्ट होगये और वह जीवन मुक्त अवस्था में रहने लगा।

—स्वामी आत्मानन्द।

सदाचार।

(गतांक से आगे)

ब्रह्माध्ययन संयुक्तो,
ब्रह्मचर्य रतः सदा।
सर्वं ब्रह्मेति यो वेद,
ब्रह्मचारी स उच्यते ॥ ५० ॥

अर्थः—ब्रह्मका अध्ययन करता हुआ सदा ब्रह्मचर्य ही से रहे, सब कुछ ब्रह्म है ऐसा जो जानता है वह सच्चा ब्रह्मचारी है।

विवेचन ।

बन्धन की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति के लिये ज्ञान प्राप्त करने का वर्णन प्रथम कर चुके हैं उसीके निमित्त ब्रह्मचर्य धारण करने की आवश्यकता है । चार आश्रम में से ब्रह्मचर्य प्रथम आश्रम है, ऐसे ब्रह्मचर्य आश्रम के आधार रूप ब्रह्मचर्य है । गृहस्थाश्रम आदि तीन आश्रमों का द्वार रूप है । ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थाश्रम को सुखपूर्वक करके क्रम से वानप्रस्थ और संन्यस्त धारण किया जाता है । यहां जिस ब्रह्मचर्य का वर्णन किया है उसमें क्रम से ब्रह्म बोधको प्राप्त करने का नहीं है, सीधे ही ब्रह्मको प्राप्त कराने वाले लक्षणों को ब्रह्मचर्य कहा है । परब्रह्म को प्राप्त करनेके लिये योग्यता सहित जो आचरण उसका नाम ब्रह्मचर्य है । परब्रह्म अखंड एक रस है, अपनी महिमा में टिका हुआ अपने स्थान से कभी भी भ्रष्ट नहीं होता, स्वस्वरूप में ही रहता है उसीको प्राप्त करने के लिये प्राप्त करने वाले में भी कई अंश में ऐसा लक्षण होना ब्रह्मचर्य कहा जाता है । स्वस्वरूप में रहने वाला होने से ब्रह्मको अच्युत कहते हैं और अपने स्वरूप से गिर जाता है उसे च्युत कहते हैं । अपने आत्म भावमें शुद्ध भावमें जो रहता है उसीका नाम ब्रह्मचर्य है । ब्रह्म प्राप्ति के हेतु से किया हुआ वर्ताव ब्रह्मचर्य है । लौकिक आश्रम का ब्रह्मचर्य भी वास्तविक ब्रह्मचर्य का साधन रूप है जिसका आठ प्रकार के लक्षणों से युक्त शास्त्रमें वर्णन किया है ।

ब्रह्म प्राप्ति का हेतु भूत ब्रह्मचर्य अखंडित होना चाहिये । कायिक-वाचिक और मानसिक सब प्रकार के ब्रह्मचर्य को साधना चाहिये । राग, द्वेश, मोह, ममत्व, काम, क्रोध आदि विकार का शरीर में आवेश न हो, शरीर समभाव में ही रहे उसीका नाम कायिक ब्रह्मचर्य है, केवल वीर्यपतन न हो ऐसा संकुचित अर्थ न करना चाहिये ऐसे ब्रह्मचर्य से बहुत से स्थूल दोषों की निवृत्ति होती है । इन्द्रियां स्वस्थान स्वविषय में वर्तते हुए नीच, अशुद्ध, दुःखकर, रजोगुणी भावमें न गिर जाय उसका नाम वाचिक ब्रह्मचर्य है । इससे इन्द्रियां निर्मल होती हैं, इन्द्रियों के विकारों का क्षय होता है और मनको ब्रह्म प्राप्ति के योग्य बना देना मानसिक ब्रह्मचर्य है । जितने मानसिक भाव संसारिक पदार्थ और भोग के ऊपर होते हैं अथवा स्वर्गादिक के ऐश्वर्य के ऊपर होते हैं । जो मनको गिरा देने वाले हैं जिनका मन इन भावों से रहित होजाय आत्म भावमें आन्तर मुख वृत्ति करने लगे इसीका नाम मानसिक ब्रह्मचर्य है । कायिक-वाचिक ब्रह्मचर्य से मानसिक ब्रह्मचर्य की पुष्टि होती है ऐसा ब्रह्मचर्य देश काल और प्रसंग के बन्धन से रहित होना चाहिये । संसार और संसारिक सब बन्धन, मनका आत्म भावमें से हटकर अनात्म भावमें लग जाने से है इसीसे मन से ही बन्धन और मनकी शुद्धि से मोक्ष प्राप्ति का वर्णन है ।

अधिकारी के लक्षण जो शास्त्रकारों ने वर्णन किये हैं इनसे यानी आत्म अनात्म विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति और मुमुक्षुता से युक्त होकर गुरुमुख से वेदान्त का श्रवण करे और उसका मनन करते हुए अपने को अध्यात्म भावमें ही रखने का प्रयत्न करे । सुनना समझना, उपदेश लेना देना, पढ़ना पढ़ाना और रहस्य का विचार करे, इनमें ही अत्यन्त प्रेम रखकर निदिध्यासन में प्रवृत्त होता है उसे ब्रह्मचारी कहना चाहिये । ब्रह्म प्राप्ति के हेतु में जिसका रमण है वह ही ब्रह्मचर्य, यहां पर अभिप्रेत है । ऐसे

ब्रह्मचर्य से दृढ़ अपरोक्ष बोध होकर मोक्ष-परमपद की प्राप्ति में विलंब नहीं होता।

जब मन ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा को प्राप्त होजाता है तब जगत् के भेदको देखता हुआ और पूर्ण शेष प्रारब्ध के वश व्यवहार में प्रवृत्त होता हुआ भी 'सब कुछ परब्रह्म है, परब्रह्म छोड़कर और किसी में वास्तविकता नहीं है, सब उसीका विवर्त है' ऐसे जानता है। वास्तविक द्रष्टा होकर उसको आत्म दृष्टि का कभी भी लोप नहीं होता। परब्रह्म को प्राप्त होकर परब्रह्म में ही रमण करता है। वास्तविक दृढ़ता से वह ब्रह्म स्वरूप ही है।

गृहस्थो गुण मध्यस्थः,
शरीरं गृहमुच्यते।
गुणाः कुर्वंति कर्माणि,
नाहं कर्तेति बुद्धिमान् ॥५१॥

अर्थः—गृहस्थ गुणों के मध्य में रहता है, शरीर को घर कहते हैं गुण ही कर्म करते हैं मैं कर्ता नहीं हूँ ऐसा बुद्धिमान् समझता है।

विवेचन।

तीनों गुणों से युक्त पंचीकृत पंच महाभूतों से बना हुआ स्थूल शरीर है। जीवात्मा को रहने का स्थान होने से घर है; सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर और उनमें के पदार्थ घरमें कार्य करने की उपयोगी सामग्री हैं, ये दोनों भीतर के कमरे हैं वहां से बोध करने के लिये ऊपर की तरफ खिड़कियां लगी हैं जो नेत्र कर्ण नासिका आदि हैं; नीचे की तरफ मल फेंकने का स्थान और मलीन जलादि जाने के लिये मोरी है। यह मकान मांस और हड्डियों से चुना हुआ है और ऊपर सफेद काला आदि रंग किया गया है; पैर खंभे हैं, हाथ झूलता हुआ गोख है, बड़ी बड़ी हड्डियां बल्लियां लगी हैं, छत मस्तक है जिसमें छोटे छोटे घास के समान बाल हैं। इस मकान के भीतर में सब सामग्री रखी हुई है। अव्यक्त से लेकर स्थूल शरीर पर्यंत और उसके सब व्यवहार प्रकृति के हैं। प्रकृति त्रिगुणात्मक है इसीसे शरीर का टिकाव गुणों के मध्य में है, गुणों से बना हुआ शरीर गुणों के मध्य में रहता है और शरीर में रहा हुआ देहाभिमान घरमें टिका हुआ है इसीसे देहका अभिमान ही गृहस्थी है। अभिमान ने घर, द्वार, इन्द्रियां, विषय और कर्ता भोक्ता के भाव का संग्रह कर रखा है। सब संग्रह का स्थान घर है और उसमें वह टिका हुआ होने से गृहस्थी है। जिसका घर, कुटुम्ब और विस्तार हो वह गृहस्थी होता है, इसीसे देहाभिमान गृहस्थी है।

विवाह करके घरमें स्त्री को लाकर रखने वाले को और कुटुम्ब का पोषण करने वाले को गृहस्थाश्रमी कहते हैं। शास्त्रकारों ने मनुष्य जीवन को चार भागमें विभक्त किया है बाल्यावस्था में विद्याध्ययन करके योग्यता प्राप्त करना ब्रह्मचर्य आश्रम है, इसके पश्चात् विवाह करके धनोपार्जन करके शास्त्र नियमानुसार कुटुम्ब का पोषण करना गृहस्थाश्रम है। ऐसा गृहस्थाश्रम का यहां विवेचन नहीं है यहां बताया हुआ गृहस्थी इनसे विशेष भावमें टिका हुआ है। चारों आश्रमों में से किसी में रहते हुए जो देहासक्ति-देहाध्यास से युक्त है उसे यहां गृहस्थी कहा है।

देह गुणों से बना है और उसमें गुणों के न्यूनाधिक प्रमाण भेद करके पदार्थ में साध्य साधन और और साधक का भेद हुआ है। जैसे गुणों से देह बनी है इसी प्रकार देह को "मैं हूं" अथवा मेरी है

ऐसा मानने वाला उसका मालिक भी देहाध्यास व गुणों से युक्त है। जैसे गृहस्थी का सब विस्तार होता है इसी प्रकार अज्ञान से बना हुआ शरीर देहाध्यास और उनका सब विस्तार होने से देह के विषे देहाध्यास ही गृहस्थी है। इस प्रकार गृहस्थी बनकर उच्च नीच योनिमें जन्म मरण और सुख दुःखको भोगा करता है; जब तक देहाध्यास को निवृत्त नहीं करता तब तक गृहस्थी बना रहता है। जब घर पुराना होता है अथवा किसी कारण से रहने के योग्य नहीं रहता तब उसे छोड़कर घरमें रहने वाला दूसरे घरमें रहने को जाता है। स्थूल शरीर रूप घरका भी वही हाल है किसी कारण से देहाध्यास वाला जीव जब उसे अपने रहने के योग्य नहीं समझता तब छोड़ता है। देहासक्ति होने के कारण अपनी इच्छा से छोड़ता नहीं है बलात्कार से ही छोड़ना पड़ता है। शुभाशुभ कर्म के पड़े हुए संस्कार के अनुसार दूसरे शरीर में जाकर टिकता है। स्थूल शरीर में रहकर भोग होता है इसीसे उसे भोगायतन–भोगका स्थान कहते हैं। एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाते समय भोग भोगने का साधन इन्द्रियादिक को सूक्ष्म भावसे अपने साथ ले जाता है इन कारणों से वह गृहस्थी है। अनेक पदार्थों के अनेक प्रकार के भावको ग्रहण कर रखता है इसीसे गृहस्थी है अथवा अविद्या रूप ग्रह–ग्राहसे पकड़ा गया है इसीसे गृहस्थी है। जब तक गृहस्थी है तब तक शान्ति-सुख और स्वस्वरूप की प्राप्ति रूप जो परमानन्द है वह नहीं होता।

व्यष्टि रूप गृहस्थी को इस प्रकार दोष रूप समझकर, अज्ञान में फँसा हुआ जान कर, विवेकी पुरुष आत्मा का विवेक करके अपने स्वरूप को प्राप्त होता है, शरीर में टिका है तो भी अपने को शरीर वाला नहीं मानता और शरीर से होने वाली क्रियाय भी मेरे से होती हैं, मैं कर्ता हूँ ऐसा नहीं मानता। बुद्धिमान् मनुष्य तो आत्म ज्ञान प्राप्त करके गुण गुण में ही वर्तते हैं वे गुण ही कर्ता, करण और कार्य रूप से होते हैं, मैं कर्ता नहीं हूँ, मैं तो सबका प्रकाशक असंग अपरिछिन्न होने से शरीर और शरीर से होने वाले कार्य से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे सूर्य सबको स्वाभाविक प्रकाशता है इसी प्रकार मैं स्वयम् ज्योति अविद्या के कार्यों को स्वाभाविक प्रकाशता हूँ, मेरी निगाह में न अविद्या है न अविद्या का कोई कार्य है। मैं ही मैं हूँ इस प्रकार दृढ़ निश्चय वाला ही गृहस्थी नहीं है, ऐसा निश्चय जिसको नहीं है वे रंगीन वस्त्रधारी अथवा त्यागी कहाते हों तो भी सब गृहस्थी ही हैं। जब तक अज्ञान है तब तक दुःख का हेतु गृहस्थी छुटती नहीं है। परब्रह्म से अपने आत्मा को अभेद समझने वाले को अज्ञान और उसमें दिखने वाले अनेक भेद सब मेरे ही विस्तार हैं ऐसा दीखता है, सब ही शरीर उसे अपना दीखता है वह परब्रह्म स्वरूप ही है। उसकी समष्टि रूप गृहस्थी है, महा गृहस्थी है सब प्रकार के दोषों से रहित वह पूर्ण गृहस्थी है। ऐसा गृहस्थी बनना ही गृहस्थाश्रम आदि सब आश्रमों का सार्थक करना है। परब्रह्म होते हुए गृहस्थी है और गृहस्थी होते हुए परब्रह्म स्वरूप है।

किमुग्रैश्च तपोभिश्च,
यस्य ज्ञान मयं तपः।
हर्षामर्ष विनिर्मुक्तो,
वानप्रस्थः स उच्यते ॥५२॥

अर्थः—जिसका तप ज्ञानमय है उसको उग्र तपस्या करने से क्या लाभ? जो हर्ष शोक से मुक्त है उसीको वानप्रस्थ कहते है।

विवेचन।

गृहस्थाश्रम छोड़ कर संन्यासाश्रम में जाने के मध्य में, संन्यास की योग्यता प्राप्त करने के लिये वानप्रस्थ आश्रम होता है। वानप्रस्थाश्रम में अधिकता से तप ही होता है। अन्तःकरण मलिन होने से संन्यास का अधिकारी नहीं होता इसीसे अन्तःकरण को शुद्ध करने वाला मुख्य आश्रम वानप्रस्थ ही है। उसमें अनेक प्रकार की कठिन तपश्चर्या की जाती है। स्त्री सहित अथवा स्त्री रहित गृहस्थाश्रम को समाप्त करके वन में जाकर रहना पड़ता है, वहां पंचाग्नि आदि उपासना करने में शारीरिक, वाचिक और मानसिक तपश्चर्या करनी पड़ती है; ऐसी तपश्चर्याएं करने में शरीर, इन्द्रियां और मन को कष्ट होता है; इस प्रकार कष्ट से साध्य होने वाला वानप्रस्थाश्रम क्रम से मोक्ष मार्ग का हेतु होता है। जिसको ज्ञान रूप तप की विधि मालूम होजाती है वह उससे शुद्ध होकर सुलभता से वानप्रस्थाश्रम की सार्थकता कर लेता है। यह सच्चा वानप्रस्थ है।

जिसमें सबकी समाप्ति होती है उसे ज्ञान कहते हैं, ज्ञान तत्त्व अद्वितीय है, उस बोध में बोध स्वरूप शेष रह कर अन्य सबकी समाप्ति होती है इसीसे उसे ज्ञान यज्ञ भी कहते हैं। जब तक ज्ञान यज्ञ नहीं होता तब तक अनेक प्रकार के यज्ञ किये जाते हैं और किये हुए यज्ञ को फिर भी कर सकते हैं। ज्ञान यज्ञ फिर होने वाला यज्ञ नहीं है, एक ही समय ज्ञान यज्ञ होता है, इस यज्ञ के होने से सब यज्ञ और ज्ञान यज्ञ की भी समाप्ति होती है इसीसे ज्ञान यज्ञ ही पूर्ण यज्ञ है और सब यज्ञ लौकिक अपूर्ण यज्ञ हैं। अन्य यज्ञों से स्वर्गादिक प्राप्ति रूप फल होता है अथवा कर्तव्य रूप निष्कामता से किया हुआ यज्ञ से अन्तःकरण की शुद्धि रूप फल होता है और ज्ञान यज्ञ से तो परम पद ही होता है इसीसे ज्ञान यज्ञ ही यज्ञ अथवा पूर्ण तप है। अन्य यज्ञ-तप, ज्ञान यज्ञ को क्रम से मदद देने वाले हो सकते हैं।

तप करने से जब मैल हट जाता है तब शुद्धि होती है। जिस प्रकार कोई मलिन धातु को क्षार युक्त तपाई जाती है तब उसमें रहा हुआ मैल का नाश होता है, इसी प्रकार ज्ञान रूप तप से आत्मा में माना हुआ अनात्मा का मैल भिन्न होकर ज्ञानाग्नि से जल जाता है। अन्य यज्ञ अपनी योग्यता के अनुसार शुद्धि करने वाले होते हैं और ज्ञान यज्ञ तो संपूर्ण शुद्धि करने वाला होने से सर्व से श्रेष्ठ है संपूर्ण तप का निचोड़ है। ज्ञान रूप तप से ज्ञान स्वरूप ही शेष रहता है उसमें अनन्त गुणी शुद्धि करने की सामर्थ्य है और आद्य शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कराता है, इसीसे ज्ञान रूप यज्ञ में संपूर्ण की आहुति होकर यज्ञ करने वाला कृतार्थ होजाता है, हर्ष शोक को तैर जाता है। उसे हर्ष शोक अपना विषय न समझ कर छोड़ कर भाग जाते हैं।

जिसने ज्ञान यज्ञ रूप तप करके कृतार्थता प्राप्त कर ली है वह वास्तविक वानप्रस्थ है। संसारी मनुष्योंकी दृष्टिमें संसारही बस्ती है और परब्रह्म निर्जन देश होने से वनके समान है, वानप्रस्थ वनमें बसता है इसी प्रकार सच्चा वानप्रस्थ भी निर्जन देश जो परब्रह्म है उसमें जाकर बसता है। ऐसे वानप्रस्थ को कष्ट पूर्ण तपश्चर्या करने की आवश्यकता नहीं रहती, वह निर्जन देश में हमेशा क्रीड़ा करता है।

देहन्यासो हि संन्यासो,
नैव काषाय वाससा।

नाहं देहोऽहमात्मेति, निश्चयो ज्ञान लक्षणम् ॥५३॥

अर्थः—देहका अहं भाव छोड़ देना ही संन्यास है भगवे वस्त्र पहनने से संन्यास नहीं होता। मैं देह नहीं हूं, मैं आत्मा हूँ ऐसा निश्चय ही ज्ञान का वास्तविक लक्षण है।

विवेचन।

देह पंच भौतिक है वह वारम्वार अज्ञान से कर्म के अनुसार उत्पन्न होकर भोग के साथ नया कर्म को करता है इसीसे अज्ञान में घटि यंत्र के समान भ्रमण किया करता है। जो देह के वन्धनों से मुक्त होने को चाहता है वह त्याग करता है—संन्यास धारण करता है। संन्यासाश्रम चौथा आश्रम है, संन्यास में भगवा वस्त्र धारण किया जाता है। 'मैं जगत् से उदासीन हुआ हूँ, मैं परब्रह्म के मार्ग का पथिक हूँ, मैंने संसार और संसार के कर्म को काम और अविद्या सहित जला दिया है इसीसे मैं अग्नि स्वरूप वना हूँ" ऐसा चिह्न रूप भगवा वस्त्र होता है। जिसने कार्य सहित अविद्या का नाश नहीं किया वह भगवा वस्त्र धारण करके संन्यासी नहीं होता। देह का त्याग तो वारम्वार हुआ ही करता है और फिर देह को धारण करना पड़ता है इसीसे देह का त्याग भी संन्यास नहीं है; देह रहते हुए जिसने देहाध्यास—देह का अहं ममत्व का त्याग कर दिया है वह संन्यासी है।

जो आत्मा नहीं है, जो आत्मा का नहीं है उस अनात्मा का आत्म भाव से ग्रहण हुआ है, उसको अविद्या सहित त्याग करने से ज्ञान होता है इसीसे ऐसे त्याग को यहां संन्यास कहा है, त्याग—संन्यास से ही ज्ञान होता है, इसीसे संन्यास का लक्षण ज्ञान का लक्षण है। संन्यास आन्तर और वाहर के भेद से दो प्रकार का होता है। संन्यासाश्रम के अनुसार व्यवहार, वस्त्र आदि ठीक रीति से धारण किया जाय तो आन्तर संन्यास को मदद रूप होता है, मुख्य तो आंतर संन्यास ही है। आन्तर संन्यास रहित वाहर से संन्यास का चिह्न मात्र धारण करने से संन्यास का फल नहीं होता। वाहरके पदार्थोंका त्याग करते हुए आन्तरमें इन पदार्थों का ग्रहण भाव वना रहा तब संन्यास कहां हुआ ? स्थूल शरीर सहित वाहरके संपूर्ण पदार्थों का त्याग तो विना किये ही मृत्यु समयमें होजाता है, त्याग का फल नहीं होता इससे आन्तर त्याग ही मुख्य है। सबका ग्रहण जिससे होता है ऐसा आंतर में वना हुआ देहाध्यास "मैं देह हूं" अथवा "देह मेरी है" उनका त्याग ही संन्यास है, वाहर से त्याग करते हुए भीतर में ग्रहण की जड़ वनी रही तो त्याग का फल नहीं होता इसीसे देह भावका त्याग ही मुख्य संन्यास है।

जब आत्म बोध सहित "मैं देह नहीं हूँ, मैं आत्मा हूँ" ऐसा निश्चय होता है तब समझना चाहिये कि ज्ञान हुआ। ज्ञान होते हुए भी देहाध्यास-देहासक्ति की निवृत्ति नहीं हुई है तो ज्ञान निष्फल है उसको ज्ञान नहीं कह सकते; देहाध्यास की निवृत्ति सहित आत्म तत्त्व में टिकना ज्ञान है।

धाता ध्यान ध्येय और ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय आदि सब त्रिपुटिओं का वाध सहित प्रत्यागात्मा का परमात्मा से अभिन्न बोध होने का नाम ज्ञान है। देहाभिमान से ही जाग्रत का अभिमानी विश्व, स्वप्न का अभिमानी तैजस् और कारण शरीर का अभिमानी प्राज्ञ है। देहाभिमान गलित होने से तीनों

शरीर और उन शरीरों के अभिमानी का भाव भी नहीं होता। कभी भान होता है तब इस प्रकार समाधान करना चाहिये:—

स्थूल शरीरादिक का सम्बन्ध अकार से है सूक्ष्म का उकार से सम्बन्ध है और कारण से मकार का सम्बन्ध है मैं तो अमात्र स्वरूप हूं इसीसे इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार तीनों शरीर और उनके विस्तार का आन्तर से त्याग होता है, समष्टि और व्यष्टि सबका त्याग होकर अद्वय तत्त्व रह जाता है। जितने लोक हैं वे सब माया से भासित होते हैं मैं तो माया का अधिष्ठान होने से मुझमें लोकों का भी कुछ सम्बन्ध नहीं है। मेरा स्वरूप कभी भी अज्ञान को प्राप्त हुआ ही नहीं था, वह स्वयंज्योति ज्यों का त्यों सब में रहने वाला है। अज्ञान से बने हुए अज्ञानी ने ही सब उपद्रव खड़ा कर दिया था। मेरे में तो अज्ञान और अज्ञान का कार्य ही नहीं है तब ग्रहण और त्याग भी किस प्रकार बन सके? इस प्रकार स्वानुभव से प्रपंच का पूर्ण बोध होकर अखँड एक रस ब्रह्म तत्त्व की प्राप्ति होती है। अद्वैत की सम्पत्ति ही ज्ञान है।

भगवा वस्त्र और योग पट्ट (नाम) धारण करके हाथ में दंड कमंडलु लेकर घूमने वाले ज्ञान रहित वेषधारी महावाक्य का पाठ करे तब भी स्वानुभव रहित उनका सब आचार व्यर्थ है वे मिथ्या ही शिखा सूत्रका त्याग करके भ्रमण करते हैं उनका भ्रमण संसार भ्रमण को निवृत्त करने वाला नहीं है। बन्धन के बोझे को बढ़ाने वाला ही है।

सदाचार मिमं नित्यं
येऽनुसंदधते बुधाः।
संसार सागराच्छीघ्रं
मुच्यंते नात्र संशयः ॥५४॥

अर्थः—इस सदाचार (ग्रन्थ) का जो नित्य अनुसंधान करता है वह शीघ्र ही संसार सागर से मुक्त होजाता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

विवेचन।

सत् स्वरूप जो परब्रह्म है उसका जिसमें वर्णन किया है, उसको प्राप्त करने का जिसमें उपाय दिखलाया है और प्राप्त करके किस प्रकार आचरण में लाना यह भी दिखलाया है ऐसा यह सदाचार ग्रन्थ है। मुमुक्षु पुरुषों को यह उपादेय है। शास्त्रकारों ने विवेकादि अधिकारी के लक्षणों का कथन किया है ऐसे लक्षणों से युक्त बुद्धिमान मुमुक्षु पुरुष इस ग्रन्थ का अनुसंधान करने में समर्थ होता है। लौकिक ग्रन्थ के समान इस ग्रन्थ में दिखलाया हुआ तत्त्व का अनुसंधान नहीं होता, इसीसे कर्म उपासना करके जिसके मल और विक्षेप दोनों निवृत्त हुए हैं और विवेक वैराग्यादि से जो संपन्न है वह ही इससे परमपद को प्राप्त कर सकता है।

जो कर्म अथवा उपासना का अधिकारी है उसको कर्म अथवा उपासना में लगना ठीक है क्योंकि ज्ञानका योग्य अधिकारी न होकर मलिन अन्तःकरण से ज्ञान मार्ग में प्रवृत होने से ज्ञान प्राप्त नहीं होता इतना ही नहीं किन्तु कर्म मार्ग से हटकर और ज्ञान मार्ग की सिद्धि न होने से उभय भ्रष्ट होता है, नास्तिकता आजाती है क्योंकि वह आत्मा में आत्म बोध को न करके आत्म बोध शब्द में ही रहता है, असंग हुए विना मैं असंग हूँ ऐसा समझकर अधर्म में प्रवृत होकर नष्ट होता है।

यह अज्ञान को निवृत्त करके ज्ञानको प्रकाशित करने वाला ग्रन्थ है। ज्ञानका मार्ग तरवार के धारके समान है यानी नग्न तीक्ष्ण धार वाली तरवार के समान है जैसे जिसको तरवार चलाना आता नहीं है और जो अबुद्ध है ऐसे मनुष्य के हाथमें दी हुई तरवार से उसकी रक्षा नहीं होती और चंचलता से इधर उधर घुमाते ही अपने हाथ पैर को काट डालता है, तैसे ही अयोग्य के हाथ में ज्ञानका होना है। जगत में जो पूर्ण आसक्त है ऐसे मनुष्य को वेदान्त श्रवण करने का अधिकार नहीं है क्योंकि वह विपरीत ग्रहण से दुर्गति को ही प्राप्त होता है। अज्ञानी तो अपने को अज्ञानी मानकर ज्ञानके योग्य होना चाहता है और वह मूढ़ जो अज्ञानी होकर भी अपने को ज्ञानी समझ रहा है, उसको यथार्थ ज्ञान होने की कोई संभावना नहीं है। ऐसे वाचक ज्ञानी के संसर्ग को श्वपच के समान त्यागना चाहिये।

योग्य अधिकारी पुरुष सद्गुरु की शरण में जाकर गुरु वाक्य में श्रद्धा रखकर स्वस्वरूप का अनुसंधान करता है इसीसे अज्ञान निवृत्त होता है और संसार रूप दुःखों का समुद्र है उसमें से तैर कर अपने आद्य स्वरूप को निसंशय प्राप्त कर लेता है। वह ही बुद्धिमान् मनुष्य है जो अनादि अविद्या का नाश करके परमपद को प्राप्त होता है।

❀ समाप्त ❀

ब्रह्म स्तोत्रम्।

कल्पान्ते कालसृष्टेन
योऽन्धेन तमसावृतम्।
अभिव्यनक् जगदिदं
स्वयंज्योतिः स्वरोचिषा ॥१॥

अर्थः—कल्प के अन्त में कालजनित घोर अंधकार से यह जगत् आवृत्त था, उसको जिस स्वयं प्रकाश ने अपने तेजसे प्रकट किया है॥१॥

आत्मना त्रिवृता चेदं
सृजत्यवति लुम्पति।
रजः सत्त्व तमोधाम्ने
पराय महते नमः ॥२॥

अर्थः—जो अपने तीन रूपसे जगत् की उत्पत्ति, रक्षा और संहार करता है, जो सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों का आधार है ऐसे श्रेष्ठ महान (ब्रह्म) को मेरा नमस्कार है॥२॥

नम आद्याय बीजाय
ज्ञान विज्ञान मूर्तये।
प्राणेन्द्रिय मनो बुद्धि
विकारैर्व्यक्तिमीयुषे ॥३॥

अर्थः—प्राण, इन्द्रियां, मन, बुद्धि आदि विकारों से जो व्यक्तित्वको प्राप्त होता है; ऐसे सबके आदि और सब के कारण रूप ज्ञान विज्ञान की मूर्ति को मेरा नमस्कार है॥३॥

त्वमीशिषे जगतस्तस्थुषश्च
प्राणेन मुख्येन पतिः प्रजानाम्।

चित्तस्य चित्तेर्मन इन्द्रियाणां
पतिर्महान्भूत गुणाशयेशः ॥४॥

अर्थः—जगत् की स्थिति में तुम उसका नियमन करते हो, मुख्य प्राण द्वारा तुम प्रजाके पति हो, इन्द्रियां, मन, बुद्धि और चित्त के स्वामी हो और प्राणियों के अन्तःकरण के नियन्ता तुम ही हो ॥४॥

त्वं सप्ततन्तून्वितनोषि तन्वा
त्रय्या चातुर्होत्रकविद्यया च।
त्वमेक आत्मात्मवतामनादि-
रनन्तपारः कविरन्तरात्मा ॥५॥

अर्थः—तुम ही (विराट्, हिरण्यगर्भ और सूत्रात्मा-ईश्वर) इन तीनों शरीरों द्वारा और अन्तःकरण चतुष्टयकी क्रिया द्वारा सातों लोकका विस्तार करते हो; तुम अद्वैत हो, जीवधारियोंके तुम आत्मा हो, अनादि, अनन्त और पारावार रहित हो, तुम ही उत्पत्तिकर्ता और अन्तरात्मा (रूप से पालनकर्ता) हो ॥५॥

त्वमेव कालोऽनिमिषो जनाना-
मायुर्लवाद्यावयवैः क्षिणोषि।
कूटस्थ आत्मा परमेष्ठ्यजोमहां-
स्त्वं जीवलोकस्य च जीव आत्मा ॥६॥

अर्थः—सर्वदा जागृत रहकर घटिका, पल आदि अवयवों से तूही जीवों के और लोकों के आयुष्य को क्षीण करता है; तु कूटस्थ आत्मा है, परमेष्ठी प्रजापति तू ही है और तूही चराचर जीवोंका महान् आत्मा है ॥६॥

त्वत्तः परं नापरमप्यनेज
देजच्च किंचिद्व्यतिरिक्तमस्ति।
विद्याः कलास्ते तनवश्च सर्वा
हिरण्यगर्भोसि बृहत्त्रिपृष्ठः ॥७॥

अर्थः—तुमसे पर और अपर कुछ भी नहीं और चर और अचर कुछ भी तुमसे भिन्न नही है। ये सब विद्या और कला तेरे ही शरीर हैं और तीनों लोकों के धारण करने वाला महान् हिरण्यगर्भ तू ही है ॥७॥

व्यक्तं विभो स्थूलमिदं शरीरं
येनेन्द्रिय प्राण मनो गुणांस्त्वम्।
भुंक्ते स्थितो धामनि पारमेष्ठ्य
अव्यक्त आत्मा पुरुषः पुराणः॥८

अर्थः—हे विभो, जिस अव्यक्त रूप से यह स्थूल शरीर, इन्द्रियां, प्राण, मन और गुण व्यक्त होते हैं और अपने परम धाम में रह कर जिससे भोग भोगता है वह अव्यक्त पुराण पुरुष आत्मा तू ही है ॥८॥

अनन्ताव्यक्त रूपेण,
येनेदमखिलं ततम्।
चिदचिच्छक्ति युक्ताय,
तस्मै भगवते नमः ॥९॥

अर्थः—जिसने अपने अपार अव्यक्त रूप से यह सब जगत् व्याप्त किया है उस चित् अचित् शक्तिमय भगवान् को मेरा नमस्कार है ॥९॥

॥ इति हिरण्यकशिपु कृत ब्रह्म स्तोत्र ॥

महोपनिषद् ।

(गतांक से आगे)

तुरीय स्वरूप ब्रह्म में विश्रान्ति प्राप्त होने से जो भव सागर से मुक्त हुआ है, उसको जीने से अथवा मरने से, गृहस्थी से अथवा संन्यास से (कुछ प्रयोजन नहीं है) ॥४०॥ न उसको करने से अथवा न करने से, अथवा श्रुति स्मृति के भ्रम जाल से कुछ प्रयोजन है; वह जिस प्रकार समुद्र में मंदराचल पर्वत रहता है, वैसा, जैसा का तैसा हो बना रहता है ॥४१॥ जब सबमें रहा हुआ आत्मा ही मेरा आत्मा है इस प्रकार के शुद्ध ज्ञानका उदय होता है, तब यह समस्त जगत् सृष्टि, देशकाल आदि से विवर्जित केवल चिति स्वरूप ही भासने लगता है ॥ ४२ ॥ इस प्रकार आत्मा जहां और जैसे क्रीडा रूपमें विराजमान हो, वह वैसा ही रहो, वह चिद्रूप ही में विराजमान है ॥४३॥ जो यह स्थावर जंगम सब दृश्य दीख रहा है वह जैसे नींदमें स्वप्न होता है वैसे ही हैं और कल्प के अन्तमें इसका नाश होजाता है ॥ ४४ ॥ ऋत, आत्मा, सत्य, परब्रह्म इत्यादि उस महान् आत्मा के नाम विद्वानों ने व्यवहार के लिये ही कल्पना किये हैं ॥ ४५ ॥ जिस प्रकार कुण्डल शब्द का अर्थ सुवर्ण से पृथक् नहीं है; उसी प्रकार जगत् शब्द के अर्थ का भाव भी सुवर्ण कुण्डल (के दृष्टान्त) से भिन्न और कुछ नहीं है ॥४६॥ इसलिये द्रष्टा और दृश्य की सत्ता के अन्तर्गत जो यह जादूगरी का ऐश्वर्य फैला हुआ है इसीको बंध कहते हैं ॥ ४७ ॥ दृश्य के कारण द्रष्टा बद्ध होजाता है और दृश्य का अभाव होजाने से वह मुक्त होजाता है। यह जगत 'तू' 'मैं' इत्यादि सब उत्पन्न हुए पदार्थ दृश्य स्वरूप हैं ॥४८॥ यह इंद्रजाल का ऐश्वर्य इस जगत में केवल मन द्वारा फैला हुआ है; इसलिये जब तक यह मन है तब तक मोक्ष की संभावना नहीं है ॥४९॥ ब्रह्माने अपने मन ही से जगत का विस्तार रचा है, इसलिये जितना जो कुछ जगत् भासता है सब मनोमय ही है ॥ ५० ॥ बाहर अथवा भीतर मन कहीं भी सद्रूप नहीं है क्योंकि अर्थ के भासने ही को मन कहते हैं ॥ ५१ ॥ संकल्प करना ही मन है, जहां संकल्प नहीं वहां मन भी नहीं। जहां संकल्प है वहीं मन है ऐसा ही जानो ॥ ५२ ॥ संकल्प और मन कहीं भी और किसी प्रकार भिन्न नहीं है; इसलिये संकल्प समूह नष्ट होने पर स्वरूप शेष रह जाता है ॥ ५३ ॥ मैं, तू, जगत् आदि दृश्य भ्रम दूर हो जाने पर दृश्य में सत्ता रूप से रहा हुआ केवल स्वरूप ही भासता है ॥५४॥ अशेष दृश्य महा प्रलय में जब असत्ता को प्राप्त होता है, यह स्वरूप केवलता प्रशान्त रूप से अवस्थित रहती है ॥५५॥ अस्ति स्वरूप, जिसका कभी भी अभाव न हो ऐसा, प्रकाशवान्, अज, निर्विकार सर्वदा सब का करने वाला और सर्व स्वरूप ऐसे देवको परमात्मा कहते हैं ॥ ५६ ॥ जहां से वाणी लौटती है, जिसको मुक्त ही जानते हैं और जिसके आत्मा आदिक नाम स्वभाव से नहीं, केवल कल्पित हैं ॥ ५७॥ चित्ताकाश चिदाकाश और आकाश ऐसे तीन प्रकार के आकाश हैं। हे महामुने, अन्य दोनों से रहित चिदाकाश होता है ऐसा जानो ॥ ५८ ॥ हे मुनि श्रेष्ठ, ये उस चिदाकाश से दूर दूर देश में प्राप्त होते हुए भी, हैं संवित् के ही मध्य में और प्रलय में ये सब चिदाकाश ही हो जायेंगे ऐसा जानो ॥ ५९ ॥ समस्त संकल्पों को हटा कर यदि तू उसमें स्थिति लाभ करेगा तो तू उस सर्वात्मक और शांत परम पद को प्राप्त होगा इसमें सन्देह नहीं है ॥ ६० ॥ परम सुन्दर उदारता के कारण उत्पन्न हुई, वैराग्य के

उत्तम आनन्द को देने वाली और महान् आनन्द से उमड़ती हुई इस अवस्था को समाधि कहते हैं ॥ ६१ ॥ राग द्वेप क्षीण हो जाने पर दृश्य हुआ ही नहीं इस बोध से जो हठात् आत्मरति उदय होती है उसको समाधि कहते हैं ॥ ६२ ॥ दृश्य हुआ ही नहीं है और दृश्य सब चिन्मय है ऐसा बोध हो यही ज्ञान है और यही कैवल्य है, इसके अतिरिक्त सब मिथ्या है ॥ ६३ ॥ 'मत्त ऐरावत (हाथी) सरसों के कोने के गढ़े में बांध दिया गया, अथवा रेणु के भीतर मच्छर ने अनेकों सिंहों से युद्ध किया ॥ ६४ ॥ और कमल के बीज पर मेरु रखा गया और एक छोटा सा भंवर उसको निगल गया,' व्यवहार में जैसा यह भ्रम है; इसी प्रकार इस जगत् को. हे निदाघ, भ्रम रूप जान ॥ ६५ ॥ राग आदि क्लेशों से दूषित चित्त ही संसार है और चित्त इन से मुक्त हो जाय तब ही संसार का अन्त हो जाता है ऐसा कहते हैं ॥ ६६ ॥ मन से भावना करने ही से जीव देह भाव को प्राप्त होता है जब यह देह की वासना से रहित हो जाता है फिर वह देह धर्म से लेपायमान नहीं होता ॥ ६७ ॥ मन कल्प को क्षण कर देता है और क्षण को कल्प। मेरा यही निश्चय है कि यह संसार केवल मन का विलास मात्र है ॥ ६८ ॥

वैराग्य रहित, दुराचारी, अशान्त, चंचल अथवा अस्थिर मन वाला केवल बुद्धि से इस निश्चय को नहीं प्राप्त कर सकता ॥ ६९ ॥ वह द्वंद्व रहित, सच्चिद्घन, ब्रह्मानन्द स्वरूप मैं हूं, ऐसा जान लेने पर फिर उसको भय नहीं रहता ॥ ७० ॥ 'जो पर से पर महान् से महान्, स्वरूप से तेजोमय, शाश्वत, शिव, सबका आदि और जो सबसे पुराना सनातन पुरुष है, जो सब वेदों का उपास्य है ॥ ७१ ॥ वही ब्रह्म मैं हूं' यह ज्ञान मोक्ष का हेतु है ऐसा महात्माओं का निश्चय है। बंध और मोक्ष के वाचक दो ही शब्द हैं, मेरा और मेरा नहीं (मम और निर्मम); मेरा कहने से बंध और मेरा नहीं कहने से जीवका मोक्ष होजाता है ॥ ७२ ॥ ईक्षण से लेकर ईश्वर जीवके शरीर में प्रवेश करने तक की जीव ईश्वर रूपक जड़ चेतन सब सृष्टि ईश्वर कल्पित है और जाग्रत से लेकर मोक्ष पर्यंत की सृष्टि जीव कल्पित है ॥ ७३ ॥ त्रिणाचिकेत अग्नि की उपासना से लेकर योग तक के सब ईश्वर भ्रान्ति में रहे हुए हैं और लोकायतों से लेकर सांख्यों तक जीव भ्रांति में रहे हुए हैं ॥ ७४ ॥ इसलिये मुमुक्षु जीव ईश्वर वाद में मन न दे, किन्तु निश्चल बुद्धि से ब्रह्म तत्त्व ही का विचार करे ॥ ७५ ॥ निःशेष सब जगत् जो चिन्मय ही देखता है वही साक्षात् पूर्ण ज्ञानी है वही शिव, विष्णु और प्रजापति है ॥ ७६ ॥

सद्गुरु की कृपा विना विषय त्याग दुर्लभ है, तत्त्व दर्शन भी दुर्लभ है और सहजावस्था भी दुर्लभ है ॥ ७७ ॥ जिनमें बोध की शक्ति उत्पन्न हुई है और जिन्होंने सब कर्म छोड़ दिये हैं, ऐसे योगियों को सहजावस्था स्वयं ही उत्पन्न होजाती है ॥ ७८ ॥ जब इसमें वह किंचित् मात्र भी भेद भाव समझता है, उसी समय उसको भय प्राप्त होता है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है ॥ ७९ ॥ जिसको ज्ञान चक्षु प्राप्त हुए हैं वह सच्चिदानन्द को सबमें देखता है; जैसे अन्धा प्रकाशवान् सूर्यको नहीं देखता वैसे ही अज्ञानी आत्मा को नहीं देख सकता ॥ ८० ॥ प्रज्ञान ही ब्रह्म है, सत्य प्रज्ञान ही ब्रह्मका लक्षण है। ब्रह्मको इस प्रकार जानने ही से मर्त्य अमृत स्वरूप होजाता है ॥ ८१ ॥ उस सबसे श्रेष्ठ परब्रह्म का दर्शन होते ही पुरुष की

हृदय ग्रन्थि खुल जाती है, सब संशय दूर होजाते हैं और सब कर्म नष्ट होजाते हैं ॥८२॥ जगत् के रहते हुए अनात्म भावका त्याग करके विकार रहित होकर एक निष्ठा से उस संवित् स्वरूप में विलीन रहे ॥८३॥ मरु भूमिमें जितना जल दीखता है वह सब मरु भूमि ही है, इसी प्रकार विचार से देखा जाय तो तीनों लोक केवल चित् ही चित् हैं ॥८४॥ लक्ष्य और अलक्ष्य की बुद्धिको छोड़कर जो केवल आत्मरूप ही से रहे वह श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी साक्षात् शिव ही है ॥८५॥ यह सबका अधिष्ठान है, उपमा रहित. वाचा और मनसे अगोचर, नित्य, व्यापक, सबमें रहा हुआ, सूक्ष्म और अव्यय है ॥८६॥ सर्व शक्तिमान् महेश्वर का विलास या मन ही यह जगत् है, उसके विकास और संकोच से वह संसार भावको और प्रलय को प्राप्त होता है ॥८७॥ मनरूपी व्याधि की चिकित्सा के लिये एक उपाय कहता हूं। जो वस्तु तुझे प्रिय प्रतीत हो उसीका त्याग करने से मोक्ष की प्राप्ति होगी ॥८८॥ अपनी इष्ट वस्तु का त्याग करने का कष्ट, जो अपने ही अधिकार में है और अपने अत्यंत हित की बात है, जिसको अत्यंत कठिन प्रतीत होता है ऐसे क्षुद्र पुरुष को धिक्कार है ॥८९॥ जो अपने पुरुषार्थ ही से साध्य होता है ऐसा, अपनी इष्ट वस्तु के त्याग से मनको रोकने के अतिरिक्त और कोई दूसरा अच्छा मार्ग ही नहीं है ॥९०॥ संकल्प त्यागरूप शास्त्र से जब इस चित्तका नाश करते हैं, तब सर्व स्वरूप, सबमें बसे हुए और शान्त ऐसे ब्रह्मकी प्राप्ति होती है ॥९१॥ संसार की भावना को छोड़कर ब्रह्म बुद्धि धारण करके मुक्त होजा; अव्यग्र बुद्धि से आत्म भाव धारण कर, चित्तका त्याग कर और चैतन्य स्वरूप का अवलंबन कर ॥९२॥ श्रेष्ठ धैर्य धारण करके हृदयाकाश में रहे हुए चित् स्वरूप में एक अखंड धारा प्रवाह रूप ध्यान से चित्तको अचित्त बना दे ॥९३॥ निःशंक होकर मनको मार डाल तो तुझे (काम आदि) शत्रु नहीं बांध सकते ॥९४॥ यह मैं हूं और यह मेरा है यही मनका स्वरूप है; यह केवल संकल्प त्याग रूप शास्त्र से कट जाता है ॥९५॥ जैसे शरद ऋतुमें फटा हुआ बादल तितर बितर होजाता है वैसे ही, कल्पना त्याग से अन्तः-करण में मन भी नष्ट होजाता है ॥९६॥ कल्पान्त के वायु भले बहने लगें, सब समुद्र भले एकत्रित होजांय, बारह सूर्य भले एक साथ तपने लगें परन्तु जो निर्मना है उसको इससे कुछ भी हानि नहीं होती ॥९७॥ केवल कल्पना त्याग ही से सिद्ध होने वाले और सब सिद्धियां प्रदान करने वाले असंकल्प रूपी श्रेष्ठ साम्राज्य में उसी निःसंकल्प पदको दृढ़ ग्रहण करके बैठ जा ॥९८॥ मन चंचलता रहित कहीं भी नहीं देखने में आता; जैसे उष्णता अग्निका धर्म है, चंचलता वैसे ही मनका धर्म है ॥९९॥ चित्तत्त्व में रही हुई यही चंचल स्पंद शक्ति है, जगदाडंबर रूप इसी शक्ति को मानसी शक्ति समझ ॥१००॥ चंचलता रहित जो मन, उसीको अमृत यानी ब्रह्म कहते हैं, वही तप है और शास्त्रों के सिद्धांत में उसीको मोक्ष कहते हैं ॥१०१॥ उसकी चंचलता ही को वासनात्मक अविद्या कहते हैं; 'वासना' यह दूसरा नाम धारण करने वाली उस चंचलता को विचार से हटा दे ॥१०२॥

—अपूर्ण।

ब्रह्म सूत्र भाषादीपिका ।

(गतांक से आगे)

इस प्रकार यजन करना चाहिये, हवन करना चाहिये, दान देना चाहिये; इस प्रकार का विधि प्रतिपादन करने वाले शास्त्र जीव को कर्ता माने तब ही सार्थक होते हैं अन्यथा वे निरर्थक हो जायंगे; क्योंकि, शास्त्र जो वास्तविक कर्ता होगा उसी को कर्तव्य का उपदेश देते हैं; परन्तु जीव यदि कर्ता न हो तो शास्त्र का उपदेश अयुक्त होगा। वैसे ही, 'एप हि द्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः।' [प्र० ५।९] (विज्ञान स्वरूप ऐसा यह पुरुष देखने वाला, सुनने वाला, मनन करने वाला, बोध करने वाला और कर्ता है) यह श्रुति इस शास्त्र को भी सार्थक करती है ॥३३॥

विहारोपदेशात् ॥२।३।३४॥

अन्वय और अन्वयार्थः—विहारोपदेशात् [श्रुति में जीव के] गमन का उपदेश है इसलिये [जीवात्मा कर्ता है] ।

टीका:—और जीव इसलिये भी कर्ता है कि श्रुति में जीव की प्रक्रिया में जीवात्मा स्वप्न में विहार करता है ऐसा कहा है। जैसे, 'स ईयतेऽमृतो यत्रकामम्।' [बृ० ४।३।१२] (अमृतस्वरूप वह इच्छानुसार गमन करता है) और 'स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते।' [बृ० २।१।१८] (अपने शरीर में वह इच्छानुसार संचार करता है) ।

उपादानात् ॥२।३।३५॥

अन्वय और अन्वयार्थः—उपादानात् ग्रहण करता है इसलिये [जीवात्मा कर्ता है]।

टीका:—और इसलिये भी जीवात्मा कर्ता है कि श्रुति में जीव की प्रक्रिया में जीव इन्द्रियों को ग्रहण करता है ऐसा कहा है; जैसे, 'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' [बृ० २।१।१७] (इन प्राणों की ज्ञान शक्ति को बुद्धि से ग्रहण करके) तथा, 'प्राणान्गृहीत्वा' [बृ० २।१।१८] (प्राणों को लेकर) ॥३५॥

व्यपदेशाच्च क्रियायां, न चेन्निर्देशविपर्ययः ॥२।३।३६॥

अन्वय और अन्वयार्थः—च और **क्रियायाम्** क्रियाओं में **व्यपदेशात्** [जीवात्मा का कर्ता रूप से] निर्देश किया हुआ होने से [जीव कर्ता है] **न चेत्** यदि ऐसा न होता तो **निर्देशविपर्ययः** [श्रुति में] विरुद्ध उपदेश पाया जाता ।

टीका:—और इसलिये भी जीव कर्ता है कि लौकिक और वैदिक क्रियाओं में जीवात्मा को ही श्रुति ने कर्ता बताया है—जैसे, 'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च।' [तै० २।५।१] (विज्ञान यानी जीवात्मा यज्ञ करता है और कर्म करता है)। यदि कहो कि विज्ञान शब्द बुद्धि के अर्थ में पाया जाता है, इससे जीव का कर्तृत्व किस प्रकार निर्दिष्ट होगा, तो वह ठीक नहीं। यहां जीव ही का निर्देश है, बुद्धि का नहीं। यदि यहां पर जीव का निर्देश न होता तो श्रुति में उसके विरुद्ध निर्देश मिलता यानी 'विज्ञान द्वारा' इस प्रकार निर्देश मिलता; क्योंकि अन्य स्थानों पर जब बुद्धि के अर्थ में विज्ञान शब्द का प्रयोग किया गया है वहां उसका करण विभक्तिमें प्रयोग देखा जाता है; जैसे, 'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन

विज्ञानमादाय।" [बृह० २।१।१७] (विज्ञानसे यानी बुद्धिसे ग्रहण करके)। परन्तु यहां तो 'विज्ञानं यज्ञं तनुते'[तै० २।५।१] (विज्ञान यानी जीवात्मा यज्ञ करता है) इस श्रुति में (विज्ञान शब्द का) कर्ता के साथ समानाधिकरण से निर्देश किया है इसलिये यहां पर बुद्धि से भिन्न ऐसा आत्मा ही कर्ता है यही सूचित होता है इसमें कुछ भी दोष नहीं है॥ ३६॥

पूर्व पक्षः—यदि बुद्धि से भिन्न ऐसा जीवात्मा कर्ता हो तो वह स्वतंत्र होने से नियम से वह अपना प्रिय और हित ही करेगा उससे विपरीत कभी नहीं करेगा। परन्तु जीवात्मा तो इससे विपरीत यानी अपना अप्रिय और अहित करता हुआ दिखाई देता है। स्वतंत्र आत्मा में ऐसी अनियमित प्रवृत्ति ठीक नहीं प्रतीत होती। इसका उत्तर देते हैं—

उपलब्धिवदनियमः ॥२।३।३७॥

अन्वय और अन्वयार्थः—उपलब्धिवत् अनुभव के समान [जीवात्मा की प्रवृत्ति का भी] **अनियमः** नियम नहीं है।

टीकाः—जिस प्रकार यह आत्मा अनुभव करने में स्वतंत्र होते हुए भी अनियम से इष्ट और अनिष्ट दोनों प्रकार के अनुभव करता है, उसी प्रकार वह इष्ट और अनिष्ट कर्म भी अनियम से ही करेगा। अनुभव के लिये भी सामग्री प्राप्त करनी पड़ती है, इसलिये अनुभव करने में भी जीव स्वतंत्र नहीं है; ऐसा यदि कहो तो वह ठीक नहीं है; क्योंकि विषयों को समीप लाना यही अनुभव की सामग्री प्राप्त करने का हेतु है। परन्तु आत्मा चेतन होने से अनुभव करने में उसको किसी दूसरे पदार्थ की अपेक्षा नहीं होती। कर्म करने में भी जीवको अत्यन्त स्वतंत्रता नहीं है; क्योंकि कर्म करने में वह विशेष देश, काल तथा करणों की अपेक्षा रखता है। परन्तु केवल सहाय की अपेक्षा रखने ही से कर्ता के कर्तापने की निवृत्ति नहीं होती। ईंधन आदि की अपेक्षा रखने वाला रसोइया भी रसोई का कर्ता होता ही है और सहकारियों के वैचित्र्य से आत्माकी अनियम से इष्ट और अनिष्ट में प्रवृत्ति होती है तो इसमें कोई विरोध नहीं है॥ ३७॥

शक्ति विपर्ययात् ॥ २।३।३८॥

अन्वय और अन्वयार्थः—शक्ति विपर्ययात् बुद्धि की करण शक्ति का नाश हो जायगा इसलिये [भी जीव कर्ता है]।

टीकाः—और इसलिये भी बुद्धि से पृथक ऐसे जीवको कर्ता मानना चाहिये कि यदि विज्ञान शब्द के अर्थ रूप बुद्धि ही कर्ता हो जायगी तो उसकी शक्ति का विपर्यय हो जायगा यानी बुद्धि की करण शक्ति नष्ट हो जायगी और कर्तृशक्ति प्राप्त हो जायगी। परन्तु इस प्रकार बुद्धिको कर्तृशक्ति प्राप्त होजाने से 'अहं यानी मैं' इस ज्ञानका बुद्धि ही विषय होती है, ऐसा मानना पड़ेगा क्योंकि 'मैं जाता हूँ, आता हूँ, खाता हूँ, पीता हूँ, आदि सब स्थानों में अहंकार पूर्वक ही सब प्रवृत्ति होती है, ऐसा देखने में आता है। इस प्रकार के कर्तृत्व से युक्त बुद्धि के लिये जो सब कार्य कर सके ऐसे अन्य साधन की कल्पना करनी पड़ेगी। क्योंकि, कर्ता सामर्थ्य वाला हो तो भी साधन के सहायता से ही कर्म करने में प्रवृत्त होता है ऐसा देखने में आता है। इसलिये यह केवल शब्द के लिये वाद है वस्तु में कुछ भी भेद

नहीं है; क्योंकि साधनों से कर्ता भिन्न होता है यह सब स्वीकार करते हैं ॥ ३८ ॥

समाध्य भावाच्च ॥२।३।३६॥

अन्वय और **अन्वयार्थः**—[अन्यथा] **समाध्य भावात्** समाधि का अभाव हो जायगा इसलिये [जीव ही कर्ता है]।

टीकाः—उपनिषदों में कथन किये हुए आत्मानुभव के लिये वेदान्त ग्रंथों में समाधि का उपदेश दिया जाता है। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।' [वृ० २।४।५] (आत्मा का दर्शन श्रवण मनन और निदिध्यासन करना चाहिये), स अन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' [छां० ८।७।१] (उसकी खोज करनी चाहिये उसको जानने की इच्छा करनी चाहिये), तथा, "ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्" [मुण्ड० २।२।६] (ॐ रूप से आत्मा का ध्यान करो) इस प्रकार का उपदेश श्रुतिमें मिलता है, वह भी आत्मा कर्तृत्व में ही नहीं हो तो युक्त नहीं होता ।

१५ तक्षाधिकरण ।

यथाच तक्षोमयथा ॥२।३।४०॥

अन्वय और**यन्यार्थः**—[जीवात्मा का कर्तृत्व स्वाभाविक नहीं है] **च** परन्तु **यथा** जिस प्रकार **तक्षा** बढ़ई **उभयथा** दोनों प्रकार से [दिखाई देता है वैसा ही जीव है]।

टीकाः—अब तक "शास्त्र को साफल्य प्राप्त होता है" आदि हेतु बता कर जीव का कर्तृत्व बताया अब विचार करते हैं कि वह स्वाभाविक है या उपाधि कृत है ।

पूर्वपक्षः—'शास्त्र को साफल्य प्राप्त होता है' इत्यादि कारणों से ही जीवको कर्तृत्व स्वाभाविक ही है ऐसा मानना चाहिये क्योंकि वैसा न मानने के लिये कोई कारण नहीं है।

समाधानः—जीवका कर्तृत्व स्वाभाविक है यह नहीं संभवता, क्योंकि ऐसा माने तो उसको मोक्षकी संभावना ही नहीं रहेगी। यदि आत्माका कर्तृत्व स्वाभाविक हो तो उसका कर्तृत्व छूट ही नहीं सकता, जैसे अग्नि से उष्णता अलग नहीं हो सकती। और कर्तृत्व से रहित न हो उसको पुरुषार्थ की यानी मोक्षकी सिद्धि नहीं होगी; क्योंकि कर्तृत्व ही दुःख रूप है।

पूर्वपक्षः—कर्तृत्व के रहते हुए भी कर्तृत्व के कार्य का यानी क्रिया का अभाव होजाने से पुरुषार्थ की सिद्धि होगी और कार्य का परिहार उसके निमित्त के परिहार से होगा; जैसे, अग्निमें दहन शक्ति के रहते हुए भी लकड़ी न होने से उसकी दहन क्रिया का अभाव होजाता है।

समाधानः—यह ठीक नहीं है, क्योंकि निमित्त शक्ति लक्षणात्मक संबंध से युक्त होने से उनका सर्वथा अभाव बन ही नहीं सकता। यदि कहो कि मोक्षके साधन का श्रुतिमें प्रतिपादन होने से मोक्ष की सिद्धि होगी, तो वह ठीक नहीं है क्योंकि साधन से प्राप्त पदार्थ अनित्य होता है। नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ऐसे आत्माका ज्ञान प्राप्त करनेसे मोक्ष होता है, ऐसा माना जाता है परन्तु जीवका कर्तृत्व स्वाभाविक मान लेने से ऐसा ज्ञान बन नहीं सकता ।

अपूर्ण ।

उपासना ।

इस पुस्तकमें साकार, सगुण, निर्गुण, कार्य ब्रह्मकी तथा कारण ब्रह्मकी आदि कई प्रकार की उपासना को भिन्न २ प्रकार से समझाया है। उपासना की स्थिरता ही से मन एकाग्र होता है, आत्म साक्षात्कार होता है और समाधि की प्राप्ति होती है।

इसमें यह दृष्टान्त आये हैं:—कुमार अवीक्षित और किमिच्छकं व्रत, ध्रुव की तपश्चर्या, धर्मनगर से मुक्तिनाथ तक जाने वाले दो मुसाफिर, गुलाम राजा बना, पांच मित्रों की मुसाफरी, अलौकिक मंदिर, समुद्र पार के देश का राजा, राजकुमार और राजकुमारी, महात्मा के उपदेश से साधु को ॐ दिखा दिया, अर्जुन, दुर्योधन और धात्री की कथा। इसमें उपासना, ब्रह्मोपासना, गायत्री, ॐकार और ब्रह्मतरंग हैं।

इस उपासना के अनुसार अभ्यास करके समाधि तक पहुँचे हुए और आत्म साक्षात्कार किये हुए मनुष्य इस समय भी मौजूद हैं। मूल्य ॥) डाक महसूल अलाहिदा।

वेदान्त दीपिका ।

वेदान्त के प्रथम और द्वितीय वर्ष में आये हुए वेदान्त विषयक चौवीस प्रश्नोत्तरों का अपूर्व संग्रह ।

इस ग्रन्थ में जिज्ञासु को स्वाभाविकता से होने वाली शंकाओं का अत्यंत मार्मिकता से समाधान किया गया है। वेदान्त के महत्व के ग्रन्थों को पढ़ने पर भी जिन शंकाओं का समाधान न होने से जिज्ञासु का चित्त अशान्त रहता है, वे शंकाएं इस ग्रन्थ को पढ़ने से समूल नष्ट हो जायंगी। ग्रन्थ को पढ़ते समय जो नयी शंकाएं उत्पन्न होंगी उनका समाधान आगे ही मिलने से पाठकों को अत्यंत आनंद होगा।

इसमें प्रत्येक विषय को प्रथम युक्तिपूर्वक समझा कर उसको अधिक दृढ़ करने के लिये प्रसंगानुकूल दृष्टान्त दिये गये हैं, जिससे ग्रन्थ अत्यन्त ही रोचक बन गया है। इसकी भाषा अत्यन्त सरल होने से सामान्य भाषा ज्ञान वाले भी इससे लाभ उठा सकते हैं। ग्रन्थ सबके लिये संग्राह्य है। सजिल्द मूल्य १॥) डाक महसूल अलाहिदा।

चर्पट पंजरिका ।

"भज गोविंदं भज गोविंदं" पद्यका विवेचन सहित भाषानुवाद है। अनेक दृष्टांतों से रोचक और बोधप्रद है। सम श्लोकी पद्य भी हैं। मूल्य १)

व्यवस्थापक—वेदान्त केसरी, बेलनगंज–आगरा

केसरी प्रेस, बेलनगंज आगरा में सूरजभान गुप्त द्वारा मुद्रित और प्रकाशित।

REGD. NO. A. 1821

ॐ

वेदान्त केसरी

मासिक पत्र

पुस्तक ६ } आश्विन सं० १९८७ अक्टूबर १९३० { अंक ६

श्लोक—तावद्गर्जन्तिशास्त्राणि जम्बुका विपिनेयथा ।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद्वेदान्त केसरी ॥

अर्थ—जब तक महाबलवान सिंह गर्जना नहीं करता तब तक बन में श्याल खूब गर्जना करते हैं। इसी प्रकार जब तक वेदान्त सिद्धान्त की गर्जना नहीं होती तभी तक अन्य लौकिक शास्त्रों की गर्जना हुआ करती है।



सम्पादक—

ब्रह्मचारी विष्णु,

बेलनगंज—आगरा।

वार्षिक मूल्य ३) एक प्रति का मूल्य ।–)

विषयानुक्रमणिका ।

वेदान्त केसरी के नियम ।

(१) यह पत्र प्रत्येक अंग्रेजी महीने के आदि में निकलता है ।

(२) वेदान्त विषय का विवेचन करना इसका मुख्य प्रयोजन है ।

(३) वार्षिक मूल्य ३) अग्रिम लिया जाता है । विना मूल्य पत्र किसी को नहीं भेजा जाता है ।

(४) एक अङ्क का मूल्य ।–) नमूने का अङ्क पांच आने के टिकट आने पर भेजा जाता है ।

(५) जिन ग्राहकों के पास पत्र न पहुँचे उनको १५ तारीख तक सूचना देनी चाहिये ।

(६) एक वर्ष से कम के ग्राहक नहीं किये जाते । मध्य में ग्राहक होने वालों को चालू साल आरम्भ से सब अङ्क लेने होंगे ।

(७) चिट्ठी लिखते समय प्रत्येक ग्राहक को अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखना चाहिये ।

ॐ

वेदान्त केसरी

पुस्तक ९ } आश्विन सं० १९८७ अक्टूबर १९३० { अङ्क ६

होजा अजर होजा अमर।

हरिगीत छन्द।

(१)

जो मोक्ष तू है चाहता, विष सम विषय तज तात रे।
आर्जव क्षमा संतोष शम, दम पी सुधा दिन रात रे॥
संसार जलती आग है, इस आगसे झट भाग कर।
जा शांत शीतल देश में, होजा अजर होजा अमर॥

(२)

पृथिवी नहीं जल भी नहीं, नहिं अग्नि तू नहिं है पवन।
आकाश भी तू है नहीं, तू नित्य है चैतन्य घन॥
इन पांच का साक्षी सदा, निर्लेप है तू सर्व पर।
निज रूपको पहिचानकर, होजा अजर होजा अमर॥

(३)

चैतन्य को कर भिन्न तनसे, शांति सम्यक् पायगा।
होगा तुरत ही तू सुखी, संसार से छुट जायगा॥
आश्रम तथा वर्णादि का, प्यारे! न तू अभिमानकर।
सम्बंध तज दे देहसे, होजा अजर होजा अमर॥

(४)

नहिं धर्म है न अधर्म तुझमें, दुःख सुख भी लेश ना।
मन के सभी ये धर्म हैं, कर्तापना भोक्तापना॥
तू एक द्रष्टा सर्व का, इस दृश्य से है दूर तर।
पहिचान अपने आपको, होजा अजर होजा अमर॥

(५)

कर्तृत्व के अभिमान काले सर्प ने तू है डसा।
नहिं जानता है आपको, भव पाश में इससे फसा॥
'कर्ता न मैं तिहुं काल में' श्रद्धा सुधा नित पानकर।
पीकर उसे होजा सुखी, होजा अजर होजा अमर॥

(६)

'मैं शुद्ध हूँ, मैं बुद्ध हूँ' ज्ञानाग्नि ऐसी प्रकट कर।
अज्ञान वन को दे जला, गत पाप मत संताप कर॥
ज्यों सर्प रस्सी मांहिं, जिसमें भासता ब्रह्मांड भर।
सो बोध सुख तू आप है, होजा अजर होजा अमर॥

(७)

अभिमान जिसको मुक्तिका, सो घोर निश्चय मुक्त है।
अभिमान करता बंध का, सो मूढ़ बंधन युक्त है॥
जैसी मती वैसी गती, लोकोक्ति यह सच मानकर।
भव बंध से निर्मुक्त हो, होजा अजर होजा अमर॥

(८)

आत्मा अमल साक्षी अचल, विभु पूर्ण शाश्वत मुक्त है।
चेतन असंगी निस्पृही, शुचि शांत अच्युत तृप्त है॥
निज रूप के अज्ञान से, जन्मा करे फिर जाय मर।
भोला! स्वयंको जानकर, होजा अजर होजा अमर॥

सुख दुःख ।

अन्य प्राणियों की अपेक्षा से मनुष्य में बुद्धि अधिक है, बुद्धिकी विशेषता से ही मनुष्यत्व है। तोभी बुद्धिका सदुपयोग करने वाले मनुष्य बहुत थोड़े होते हैं, अधिकता से तो "पर उपदेश कुशल बहुतेरे" वाक्य को ही सार्थक करते हैं वे बुद्धिका जितना उपयोग बाहर दूसरों में कर सकते हैं उतना अपने में नहीं कर सकते; इससे अधिकता वालो उनकी बाह्य वृत्ति उनके अधिकाधिक दुःखों का कारण होती है और उनको आत्मिक कल्याण में आगे बढ़ने नहीं देती।

मनुष्य दूसरे के दोपको जल्दी देख लेता है–समझ लेता है, यदि दोष सूक्ष्म हो तोभी प्रसंगानुकूल समझने में विलंब नहीं होता। इसी प्रकार दूसरों का न्याय करने में बुद्धि न्यायाधीश बन बैठती है; कई प्रसंगों में तो न्याय करने युक्त बुद्धि उत्तम न्यायाधीशों को भी परास्त कर देती है। यह सब चतुराई बाहर की तरफ होती है जो यह बुद्धि अपनी तरफ प्रवृत्ति करने लग जाय, अपनी परीक्षा–न्याय आप करले तो बहुत ही जल्दी दोषों का निवारण करके मनुष्य को कल्याण का भागी कर देती है।

इस प्रकार बाहर वृत्तिका चलना और अपनी तरफ से कुंठित होना आवरणसे होता है, आवरण अविद्या का स्वभाव है। अविद्या में पड़े हुए सब प्राणी स्वस्वरूप की तरफ परदे सहित होते हैं इसीसे परदा सहित अपना बोध करने में असमर्थ होते हैं, उनको अपना दोष जानने में कठिनाई होती है। स्वाभाविकता से जीवकी बुद्धि और इन्द्रियां बाहर की तरफ मुख वाली होती हैं इसीसे बुद्धिकी शुद्धता बिना आन्तर प्रवृत्ति नहीं होती इसी कारण से जब तक बाहर भटकने वाली बुद्धि मलिनता को छोड़ कर शुद्ध नहीं होती तब तक आन्तर में नहीं जाती। अशुद्ध बुद्धि आन्तर में जाकर भी ठीक कार्य नहीं कर सकती। जैसे किसीको सब कार्य बांये हाथसे करने का अभ्यास पड़ा हो उससे सीधे हाथ से कार्य कराया जाय तो वह बांये हाथ के समान उत्तम कार्य कर नहीं सकता; इसी प्रकार बाहर कार्य करने वाली बुद्धि आन्तर कार्य भली प्रकार नहीं कर सकतो। बाहर के कार्य अविद्या के हैं और अविद्या के भावसे युक्त होकर बुद्धि प्रवृत्त होती है, आन्तर अविद्या की सूक्ष्मता है इसीसे आन्तर दोष स्थूल बुद्धि से जाना नहीं जाता।

स्रष्टा ने सृष्टि के आरम्भ में जीवोंकी इन्द्रियां संसार में प्रवृत्त होने के हेतु अधिकता से बाहर के मुख वाली ही रची हैं इसीसे संसारासक्त मनुष्य स्वाभाविकता से बाहर की तरफ प्रवृत्त होते हैं, उनकी ज्योति बाहर की तरफ ही रहती है, ऐसा है तो भी आन्तर मुख बुद्धि इन्द्रियां न हों ऐसा नहीं है। बुद्धि और इन्द्रियां को शुद्ध करके लौटा सकते हैं, जब वे आन्तर मुख होती हैं तब स्वरूप के ज्ञान से अखंड सुखकी प्राप्ति होती है।

संपूर्ण प्राणी सुखको चाहते हैं और दुःख न हो ऐसी चाहना होती है। सुख प्राप्ति के निमित्त और दुःख निवृत्ति के निमित्त सब प्राणी अपनी बुद्धि और सामर्थ्य के अनुसार प्रयत्न करते रहते हैं, परन्तु सुख दुःखको यथार्थ समझे विना किया हुआ प्रयत्न सफल नहीं होता; पश्वादिमें बुद्धिकी न्यूनता है और उनका जन्म भी केवल भोग के लिये ही हुआ है इसीसे वे सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्ति करने में समर्थ नहीं हैं। मनुष्य में बुद्धिकी विशेपता होनेसे

सूक्ष्म और शुद्ध बुद्धिसे सुख प्राप्ति और दुःख निवृत्ति का यथार्थ प्रयत्न कर सकते हैं।

सुख और दुःख अन्तःकरण की वृत्तिमें भाव स्वरूप है इसीसे सूक्ष्म है इनका कोई स्थूल स्वरूप नहीं है; सामान्यता से अमुक प्रकार से होने में सुख अथवा दुःख है ऐसा कह सकते हैं परन्तु इन दोनों को कोई प्रत्यक्ष दिखला नहीं सकता। लोग जिसको सुख दुःखका प्रसंग कहते हैं, ऐसे प्रसंगों में वृत्ति उनके साथ एक भाव वाली होकर ही सुखाकार अथवा दुःखाकार होती है तब प्राणी को सुख दुःख का अनुभव होता है, ऐसी वृत्ति न हो तो सुख दुःख नहीं होता; इसीसे सुख दुःख पदार्थ में नहीं है। सुखाकार और दुःखाकार अन्तःकरण की वृत्ति में ही सुख दुःख है। जब वृत्ति सुखरूप अथवा दुःखरूप भावसे परिणाम को प्राप्त नहीं होती तब सुख दुःख नहीं होता, जैसे सुषुप्ति अवस्थामें वृत्ति रहित में सुख दुःख नहीं है।

किसी पदार्थ की प्राप्ति आदिमें जब अन्तःकरण की वृत्ति अच्छा हुआ—प्रिय हुआ, लाभ हुआ ऐसा मानकर प्रियता वाली होती है तब सुख समझा जाता है और जब पदार्थ के नाश आदिक में बुरा हुआ—कष्ट रूप हुआ, अप्रिय हुआ ऐसा मानकर अप्रियता वाली होती है तब दुःख समझा जाता है; इस प्रकार सुख और दुःख अन्तःकरण की वृत्ति स्वरूप ही है वृत्ति से बाहर सुख दुःख नहीं है। अविकारी आत्मा में और जड़ अनात्मा में सुख दुःखका अभाव है। इसीसे यह वृत्ति जन्य सुख कहा जाता है। अज्ञान से आच्छादित मनुष्य इस सुखकी वांच्छा करता है, ऐसी इच्छा ही दुःखको उत्पन्न करने वाली है, जैसे दिन और रात्री एकके पीछे एक लगे रहते हैं ऐसे ही वृत्ति जन्य सुख दुःख हैं दोनों साथ ही रहते हैं, अज्ञान से उनका साथ रहना मालूम नहीं होता। जगत में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है कि जिसके सम्बन्ध से सुखाकार वृत्ति हमेशा ही बनी रहती हो। वृत्ति क्षणिक है बदलती रहती है, पदार्थ के और प्रसंग के सहारे बदला करती है, पदार्थ और प्रसंग भी अनेक होने से वृत्ति स्थिर नहीं होती। पदार्थादिक के सम्बन्ध से सुखाकार और दुःखाकार हुआ ही करती है, इस प्रकार उसका भटकना ही संसार में दुःख है।

सुख दुःख इस प्रकारका होनेसे सुख हो और दुःख न हो यह किसी प्रकारसे सिद्ध नहीं होता, सुखाकार होने वाली वृत्ति दुःखाकार अवश्य ही होगी दोनों आपेक्षिक हैं एकसे एक की सिद्धि होती है। सुख और दुःख को अज्ञान से दो मानते हैं, वे दो नहीं हैं। एक ही फल के दो बाजू के समान है, फल को हाथमें लेने से उसकी एकही बाजू हाथमें आवे दूसरी न आवे यह नहीं बन सकता इससे वृत्ति जन्य सुख ही हो दुःख न हो ऐसा नहीं बन सकता। इस प्रकार संपूर्ण सुख दुःख से युक्त है और क्षणिक है तब ऐसा सुखका विचार करना चाहिये जो हमेशा रहने वाला हो और दुःखोंसे रहित हो, कल्याण का हेतु और कल्याण स्वरूप हो।

वृत्ति जन्य सुख माया के तीन गुणों के भेद से तीन प्रकार का है। जिसको व्यवहार में अधिक करके सुख नहीं मानते, जो सुख ही नहीं है, जिसकी उत्पत्ति निद्रा आलस्य और प्रमाद से हो यानी इस निमित्त से वृत्ति सुखाकर हो यह तामस सुख कहा जाता है। जैसे आलसी मनुष्य और नशा करने वाला। दूसरा सुख जो व्यवहार में अधिकता से सुख माना जाता है, जिसकी उत्पत्ति विषय और इन्द्रिय के संयोग

से है यानी इस निमित्त से वृत्ति सुखाकार हुई है यह राजस सुख है, जैसे मिष्टान्न का खाना। मिष्टान्न विषय है जिह्वा इन्द्रिय है उससे प्रसन्नता हुई है। तीसरा सुख मन और इन्द्रियां वश होकर आत्म भाव की बुद्धि से होने वाली सुखाकार वृत्ति, सतोगुणी सुख है जैसे मुमुक्षु का श्रवण मनन। ऐसे तीनों प्रकार के विषय की भिन्नता है। परन्तु सुखाकार वृत्ति तीनों में समान है इससे वृत्ति जन्य सुख है। यह दुःख से रहित नहीं हो सकता। तमो गुण का सुख निद्रादि हमेशा नहीं रहने से दुःख सहित है। रजोगुण का विषय इन्द्रिय के संयोग रहित में नहीं रहता और विपरीत भाव के संयोग में दुःख ही होता है। सतोगुण का सुख ऊपर वाले दोनों सुखों से श्रेष्ठ है, यह सुख मुमुक्षु अवस्था में होता है यह अवस्था भी एक समान न रहने से आत्म भाव की बुद्धि स्थिर नहीं रहती तब दुःख की प्रतीति होती है, अथवा न चाहते हुए विषयों में चित्त वृत्ति लग जाने से दुःख ही होता है। चौथा सुख वृत्ति के अभाव जन्य है, कई मनुष्य उसे सुख नहीं कहते क्योंकि सुखाकार वृत्ति का वहां अभाव है। सुषुप्ति अवस्था वृत्ति के अभाव वाली होती है यह सुख भी दुःख रहित नहीं है क्योंकि अबोध रूप है और वृत्ति के उत्थान में दुःख ही होता है।

पांचवां एक विलक्षण सुख है, यह सुख अज्ञान निवृत्ति के पश्चात् होता है, यह वृत्ति जन्य होते हुए भी अज्ञान के प्रभाव से रहित है क्योंकि ज्ञान से अज्ञान निवृत्त हुआ है। विवेकी पुरुष उस सुख को जीवन्मुक्ति का विलक्षण आनन्द कहते हैं, यह सुख गुणातीत भाव से युक्त होता है, अखंड है और दुःख से रहित है। जगत में इस प्रकार का सुख ही एक दुःख से रहित सुख है।

अज्ञान में जब सुखाकार वृत्ति होती है तब दुःख को सामने रख कर होती है और जब अज्ञान निवृत्त होकर शरीर से चेष्टा होती है तब जगत की सत्यता निवृत्त होजाने से पदार्थाकार वृत्ति सुख रूप ही होती है दुःख रूप नहीं होती, दुःख की अपेक्षा रहित सुख होता है क्योंकि वहां सुख स्वरूप आत्मा का अपरोक्ष है इसीसे दुःख का अभाव है। अज्ञानी मनुष्य, आन्तर ब्रह्म भाव को सूक्ष्म होने से समझ नहीं सकता वे ज्ञानी पुरुष में क्रिया के साथ दुःखाकार वृत्ति की कल्पना करते हैं, उससे ज्ञानी की कोई हानि नही होती, ज्ञानी पुरुष की दुःखाकार वृत्ति ही नहीं होती, उसे सब मिथ्या तमाशा रूप हो जाने से सुख में भी सुख और दुःख में भी सुख है, रोते हुए, कष्ट भोगते हुए और हंसते हुए सुख ही सुख है। जैसे तमाशा देखने वाला करुणा रस से तमाशा देखते हुए रो पड़ता है परन्तु तमाशा का भाव होने से रोने को दुःख रूप नहीं मानता, रोकर भी तमाशे की प्रसंशा कर आनन्द मानता है ऐसे ज्ञानी को वृत्ति सहित दुःख में भी सुख ही है।

अज्ञानी की वृत्ति का अवलम्बन जगत और जगत के पदार्थ हैं और उनका सच्चा भाव है, ज्ञानी का भाव परब्रह्म स्वरूप में है इसीसे जगत् में कार्य करते हुए वह स्वरूप के निश्चय में टिका हुआ होता है इसीसे पदार्थाकार वृत्ति में भी वह सुख का भोक्ता है। समाधि और विदेह कैवल्य में पृथक् भोक्ता नहीं होता और जीवन्मुक्ति में वृत्ति सहित ब्रह्मानन्द का भोक्ता होता है इस प्रकार लौकिक और पार-

मार्थिक दोनों प्रकार के सुख से विलक्षणता है। उसे संपूर्ण जगत तत्त्व से ब्रह्म स्वरूप हुआ है इसीसे जगत् के भोग में भी उसे ब्रह्मानन्द ही होता है।

सब लोग सुख की प्राप्ति और दुःखकी निवृत्ति चाहते हैं परन्तु ऐसा दुःख रहित निर्मल सुख ज्ञान के पश्चात् ही प्राप्त हो सकता है; अज्ञान सहित कितना ही ऐश्वर्य हो, जिन जिन पदार्थों से सुख प्राप्ति समझी जाती है वे सब प्राप्त हों तो भी दुःख रहित सुख नहीं मिल सकता। अज्ञान सहित सब प्रकार के सुख को विवेकी पुरुष दुःख ही मानते हैं और विचार से देखा जाय तो अज्ञान में सब दुःख रूप ही है। लोग तत्त्व ज्ञान को प्राप्त करना कठिन समझते हैं परन्तु शुद्ध बुद्धि वाले को कुछ कठिन नहीं है जो कठिनता है वह अशुद्ध बुद्धि को निर्मल करने में है।

विचार करने से जगतकी अनित्यता का वारंवार प्रत्यक्ष होता है, ऐसे अनित्य विषयसुखको सुख मानने से दुःख रहित निर्मल सुख की प्राप्ति कभी भी नहीं होगी। जगत और जगत के पदार्थ में सुख नहीं है, अनित्य ऐसे जगत में ऐश्वर्य ही क्या है सुख ऐश्वर्य तो स्वस्वरूप में ही है इससे ज्ञान युक्त बुद्धि से निर्मल अखंड सुखका भोग हो सकता है। जगत के मिथ्या आभास रूप सुख का भी अज्ञानी मनुष्य यथार्थ भोग नहीं कर सकता तब उसे अखंड सुख किस प्रकार प्राप्त हो? इसीसे जिसको सुख की चाहना है उसे सब प्रकार से बुद्धि को शुद्ध करके आत्म तत्त्व का बोध कर लेना चाहिये। मनुष्य जन्म का सार्थक और नाश न होने वाला सुख-आनन्द उसीसे होगा। अज्ञान में जगत और सब पदार्थ दुःख रूप होते थे वे तत्त्व ज्ञानके पश्चात् सुख रूप हो जाते हैं दुःख और दुःखी होने वाले का अभाव होकर निर्मल महाभोक्ता शेष रहता है। जगतको मिथ्या मान कर जो उसका भोग करता है वह आनन्द में रहता है।

शंका:—जब जगत को झूठा माना जाय तब तो व्यवहार ही नहीं होगा। झूठे में व्यवहार होता नहीं और व्यवहार रहित में सुख कैसे होगा? भोग में ही सुख होता है।

समाधान:—जगत को झूठा मानने से व्यवहार न हो ऐसा नहीं है। तमाशा झूठा होता है, ऐसा मान कर भी तू देखने को क्यों जाता है? देख कर प्रसन्न क्यों होता है? भोग के साथही सुख का भान होता है यह तेरी बात मान ली जाय तो झूठा समझ कर भी भोग हो सकता है। तू तमाशा देखने को जाता है तब नेत्र इन्द्रिय और कर्ण इन्द्रिय द्वारा भोग होता है।

शंका:—तमाशा झूठा नहीं है वहां मनुष्य सच्चे हैं, क्रिया भी सच्ची है, पूर्व में हुई क्रिया की नकल है अथवा कल्पित किया हुआ आख्यान का दृश्य है। दृश्य और क्रिया, क्रिया करने वाले सब सच्चे हैं।

समाधान:—तब तू संसार को भी वैसा ही मान। जैसे ससे के सींग होते ही नहीं हैं ऐसा संसार नहीं है परन्तु पूर्व की हुई क्रिया के भाव की फल रूप नकल है अथवा मानसिक संस्कारों का दृश्य और क्रिया है। किसी प्रकार से तू नकल को सच्ची नहीं कह सकता, नकल असल नहीं होती।

शंका:—पूर्व की हुई क्रिया की नकल कहते हो यह नहीं बन सकता। पूर्व जन्म किसी को याद नहीं है तब यह पूर्व क्रियादिक की नकल है ऐसे किस प्रकार जाना जाय?

समाधान:—तमाशे में जो दृश्य, क्रिया आदि तू देखता है वह तेरी देखी हुई नहीं है, न किसी जीते

मनुष्य की देखी हुई है फिर उसे नकल क्यों कहता है ?

शंका:—देखी हुई न होकर भी इतिहास से पता लगता है।

समाधान:—तो यह संसार भी पूर्व जन्मों के पड़े हुए संस्कारों का फल रूप है ऐसा शास्त्र से जाना जाता है।

शंका:—जगत को झूठा जान कर भोग किया जाय तो सुख-आनंद क्या होगा, भोग क्या होगा ? वह स्वाद रहित ही होगा !

समाधान:—इसमें निर्मल सुख होता है, एक-रस आनन्द होता है ऐसे सुख को छोड़कर दुःखयुक्त सुखाभास को क्यों पकड़ता है ? तू सच्चे शेर से भागता है और खिलोने के शेर से अपने घर को सजाकर आनन्द मानता है ? तू संसार में तमाशा करने को आया है, तमाशे को सच्चा मानकर दुःखी होता है। यह संसार एक तमाशा है ऐसा जानने वाला संसार के दुःखों से दुःखी नहीं होता; जैसे तमाशे के दुःखसे नट दुःखी नहीं होता। जगत तेरे जाने के मार्ग के घंटे दो घंटे के मुकाम के समान है उसे तू अज्ञान से अपना निवास स्थान समझ कर अनेक प्रकार के कष्ट पाता है। तुझे अपने स्वरूप का बोध नहीं है जो तू अपने को तत्त्व से जान ले तो संसार और संसार के सम्पूर्ण कष्ट चले जाते हैं और आनन्द ही आनन्द होता है। संसार में सुखी होने का स्वस्वरूप के बोध के सिवाय और कोई मार्ग ही नहीं है।

निर्भय कुमार नामका एक राजकुमार शिकार खेलने को गया वहां शिकार के पीछे चलते हुए अपने साथियों से अलग पड़ गया और महा जंगल में घुस गया, घूमते २ थक गया शाम होने आई थी, वहां से बाहर निकलने को चाहता था परन्तु मार्ग मिलता नहीं था, भूख प्यास भी लगी हुई थी। इस प्रकार चिन्तातुर होकर चारों ओर देखने लगा इतने में दूर से एक पर्वत की कंदरा के द्वार पर एक साधु बैठा हुआ देख पड़ा, बहुत परिश्रम के पश्चात् वहां से चलकर साधु की कंदरा के पास पहुंच गया। वहां प्रणाम करके हाथ जोड़ खड़ा रहा।

वस्त्राभूषण से सजे हुए राजकुमार को देख कर के साधु ने सामने बैठने को कह कर पूछा:—तू यहां इस स्थान पर किस प्रकार आया ? सामान्य मनुष्यों का यहां आना कठिन है। कुमारने अपने आने का सब वृत्तान्त सुनाया। वह साधु की भव्य आकृति और अकृत्रिम प्रसन्नता से मुग्ध होगया। रात्री पड़ने आई थी इसीसे साधु ने उसे वन के फलों का आहार कराया और रात्री को टिकने की आज्ञा दी। रात्री के समय राजकुमार ने साधु से कहा:—आप अरण्य में रहते हो, आपका यहां कोई सहायक नहीं है, ऐश्वर्य रहित हो फिर भी अत्यन्त प्रसन्न क्यों रहते हो ? चिन्ता रहित करने वाली कौन सी वस्तु आपके पास है ? हम सब प्रकार ऐश्वर्य से संपन्न होकर भी आपके समान सुखी नहीं हैं।

साधु:—राजकुमार, तेरा कहना सत्य है। मेरा जीवन निर्दोष चिन्ता से रहित है, मोह भय कष्टादि मुझे छूने को भी समर्थ नहीं हैं। मुझे आत्मबोध रूप ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है, इस ऐश्वर्य के सामने इन्द्रादिक का ऐश्वर्य तुच्छ और कष्टों से युक्त है। मेरी प्रसन्नता का यह ही कारण है। मुझे जो प्राप्त हुआ है वह तेरे पास भी है, परन्तु अज्ञान से तू उसका उपयोग

कर नहीं सकता, जब तक आत्म धनकी प्राप्ति नहीं होती तब तक सब धन धन है, आत्म धनकी प्राप्ति के पश्चात् सब धूल समान होजाते हैं। संपूर्ण कामनाओं को छुड़ाने वाला आत्मबोध है, इससे परम शान्ति आनन्द और स्वाभाविक प्रसन्नता होजाती है। उसे प्राप्त किये विना मनुष्यजन्म कष्ट रूप ही है और मनुष्यजन्मका धारण करना ही व्यर्थ है। स्वस्वरूप का बोध प्रत्यक्ष फल स्वरूप है अखंड आनंद का सागर है उसे प्राप्त करके कृतार्थ होता है।

निर्भयकुमारः—महाराज आपने कहा कि जो मैंने प्राप्त किया है वह तेरे पास भी है, तब मैं उसे क्यों नहीं जानता ? क्या वह मुझे प्राप्त नहीं हो सकता ? संसार में क्षण क्षण में कष्ट है ऐसा मुझे अनुभव है। मुझे कभी दुःख न हो सुख ही सुख हो ऐसा उपदेश आपसे मैं चाहता हूँ, मैं आपके समान हमेशा की प्रसन्नता को चाहता हूँ, मैं आपका शिष्य हूँ।

साधुने राजकुमार को शुद्ध बुद्धि वाला और उपदेशको ग्रहण करने वाला मुमुक्षु समझकर आत्मोपदेश किया। तीव्र बुद्धि वाले राजकुमार ने उसे ग्रहण किया। एक रात्रीमें ही राजकुमार आत्मज्ञानी होकर सुबह होते ही अपने राज्य में चला गया।

निर्भयकुमार ने बाहर से राज काजको छोड़ा नहीं था परन्तु आन्तर में उसके अभिमान से रहित था, वह आन्तर जगतको मिटाकर ब्रह्ममय होगया था, सब प्रकार के व्यवहार करते हुए निर्लेप ही रहता था, प्रारब्ध प्रेरित आभास रूप कर्म ही उससे होते थे। वह सबका प्यारा था कोई भी उसके दुश्मन न थे। उसकी योग्यता और साधुकी कृपा से वह अकृत्रिम आनन्द समुद्र में मग्न रहता था, शरीर में रहता हुआ भी अशरीर था, उसका आनन्द उसे ही मालूम होता था। अन्य अज्ञानी उसके आनन्द को समझने में भी असमर्थ थे। इस प्रकार निर्भयकुमार ने पूर्ण निर्भय होकर अपनी आयु दुःख रहित आनंदपूर्वक व्यतीत की। ऐसा जीवन ही दुःखसे रहित सच्चा सुखमय जीवन है। हे मुमुक्षुओ ! तुम भी इस प्रकार का आनन्दमय जीवन व्यतीत करने को प्रयत्न करो।

हितोपदेश।

युवा पंडित पुत्र को विषयों में अत्यन्त आसक्त हुआ देख कर एक वृद्ध पिता इस प्रकार समझाने लगाः—

पिताः—हे पुत्र ! नर जन्म देवताओं के लिये भी दुर्लभ्य है, ऐसे सुर दुर्लभ नर शरीर को प्राप्त करके इसकी अवज्ञा मत कर ! यह मनुष्य शरीर परमात्मा का दान है। इस दान की अवहेलना करना तुझे उचित नहीं है ! हे तात ! मोक्ष के लिये प्रतिज्ञा कर, मोक्ष के लिये यत्न कर, इसमें देर करना ठीक नहीं है, मृत्यु सर्वदा शिर पर खड़ा रहता है, घड़ी भर जीने की भी आशा नहीं है, इसलिये अभी ही संसार से मुक्त होने का उपाय करना चाहिये। यदि खाने को न मिले तो ऐसे जीने से क्या लाभ है ? यदि मोक्ष की इच्छा न हुई तो विद्या और शक्ति से क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ? कुछ भी प्रयोजन सिद्ध न हुआ। जिस जीवन से शांति प्राप्त हो, वह ही जीवन सफल है और जिस विद्या से मोक्ष की

प्राप्तिहो, वहही विद्या विद्या है; नहीं तो अविद्या है। जिस शक्तिसे पुरुषार्थ सिद्ध किया जाय, वह शक्ति ही शक्ति है, नहीं तो अशक्ति—असामर्थ्य है! करोड़ों बार तू जन्म ले चुका है, करोड़ों बार मर चुका है, करोड़ों बार इस संसार रूप वन में सुख बिना दुःख उठाता हुआ ही भ्रमता रहा है, अब तो सुख प्राप्त करने के लिये यत्न कर! जब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती तब तक जीव बारंबार जन्मता रहता है, बारंबार वृद्ध होता है, अनेक व्याधियों से जलता रहता है, दुःख पर दुःख उठाता रहता है और कभी शांति की प्राप्ति नहीं होती। हे पुत्र! दुःख से जलते हुये, अपने कर्मों से पीड़ित होते हुये मनुष्यों को देखकर उठ खड़ा हो, महा मुक्ति के लिये यत्न कर; क्षण भर भी विलम्ब मत कर। जो पुरुष दिन रात संसार दावानल में जल रहा है, वह क्यों विलम्ब करेगा? नहीं करेगा; क्योंकि विलम्ब ही महान् भय रूप है। हे पुत्र! भयंकर मुख वाले कराल डाढ़ों वाले, दूसरों के वध करने को उद्यत—तैयार काल को देखकर तू शीघ्र ही संसार दुःख से छूटने के लिये और परमानन्द रूप मोक्ष प्राप्त करने के लिये यत्न क्यों नहीं करता?

हे पुत्र! अभी शीघ्र ही भोग त्याग कर शुभ योग का आरंभ कर, योग रूपी नौका से संसार रूप शोक समुद्र को तुरंत ही तरजा! संसार रूप पाश में बंधा हुआ जीव पशु है और सदाशिव पाश से मुक्त है, योग के बल से बंधन को काट कर शीघ्र ही शिव रूप होजा! घृणा, लज्जा, भय, शोक, जुगुप्सा, कुल, शील और जाति ये आठ पाश कहलाते हैं, जुगुप्सा निन्दा का नाम है और शील स्वभाव यानी प्रकृति को कहते हैं। हे पुत्र! निरोध और निबोध से उत्तम योग को सिद्ध कर और योग की सिद्धि के सर्व सिद्धियों के भंडार श्रीगुरु का आश्रय ले! अन्तःकरण की वृत्तियों को रोकने का नाम निरोध है। नारद सूत्र में कहा है 'ॐनिरोधस्तु लोक वेद व्यापार संन्यासः॥' 'ॐ तस्मिन् अनन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च॥' अर्थात् लोक वेद व्यापार के त्याग का नाम संन्यास है अथवा परब्रह्म में अनन्यता—एकाग्रता और पर ब्रह्म से विरोधी वस्तुओं में उदासीनता, इसका नाम निरोध है। निबोध का अर्थ ज्ञान है। दुर्लभ से दुर्लभ और गुह्य से भो गुह्य योग सद्गुरु की करुणा बिना प्राप्त नहीं होता। योग ही शुभ विद्या है, परा विद्या, महा विद्या और परमा विद्या, ये तीन नाम योग के ही हैं। योगयुक्त, तपोनिधि, दीप्तबुद्धि मुक्तिदायक महाप्राज्ञ श्री गुरु के पास जाकर योग विज्ञान प्राप्त कर! वस्तु ज्ञान और क्रिया ज्ञान ये दो प्रयोजन योग के सिद्ध करने में हैं, मुमुक्षुओं को ये दोनों प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करने चाहिये, मनुष्य जन्म का यह ही सार्थक है।

हे पुत्र! विषय विशेष रूपसे बांधते हैं, इसलिये वे विषय कहलाते हैं, विषय ही सर्वदा बंधन रूप हैं और विषय ही बंधन के कारण हैं, हे पुत्र! अर्थ और विषय ये दोनों एकही अर्थ के वाचक हैं, इन्द्रियों के अर्थ विषय हैं और भोग के साधन भी विषय ही हैं। यद्यपि विषय असंख्य हैं, तो भी सूक्ष्म और स्थूल भेद से वे दो प्रकार के हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पंच महाभूत, समस्त, द्रव्य, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, शास्त्रमें बताये हुये सर्व गुण, सर्व प्रकार की क्रियायें; समस्त पदार्थ ये सब विषय हैं। हे पुत्र! अधिक क्या कहूँ जो २ पदार्थ

ज्ञानके विषय हैं यानी जहां तक मन जाता है, वे सब विषय ही हैं।

द्रव्य—द्रव्य का अर्थ वस्तु है। न्याय और वैशेषिक शास्त्रमें नव प्रकार का द्रव्य कहा है, जैसे कि पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये आठ द्रव्य हैं।

गुण—कणाद ऋषिने (१) रूप (२) रस (३) गंध (४) स्पर्श, (५) संख्या, (६) परिमाण, (७) पृथकत्व, (८) संयोग, (९) विभाग, (१०) परत्व, (११) अपरत्व, (१२) बुद्धि, (१३) सुख, (१४) दुःख (१५) इच्छा (१६) द्वेष, (१७) प्रयत्न, ये सत्तरह गुण माने हैं और न्याय शास्त्र में (१८) गुरुत्व, (१९) द्रवत्व, (२०) स्नेह, (२१) संस्कार, (२२) धर्म, (२३) अधर्म और (२४) शब्द ये ७ गुण विशेष करके चौवीस गुण माने हैं।

क्रिया—कणाद मतमें उठाना, डालना, सकोड़ना, फैलाना और चलना ये पांच क्रियायें हैं।

पदार्थ—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये सात पदार्थ वैशेषिक में प्रसिद्ध हैं और न्याय मतके अनुसार हैं। प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धांत अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान, इन सोलह पदार्थों के तत्त्वको जानने से गौतम महर्षि मुक्ति मानते हैं। धर्म विशेषसे उत्पन्न हुये द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय, इन पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य के तत्त्व ज्ञान से कणादि ऋषि मुक्ति मानते हैं।

हे पुत्र ! जब मन विषय के समीप प्राप्त होता है, तब विषय की आकृति को धारण करता है उस आकृति को धारण करने का नाम वृत्ति है। ये वृत्तियां क्लिष्ट और अक्लिष्ट दो प्रकार की होती हैं, प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति ये पांच वृत्तियों के नाम हैं। अर्थ के आकार वाले मनको प्राज्ञ अन्तरार्थ कहते हैं इसीका नाम सूक्ष्म है। वाह्यार्थ स्थूल कहलाता है। अन्तरार्थ ही केवल वंधन का कारण है, ईश्वर सृष्टि वंधन का कारण नहीं है, जीव सृष्टि ही वंधन रूप है। वाराहोपनिषद् में कहा है कि ईक्षण से लेकर प्रवेश तक ईश्वर की कल्पी हुई सृष्टि है और जाग्रत् से लेकर मोक्ष पर्यन्त संसार जीवका कल्पा हुआ है।

हे पुत्र ! वाह्यार्थ और अन्तरार्थ इन दोनों से परे स्वरूप है। मन स्वरूप में स्थित है। मनसे विषय देखने में आते हैं, मनमें वृत्ति स्थित है। ग्राहक और ग्राह्य दो प्रकार का मन मुनियों ने माना है। ग्राहक को प्रकाशक अथवा विषयी कहते हैं और ग्राह्य को प्रकाश्य अथवा विषय कहते हैं।

हे पुत्र ! जब मन तामस पदार्थ का आकार धारण करता है, तब मन में तमोगुण की वृद्धि होती है, जब मन राजस विषय का आकार धारण करता है, तब मन में निश्चय रजोगुण की वृद्धि होती है और जब मन सात्त्विक पदार्थ का आकार धारण करता है, तब मन में अवश्य ही सात्त्विक भाव की वृद्धि होती है। मन की तमोगुणी वृत्तियों को मूढ़ कहते हैं, राजसी वृत्तियों को घोर कहते हैं और सतोगुणी वृत्तियों को शान्त कहते हैं। मूढ़ वृत्तियों से आलस, निद्रा, तन्द्रा, मोह, भय आदिक उत्पन्न होते हैं और शान्त वृत्तियों से वैराग्य, क्षान्ति, उदारता आदिक उत्पन्न होते हैं। मूढ़ वृत्ति में अज्ञान होता है, घोर वृत्ति में दुःख होता है और

शान्त वृत्ति में सुख और ज्ञान होता है । इसलिये मुमुक्षु को मूढ़ और घोर वृत्तियों को प्रयत्न पूर्वक त्याग कर शान्त वृत्तियों को निरन्तर बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिये ।

शान्त वृत्तियों को बढ़ाने का उपाय--हे पुत्र ! स्वधर्म रूप शिष्टाचार का पालन करने से शान्त वृत्तियों की वृद्धि होती है। मोक्ष की तीव्र इच्छा के प्रभाव से शान्त वृत्तियों का प्रवाह बढ़ता जाता है। सर्व संग के परित्याग से शान्त वृत्तियां बढ़ती हैं, दोष के त्याग से भी शान्त वृत्तियां वृद्धि को प्राप्त होती हैं। विचार शान्त वृत्तियों को बढ़ाने का मुख्य उपाय है। प्राणायाम से, विराग से, संकल्प कल्पना का क्षय करने से, भक्ति की अधिकता से, मंत्र के जप से, इष्टदेव का ध्यान करने से, विष्णु भगवान् को सर्वस्व अर्पण कर देने से, ज्ञान के अभ्यास से, समाधि से और सर्वत्र ब्रह्म का दर्शन करने से रजोगुण और तमोगुण लय हो जाते हैं और चित्त में सतोगुण की स्थिति होती है ।

हे पुत्र ! जब योगी शुद्ध सत्त्वमय हो जाता है तो वह तुरन्त ही गुणातीत होकर जन्म मृत्यु और जरा से अतीत होकर सब उपाधियों से रहित हो जाता है। विवेक चूड़ामणि में शुद्ध सत्त्वमय के ये लक्षण कहे हैं— विशुद्ध सत्त्वस्य गुणाः प्रसादः स्वात्मानुभूतिः परमा प्रशान्तिः । तृप्तिः प्रहर्ष : परमात्म निष्ठा यया सदानन्द रसं समृच्छति ॥' अर्थात् जिसका सत्त्व विशुद्ध होता है, उसके गुण प्रसन्नता, स्वात्मा का अनुभव, परम शांति, तृप्ति प्रहर्ष और परमात्म निष्ठा है। परमात्म निष्ठा से सदा आनन्द रूप रस की प्राप्ति होती है । इसलिये बुद्धिमान् पुरुष को त्रिगुणातीत होने के लिये राजस, तामस को छोड़ कर सर्वदा सत्त्वगुण का सेवन करना चाहिये। बुद्धिमान् पुरुष सर्व सद्गुणों से संपूर्ण, शुद्ध, सत्त्वमय, शुभ, प्रकाश रूप इष्टदेव का निरन्तर ध्यान करें ! एक विद्वान का कथन है कि परमात्मा पवित्र से भी पवित्र है, इसका सर्वदा ध्यान करे और पवित्र हो जाय ।

हे पुत्र ! जैसे पिघला हुआ धातु सांचे में डालने से सांचे के आकार का हो जाता है, इसी प्रकार देव का चिंतवन करने से मन देव के ही आकार का हो जाता है और चिंतवन के अभ्यास से देवता रूप से सुदृढ़ स्थिर हो जाता है। जब देवता के सुचिंतवन से मन शुद्ध हो जाता है तो शुद्ध मन में ज्ञान, भक्ति और समाधि ये तीनों उत्पन्न होते हैं । व्रत, दान, तप और यज्ञ ये भी तीनों देहों के शुद्ध करने वाले हैं, धर्मशास्त्र परायण पुरुष इनकी नित्य उपासना करते हैं ।

हे पुत्र ! समस्त जीवों का मन जड़ चैतन्य मिश्रित है, तमोगुण के अधिक होने से जड़ता की अधिकता होती है और सत्त्व गुण की वृद्धि से जड़ता थोड़ी हो जाती है। मन के जड़ भाग से ही मोहमय जगत् का भ्रम है और इसीसे विषयों का ग्रहण होता है।

हे पुत्र ! जब चित्त में से जड़ता निकल जाती है तो चित्त पवित्र हो जाता है। निर्विषय यानी विषय के अवलम्बन से रहित चित्त शुद्ध होता है और कामनाओं से विंधा हुआ चित्त अशुद्ध होता है । प्रमाणादि वृत्तियों से हीन, निरालम्ब यानी किसी पदार्थ के आलम्बन से रहित, शान्त, निर्विषय रज तम से शून्य, स्थिर मन शुद्ध कहलाता है । अपवित्र मन वाले जीव की जाग्रत्, स्वप्न, और सुषुप्ति

तीन दशायें यानी अवस्थायें हैं, और वह ही अशुद्ध मन वाला जीव स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों में कर्ता और भोक्ता भाव को प्राप्त हुआ है। विचार कर देखा जाय तो आनन्द स्वरूप आत्मा में तीनों शरीर, तीनों शरीरों की तीनों अवस्थायें और कर्ता भोक्तापना नहीं है। तीनों शरीरों के तादात्म्य संबंध से आनन्द स्वरूप आत्मा देश, काल और वस्तु से परिच्छिन्न होकर स्वल्प ज्ञान वाला हो गया है और इसलिये कामनाओं से आर्त, स्वल्प शक्ति वाला होकर दुखी और अस्थिर रहता है ।

हे पुत्र ! जब मन शुद्ध होजाता है तब जीव तुर्य अवस्था में स्थित होता है और महामाया के प्रभाव से भागवती यानी वैष्णवी शरीर को प्राप्त होता है। वैष्णवी शरीर अठारह महा दोषों से रहित सर्व सुलक्षण संपन्न और चिदानन्दमय होता है। उस वैष्णवी शरीर में समाधिस्थ होकर जीव कल्याण कारक पाश हारक द्वैताद्वैत स्वरूप शुभ विज्ञान को प्राप्त होता है और इस प्रकार भाव करता है—'इसमें संशय नहीं है कि मैं शिव हूं, निश्चय यह सब बोधमय ही है, मैं यह सब हूँ, यह सब मुझमें है, यह सब मेरा है, निश्चय ऐसा ही है।'

हे पुत्र ! पश्चात् योगी उपरोक्त भावको भी त्याग देता है और 'मैं शिव हूँ' इस ज्ञानके तत्पर होकर ब्रह्मयोग परायण और निष्प्रपंच होजाता है। पश्चात् योग के प्रभाव से मनको शुद्धतर करके शीघ्र ही परमानन्द संपन्न तुर्यातीत होजाता है और 'मैं हूं' इस शुद्ध, अद्वैत, चिदात्मक भावमें स्थित होकर प्रसन्न चित्त और चिंता रहित होजाता है, इसके पश्चात् निर्मल से भी अति निर्मल होकर बहुत ही प्रशान्त, महामौनी और चित्स्वरूप होजाता है। पश्चात् वह विजयी योगी निरामय योगान्त को प्राप्त होकर सुख रूप, सदा पूर्ण परम शिव होकर विराजता है और जीवन्मुक्त होकर विचरता है ।

जीवन्मुक्त—जीते हुये मुक्त पुरुष को जीवन्मुक्त कहते हैं यानी जीते जी ही आत्मज्ञान द्वारा जो बंधन से रहित है, उसका नाम जीवन्मुक्त है अथवा अखंड ब्रह्म जो अपना स्वरूप है, उस स्वस्वरूप के ज्ञान से अपने अज्ञान का बाध करके जो स्वस्वरूप अखंड ब्रह्म में स्थित है और स्वस्वरूप के साक्षात्कार से अज्ञान और अज्ञान के कार्य संचित कर्म, संशय, विपर्यय आदि भी जिसके बाध होगये हैं, ऐसा सर्व बंधनों से रहित ब्रह्मनिष्ठ जीवन्मुक्त कहलाता है ।

ऐसा जीवन्मुक्त हे पुत्र ! न हर्ष करता है, न शोक करता है, न भय करता है, सर्वदा शांत रहता है। सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता ! सुनता हुआ कुछ नहीं सुनता, छूता हुआ कुछ नहीं छूता, देखता हुआ भी कुछ नहीं देखता, स्वाद लेता हुआ भी स्वाद नहीं लेता और सूंघता हुआ भी नहीं सूंघता ! बोलता हुआ कुछ नहीं बोलता, ग्रहण करता हुआ भी कुछ नहीं लेता, चलता हुआ भी कहीं नहीं जाता, आनन्द लेता हुआ भी आनन्द नहीं लेता और त्यागता हुआ भी कुछ नहीं त्यागता ! श्वास प्रश्वास लेता हुआ भी श्वास प्रश्वास नहीं लेता, मनन करता हुआ मनन नहीं करता, चिंतवन करता हुआ भी चिंतवन नहीं जानता, जानता हुआ भी कुछ नहीं जानता, अहंकार करता हुआ भी अहंकार नहीं करता !

निन्दा प्रशंसा में समान रहता है, कठिन कोमल स्पर्श शीतोष्ण उसके लिये समान हैं, वैरी समान

रूपवती और पिशाचिनी समान कुरूप वाली स्त्री दोनों उसकी दृष्टि में एकसी होती हैं, षट् रस स्वादिष्ट भोजन में वह प्रीति नहीं मानता, रूखे सूखे टिकड़ों से ग्लानि नहीं करता! नाना प्रकार के सुन्दर सुगंधित पुष्पों से शोभित वाटिका उसको हर्षित नहीं करती और भयंकर श्मशान भूमि उसको कुपित नहीं करती! श्रावक, नाटक ग्रन्थ सब कुछ श्रवण करता है, सिद्धांत का मंडन करता है, पर-पक्ष का खंडन करता है, अनेक दृष्टांत देता है, फिर भी कुछ नहीं करता! दान देता है, लेता है, तीर्थ यात्रा में जाता है, भोग भोगता है प्रारब्ध वश सब कुछ करता है फिर भी कुछ नहीं करता क्योंकि 'मैं देह हूँ' ऐसा उसे कदाचित् भी स्मरण नहीं होता! यज्ञ, दान, जप, तप करता है, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि अष्टांग योग करता है अथवा श्रवण, मनन, निदिध्यासन करता है अथवा श्रवण, कीर्तन आदि नवधा भक्ति करता है अथवा तर्क, मीमांसा, वैशे-षिक आदि शास्त्र पढ़ता है, इत्यादि सब कुछ करता है, फिर भी कुछ नहीं करता! राज्य करे तो अच्छा भिक्षा मांगे तो भला, दोनों उसके लिये समान ही है। जैसे स्वप्न द्रष्टा का स्वप्न से कोई हानि लाभ नहीं है, इसी प्रकार संसार स्वप्न है, वह स्वप्न द्रष्टा है, संसार से कोई हानि लाभ, हर्ष शोक उसको नहीं होता!

हे पुत्र! ऐसा जीवन्मुक्त मुनीश्वर धन्य है, धन्य है, सदा धन्य है! स्वरूपावस्थित जीवन्मुक्त सब से पर है महामान्य है, धन्य है, धन्य है और धन्य है! उसका गुरु धन्य है, उसका कुल धन्य है, उसके माता पिता धन्य हैं, जहां २ वह विचरता है, उसके चरणाम्बुज से पवित्र हुई देवी वसुंधरा धन्य है!

हे पुत्र! संसार असार है, चार दिनका व्यापार है, इसमें मन लगाना तुझ सरीखे विद्वान् को उचित नहीं है। योग का अवलम्बन लेकर पूर्ण योगी हो जा! जीते जी संसार की सैर देख, बोझ शिर पर मत उठा, दूसरों के लिये चिंता करना तुझे युक्त नहीं है। सब अपना २ प्रारब्ध साथ लाते हैं, भोग कर चले जाते हैं, प्रारब्ध से अधिक किसी को रत्ती भर अधिक नहीं मिलता, धन धाम, इष्ट प्राप्ति, अप्राप्ति प्रिययोग वियोग सब कर्माधीन हैं। इसलिये भोगों की प्राप्ति में समान रह कर अपने आनन्द स्वरूप आत्मा का साक्षात्कार कर और सुखी हो जा, इसी-लिये मनुष्य शरीर प्राप्त हुआ है, मनुष्य शरीर को सार्थक करले और जीवन्मुक्त होकर आनन्द से विचर! यह ही मेरा उपदेश है, यह ही श्रुति, स्मृति सन्त महात्माओं का आदेश है, आदेश है, सच्चा आदेश है!

पिता का हितोपदेश सुनकर पुत्र के हिये की आंखें खुल गईं, पिताकी आज्ञा शिर आंखों से उसने मान ली, भोग त्याग दिये हैं, योग में लग गया और अन्तमें स्वाराज्य निष्कंटक निर्वाण पदको प्राप्त हुआ, इत्यतिशोभनम्।

—सकल चराचरानुचर भोला।



एक मुमुक्षु की चिंता ।

मुमुक्षुः—हे मन विश्राम ले, इन्द्रियों के सुख संपादन के लिये विषयों की खोज में कठिन परिश्रम न कर, आन्तरिक शांति की चेष्टा कर, जिससे कल्याण हो । विषयों में कुछ भी सुख नहीं है, वे विष से भी बुरे और काले नाग से भी भयंकर हैं । अरे ! अब तो मेरा कहना मान और समुद्र के तरंग के समान अपनी चंचल चाल को छोड़ दे । देख तेरे सिर पर काल मंडरा रहा है, वह एक ही वार में तुझे निगल जायगा । अरे भैय्या, ये इन्द्रियां बड़ी दुष्ट हैं इनमें दया नहीं है, यह मतवाले की भांति कुमार्ग पर ले जाती हैं । संसारी पदार्थों में सुख न मान, क्योंकि ये असार और नाश मान है, तू इनसे सावधान रह और इनके भुलावे में न आ । अब शांत हो कष्ट सहना सीख, जगत् को असार और स्वप्नवत् समझ, इस जंजाल से अलग हो वारम्वार इसीकी इच्छा मतकर, अपने आत्मा में ही मग्न हो, बहुत कहना व्यर्थ है, अब तू अपने आत्मा में ही सुखमान । इस प्रकार करने से अवश्य तेरा कल्याण होगा ।

'कल्याण कैसा ?' सुन, जब तू ज्योतिः स्वरूप आत्मा को देख लेगा, उसीमें संतुष्ट रहेगा. उससे कभी न डिगेगा तब उसके आगे अन्य सब लाभ तुच्छ जंचेंगे । योगेश्वर श्रीकृष्ण ने ऐसी ही बात गीता के छठे अध्याय में कही है । उस सुख को सब नहीं जान सकते, जो अनुभव करता है वही जानता है । उसे कोई कह कर बता नहीं सकता, स्त्री पुरुष के सुख को जैसे नपुसंक नहीं जान सकता, वैसे ही ज्ञानी के सुख को अज्ञानी नहीं जान सकता ।

हे मन, अब इस बनावट को छोड़, "बनावट कैसी ?" सुन, दिखावट को माला जपना, गौमुखी में सड़ासड़ हाथ चलाना, 'गीता' श्रीगोपाल सहस्त्र नाम आदिका पाठ करना, और बीच बीच में कारोबार की बातें भी करना अथवा स्त्री बच्चों के झगड़े निपटाना । क्या यह बनावट नहीं है ? ऐसे भजन करने से और माला फेरने से कोई लाभ नहीं । इस प्रकार समय वृथा नष्ट होता है । हे मन तेरे एकाग्र हुए बिना शांति नहीं और स्थिर हुए बिना सब परिश्रम वृथा हैं ।

मूड़ मुड़ाये अनेक दिन हो गये, पर आज तक भगवान न मिले । मिलें कैसे ? मन राम में लगे, तब तो राम मिलें । मन तो विषय भोग में लगा रहता है, फिर राम कैसे मिलें ? जिस प्रकार रवि और रजनी, दिन और रात एकत्र नहीं होते इसी प्रकार राम और काम एकत्र नहीं मिलते, जहां काम है वहां राम नहीं और जहां राम है वहां काम नहीं ।

हे मन तूने तन को ही योगी बनाया परन्तु तू योगी नहीं हुआ यदि तू योगी होजाय तो सहज में ही सिद्धि मिल जाय । मैंने गेरुवे कपड़े पहने, जटा भी रखाये हाथ में कमंडल और बगल में मृग छाला लेकर मैं योगी भी बना परन्तु हे मन तू संसारी भोगों में ही लगा रहा, इसीसे मुझको सिद्धि नहीं प्राप्त हुई, ईश्वर दर्शन नहीं हुआ । यदि मैं कपड़े चाहे गृहस्थों के से ही पहनता, गृहस्थों की भांति खाता पीता परन्तु तू परमात्मा में लग जाता तो निश्चय ही भगवान् मुझे मिल जाते । जो मनुष्य गृहस्थाश्रम में रहता है, पर उसमें आसक्ति नहीं रखता यानी जल में कमल पत्र के समान रहता है, उसकी

मुक्ति निश्चय हो जाती है, परन्तु जो संन्यासी होकर विषयों में आसक्ति रखता है, उसकी मोक्ष कहां ?

सारांश यह है, कि अब हे मन यदि तू विषय भोग, आयु और यौवन को अनित्य समझ कर इनमें आसक्ति न रख, शुद्ध हो, एकाग्र होकर प्रति क्षण परमात्मा का भजन करे तो जन्म मरण से छुटकारा मिल जाय और परमानन्द की प्राप्ति होजाय।

हे मन, तू ज्ञान रूपी हाथी पर चढ़ कर मस्त होजा, किसी की चिंता मत कर, बकने वालों को बकने दे। यह संसार कुत्ते की तरह है, इसे भोंकने दे, झखमार कर आपही रह जायगा। रे मन, तू क्यों डरता है, जब तेरे सिर पर तेरा बनाने वाला उपस्थित है। टुक विचार तो सही ज्ञान रूपी हाथी पर चढ़ करके भी फिर संसारी कुत्ते की तरह उनसे डर भागना उचित नहीं। कभी मत डर चाहे सहस्रों कुत्ते क्यों न भूकें, तू अपनी स्वाभाविक चाल से मस्त हुआ चला जा, उनकी तरफ दृष्टि उठा कर भी मत देख, आपही झख मार कर सब चुप हो जांयगे।

सारांश यह है कि तुझने जो उत्तम पद स्वीकार किया है लोगों के बुरा भला कहने से उसे मत त्याग। संसारी मनुष्यों से मत डर ईश्वर तेरी रक्षा करेगा।

वे ही लोग सुखी हैं, वे ही धन्य हैं, जो शरद चांदनी युक्त मनोहर रात्रि में बन में बैठे हुए परमात्मा का भजन करते हैं। जिन्होंने संसार के जंजालों को काट दिया है, जिन्होंने आशा तृष्णा और राग द्वेष आदि को त्याग दिया है, जिनके भीतरी दिल से विषय रूपी विषैले सर्प निकल गये हैं, यानी जिन्होंने विषयों को विष की तरह दूर कर दिया है, जिनका चित्त केवल पुण्य और परोपकार में ही लगा रहता है।

हमें संसार की प्रत्येक चीज़ से परोपकार की शिक्षा मिलती है। वृक्ष स्वयं फल नहीं खाते, नदियां आप जल नहीं पीतीं, सूरज और चांद अपने लिये नहीं घूमते, बादल अपने लिये मेह नहीं बरसाते ये सब पराये लिये कष्ट सहते हैं। विक्रम ने पराये लिये नाना प्रकार के कष्ट उठाये। दधीचि और शिबि ने परोपकार के लिये अपने अपने शरीर भी दे दिये, हरिश्चन्द्र ने पराये लिये घोर दुःसह विपत्ति भोगी। जिनका जीवन परोपकार में बीतता है उन्हीं का जीवन धन्य है। यदि मनुष्य में परोपकार करने की इच्छा नहीं है, तो उसमें और दीवार पर खिंचे हुए चित्र में क्या अंतर है ? जिससे प्राणी मात्र का भला हो, वही मनुष्य धन्य है, उसी की माता का जननी होना सार्थक है कि जो आप भी राम का अविरल भक्त हो और दूसरों को भी राम की अनन्य भक्ति में लगावे यही सबसे बढ़ कर परोपकार है क्योंकि अत्यंत दुःख की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति इसी से होती है अन्यथा नहीं।

सारांश यह है कि जिससे दूसरों की भलाई हो, दुःखियों का दुःख दूर हो वह ही बड़ा पूजनीय है। ये गुण भगवान् में पूर्ण रूप से हैं, इसीसे उन्हें दीनदयाल, दीनबंधु, दीनानाथ, आदि कहते हैं। मनुष्य को भगवान् ने अपने ही जैसा बनाया है, अपने समान सर्व सामर्थ्य देकर वे चाहते हैं, कि मनुष्य मेरा अनुकरण करे। दीन दुःखियों के दुःख दूर करे, संकट में उन की सहायता करे। जो मनुष्य ऐसा करते हैं, उन्हें भी संसार दीनबन्धु आदि पदवियां देता

है और सबसे बड़े दीनबन्धु उससे प्रसन्न होकर उसकी समस्त चिन्ताओं को मिटा देते हैं।

हे मन कीचड़ का पानी धन्य है जिसे छोटे २ जीव कीड़े मकोड़े धापकर पीते हैं। समुद्र चाहे जितना बड़ा है, पर उसके पास जाकर किसी की प्यास नहीं बुझती। अतः उसकी क्या प्रशंसा है?

हे प्यारी बुद्धि! अब तू पवित्र फल फूलों से, घनी बनाई भूमिकी शय्या और वृक्षों की छाल के वस्त्रों से इस जड़ शरीर का निर्वाह कर। उठ हम तो वनको जाते हैं, वहां उन मूर्ख धनवानों का नाम भी सुनाई नहीं देता, जो कि अपनी मूर्खता व धन मद के कारण मुँह से चाहे जो निकाल बैठते हैं, ऐसे मदांध और नीच धनी जंगलों में नहीं रहते। वहां दुःख नहीं है, अशांति नहीं है, किन्तु सभी जीवन धारणोपयोगी पदार्थ हैं। जो इच्छाओं को त्याग देंगे, वह तो धनियों के दास होंगे ही क्यों? परन्तु इन धनियों को भी इतराना न चाहिये। यह धन सदा पास न रहेगा, इसे वे अपने साथ न ले जायंगे। सम्भव है, वह उनके सामने ही विला जाय। फिर ऐसे चंचल धन पर अभिमान किस लिये? धनी और निर्धनी का भेद तभी तक है, जब तक मनुष्य जीता है, मरने पर सभी बराबर होजाते हैं। हे मन, ऐसा विचार कर मनुष्य को सबसे मीठा बोलना चाहिये, सभी के साथ शिष्टाचार और नम्रता का बर्ताव करना चाहिये। अपनी जिह्वा से किसी को कड़वी और बुरी लगने वाली बात न कहनी चाहिये। बात का घाव तीर के घावसे भी भारी होता है, तीर का घाव मिट जाता है परन्तु बात का घाव नहीं मिटता। हे मन याद रख जो दूसरे का चित्त दुखाता है, उसका भी चित्त दुखाया जायगा। इस जगत् में श्रेष्ठ पुरुषों ने अनुभव किया है कि जो जैसा करता है, वह वैसा ही पाता है इसमें किंचित् भी संदेह नहीं है, जो जैसा बोता है वह वैसा ही काटता है।

हे मन, नित्य अनित्य के विचार का ज्ञान कर। यौवन और धनादि के घमंड को त्याग। प्रभु में निश्चल प्रीति, मीठे और नम्र वचन, निरभिमानता, शील, सत्य और संतोष इनको कभी न छोड़ना चाहिये। अज्ञानता, घमंड, रजोगुण, तमोगुण, अधर्म, कड़वे वचन, मान कुशीलता, झूठ और असन्तोष इनको सर्वथा त्याग देना चाहिये।

हे चित्त, अब तू मोह छोड़कर शिर पर अर्द्ध-चन्द्र धारण करने वाले भगवान् शिवसे प्रीति कर और गंगा किनारे वृक्षों के नीचे विश्राम ले। देख, पानी की लहर, जलके बबूले, बिजली की चमक, आग की लौ, स्त्री, सर्प और नदी के प्रवाह की स्थिरता का कोई विश्वास नहीं, क्योंकि ये बड़े चंचल हैं।

हे मन, इस संसार का मोह त्याग, यदि तू कहे कि अन्य सब मनुष्य और आपके कुटुम्बी लोग तो कोई अपने मनसे संसार का मोह नहीं छुड़वाता, एक आपही मुझको हर समय क्लेश क्यों दिया करते हैं, तो तुझको क्या? आज्ञा पालन करना ही तेरा मुख्य कर्तव्य है। मैं तुझको आज्ञा देता हूँ उन मनुष्यों से भी कहदे कि, हे मनुष्यो! आप लोग मोह निद्रा में पड़े हुए क्यों अपनी दुर्लभ मनुष्य देह को वृथा गंवा रहे हो? आपको यह देह इसलिये नहीं मिली है कि, आप इस झूठे संसार से मोह

कर स्त्री पुत्र और धन दौलत में भूले रहें, किन्तु इसलिये मिली है कि, आप इस देह से दुर्लभ मोक्ष पदवी प्राप्त करें। पर संसार की गति ही ऐसी है कि, इसमें लोग अच्छे कामों को त्यागकर बुरे काम करते हैं। कारण यह है कि, मोहान्ध अज्ञानी पुरुष को अच्छे बुरे का ज्ञान नहीं। कहावत भी प्रसिद्ध है "कुए ही में भांग पड़ गई है।"

जो नारी नरक कूप के समान गन्दगी से भरी है, जो सब तरह से अपवित्र और घृणा योग्य है, जिसमें प्रीति का लेशमात्र भी स्थान नहीं है, जो केवल अपने स्वार्थ से पुरुष को प्यार करती है, पति के निर्धन या ऋणी होते ही उससे प्रीति कम कर देती या उसे त्याग देती है। जो क्षण भरमें पराई होजाती है, उसी नारी को पुरुष प्राणवल्लभा कहता है और उसके लिये समस्त सुख शांति को तिलांजलि देकर मरने तक को तैय्यार होजाता है क्या यह अज्ञानता नहीं है ?

अनेक कवि मोहवश स्त्री के अंगों की बड़ी लम्बी चौड़ी उपमा देते हैं। उसे चन्द्रमुखी कहते हैं, कुचों को अमृत भरे कलश, सोने के कलश, अनार, सन्तरा आदिकी उपमा देते हैं किन्तु वास्तव में मुख थूक लार का स्थान और कुच मांस के पिंड यानी लोंदे हैं। आंखों को मृगनयनों की उपमा देते हैं, परन्तु वह सर्प से भी अधिक भयानक हैं। क्योंकि सर्प के तो काटने से मरे या नहीं भी मरे, पर स्त्री के तो देखने मात्र से ही निस्संदेह वह पागल सा होकर मर मिटता है, वास्तव में स्त्री सर्प से भी बुरी है। सर्प का काटा एक बार ही मर जाता है, पर स्त्री का काटा बारम्बार मरता और जन्म लेता है। जिस तरह कजली वनका हाथी कागज की हथिनी को देख उसकी इच्छा करता है और शिकारियों के जालमें फँसकर, बंधन में बंधकर नाना प्रकार के दुःख झेलता है, इसी प्रकार जो पुरुष स्त्री की इच्छा करता है वह बंधन में बंधता और नाश को प्राप्त होता है। स्त्री संसार वृक्ष का बीज है, इससे स्त्री की कामना करने वाले पुरुष का इस संसार से पीछा नहीं छूटता। वह इस दुनियां में आकर, स्त्री के कारण नाना प्रकार के दुःख भोगता, चिन्ताग्नि में दिन रात जलता और अन्तमें मर कर ममता और वासना के कारण फिर जन्म लेता और दुःख भोगता है।

स्त्री कामी पुरुष को थोड़ी से लालच के लिये दास बना लेती है। कामी पुरुष स्त्री के संकेत पर उसी तरह नाचता है, जैसे बन्दर मदारी के संकेत पर नाचता है। वह रात दिन उसके प्रसन्न करने की कोशिश में लगा रहता है, घर बाहर सोते जागते उसीकी चिन्ता रखता है, उसीके लिये धन गर्वित धनियों की सेवा टहल करता है और कटु वचन सहन कर आत्म प्रतिष्ठा खोता है। इतने पर भी स्त्री की मांग पूरी नहीं होती, आज यह गहना मांगती है, तो कल वह, परसों कपड़ों की मांग लेकर तैयार खड़ी है, तो तरसों पुत्र या कन्या के विवाह की बात कहती है। कभी कहती है आज आटा नहीं है, कभी कहती है आज घर में तेल नोंन नहीं है। इसी प्रकार उसके मांगने का अन्त नहीं आता, पर बेचारे पुरुष का अन्त आ जाता है। स्त्री की सेवा चाकरी से उसे इतनी भी छुट्टी नहीं मिलती कि, वह क्षण भर भी अपने बनाने वाले स्वामी की पद वंदना कर सके। भोला बाबा ने सत्य कहा है

"कीन्हा विवाह क्या बला मोल लीनी। स्वच्छंदता हाथ से खोय दीनी॥ मुमुत्तु स्त्री को भी पुरुष के प्रति ऐसी ही दोष दृष्टि रखनी चाहिये।

अनेक प्रकार से सेवा टहल करने पर भी यदि कोई उसकी मांग पूरी नहीं होती तब वह बाघनी की तरह घुर्राती है। प्रारब्ध वशात् यदि पति निर्धन होजाता है, तो वही सात फेरोंसे विवाही स्त्री उसका अनादर करती है, क्योंकि इस जगत्में धनही की क़ीमत है, मनुष्य का कुछ भी मूल्य नहीं। संसार अर्थ के वशमें है। भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य और शल्य आदि, अन्तर से पांडवों को चाहते हुए भी, इसी अर्थ के कारण उनका विपक्षी होना पड़ा। जब श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता सुनाने के पश्चात् धर्मराज युधिष्ठिर युद्ध की आज्ञा लेने भीष्म द्रोणादि के पास गये, तब सबने यही कहा कि हे धर्मराज तेरी विजय होगी। हम क्या करें हम अर्थ के दास हैं, अर्थ किसीका दास नहीं। जब ऐसे २ वीरों ने जो किसी से न मारे जाने वाले थे, जिन्होंने स्वयं अपनी मृत्यु बताई, वे भी अर्थ के दास होगये, तब अस्मदादि जीवोंका कहना ही क्या है? "हार्थस्य सर्वेवशाः।"

माता निर्धन पुत्रकी निंदा करती है, बाप आदर नहीं देता, भाई बात नहीं करता, चाकर क्रोध करता है, पुत्र आज्ञा नहीं मानता, स्त्री आलिंगन नहीं करती और धन मांगने के डर से मित्र बात भी नहीं सुनता। स्त्रियां कामसे आतुर होने पर भी दरिद्री पतिको छूना पसंद नहीं करतीं, जिस प्रकार कि कीड़ों से दूषित मुर्दे को कोई छूना नहीं चाहता। स्पष्ट होगया कि स्त्री पुत्र धन आदि सामान नरक का रास्ता है, अतः इनके मोह में फँसना, अपने नाशका सामान करना है जो इन पर मुग्ध होता है वह लोक और परलोक दोनों गंवाता है, इस जन्म में घोर चिन्ताग्नि में जलता और मरने पर नरकाग्नि में भस्म होता और तड़फता है। वास्तव में स्त्री पुत्रादि शत्रु हैं परन्तु जो पुरुष अज्ञानता से इन्हें अपना मित्र समझता है वह अन्धा ही है।

किसी नगर में एक ब्राह्मण रहता था। उसके पुत्र नहीं हुआ था, इसलिये उसने गंगाजी की उपासना की। अन्तमें वृद्धावस्था में उसके एक अन्धा पुत्र हुआ। ब्राह्मण उस अन्धे पुत्रको पाकर ही बड़ा प्रसन्न हुआ। बड़ा उत्सव किया इसके पश्चात् जब वह अन्धा पुत्र पांच वर्षका हुआ, ब्राह्मण ने उसका यज्ञोपवीत संस्कार कराकर उसे विद्या पढ़ाना आरम्भ किया। अल्प कालमें वह अन्धा पूर्ण पंडित होगया। एक दिन पिता पुत्र बैठे थे। पुत्रने पिता से पूछा "पिताजी, मनुष्य अन्धा किस पाप से होता है?" पिताने उत्तर दिया "पुत्र जो पूर्व जन्म में रत्नों की चोरी करता है, वह अन्धा होता है।" "पुत्र ने कहा पिताजी, यह बात नहीं है, कारण के गुण कार्य में भी आजाते हैं, आप अन्धे हैं, इसीसे मैं भी अन्धा हुआ हूँ।" पिताने क्रोध में भर कर कहा, 'अरे दुष्ट, मैं अन्धा कैसे हूँ?" पुत्रने कहा "पिताजी, गंगा माता साक्षात् मुक्ति देने वाली है, उसकी उपासना आपने पुत्रकी कामना से की, इसीसे मैं आपको अन्धा समझता हूँ। जो वेद शास्त्र पढ़कर भी मूत्र के कीड़े की इच्छा करता है, वह अन्धा नहीं तो क्या सूझता है? मूत्र से जैसे अनेक प्रकार के कीड़े पैदा होते हैं, वैसे ही पुत्र भी उसका एक कीड़ा है। आपने जिस पुत्रके लिये गंगाजी की इतनी तपस्या की, वह पुत्र तो कुत्ते, बिल्ली और शूकर आदि पशुओं के अनायास ही होजाते हैं। पुत्र जैसे मूत्र के कीड़े से किसीको स्वर्ग या मोक्ष लाभ नहीं हो सकता, पिताजी, न कोई किसीका पुत्र है न स्त्री, सब एकही

हैं, क्योंकि सबमें एकही आत्मा है, वही आत्मा पितामें है, वही पुत्र और स्त्रीमें है। जिस तरह मरु भूमिमें भ्रम से जल दीखता है, पर वास्तव में वहां जलका लेश मात्र भी नहीं, उसी प्रकार भ्रमसे यह जगत् सच्चा दीखता है, पर वास्तव में है कुछ भी नहीं। यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है, यह मेरा धन है, यह मेरा मकान है, ऐसा मिथ्या वासना से दीखता है। वासना से ही जीव संसार बंधन में फंसता है, यानी वासना से ही शरीर धारण करता है। वासना से ही मनुष्य अज्ञानी बन रहा है। वासना का त्याग करते ही मनुष्य ज्ञान लाभ करके परमानन्द की प्राप्ति करता है। ज्ञानी सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्मको ज्ञान चक्षुओं से देखता है, पर अज्ञानी उसे नहीं देख सकता। जैसे अन्धे को सूर्य नहीं दीखता, उसी तरह अज्ञानी को ब्रह्म नहीं दीखता, इसीसे अज्ञानी को, बाहर की आंखें होने पर भी अन्धा कहते हैं। आप भेद बुद्धिको त्यागकर सबमें एक आत्मा को देखो, आत्म ज्ञानी होने से ही आपको नित्य सुख मिलेगा।"

पिता अपने पुत्र के अगाध पांडित्य और ज्ञानको देखकर चकित होगया और कहने लगा "पुत्र! मैंने चारों वेद, छहों शास्त्र, उपनिषद्, स्मृति और पुराण आदि पढ़कर कुछ भी लाभ प्राप्त न किया, तेरी बातों से मेरी आंखें खुलगईं कि संसार को मिथ्या समझकर ही मनुष्य ज्ञानी हो सकता है।" इतने समझाने पर हे मन, कोई पुरुष संसार की आसक्ति को न छोड़े तो न सही तू तो उसका पीछा छोड़। यदि तू उसका साथ करेगा तो याद रख तू भी, जलके प्रबल प्रवाह में डूबते हुए के समान डूब जायगा। छोड़! छोड़!! छोड़ उनका साथ जो तुमको भी डुबाने की चिंता में हैं। मेरा कहना श्रवणकर और मान।

भगवान् के चरणों में ममता कर अथवा देह के सब नातों को त्यागकर उदासीन होजा और कर्म ज्ञानादि साधनों से अपने को शुद्ध करले। जब तू शुद्ध हो जायगा, तब भगवान् के चरणों में तेरा आपही स्नेह हो जायगा। इन दोनों बातों में से जो पसंद हो उसे छल छोड़कर कर। हे मन तू संसार के विषयों में मत फंस इनको नित्य न मान ये सब आज तेरे हैं कल पराये हैं, ये एक करवट बदलने में पराये होजाते हैं, इनको झूंठी प्रीति में कुछ लाभ नहीं। यदि प्रीति करने का तेरा स्वभाव है, तो उठ गंगा किनारे के वृक्षों के नीचे चल बैठ और आशुतोष भगवान् चन्द्रशेखर शिवजी से प्रीति कर, उनकी प्रीति सदा सच्ची और कल्याण कारी है। यह सब है खेल! खेल!! खेल!!! सारांश यह है कि भगवान् में सहज स्नेह कर। देख तुमको कितना समझाता हूँ इसका सदुपयोग करना कहीं ऐसा मतकर बैठना जैसे कि लोक में कहावत है "काग पढ़ाये पींजरा पढ़ गये चारों वेद। जब सुध आई कुटम की रहे ढेड़ के ढेड़॥"

मनः—वाह! वाह!! आपने यह क्या कहा? ऐसे मन तो संसारी महा अन्ध अज्ञानी के होते हैं, मैं तो आपकी आज्ञा से विरुद्ध एक पग भी रखने वाला नहीं हूँ, आपने मेरी कई बार परीक्षा भी तो लेली है, आप तब भी मुझको दबाते ही रहते हैं। आप कहें कि "तू चंचल है यह बात तो आपकी ठीक है परन्तु एकाग्र और निरुद्ध भी तो मेरी अवस्थाएं हैं।"

जीवः—तो बस काम बन गया यही मैं तुझसे कहलाना चाहता था, अब हमारी तेरी खूब घुटेगी! चुप चुप!! चुप!!! अब बोल मत आत्मानुसंधान करने दे।

आत्मानन्द।

वाक्य वृत्तिः ।

सर्ग स्थिति प्रलय हेतु मचिंत्य शक्तिं
विश्वेश्वरं विदित विश्व मनंत मूर्त्तिम्।
निर्मुक्त बंधनमपार सुखांबु राशिं
श्रीवल्लभं विमल बोध घनं नमामि ॥१॥

अर्थ:—जो जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय का कारण है, जिसकी शक्ति अचिन्त्य है, जो विश्व का ईश्वर है, जो विश्वका साक्षी है, जिसके अनंत शरीर हैं, जो बन्धन रहित अपार सुखका समुद्र है, जो माया और मायाके कार्य रूप मल रहित है; ज्ञान ही जिसका वास्तविक स्वरूप है ऐसे श्रीलक्ष्मी के पतिको मैं नमस्कार करता हूँ।

विवेचन ।

जगत् उत्पन्न होकर लय भावको प्राप्त होता है ऐसे मनुष्य प्रत्यक्ष जान नहीं सकता; वर्तमान जगत् की स्थिति को जानता है। परन्तु शास्त्र के कथन के अनुसार जगत् की उत्पत्ति और लय जाना जाता है, मनुष्यादि का जन्म स्थिति और मृत्यु व्यक्ति रूप से देखता है। इस प्रकार व्यक्तिओं की यह तीनों अवस्थाएं होती देखकर संपूर्ण व्यक्तिओं का एक भाव समष्टि में अनुमान कर सकता है। व्यक्ति तुच्छ है और समष्टि महान् है, इसीसे व्यक्ति की उत्पत्ति स्थिति और लय तुच्छ होगा और समष्टि का महान् होगा इस प्रकार जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय होता है उनका जो आद्य कारण है, यह परमात्म स्वरूप है। नमस्कार करने के लिये जिसका वह हेतु है वह दिखलाया है।

एक अद्वितीय परब्रह्म है ऐसा श्रुतिका कथन है तब उस तत्त्व से जगत के उत्पत्ति स्थिति और लय किस प्रकार हो ? उसे यहां समझाया है कि जगत की उत्पत्ति आदि से परब्रह्म में किसी प्रकार का विकार नहीं होता; वह हमेशा अपने स्वरूप में अद्वितीय ही रहता है परन्तु उसकी एक माया नाम की शक्ति है उस शक्ति के ही किये हुए जगत के उत्पत्ति स्थिति और लय हैं और उनके भीतर भी अनेक भेद उस शक्ति से ही होते हैं। शक्ति शक्तिवान से पृथक् नहीं होती क्योंकि शक्तिमें शक्तिवान का अस्तित्त्व काम देता हैइसीसे शक्ति अनेक प्रकार के भेद कर दे तब भी तत्त्व जो शक्तिवान-शक्तिका अधिपति है उसमें भेद नहीं होता।

जगत के उत्पत्ति का हेतु परमात्मा की शक्ति है वह अचिंतनीय स्वरूप है। जिसका चिंतवन न होसके उसे अचिंतनीय कहते हैं। उस शक्ति का दूसरा नाम माया है, यह चिंतन करने के अयोग्य है। वह इस प्रकार की है ऐसा उसे कह नहीं सकते। सची नहीं कह सकते और झूंठी भी नहीं कह सकते। सची इस कारण नहीं है कि उसका परब्रह्म से भिन्न अस्तित्व नहीं है, परब्रह्म के स्वरूप में उसकी प्रतीति ही नहीं होती। झूंठी इस कारण से नहीं है कि संपूर्ण संसार जन्म मरण पाप पुण्यों के फलादिक का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। सची झूंठी दोनों मिली हुई हो ऐसी भी नहीं हो सकती क्योंकि विरुद्ध दोनों भावों का एक कालमें मिलना अशक्य है। आश्रय से भिन्न नहीं है उसका आश्रय परब्रह्म है। आश्रय से मिली हुई भी नहीं है क्योंकि आधेय है। ऐसी महान् आश्चर्य वाली और अनेक प्रकार के ऐश्वर्य को दिखलाने वाली माया किस प्रकारकी है यह कहा नहीं जाता। परब्रह्म उस मायाका अधिपति होने से संपूर्ण

विश्वका साक्षी है; संपूर्ण विश्वका प्रकाशक है।

माया में अनेक प्रकार के चमत्कार हैं तोभी ब्रह्मके आश्रय रहित 'न है न कुछ कर सकती है' माया से विश्व है और विश्व की अनेक मूर्तियों का भिन्न २ व्यवहार है तोभी सब में वस्तु स्वरूप परब्रह्म होने से मूर्तियों के रूप में भी परब्रह्म है। सब प्राणी माया और माया के कार्य अविद्या से मोहको प्राप्त हुए हैं इसीसे सब कोई बन्धन में हैं परन्तु प्रत्येक प्राणी में रहा हुआ तत्त्वस्वरूप परब्रह्म बन्धन से रहित है। माया में दबे हुए को बन्धन होता है, जो मायाका अधिपति है उसमें मायाकृत बन्धन का अभाव है। जैसे तमाशगीर का तमाशा उसे बन्धन करने वाला नहीं होता, इसी प्रकार ईश्वर की माया ईश्वर को बन्धन के हेतु नहीं होती और वह सुख का समुद्र है। जैसे अथाह जलसे भरा हुआ समुद्र होता है इसी प्रकार जिसमें सुखही सुख भरा हुआ है वह सुख का समुद्र कहा जाता है, परब्रह्म सुख का समुद्र है उस महेश्वरसे ही ब्रह्मांड भर के प्राणी लौकिक सुख में भी युक्त होते हैं। माया की शक्ति जो आवरण और विक्षेप रूप है इन दोनों से मल दोष की वृद्धि होती है। परब्रह्म में माया की दोनों प्रकार की शक्ति और उनसे होने वाले मल दोष और विक्षेप दोष नहीं हैं। परब्रह्म सत् स्वरूप है उसीमें भ्रान्ति रूप माया भ्रान्ति से प्रतीत होती है इसीसे उसके आश्रय सत् परब्रह्म में भ्रान्तिकृत दोष हो नहीं सकता। जैसे परब्रह्म सत् और आनंद स्वरूप है ऐसे चिद् स्वरूप भी है वही ज्ञान स्वरूप कहा जाता है। ज्ञानही जिसमें ठूंस ठूंस कर भरा हो उसे ज्ञान घन कहते हैं इस प्रकार परब्रह्म ज्ञान घन है। जैसे घट मृत्तिका स्वरूप है वैसे परब्रह्म ज्ञान स्वरूप है। वह ज्ञान भी प्रातिभासिक और व्यवहारिक नहीं है वे दोनों प्रकार के ज्ञान माया युक्त हैं। इससे मल वाले हैं और उत्पत्ति नाश वाले भी हैं परन्तु परब्रह्म का ज्ञान स्वरूप भेद रहित अखंड और उत्पत्ति नाश रहित होनेसे अत्यन्त निर्मल है। बोधस्वरूप परब्रह्म में मल नहीं है और उसका विशेष बोध यथार्थ बोध मल को तोडने वाला होने से निर्मल है श्रीलक्ष्मी-माया जिसके आधार में सब विश्व की रचना करती है ऐसे उस लक्ष्मी पति को मैं प्रणाम करता हूं।

इस प्रकार ग्रन्थकार ने ग्रन्थारंभ में मंगलाचरण रूप परब्रह्म की स्तुति की है। यहां माया के पति को प्रणाम करने से माया की पृथक्ता जहां नहीं रहती ऐसा उसका पति परब्रह्म को प्रणाम किया है, दोनों को एक करके प्रणाम किया है। माया का कार्यरूप जीव भाव और माया का पति रूप ईश्वर भाव दोनों की तत्त्व से एकता करने से जीव ब्रह्मकी एकता इस ग्रन्थका विषय सूचित किया है। माया और माया पति को एक करने की योग्यता वाले अद्वैत तत्त्व को प्राप्त करने की इच्छा वाला मुमुक्षु पुरुष इस ग्रन्थका अधिकारी है। परब्रह्म आनंद स्वरूप है जीव जब तत्त्व से परब्रह्म की एकता करता है तब उसे भी आनंद प्राप्त होता है इसीसे परमानंद की प्राप्ति रूप फल है। ग्रन्थ परमानंद को प्राप्त कराने वाला और मुमुक्षु प्राप्त करने वाला होने से प्राप्य प्रापक भाव सम्बन्ध है।

यस्य प्रसादाद हमेव विष्णु-
र्मय्येव सर्वं परिकल्पितंच ।
इत्थं विजानामि सदात्म रूपं
तस्यांघ्रि पद्मं प्रणतोऽस्मि नित्यं ॥२॥

अर्थः—मैं स्वयम् विष्णु हूं और मुझमें ही संपूर्ण विश्व कल्पित है, इस प्रकार जिसकी कृपा से, मैं आत्मस्वरूप का नित्य प्रत्यक्ष अनुभव करता हूं उस सद्गुरु के चरणारविन्द को सर्वदा मैं प्रणाम करता हूं।

विवेचन।

परब्रह्म की स्तुति के पश्चात् ग्रन्थकार सद्गुरु को प्रणाम करते हैं। सद्गुरु की कृपा से जो अमरत्व प्राप्त हुआ है उस फल को दिखलाते हुए प्रणाम करते हैं। परब्रह्म की स्तुति में तो, परब्रह्म माया और जगत की रचना को दिखलाकर सब का आधार तत्त्व यही ही है ऐसा कथन किया था। परब्रह्म स्वरूप से ज्ञान दाता सद्गुरु की विशेषता है उस विशेषता सहित अब कथन करते हैं। सच्चिदानंद परब्रह्म है सद्गुरु भी स्वस्वरूप प्राप्त होने से सच्चिदानंद है। परब्रह्म सामान्य प्रकाश स्वरूप है और माया का सहारा लेकर--माया का अधिपति होकर सृष्टिका नियंता है परन्तु समष्टि स्वरूप है। जीव व्यक्ति है अविद्या के अंधकार में पड़ा हुआ है, उसे उपदेश द्वारा अविद्या में से हटाकर स्वस्वरूपमें टिकाने के कार्य में व्यक्ति की आवश्यकता है। व्यक्त होकर भी जो अव्यक्त परब्रह्म स्वरूप के बोध में विराजमान है ऐसा कोई सद्गुरु ही उपदेश देकर कृतार्थ कर सकता है। परब्रह्म अव्यक्त स्वरूप है वह व्यक्त जीव को सीधा उपदेश दे नहीं सकता इसीसे परब्रह्म से सद्गुरु की विशेषता है। परब्रह्म परब्रह्म को प्राप्त करा नहीं सकता सद्गुरु रूप होकर ही परब्रह्म को प्राप्त करा सकता है।

सब आर्य शास्त्र में ग्रन्थारंभ में ही जिस विषय का ग्रन्थ होता है उस विषय का संपूर्ण फल दिखला दिया जाता है पश्चात् उसका विस्तार के साथ कथन करके समझाया जाता है। इस दूसरे श्लोक में ग्रंथ के संपूर्ण फल का वर्णन किया है। सद्गुरु के उपदेश द्वारा होने वाला फल जो ग्रंथकार को प्राप्त हुआ है उसीको कह कर नमन करते हैं।

ग्रंथकार कहते हैं कि मैं प्राकृत जीवों के समान मूढ़ था मुझे अपना बोध नहीं था मैं अज्ञान अंधकार में फंसकर वारम्वार कष्ट को भोग रहा था, जब मैं कष्टों से दुःखी होता था तब कष्ट की निवृत्ति के उपाय को करता था निवृत्त हुए कष्ट फिर फिर आने से यह कष्ट निवृत्ति का उपाय है या नहीं ऐसी शंका हुई इस शंका से हमेशा का कष्ट निवृत्त होने की इच्छा उत्पन्न हुई। मेरे पूर्व के पुण्य प्रभाव से मुझे सद्गुरु मिले, मैंने गुरु के पास विधियुक्त रह कर गुरु कृपा से जगत् के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति रूप स्वस्वरूप के बोध को प्राप्त किया। मैं अब निःशंक निर्भय और कृतार्थ होकर विचरता हूँ और अन्य अज्ञानीओं के ऊपर अनुग्रह के हेतु मुझे जो सद्गुरु द्वारा प्राप्त हुआ है उसे प्रगट करता हूं।

अज्ञान की दशा में मैं अपने को एक तुच्छ जीव समझता था और ऐसे जीव भाव से ही दुःखी हुआ करता था। मैं महान हूँ ऐसा मुझे किंचित भी खयाल न था। सद्गुरु के कृपा कटाक्ष रूप उपदेश से मैं जान गया कि मैं तुच्छ जीव नहीं हूँ। यह संपूर्ण जगत् का भाव जिसमें हो रहा है, जो सब स्थान में व्यापक विष्णु है वह ही मेरा स्वरूप है। यह संपूर्ण विश्व मेरे में ही कल्पित है। संपूर्ण कल्पित विश्व का आधार मैं हूँ। अहा हा !! मैं कितना महान् हूँ ऐसा अनुभव करनेमें मैं समर्थ हुआ हूँ। जिसकी कृपा से नित्य अखंडित अनुभव कर रहा हूँ जिसकी कृपा

से सत् चित् आनंद स्वरूप का भान हो रहा है ऐसे परम गुरुदेव के चरणारविन्द को मैं वारम्वार प्रणाम करता हूँ।

तापत्रयार्क संतप्तः
कश्चिदुद्विग्न मानसः।
शमादि साधनै र्युक्तः
सद्गुरुं परि पृच्छति ॥३॥

अर्थः—तीनों प्रकारके ताप रूप सूर्यसे तप्त हुआ, इस लोक और परलोक के भोगों से विरक्त और शमादि साधनों से युक्त कोई अधिकारी (मुमुक्षु) श्री सद्गुरु से पूछता है।

विवेचन।

अब अधिकारी को दिखलाते हुए ग्रन्थारंभ को करते हैं। जैसे गरम ऋतु में सूर्य की धूप में चलने से प्राणी गरमी से अत्यन्त व्याकुल हो जाता है और गरमी से तपायमान हुआ मनुष्य शीतल छाया की चाहना करता है, ऐसे कोई अधिकारी पुरुष संसार के त्रिविध ताप से तपायमान हुआ व्याकुल होता है और आत्म बोध रूप परम शान्ति की चाहना करता है। विवेक दृष्टिसे देखा जाय तो संसारमें कष्टही कष्ट भरा हुआ है; सब प्राणीओं को अनेक प्रकार की चिन्ता प्रति दिन जलाया करती है यह जलाने वाले ताप तीन प्रकार के हैं, आध्यात्मिक, आधि दैविक और आधि भौतिक। इन तीन प्रकार के ताप में भी देश काल और प्रसंगादि से अनेक भेद हैं इन सब भेदों की कोई गिनती भी नहीं कर सकता। मन के इन्द्रिय के और स्थूल शरीर के भेद से अध्यात्म अधि दैव और अधि भूत है। अन्तःकरण का जिस दुःख में मुख्य सम्बन्ध है ऐसा दुःख अध्यात्मिक दुःख है; जैसे चिंता, भय, आशाभंग, रोग, क्षुधा, पिपासा आदि से होने वाले दुःख। इन्द्रिय का जिसमें अधिक सम्बन्ध दीखता है ऐसा दुःख अधि दैविक है; जैसे शीत उष्ण वर्षा जल वायु यक्ष, राक्षस, प्रेत, ग्रह आदि से होने वाले दुःख। स्थूल शरीर का जिसमें मुख्य सम्बन्ध मालूम देता है ऐसा दुःख अधि भौतिक है; जैसे राजा, चोर, व्याघ्र, सर्प आदि प्राणीओं से होने वाले दुःख। ऐसे तीनों प्रकार के दुःख में कारण, सूक्ष्म और स्थूल का भेद होते हुए वे सब आंतर में ही हुआ करते हैं। आंतर को जलाने वाले होने से ताप कहे जाते है।

अन्तःकरण ही मैं हूँ इस प्रकार जीव ने समझ रखा है इसीसे सब दुःख जीव के होते हैं। जीव हमेशा दुःख को छोड़ने को चाहता है परन्तु छोड़ नहीं सकता। दुःख का वारम्वार अनुभव होने से पूर्व पुण्य का उदय होता है; तब संसार की तरफ से मन उदास होता है और वैराग्य की तरफ रुचि होने लगती है। संसार और संसार के दुःख ग्रहण से है इसीसे त्याग में दुःख नहीं होगा ऐसा समझने लगता है। जब शुभ कर्म और उपासना से अन्तःकरण शुद्ध होता है तब ही ऊपर के समान वैराग्य का अंकुर पैदा होता है। शुभ कर्म से अन्तःकरण में रहा हुआ मल दोष और इष्ट की उपासना से विक्षेप दोष निवृत्त होकर अन्तःकरण शुद्ध होता है। जिसके मल विक्षेप नाश नहीं हुए हैं ऐसे किसी मनुष्य में वैराग्य दीखे तो वह नाम मात्र का होता है सच्चा नहीं होता। अन्तःकरण की शुद्धि सहित ही वैराग्य स्थिर रह कर फल तक पहुँचाने में समर्थ होता है।

जब मुमुक्षु पुरुष जगत को दुःख रूप समझने लगता है तब ईश्वर की तरफ प्रेम बढ़ता है तब वह नित्य और अनित्य का सामान्य विवेक करने लगता है। संसार में जो जो देखता हूँ वे सब विकारी और नाशवंत हैं मैं देखने वाला ही जैसे का वैसा बना रहता हूं, इसीसे मैं ही सत्य हूं मैं आत्मा हूँ। आत्मा से विरुद्ध लक्षण वाले सब अनात्म है ऐसा जानना विवेक है। आत्मा नित्य है जगत् उससे विपरीत अनित्य है इसीसे उसे नित्यानित्य वस्तु विवेक भी कहते हैं। संपूर्ण ब्रह्मांड के पदार्थों के दो विभाग किये, बदलने वाला और कभी न बदलने वाला। आत्मा ही कभी न बदलने वाला नित्य है ऐसा जानना सामान्य विवेक है।

विवेक से मालूम हुआ कि आत्मा ही सत्य है उसका ग्रहण करना चाहिये उसके ऊपर ही प्रेम करना चाहिये और अनात्मा पर प्रेम न करना चाहिये अनात्म भाव को छोड़ना चाहिये। अनात्म को सत्य समझकर मैं दुःखी था, ऐसा समझने के बाद भी बहुत जन्मों का अध्यास होने के कारण जल्दी से अनात्म को छोड़ना तो दूर रहा, उस पर वैराग्य का भाव भी नहीं होता, इसीसे बारम्बार विचार करके दोष दृष्टि से अनात्म में वैराग्य की स्थिरता करने जाता है तब मन इन्द्रियां ठीक २ वश में न होने से वैराग्य को कर नहीं सकता इसीसे शमदमादि साधन, जो विद्वानों ने षट् संपत्ति रूप से कथन किये हैं उसे करना पड़ता है।

मन का वश करना शम है। मन किसी विषय में लगा हो इच्छा करते ही मनको वहां से हठा लेने की सामर्थ्य प्राप्त हो और जिसमें लगाने की इच्छा हो उसमें भली प्रकार से लग भी जाय इस प्रकार मनका वश में हो जाना शम है। शम की सिद्धि से वैराग्य की सिद्धि हो सकती है। प्रायः मनका भटकना इन्द्रियों के सहारे से होता है, इन्द्रियां वश में हों तब मन ठीक २ वश में हो सकता है इसीसे दम-इन्द्रिय दमन-इन्द्रियों को भी वश में करे। इन्द्रियां अपने २ विषय की तरफ तेजी से दौड़ जाती हैं वे भेजी हुई ही जायं, न भेजी हुई बलात्कार से न जायं यह दम यानी इन्द्रियों की वश्यता है।

शंका:—मन और इन्द्रियों को भिन्न २ वशमें करने की क्या आवश्यकता है? इन्द्रियों की प्रवृत्ति मन बिना नहीं होती, जब मन वशमें हो जायगा तब इन्द्रियां अपने आप वशमें हो जायगीं।

समाधानः—मन पूर्ण वशमें होजाय तब जैसा तू कहता है ऐसा होना संभव है परन्तु इन्द्रियां वश किये बिना मनका वश करना कठिन है। कुछ मन भीतर से रुकावट करे और इन्द्रियां बाहर से रुक जायं इस प्रकार करने से शम दमकी सिद्धि हो सकती है।

शम दमकी सिद्धि में श्रद्धा समाधान उपरति और तितिक्षाकी भी आवश्यकता है। श्रद्धा सद्गुरु और सत् शास्त्र पर की जाती है। सद्गुरु और सत् शास्त्र जो कहते हैं वह ठीक है ऐसे विश्वासकर लेने का नाम श्रद्धा है न्यूनाधिक प्रमाण में सबमें श्रद्धा कीजाती है परन्तु यहां ज्ञानके अधिकारीके लक्षण का वर्णन होने से उपरोक्त श्रद्धा ही उसको मोक्ष प्राप्ति में उपयोगी है। सत् यानी सत्स्वरूप पर-ब्रह्म की आत्म स्वरूप से एकता के बोध कराने वाले ही सद्गुरु होते हैं, सत् की प्राप्ति कराने वाले

सद्गुरु है। जो अज्ञान का नाश करके ज्ञान प्रकाश आत्माका बोध कराकर उसकी परब्रह्म से एकता कराने वाले जगत में से उद्धार कराने वाला सद्गुरु होता है। सत् स्वरूप को प्राप्त कराने वाले सत् शास्त्र हैं अन्य शास्त्र तो फल प्राप्ति अथवा योग्यता प्राप्त करने के हेतु हैं और कर्म उपासना दिखलाते हैं। ज्ञानका अधिकारी कर्म और उपासना से आगे गया हुआ होता है इससे ज्ञान प्रतिपादक वेदान्त शास्त्र ही उस अधिकारी का सत् शास्त्र है; उस शास्त्र के अवलंबन सिवाय किसी अन्य अवलंबन से मोक्ष प्राप्ति नहीं होती। सत् शास्त्र और सद्गुरु इन दोनों के ऊपर विश्वास-निश्चय का होना श्रद्धा है। जैसे अंधा मनुष्य दूसरे के सहारे मार्ग चलता है इसी प्रकार मुमुक्षु अधिकारी सद्गुरु और सत् शास्त्र के सहारे चलता है।

अत्यंत चंचल मन वाला पुरुष अज्ञान निवृत्ति के मार्ग में आगे चल नहीं सकता, जब तक मनको अधिक चंचल करने वाला विक्षेप दोष का नाश न हो तब तक ऊपर कहे हुए शम दम और श्रद्धा भी नहीं होते इसीसे मन के विक्षेप का नाश करना चाहिये। जीव को विक्षेप ही सम भाव में आने नहीं देता। विक्षेप मन से हुआ करता है इससे विक्षेप को छोड़ने वाला मन समाधान कहा जाता है, यह आरंभ की समता ही वृद्धि को प्राप्त होकर ब्रह्म साक्षात्कार सहित निर्विकल्पता को प्राप्त होती है।

मोक्ष के मार्ग का अधिकारी बनने वाले को शास्त्रोक्त कर्म और उपासना की अधिक आसक्ति को छोडना चाहिये। जबतक उनमें आसक्त हैं तब तक अधिकारी होकर ज्ञान मार्ग में प्रवृत्त नहीं हो सकता। ज्ञान मार्ग कर्म और उपासना करके शुद्ध किये हुए अन्तःकरण वाले का है यदि कर्मादिक करने की आसक्तिरूप अहंभाव रहे तो अहंभाव जिसमें छोडना है ऐसा ज्ञान कैसे होगा ? कर्म और उपासना जगत में फल देनेवाले हैं और ज्ञान अज्ञान स्वरूप जगत को हटाने वाला है इसी कारण कर्म और उपासना से भी शान्त होना उपराम है। जैसे कोई कार्य करते करते कार्य करने को छोड़ देता है तब उसे उपराम हुआ ऐसे कहते हैं इसी प्रकार कर्म उपासना से निवृत्त होना ही उपराम है। शरीर रहते हुए संपूर्ण क्रिया छूट नहीं सकती इससे सामान्य क्रिया करते हुए आसक्ति का न होना उपराम है। जगत और जगत के कर्म फल से उपराम को प्राप्त हुआ ज्ञान का अधिकारी हो सकता है।

शरीरासक्ति सब आसक्तियोंमें अधिक वलिष्ठ है अज्ञानी जीव अपने स्वस्वरूप को यथार्थ जानता नहीं है देखने में आनेवाले शरीर को मैं हूँ इस प्रकार समझ कर वर्तता है यह देहासक्ति मोक्ष मार्ग में प्रतिबन्ध रूप है। इस शरीरासक्ति को हटाने के लिये तितिक्षा का अभ्यास करना चाहिये। तितिक्षा वाला पुरुष निश्चय में स्थिर रहकर शरीरादि पर होने वाले शीत उष्ण आदि द्वन्द्वों के कष्ट सह लेना, उसमें ग्लानि को प्राप्त न होना उसी को तितिक्षा कहते हैं। दुःख को सह लेने का नाम तितिक्षा है। जीवोंको जो जो कष्ट होते हैं वे सब भोगने ही पडते हैं तितिक्षावाला और तितिक्षा रहित दोनों सहन कर लेते हैं परन्तु दोनों में यह भेद है कि तितिक्षा वाला अपनी दृढतासे सहन करते हुए दुःखी नहीं होता और तितिक्षा रहित पुरुष चिल्लाता हुआ दुखी होता है। मरा नहीं जाता इसी कारण बलात्कार से सहन करता है इसीसे वह तितिक्षा नहीं है तितिक्षा के पालन से मन इन्द्रियां और शरीर दृढ होते हैं और

शरीरासक्ति न्यून होती है। शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपराम और तितिक्षा इन छओं को पट् सम्पति कहते हैं।

जब मनुष्य नित्यानित्य वस्तु विवेक, वैराग्य और पट् सम्पति सहित मोक्ष की इच्छा करता है तब वह ठीक २ मुमुक्षु होता है। प्रथम विवेक के समयमें भी मोक्ष की इच्छा थी वह ही अब योग्यता सहित होने से दृढ़ होती है। संसार में भ्रमण करते हुए दुःख ही दुःख भोगा है इससे ऐसे भ्रमण और उसके दुःख की अत्यंत निवृत्ति होकर जिस आनंद का कभी क्षय नहीं होता ऐसे परमानंद को प्राप्त करने की तीव्र इच्छा यह दोनों भाव युक्त मुमुक्षु होता है। यह दो होते हुए भी स्वरूप में एक होजाता है।

सामान्यता से सब मनुष्य आनंद—मोक्ष को चाहते हैं परन्तु योग्यता रहित होने से वे मुमुक्षु नहीं कहलाते। वह मोक्ष की इच्छा कथन मात्र है फल को देने वाली नहीं है। सच्चे मुमुक्षु की जगत में से रुचि ही उठ गई होती है जगत उसे कष्ट मय दीखता है और परमानंद की प्राप्ति के यत्न में लगा हुआ होता है; अभी परमानंद प्राप्त नहीं हुआ है और चाहना है इसीसे व्याकुल भी रहता है, यह व्याकुलता उसे अज्ञान निवृत्त करने में तीव्र वेग वाला बनाती है।

सच्चे मुमुक्षु का दरजा बहुत श्रेष्ठ होता है। शास्त्रोक्त शुभ कर्म और उपासना जो फल देते हैं और जिस लोक में फल भोगा जाता है इन सब से ही मुमुक्षु आगे गया है कर्म फलको प्राप्त करने के फल से, फलको छोड़ने वाले को अधिक फल होता है और उस मुमुक्षु पुरुष का तो फल भी मोक्ष की इच्छा से क्षीण हुआ है और आत्म भाव से युक्त होने से श्रेष्ठ है। केवल ज्ञानी—जीवन्मुक्त को छोड़ कर और सब मनुष्यों और देवताओं से भी श्रेष्ठ होता है तीव्र मुमुक्षुता होने से उसको ज्ञान प्राप्ति सिवाय अन्य कुछ हो नहीं सकता यानी कभी भी गिरता नहीं इसीसे कर्म और उपासना के फल के स्थान कार्य ब्रह्म से भी वह आगे गया है।

संसार के तापों से तमायमान हुआ, ज्ञान के अधिकारी के लक्षण जो ऊपर दिखालाये हैं इनसे युक्त हुआ कोई एक उत्तम अधिकारी मुमुक्षु पुरुष विधिवत् गुरु के शरण में जाकर आत्मोपदेश के हेतु गुरुसे प्रार्थना करने लगा।

अपूर्ण।

गुरु तत्त्व विवेचनम्।

अन्धेनान्धी कृतं विश्वं
सचक्षुस्तु सचक्षुषम्।
दिदृक्षा चेद्व्रज त्वंतु
देशिकेन्द्रं सचक्षुषम् ॥१॥

अर्थः—अन्धे के लिये सब विश्व अन्धा ही है और आंख वाले के लिये सब आंख वाले ही हैं। इसलिये यदि तुझे ज्ञान दृष्टि प्राप्त करने की इच्छा है तो ज्ञानचक्षु वाले सद्गुरु को ही भज।

अन्धस्य गुरुरेकाक्ष-
स्तस्य द्व्यक्षो गुरुर्मतः ।
द्व्यक्षाणामपि सर्वेषां
गुरुस्त्र्यक्षो न तत्समः ॥२॥

अर्थः—अन्धे के लिये एक आंख वाला गुरु है और एक आंख वाले का गुरु दो आंख वाला है । परन्तु सब दो आंख वालों का गुरु तीन आंख वाला है; वह उनके समान नहीं हो सकता अर्थात् उनसे अत्यन्त श्रेष्ठ है ।

सहस्राक्षादयः सर्वे
द्व्यक्षा एवहि केवलम् ।
कार्यध्येयदृशो यस्मात्
त्र्यक्ष शिष्य पदे स्थिताः ॥३॥

अर्थः—सहस्र आखों वाले इन्द्रादि भी दो आंख वालों में ही शुमार हैं, क्योंकि उनके कार्य की और ध्येय की ऐसी दो ही दृष्टियां होती हैं । इसलिये वे तीसरी ज्ञान दृष्टि रखने वाले के शिष्य ही हैं ।

त्र्यक्षस्तु भगवानादि-
पुरुषः शंकरो भवः ।
स्रष्टा सर्वाणि भूतानि
कायमध्येऽथ संदिशन् ॥४॥

अर्थः—तीसरी आंख वाला तो सब का आदि पुरुष और सबको उत्पन्न करने वाला शंकर ही है । वह सब भूतों को उत्पन्न करके उनके शरीर में रह कर उनको प्रेरता है ।

उभयातीत ममलं
त्रितीयाक्षस्य गोचरम् ।
ददाति प्रार्थितस्तुष्टः
श्रीगुरुः परमेश्वरः ॥५॥

अर्थः—परमेश्वर रूप श्रीगुरु, यदि प्रार्थना से तुष्ट हो जाय तो, स्थूल और सूक्ष्म के परे रहे हुए और ज्ञान दृष्टि से ही प्राप्त होने वाले परमतत्त्व को प्राप्त करा दे सकता है ।

स आदिनाथो भगवाननादि-
र्ज्ञानांबुधिः स्वात्मरतिर्महात्मा ।
श्रीदेशिकेन्द्रः करुणांबुराशि-
र्नाना स्वरूपै श्चरतीह लोके ॥६॥

अर्थः—वही आदि नाथ भगवान् अनादि शिव है । ज्ञान के समुद्र रूप, करुणा सागर और अपने ही में राग करने वाले महात्मा श्रीगुरु महाराज इस लोक में नाना रूप धारण करके विचरते रहते हैं ।

क्वचिच्चकिंचित्कुरुते मनस्वी
क्वचिन्न किंचित्कुरुते प्रमत्तः ।
वालोयथा क्रीड़ति सर्व लोके
तथैव स क्रीड़ति पामरेषु ॥७॥

अर्थः— मन को जीतने वाले सद्गुरु कभी भी कुछ कार्य करते हैं अथवा मस्त रहकर कभी कुछ भी नहीं करते; अथवा जिस प्रकार इस जगत् में बालक क्रीड़ा किया करते हैं वैसे वह मनुष्यों में क्रीड़ा करते रहते हैं ।

सलभ्यते केनचिदेवपुंसा
विज्ञायते केनचिदेवपुंसा।
प्रस्तूयते केनचिदेवपुंसा
शृणोति वा तं स नरोऽपिधन्यः॥८॥

अर्थः—कभी कोई विरला पुरुष ही उसको प्राप्त करता है कोई विरला पुरुष ही उसको जानने पाता है, किसी विरले पुरुष को उसकी स्तुति करने की बुद्धि होती है और जब वह सद्गुरु उसकी सुन लेता है वही पुरुष धन्य है।

॥ इति सद्गुरु विवेचन ॥

महोपनिषद्।

(गतांक से आगे)

पुरुषार्थ और प्रयत्न से जिस पद में मन लगाया जाता है, उस पद को प्राप्त करके, हे निष्पाप, निर्विकल्प होजा ॥ १०३ ॥ इस लिये पुरुषार्थ धारण करके चित्त से चित्त को वशकर और शोक रहित और मृत्यु रहित स्थान प्राप्त करके वहीं स्थिर होजा ॥ १०४ ॥ मन को दृढ़ता से पकडने में मन ही समर्थ होता है जैसे राजा को पकड़ने में अराजक ही समर्थ होता है ॥ १०५ ॥ संसार सागर में गिरे हुए, मगर से ग्रसे हुए और लहरों से बहते जाते हुए लोगों को दूर रही हुई नाव के समान मन अग्राह्य है ॥ १०६ ॥ मनको--जो परम बंधन रूप पाश है—मन ही से काट कर आत्मा को भव सागर से तारले; और किसी उपाय से उसको नहीं तार सकते ॥ १०७ ॥ अंतःकरण में बसी हुई मन नामक जो जो वासना उदय हो उस उस का विद्वान् त्याग करे; इससे अविद्या का नाश हो जायगा ॥ १०८ ॥ सब भोगों की वासना का त्याग करके भेद वासना का त्याग कर, पश्चात् भावाभाव का त्याग करके निर्विकल्प होकर सुखी होजा ॥ १०९ ॥ जो कुछ भी जानने में आवे उसमें स्वल्प भी आस्था न करना, यही मनोनाश और यही अविद्या नाश है ॥ ११० ॥ आस्था करना ही दुःख है और आस्था त्यागना ही मोक्ष है ॥ १११ ॥ जिसको ज्ञान नहीं है, उसमें अविद्या मूर्तिमान दीखती है, परंतु जिसको सम्यक् ज्ञान हुआ है उसमें अविद्या कहां? उसमें केवल नाम मात्र के लिये इसका आकार बना रहता ॥ ११२ ॥ दुःखरूपी कांटों से छाई हुई संसार रूप पहाड़ियों में यह अविद्या अपने साथ जीव को तब तक खूब घुमाती है ॥ ११३ ॥ जब तक इसमें अपना ही नाश करने वाली और मोहको दूर करने वाली, अपने को देखने की इच्छा स्वयं न उत्पन्न हो ॥ ११४ ॥ यह जब अपने को पूर्ण रूप से देखने का यत्न करती है तब उसका नाश हो जाता है। सर्वगत ज्ञान तत्त्व को पाकर यह स्वयं विलीन हो जाती है ॥ ११५ ॥ इच्छा ही यह अविद्या है; उसके नाश को मोक्ष कहते हैं और वह, हे मुने, संकल्प के त्याग से ही सिद्ध होता हैं ॥ ११६ ॥ मनरूपी आकाश में वासना रूपी रात्रिका स्वल्प भी क्षय होजाय तो चित्सूर्य के प्रकाश से अज्ञान रूप अन्धेरा नष्ट होजाता है ॥ ११७ ॥ जो दृश्य को ग्रहण न करे, सामान्यता से सर्वत्र व्यवस्थित हो, ऐसा अकथनीय चैतन्य तत्त्व ही आत्मा है, परमेश्वर है ॥ ११८ ॥ वास्तव में ही सब कुछ नित्य चिद्घन स्वरूप, अखंड ब्रह्म है, उसमें मन नामक कोई अन्य कल्पना है ही नहीं ॥ ११९॥

तीनों लोकों में न कुछ उत्पन्न होता है न मरता है; न पदार्थ रूप विकारों का कहीं भी अस्तित्व है ॥१२०॥ यहां केवल चैतन्य स्वरूप सबमें सामान्यता से रहा हुआ, अखंड, दृश्य के अनुसंधान रहित एक चिति ही विद्यमान है ॥ १२१ ॥ उस विस्तार वाले नित्य, शुद्ध, चित्स्वरूप, दुःख रहित, शांत, विकारी न होते हुए भोग करने वाले, शुद्ध चिदात्मा में ॥ १२२ ॥ यह चिति ही अपने स्वभाव के अनुसार किसी विषय का संकल्प करके उसकी ओर दौड़ती है, परन्तु स्वयं कलुषित नहीं होती, अब वह विषय को मानती है चाहती है इसलिये मन कहलाती है ॥ १२३ ॥ इसलिये इसकी संकल्प ही से सिद्धि होती है और संकल्प ही से वह नष्ट होजाता है; मैं ब्रह्म नहीं हूं (यानी देह आदि हूँ) इस दृढ़ संकल्प ही से मनकी जड़ जमी है ॥ १२४ ॥ सब कुछ ब्रह्म ही है ऐसा दृढ़ संकल्प हो जाने से मन मुक्त होजाता है। मैं कृश हूँ, दुःखी हूं, हाथ पैर वाला हूं, इन भावनाओं को लेकर व्यवहार करने से बंधन होता है, और मैं दुःखी नहीं हूँ, न मेरा देह है; आत्मा में टिके हुए मुझ में बंध कैसा ? ॥ १२५ ॥ इत्यादि भावनाओं के साथ व्यवहार करने से मोक्ष होता है। 'मैं मांस हड्डियां आदि तो नहीं हूँ, मैं देह से भिन्न और उससे श्रेष्ठ हूँ,' इस प्रकार जो अन्तर में निश्चय रखता है उसकी अविद्या नष्ट होकर वह मुक्त होजाता है ॥ १२७ ॥ अनात्मा में आत्मा की भावना द्वारा यह (वासना) कल्पित है, अविद्या है, तात पुरुषार्थ धारण करके प्रयत्न पूर्वक दृढ़ बुद्धि से भोग की इच्छा को दूर ही से त्याग करके निर्विकल्प होकर सुखी होजा ॥ १२८ ॥ मेरा पुत्र, मेरा धन, यह ऐसा मैं हूँ, यह मेरा है आदि भ्रान्ति के रूप से वासना ही नाच नचाती है ॥ १२९ ॥ अब मत बन, संसार भावना को त्याग और ज्ञानवान हो; अनात्मा में आत्म भावना करके क्यों मूर्ख के समान रोता है ? ॥ १३० ॥ यह जड़ मूल, मांसमय और अपवित्र देह तेरा कौन है कि जिसके लिये तू बेबस होकर सुख दुःख से पीड़ित होता रहता है ? ॥ १३१ ॥ ओहो ! यह कैसा आश्चर्य है कि मनुष्य सत्य ऐसे ब्रह्म को भूल गया ! तू अपने काम करता हुआ भी राग में मत फंस ॥ १३२॥ ओहो ! कैसा यह आश्चर्य ! कमल के तन्तु से हाथी बंध गया; जो विद्यमान ही नहीं है, ऐसी अविद्या ने समस्त विश्वको बांध लिया ॥ १३३ ॥ दृढ़ता को प्राप्त हुआ वही ये तीनों तुच्छ जगत् है ॥ १३४ ॥

॥ इति चतुर्थ अध्याय ॥

ऋभुः—हे तात, अब मैं आगे, अज्ञान की सात भूमिकाएं तथा ज्ञानकी भी सात ही भूमिकाएं होती हैं उनको भली प्रकार कहता हूं, सुन ॥१॥ इन भूमिकाओं के और भी असंख्य भेद हो सकते हैं। स्वरूप में रहना मोक्ष है और स्वरूप से पतित होकर 'मैं' का बोध होता है ॥२॥ केवल शुद्ध सत्तामय ज्ञान स्वरूप से जो भ्रष्ट नहीं होते, उनके राग द्वेषादि भाव अज्ञान मूलक नहीं होते ॥३॥ विषयों के लिये चिति को लगाना यही स्वरूप से गिरना है, इससे दूसरा कोई मोह न हुआ न होगा ॥४॥ एक विषयसे दूसरे विषय के प्रति चित्त जाता है, तब बीचमें जो मनन रहित स्थिति होती है, उसको स्वरूप स्थिति कहते हैं ॥५॥ सब संकल्प शान्त हो जाने पर जो शिला के समान स्थिति होती है और जिसमें निद्रा न हो, जागृति हो, उसको स्वरूपावस्थिति कहते हैं ॥६॥ अहंता दूर होकर चित्तमें भेद स्फुरणा बंद

होजाय, परन्तु वह जड़ न होजाय, उसको स्वरूप कहते हैं।

बीज जाग्रत्, जाग्रत्, महा जाग्रत्, जाग्रत् स्वप्न, स्वप्न, स्वप्न जाग्रत् और सुपुप्त ॥८॥ ऐसे सात प्रकार का मोह है; ये भेद परस्पर मिलकर इनके अनेक उपभेद होते हैं, अब इनका लक्षण सुन ॥६॥ प्रथम चित् का अकथनीय और निर्मल चैतन्य था, वही आगे जीवादि नामक शब्द और उनके अर्थका विषय होता है ॥१०॥ बीजरूप से रहे हुए जाग्रत् को बीज जाग्रत् कहते हैं; यह ज्ञानकी नूतन अवस्था है। अब आगे उसकी जाग्रत् अवस्था कहता हूं, सुन ॥११॥ ज्ञानकी नूतन अवस्था प्राप्त होने के पश्चात् 'यह मैं और यह मेरा' ऐसा अपने में पूर्व विस्मृति से जो प्रत्यय होता है उसको जाग्रत् कहते हैं ॥१२॥ यह मैं हूँ और यह मेरा है ऐसा पूर्व जन्म के संस्कारों से उदय हुआ प्रत्यय जब दृढ़ होजाता है, तब उस स्थूल प्रत्यय को महा जाग्रत् कहते हैं ॥१३॥ अल्प काल के लिये हो अथवा अधिक काल के लिये, सर्वथा तन्मय होकर जो जाग्रत् में मनोराज्य किया जाता है उसको जाग्रत् स्वप्न कहते हैं ॥१४॥ अभ्यास पड़ जाने से दो चन्द्र भासना, सीपी में चांदी और मरु भूमिमें जल भासना आदि अनेक भेद से जाग्रत् स्वप्न होता है ॥१५॥ 'मैंने इसको थोड़े समय में ही देखा यह वास्तविक हुआ नहीं था' इस प्रकार का जिसका जाग्रत् अवस्था में ज्ञान होता है उसको स्वप्न कहते हैं ॥१६॥ बहुत काल तक दृश्य के अभाव से चित्त के अविकसित अवस्था के दीर्घकाल रहने से जाग्रत के समान निद्रा होती है ॥१७॥ उसको स्वप्न जाग्रत् कहते हैं; यह अवस्था जाग्रत् में भी होती है। छओं अवस्थाओं को छोड़कर जीवकी जो जड़ अवस्था होजाती है ॥१८॥ और जो आगे प्राप्त होने वाले दुःखों के संस्कार से युक्त होती है उसको सुपुप्ति अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में जगत् तमोगुण में विलीन होजाता है ॥१६॥ ये अज्ञान की सात अवस्थाएं, हे ब्राह्मण, मैंने तुझको कही, इनमें से एक एक के सैंकड़ों प्रकार हैं और इनके नाना प्रकार के वैभव हैं ॥२०॥

अपूर्ण।

ब्रह्मसूत्र भाषादीपिका।

(गतांक से आगे)

इसलिये आत्मा का कर्तृत्व उसमें उपाधि के धर्मों का आरोप करने ही से प्राप्त होता है, वह स्वाभाविक नहीं है। श्रुति ऐसा ही कथन करती है—'ध्यायतीव लेलायतीव' [बृ० ४।३।७] (ध्यान करता सा गमन करता सा), 'आत्मेन्द्रिय मनो युक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीपिणः।' [कठ० ३। ४] (इन्द्रिय और मन से युक्त ऐसे आत्मा को विद्वान् लोग भोक्ता कहते हैं), ये श्रुतियां उपाधि युक्त आत्मा को ही कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि विशेष धर्म प्राप्त होते हैं ऐसा कथन करती हैं, 'नान्योऽतोस्ति द्रष्टा' [बृ० ४।३।२३] (इससे अन्य कोई द्रष्टा नहीं है) ऐसी श्रुति भी है। इसलिये विवेकी पुरुषों की दृष्टि में परमात्मा से भिन्न ऐसा कोई कर्ता भोक्ता जीव है ही नहीं।

शंका:—यदि बुद्धि आदि से भिन्न और कर्ता ऐसा चेतन जीवात्मा परमात्मा से अभिन्न न हो तो परमात्माही संसारी, कर्ता और भोक्ता बन जायगा।

समाधानः—यह आवश्यक नहीं है; क्योंकि कर्तृत्व और भोक्तृत्व ये धर्म अविद्या से उपस्थित होते हैं। श्रुति भी कहती है कि 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति।' [बृ० २।४।१४] (जहां द्वैत होने की सी प्रतीति होती है वहां एक दूसरे को देखता है), इस वाक्य में कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म अज्ञान की अवस्था में होते हैं ऐसा कह कर विज्ञान की अवस्था में उन ही कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि धर्मों का 'यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कंपश्येत् [बृ० २।४।१४] (परन्तु जब उसको सब आत्म रूप ही हो जाता है तब किससे क्या देखे ?) ऐसा कह कर निवारण किया है। वैसे ही स्वप्नावस्था और जाग्रत् अवस्था की उपाधि के संबंध से जीव को आकाश में उड़ने वाले श्येन पक्षी के समान श्रम होते हैं ऐसा कह कर आगे सुषुप्तावस्था में परमात्मा से युक्त ऐसे उसको उनका अभाव होता है ऐसा कहा है। क्योंकि श्रुति में 'तद्वा अस्यैतदाप्त काममात्मकामम काम रूपं शोकान्तरम्।' [बृह० ४।३।२१] (वास्तव में वही इस आत्मा का आप्त काम, आत्म काम, काम-रहित और शोक रहित ऐसा रूप है) इस प्रकार प्रारंभ करके 'एपाऽस्य परमागतिरेपाऽस्य मरमा संपदेपोऽस्य परमोलोक ऐपोऽस्य परम आनंदः।' [बृ० ४।३।३२] (यही इस आत्मा की उत्तम गति है यही इसकी श्रेष्ठ संपत्ति है यही इसका उत्तम लोक और यही इसका उत्तम आनन्द है) ऐसा उपसंहार किया है। यही बात सूत्र कार इस सूत्र से कहते हैं कि जिस प्रकार बढ़ई दोनों प्रकार से [दिखाई देता है वैसा जीवात्मा भी दोनों प्रकार से है]'।

सूत्र का च शब्द 'परन्तु' के अर्थ में प्रयोग किया है। अग्नि की उष्णता के समान जीवात्मा का कर्तृत्व स्वाभाविक है ऐसा नहीं मानना चाहिये, परन्तु जिस प्रकार जगत् में बढ़ई बसूला आदि औजार हाथ में लेकर काम करने लगता है और दुःखी होता है; वही फिर जब बसूला आदि औजार अलग रख देता है और स्वस्थ शान्त और व्यापार रहित हो कर सुखी होता है इसी प्रकार स्वप्नावस्था और जाग्रत् अवस्था इन दोनों अवस्थाओं में अविद्या जनित द्वैत से युक्त जीवात्मा को कर्तृत्व प्राप्त होता है और वह दुःखी होता है। वही अपने श्रम दूर करने के लिये जब सुषुप्त अवस्था में अपना स्वरूप जो परब्रह्म उसमें प्रवेश करता है, तब वह शरीर इंद्रिय आदि संघात से अलग हो कर कर्तृत्व का त्याग करता है और सुखी हो जाता है। इसी प्रकार मोक्षावस्था में भी अज्ञानरूप अंधकार का ज्ञानदीप से नाश करके वह अद्वय और कर्तृत्व रहित हो कर सुखी होता है। बढ़ई का दृष्टान्त इतने ही अंश में समझना चाहिये कि बढ़ई 'तरासना' आदि विशिष्ट कार्य के लिये आवश्यक ऐसे विशिष्ट साधन द्वारा ही कर्ता बनता है, अपने शरीर की अपेक्षा से वह अकर्ता ही है। इसी प्रकार यह जीव भी सब व्यापारों में मन आदि इन्द्रियों की अपेक्षा ही कर्ता होता है, स्वयं तो अकर्ता ही बना रहता है। इस दृष्टान्त से यह नहीं समझना चाहिये कि बढ़ई के समान आत्मा को अवयव भी हैं और जैसे बढ़ई हाथ आदि अपने अवयवों से बसूला आदि साधन ग्रहण करता है या त्याग करता है वैसा आत्मा भी अपने अवयवों द्वारा मन आदि साधनों का ग्रहण या त्याग करता होगा।

अब 'शास्त्र को सार्थकता प्राप्त हो जाती है इत्यादि कारणों से जीवात्मा का कर्तृत्व स्वाभाविक

है' ऐसा जो पूर्व पक्ष में कहा है सो ठीक नहीं है। विधि शास्त्र तो जीवात्मा को जो कर्तृत्व प्राप्त हुआ है—फिर वह कर्तृत्व चाहे स्वाभाविक हो या औपाधिक हो— उसको मान कर ही विशेष कर्तृव्य का उपदेश करता है, जीवात्मा को कर्तृत्व है यह बात वह सिद्ध नहीं करता और न आत्मा का कर्तृत्व स्वाभाविक है; क्योंकि श्रुति में जीव परब्रह्म स्वरूप है ऐसा कहा है यह हम पहिले ही कह चुके हैं। अर्थात् अज्ञान जनित ऐसा कर्तृत्व मान कर ही विधि शास्त्र की प्रवृत्ति हो सकती है। शास्त्र में 'विज्ञान स्वरूप पुरुष कर्ता है' ऐसा जो कथन है वह अनुवाद रूप होने से [अन्यत्र प्रतिपादित वस्तु का केवल निर्देश करना, इसको अनुवाद कहते हैं] जीव को जिस प्रकार कर्तृत्व प्राप्त हुआ है उसीका अर्थात् अविद्या से प्राप्त कर्तृत्व ही का अनुवाद हो सकता है।

इससे विहार (गमन) और परिग्रहण [२।३। ३४–३५ में ये जीवके कर्तृत्व के कारण बताये गये हैं] इनका निराकरण हुआ समझना चाहिये, क्योंकि, विहार और परिग्रहण का निर्देश भी अनुवाद रूप ही है।

शंका:—'स्वप्नावस्था में सब इन्द्रियां विलीन होने से वह अपने शरीर में इच्छानुसार गमन करता है' [बृ० २।१।१८] इस प्रकार श्रुति में जो गमन का निर्देश किया है, उससे केवल आत्मा ही को कर्तृत्व प्राप्त होता है। वैसे ही, 'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' [बृ० २।१।१७] (इन इन्द्रियों की ज्ञान शक्ति को बुद्धि से ग्रहण करके) इस ग्रहण विषयक श्रुतिमें भी करण रूप इन्द्रिय और बुद्धिको कर्म और करण की विभक्ति लगाई है इससे केवल आत्मा ही को कर्तृत्व प्राप्त होता है।

समाधान:—स्वप्नावस्था में भी आत्माको इन्द्रियों का सर्वथा अभाव नहीं होता। क्योंकि 'सधीः स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति।' [बृ० ४।३।७] (स्वप्न में बुद्धि युक्त होकर इस लोक का अतिक्रमण करता है) इस श्रुतिमें स्वप्नावस्था में भी बुद्धिका संबंध रहता है ऐसा कहा है। स्मृति भी कहती है कि 'इन्द्रियाणामुपरमे मनोऽनुपरतं यदि। सेवते विषयानेव तद्विद्यात्स्वप्न दर्शनम्॥ (इन्द्रियां उपराम को प्राप्त हो जाय, परन्तु मन यदि बना रहे तो वह विषयों का सेवन करता है, इसीको स्वप्न दर्शन कहते हैं); और काम आदि मनकी वृत्तियां हैं यह श्रुति प्रसिद्ध है और इन सबका स्वप्न में अनुभव होता है। इसलिये मन सहित ही जीव स्वप्नावस्था में विचरण करता है यही मानना पड़ेगा। परन्तु स्वप्न का विहार-क्रीड़ा भी वासना मय ही होती है, पारमार्थिक नहीं होती। इसीलिये 'उतेव स्त्रीभिःसह मोद मानो जक्षदुतेवापि भयानिपश्यन्।' [बृ० ४।३।१३] (स्त्रियों के साथ जैसे आनन्द का उपभोग करता हो वा भय प्रद पदार्थ देखता हो) इस प्रकार श्रुतिमें सादृश्यता से स्वप्न का वर्णन मिलता है। लोग भी स्वप्न का वर्णन इसी प्रकार करते हैं; जैसे, 'मैं जैसे पहाड़ के शिखर पर चढ़ा हुआ हूँ और बड़े २ वन देख रहा हूँ' ऐसा ही वे सादृश्य से कहते हैं।

ग्रहण संबंधी श्रुतियोंमें यद्यपि कर्म और करण विभक्तियों का साधनोंके लिये प्रयोग किया है तो भी उनसे संबंध रखने वाले जीवात्मा ही को कर्तृत्व प्राप्त होता है, ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि अकेला जीवात्मा कर्ता

बन नहीं सकता यह पहिले बता चुके हैं। लोग कहते हैं कि योद्धागण युद्ध करते हैं, योद्धाओं की सहायता से राजा युद्ध करता है, इस प्रकार के अनेक वाक्प्रयोग देखने में आते हैं। उपादान संबंधी श्रुतियों में इन्द्रियों के व्यापार रुक जाते हैं, इतना ही अभिप्राय है। किसी को स्वतंत्र कर्तृत्व का प्रतिपादन करना इनका अभिप्राय नहीं है। क्योंकि, निद्रावस्था में इच्छा न होते हुए भी इन्द्रियों के व्यापार बंद होजाते हैं, ऐसा देखने में आता है।

'विज्ञानं यज्ञं तनुते' [तै० २।५१] यह प्रमाण दिया गया था परंतु इससे तो बुद्धि का कर्तृत्व ही सिद्ध होता है; क्योंकि विज्ञान शब्द इसी अर्थ में प्रसिद्ध है और आगे मनका भी उल्लेख आता है। 'तस्यश्रद्धैवशिरः' [तै २।४] (उसका श्रद्धा सिर है) इस श्रुति में विज्ञानमय आत्मा के श्रद्धा आदि अवयव हैं, ऐसा कहा है और श्रद्धा आदि बुद्धि के धर्म हैं यह प्रसिद्ध ही है। वैसे ही, विज्ञानं देवाः सर्वे ब्रह्म ज्येष्ठ मुपासते।' [तै०।५।१] (सब इन्द्रियां ज्येष्ठ और ब्रह्म रूप ऐसी बुद्धि की उपासना करते हैं। यह उसीके आगे का कथन है और ज्येष्ठत्व और प्रथम उत्पत्ति बुद्धिकी है यह प्रसिद्ध है। इसी प्रकार 'स एष वाचश्चित्तस्यो त्तरोत्तर क्रमो यद्यज्ञः।'(चित्त और वाणी का जो उत्तरोत्तर क्रम होता है वही यज्ञ है) इस अवान्तर श्रुति में यज्ञ वाणी और बुद्धि द्वारा होता है ऐसा निश्चय किया है।

बुद्धि आदि करणों में कर्तृत्व शक्ति मानने से उनकी करण शक्ति में बाधा नहीं पहुंचेगी, क्योंकि जितने करण (साधन) हैं उन सबको अपने व्यापारमें कर्तृत्व अवश्य प्राप्त होता है। बुद्धि आदि करणों का करणत्व अनुभव के निमित्त है और वह अनुभव आत्मा को होता है। परंतु उस अनुभव के हेतु भी आत्मा को कर्तृत्व की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि वह नित्य अनुभव स्वरूप है। अनुभव करने वाले को अहंकार पूर्वक कर्तृत्व भी नहीं हो सकता क्योंकि, अहंकार का भी अनुभव होता है। और इस प्रकार मानने से अब अन्य करण की कल्पना करने की भी आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि बुद्धि को ही हमने करण माना है।

'समाधि का अभाव हो जायगा' इस पूर्वपक्षी के कथन का खंडन 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' [ब्र० सू० २ ३। ३९] इस सूत्र के खंडन ही से होजाता है; क्योंकि जीव को जैसा(उपाधिकृत)कर्तृत्व प्राप्त होता है वैसा उसको ग्रहण करके ही उसके लिये समाधि का उपदेश किया है। इसलिये आत्मा में कर्तृत्व उपाधि के निमित्त ही है ऐसा सिद्ध होता है ।।४०।।

१६ परायत्ताधिकरण।

परात्तु तच्छ्रुतेः ।।२।३।४१।।

अन्वय और अन्वयार्थः— तु परंतु **परात्** परमात्मा से [जीवात्मा को कर्तृत्व की प्राप्ति होती है] **तच्छ्रुतेः** क्योंकि वैसी ही श्रुति मिलती है।

टीकाः—अज्ञान अवस्था में यह जो जीवात्मा को उपाधिकृत कर्तृत्व प्राप्त होता है ऐसा कहा है, इस कर्तृत्व के प्राप्त होने में उसको परमेश्वर की अपेक्षा है या नहीं, यह विचार उत्पन्न होता है।

अपूर्ण।

उपासना।

इस पुस्तकमें साकार, सगुण, निर्गुण, कार्य ब्रह्मकी तथा कारण ब्रह्मकी आदि कई प्रकार की उपासना को भिन्न २ प्रकार से समझाया है। उपासना की स्थिरता ही से मन एकाग्र होता है, आत्म साक्षात्कार होता है और समाधि की प्राप्ति होती है।

इसमें यह दृष्टान्त आये हैं:—कुमार अर्वाचिन और किमिच्छकं व्रत, ध्रुव की तपश्चर्या, धर्मनगर से मुक्तिनाथ तक जाने वाले दो मुसाफिर, गुलाम राजा बना, पांच मित्रों की मुसाफरी, अलौकिक मंदिर, समुद्र पार के देश का राजा, राजकुमार और राजकुमारी, महात्मा के उपदेश से साधु को ॐ दिखा दिया, अर्जुन, दुर्योधन और धात्री की कथा। इसमें उपासना, ब्रह्मोपासना, गायत्री, ॐकार और ब्रह्मतरंग हैं।

इस उपासना के अनुसार अभ्यास करके समाधि तक पहुँचे हुए और आत्म साक्षात्कार किये हुए मनुष्य इस समय भी मौजूद हैं। मूल्य ॥) डाक महसूल अलाहिदा।

वेदान्त दीपिका।

वेदान्त के प्रथम और द्वितीय वर्ष में आये हुए वेदान्त विषयक चौबीस प्रश्नोत्तरों का अपूर्व संग्रह।

इस ग्रन्थ में जिज्ञासु को स्वाभाविकता से होने वाली शंकाओं का अत्यंत मार्मिकता से समाधान किया गया है। वेदान्त के महत्व के ग्रन्थों को पढ़ने पर भी जिन शंकाओं का समाधान न होने से जिज्ञासु का चित्त अशान्त रहता है, वे शंकाएं इस ग्रन्थ को पढ़ने से समूल नष्ट हो जायंगी। ग्रन्थ को पढ़ते समय जो नयी शंकाएं उत्पन्न होंगी उनका समाधान आगे ही मिलने से पाठकों को अत्यंत आनंद होगा।

इसमें प्रत्येक विषय को प्रथम युक्तिपूर्वक समझा कर उसको अधिक दृढ़ करने के लिये प्रसंगानुकूल दृष्टान्त दिये गये हैं, जिससे ग्रन्थ अत्यन्त ही रोचक बन गया है। इसकी भाषा अत्यन्त सरल होने से सामान्य भाषा ज्ञान वाले भी इससे लाभ उठा सकते हैं। ग्रन्थ सबके लिये संग्राह्य है। सजिल्द मूल्य १॥) डाक महसूल अलाहिदा।

चर्पट पंजरिका।

"भज गोविंदं भज गोविंदं" पद्यका विवेचन सहित भाषानुवाद है। अनेक दृष्टांतों से रोचक और बोधप्रद है। सम श्लोकी पद्य भी हैं। मूल्य १)

व्यवस्थापक—वेदान्त केसरी, बेलनगंज—आगरा

REGD. NO. A. 1821

वेदान्त केसरी की छपी हुई पुस्तकें ।

वेदान्त केसरी मासिक पत्र—नवाँ साल चालू है वार्षिक मूल्य ३) वर्ष के मध्य में ग्राहक होने वालों को वर्ष के आरंभ से सब अंक लेने होंगे मई मास से वर्ष आरंभ होता है नमूने की कापी मुफ्त नहीं मिलती। एक प्रति का मूल्य पाँच आना।

वेदान्त केसरी—पिछले सातों साल की जिल्द (प्रत्येक बारह अङ्कों की) तय्यार हैं, थोड़ी कापियां शेष रही है। श्रीमच्छङ्कराचार्य्य के अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण वेदान्त की प्रक्रिया आगई है।

अधिकारी के लक्षण, गुरु-शिष्य लक्षण, पंचकोष विवेक, जगत्, जीव, ईश्वर, ब्रह्म, माया, अविद्या, ज्ञान, अज्ञान, आसक्ति, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, महावाक्य, जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति; स्वाभाविकता से उठा करते हैं ऐसे चौबीस प्रश्नों के उत्तर, ब्रह्मसूत्र भाषादीपिका, (दूसरे अध्याय के दूसरे पाद के सूत्र २० तक) विवेचन सहित मणिरत्नमाला और चर्पट पंजरिका, छोटे छोटे उपनिषद्, स्तोत्र आदि अनेक लेख आये हैं, जो बोलचाल की बहुत ही सीधी भाषा में युक्तिपूर्वक समझाये गये हैं।

प्रत्येक जिल्द में विषय को स्पष्ट करके समझाने वाले क़रीब पिचहत्तर २ दृष्टान्त दिये गये हैं। बहुत ही रोचक होने से पढ़ने को लेने के बाद पुस्तक छोड़ने को चित्त नहीं चाहता। सामान्य भाषा जानने वाले भी बारम्बार पढ़ने से आत्म-बोध प्राप्त कर सकते हैं। यह पुस्तकें रागी और त्यागी सब के लिये अत्यन्त उप-योगी हैं, वार्ता के प्रेमियों के मित्र हैं, मुमुक्षुओं के प्राण हैं और ज्ञानियों को विनोदरूप हैं।

आज तक सभी भाषाओं में प्रकट हुए वेदान्त के ग्रन्थ, मासिक पत्र, लेख और व्याख्यानादि सब से ही यह पुस्तकें विलक्षण हैं।

प्रत्येक पुस्तक का मूल्य ३) सम्पूर्ण सैट यानी आठों पुस्तक का मूल्य २४)

कौशल्य गीतावली भाग १—२—वेदान्त केसरी में आई हुई कविताओं का संग्रह। कविता रोचक सरल और ज्ञान के संस्कारों को प्रदीप्त करने वाली तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन रूप है। प्रत्येक भाग का मूल्य ।≠)

वेदान्त स्तोत्र संग्रह—श्रीमच्छङ्कराचार्य्य आदि के प्रतिभाशाली वेदान्त के मुख्य २ चुने हुए २१ स्तोत्रों का संग्रह किया गया है और प्रत्येक स्तोत्र का अर्थ भी सरल भाषा में दिया गया है, जो थोड़े पढ़े हुए मुमुक्षुओं को भी नित्य पाठ और श्रवण में अति उपयोगी है। कई संन्यासियों ने भी इसे बहुत पसंद किया है। मूल्य प्रति पुस्तक ॥) सब पुस्तकों का डाक खर्च ग्राहकों को देना होगा।

व्यवस्थापक—वेदान्त केसरी, बेलनगंज—आगरा।

केसरी प्रेस, बेलनगंज आगरा में सूरजभान गुप्त द्वारा मुद्रित और प्रकाशित।

REGD. NO. A. 1821

ॐ

वेदान्त केसरी

मासिक पत्र

पुस्तक ६ } कार्तिक सं० १९८७ नवम्बर १९३० { अंक ७

श्लोक—तावद्गर्जन्तिशास्त्राणि जम्बुका विपिनेयथा ।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद्वेदान्त केसरी ॥

अर्थ—जब तक महाबलवान सिंह गर्जना नहीं करता तब तक वन में श्याल खूब गर्जना करते हैं। इसी प्रकार जब तक वेदान्त सिद्धान्त की गर्जना नहीं होती तभी तक अन्य लौकिक शास्त्रों की गर्जना हुआ करती है।



सम्पादक—
ब्रह्मचारी विष्णु,
बेलनगंज-आगरा।

वार्षिक मूल्य ३)
एक प्रति का मूल्य ।-)

विषयानुक्रमणिका ।

वेदान्त केसरी के नियम ।

(१) यह पत्र प्रत्येक अंग्रेजी महीने के आदि में निकलता है ।

(२) वेदान्त विषय का विवेचन करना इसका मुख्य प्रयोजन है ।

(३) वार्षिक मूल्य ३) अग्रिम लिया जाता है । विना मूल्य पत्र किसी को नहीं भेजा जाता है ।

(४) एक अङ्क का मूल्य ।–) नमूने का अङ्क पांच आने के टिकट आने पर भेजा जाता है ।

(५) जिन ग्राहकों के पास पत्र न पहुँचे उनको १५ तारीख तक सूचना देनी चाहिये ।

(६) एक वर्ष से कम के ग्राहक नहीं किये जाते । मध्य में ग्राहक होने वालों को चालू साल के आरम्भ से सब अङ्क लेने होंगे ।

(७) चिट्ठी लिखते समय प्रत्येक ग्राहक को अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखना चाहिये ।

ॐ

वेदान्त केसरी

पुस्तक ९ } कार्तिक सं० १९८७ नवेम्बर १९३० { अङ्क ७

व्यापार।

इन्द्र वज्रा छन्द।

(१)

ले पुण्य पूंजी जग जीव आया।
व्यापार से द्रव्य करे सवाया॥
पाले कुटुम्बी सुत दार भ्राता।
है मूल पूंजी पहिली गँवाता॥

(२)

संसार का माल भरा करे है।
खा जाय है दीमक या सड़े है॥
व्यापार ऐसा करि जीव प्यारे।
होजाय दूना धन चौगुना रे॥

(३)

जो माल खोटा भरता रहेगा।
टोटा सदा ही पड़ता रहेगा॥
लाया हुआ भी धन जायगा रे।
व्यापार ऐसा तज चेत जा रे॥

(४)

राजा धनी भी जग नेहकारी।
देखे ऋणी हैं अति ही दुखारी॥
नाता न टूटे ऋण ना चुके है।
ना जन्म छूटे भय ना छुटे है॥

(५)

नैष्कर्मता से मन शोध ले रे।
वो ज्ञानका बीज अनूप दे रे॥
सत्संग का दे जल सींच ले रे।
वैराग्य से नित्य रखा उसे रे॥

(६)

पा काल ज्ञानाङ्कुर वृक्ष होवे।
तू वृक्ष नीचे सुख नींद सोवे॥
चारों दिशामें भर जायगा रे।
ब्रह्मांड से भी बढ़ जायगा रे॥

(७)

था पांच या सात कुटुम्ब छोटा।
ब्रह्मांड होजाय कुटुम्ब मोटा॥
भंडार पूरा धन धान्य पूरा।
ऐश्वर्य हो अक्षय राज्य पूरा॥

(८)

पूंजी पुरानी नित जो बढ़ाता।
हो सेठ पूरा सुख शान्ति पाता॥
सो दूसरों को धन दान देता।
है आप सा सेठ बनाय लेता॥

मैं जगत में क्यों आया ?

विवेक द्वारा देखते हैं तो टिड्डी दल के समान सब मनुष्य संसार में आगे से आगे बढ़ते ही चले जाते हैं; जैसे टिड्डी को कहां जाना है, किस हेतु से जाना है आदि बोध नहीं है, इसी प्रकार बहुत मनुष्यों का हाल देखने में आता है। ऐश्वर्य की वृद्धि करने में दूसरों से अधिक सुखी और प्रतिष्ठित कहलाने में एक दूसरे से आगे जाने में दौड़ रहे हैं। संसार रूप जगत का मार्ग अनेक प्रकार के कंटक कंकर और पत्थर से भरा हुआ है, उस मार्ग में आंख मींच कर दौड़ने वाले मनुष्य दौड़ते हुए ठोकरें खाते हैं, गिर जाते हैं और कई तो भारी चोट लगने से उस गड्ढे में ही समाप्त होजाते हैं। कोई संभल कर उठ बठता है तो फिर आगे दौड़ने की सूझती है। प्रत्येक मनुष्य का नित्य का यह ही व्यवसाय है। इस प्रकार अज्ञान रूप अंधकार में घिर गये हैं कि बारंवार कष्ट भोगते हुए भी दुःख रूप मार्ग का जाना छोड़ नहीं सकते वे उसी मार्ग को ही जाते हैं जहां कष्ट से कष्ट को भोगना पड़ता है; कभी किसी को कष्ट के समय में यह मार्ग कष्ट प्रद है ऐसा भान होता है तो भी सामने धरी हुई आशा उस भान पर मिट्टी डाल कर आगे खींच कर ले जाती है। आहाहा ! क्या अज्ञान का तमाशा है !!

अबुध भेड़ जिस मार्ग का अनुकरण करती है ऐसे मार्ग का अनुकरण बुद्धिवान् होकर भी मनुष्य करते हैं कोई कभी उनसे पूछे कि तुम लोग व्याकुल होकर तेजी से कहां जारहे हो; तो उत्तर नहीं मिलता, कभी कोई उत्तर देने का परिश्रम करता है तो इतना ही कहता है कि जहां सब जारहे हैं वहां हम भी जाते हैं। परन्तु क्यों जारहे हैं, कहां जारहे हैं जाने से क्या फल होगा, इस मार्ग में जाना योग्य है वा आयोग्य है आदि कोई भी बात जानते नहीं हैं और जानने का प्रयत्न भी नहीं करते। कोई कहे तुम कहां जा रहे हो कुछ विचार करके देखो तो ऐसा कहने वाले का वे हास्य करते हैं और कहते हैं कि देखता नहीं हम कहां जा रहे हैं क्या अंधा है ? स्वयम् अज्ञानासक्ति में अन्धे बने हुए दूसरे को अन्धा न कहें तो क्या कहें ?

नदी के प्रवाह के अनुसार जगत प्रवाह में सब लोग बहते हुए चले जाते हैं जिस प्रकार नदी के किनारे के वृक्ष, सूखी लकड़ी फूंस और कूड़ा करकट को नदी का प्रवाह बहा कर लेजाता है वे प्रवाह में ऊंचे नीचे सीधे टेढ़े और एक बाजू से दूसरे बाजू होते हुए जारहे हैं इसी प्रकार जगत के अविद्या काम कर्मरूप प्रवाह में बहते हुए सब मनुष्य जारहे हैं। उस बहाव के किनारे पर एक नीम के वृक्ष के नीचे एक पुरुष बैठा था और कभी कभी उस प्रवाह के जल की थपेड़ें भी उसे लगती थीं। वह चिल्लाता था कि हाय ! मैं जगत में क्यों आया ? हाय ! मुझे यहां आने का प्रयोजन क्या है ? क्या मेरे आये बिना जगत का कार्य नहीं चल सकता था ! मैं यहां किस काम के लिये आया हूं ? वहां से जाने वाले मनुष्यों को वह प्रार्थना करके पूछता था कि आपको मालूम हो तो बतलाइये मैं जगत में क्यों आया ? मैं किस काम के लिये यहां आया हूं ? लोग उसे पागल समझ कर उसके बोलने का कुछ भी उत्तर न देते हुए आगे चले जाते थे इस प्रकार उत्तर न देकर चले जाते देख वह पुरुष निराश होता था, जगत उसे कष्ट रूप ही भासता था। जैसे मंत्र

का जाप करने वाला पुरुष मंत्र को जपता ही रहता है इस प्रकार मैं जगत में क्यों आया इन शब्दों को मंत्र ही बना रखा था और अभ्यास की विशेषता से नींद में भी मंत्रोच्चार हुआ ही करता था।

कई दिन पश्चात् उस किनारे से एक मनुष्य जारहा था उसके कान पर, "मैं जगत में क्यों आया" आवाज पड़ा, आवाज कहां से आरहा है उसे देखने लगा तब थोड़ी दूर पर नीम के पेड़ के नीचे एक मनुष्य बैठा हुआ दिखलाई दिया। वह उसके पास गया उसने उसका सिर से पैर तक निरीक्षण किया और निश्चय किया कि यह मनुष्य पागल नहीं है उसका चिल्लाना सकारण है परंतु ऐसे प्रश्न का इस स्थान में उपयोग क्या होगा ? उसने उस पुरुष को कहा तेरे प्रश्न का उत्तर इस स्थान पर नहीं मिल सकता सब कोई अज्ञान के प्रवाह में बहे जारहे हैं अज्ञान निवृत्ति का उत्तर तुझे कैसे मिलेगा ? तेरा यह प्रश्न रत्न के समान है यहां से सब जाने वाले कामना से अन्धे हुए हैं जगत के पदार्थ रूप कौड़ियों को ही रत्न समझ रहे हैं। यह लोग कुंजड़े के समान हैं पैसे दो पैसे की शाक, भाजी को पहिचानने की योग्यता रखते हैं। तू जौहरी बजार में चलाजा और तेरे रत्न की परीक्षा चतुर ऐसे किसी जौहरी से कराले।

मनुष्यः—कुंजड़े कौन होते हैं और जौहरी कौन होते हैं मुझे मालूम नहीं है। मैं समझता था कि इतने आने जाने वाले मनुष्यों में से मुझे मेरी शंका का उत्तर मिल जायगा। मुझे इस प्रकार पूछते और चिल्लाते हुए बहुत दिन व्यतीत हुए अभी तक उत्तरदाता कोई भी न मिला आज ही तुम बात करने वाले मिले हो और कहते हो कि जौहरी बजार में चलाजा। आप कृपा करके यह भी बतलाइये कि जौहरी बाजार कहां है, वहां जाने का कौनसा मार्ग है ? और उसमें जाकर जौहरी को मैं किस प्रकार पहिचानूं ?

पथिकः—जब तुझे कुंजड़े और जौहरी की पहिचान नहीं तब तेरे रत्न के दाम तुझे कैसे मिलेंगे ? मोटी बुद्धि वाले तुच्छ पदार्थ का लेन देन करने वाले कुंजड़े कहे जाते हैं; जो कीमती पदार्थों को कीमती है ऐसा पहिचान कर उसी का व्यवहार करते हैं, लेते देते हैं वे जौहरी कहे जाते हैं। शाक तरकारी बेचने वाले कुंजड़े और हीरा, माणिक, मोती आदि रत्नों का धंदा करने वाले जौहरी होते हैं। यह स्थान कुंजड़ों के आने जाने का है। संसारासक्ति मोह ममत्व ईर्षादि की हवा से पूर्ण अज्ञान का जल है उस प्रवाह के किनारे कोई जौहरी होता है। तू अज्ञान प्रवाह से किनारे हुए को जौहरी समझले; शहर के किनारे पर ही इन लोगों का मिलना हो सकता है; कभी कोई अज्ञानी हो ऐसे भेष में भी होवे हैं परन्तु उनका पहिचानना बहुत कठिन है।

मनुष्यः—आपको कुंजड़े और जौहरी की पहिचान है, आपका जान पहिचान वाला कोई जौहरी हो तो मुझे बता दीजिये। वह कहां रहता है, उसके स्थान पर जाने का मार्ग कौन है और किस समय पर मैं उससे मुलाकात कर सकता हूं ?

पथिकः—जो लौकिक आसक्ति में फंसे हुए दीखे उसे तू तुच्छ अज्ञानी जीव समझ और जो ऐश्वर्य की चाहना रहित शांत आत्म प्रेम वाला दीखे उसे ज्ञानी पुरुष समझ। अधिककरके कल्याण करने वाले पुरुष विरक्त ही होते हैं, वे जगत के भाव से हटे हुए और अधिक व्यवहार को छोड़े हुए होते हैं परन्तु

सब ऐसे ही हों ऐसा नियम भी नहीं है। मैं एक तत्त्व परीक्षक जौहरी ज्ञानी पुरुष को जानता हूँ, देखने में वे गृहस्थी मालूम होते हैं, गृहस्थी के सब व्यवहार यथा विधि करते हैं तो भी आत्म भाव में टिके हुए ही होते हैं। मुझ पर उनकी कृपा है, वेही मेरे परमगुरु हैं इनके सिवाय मैं अन्य को जानता नहीं हूं बनारस आदि स्थान में जौहरी बाजार है ऐसा मैंने सुना है, वहां मैं गया नहीं हूँ यदि तू मेरे गुरुजी के पास जाने को चाहता हो तो मैं मार्ग को दिखलाता हूं। यहां से आधा कोस के ऊपर एक रमणीक स्थान में एक बगीचा सहित मकान बना हुआ है वहां वे अपने बाल बच्चे सहित रहते हैं जो कोई भूला हुआ मुमुक्षु उनके पास पहुंच जाता है तब उसकी परीक्षा करके, जिस प्रकार की उसकी योग्यता देखते हैं उसीके अनुसार उपदेश करते हैं। उनका उपदेश देना विलक्षण है सब किसी को एक प्रकार का उपदेश नहीं देते। उनके उपदेश के अनुसार चलने वाला मनुष्य अवश्य कल्याण का भागी होता है ऐसा मैंने देखा है। सद्गुरु के उपदेशानुसार बर्ताव करने से थोड़े ही दिन में मैं शुद्ध अन्तःकरण वाला होगया और ज्ञान के प्रभाव से मुझ में शान्ति का आविर्भाव हुआ। गुरु महाराज कर्म उपासना और ज्ञान का अधिकार के अनुसार उपदेश देते हैं। दिन में किसी भी समय उनसे मिल सकते हैं तो भी दिन के दो बजे से चार बजे का समय उत्तम है क्योंकि उस समय वहां अन्य मनुष्य नहीं होते। योग्यता के अनुसार उपदेश लेने का उत्तम समय वह ही है और समय में भिन्न २ प्रकृति के मनुष्यों को सामान्य उपयोगी ऐसा ही उपदेश होता है उत्तम अधिकारी सामान्य उपदेश को भी विशेषता से ग्रहण करके कृतार्थ होजाते हैं। जो तुझे वहां जाने की इच्छा हो, वहां तुझे तेरा हित होता हुआ दीखे तो वहां टिक जाना और गुरु शरण होकर सदुपदेश को ग्रहण करके कृतार्थ होजाना।

मनुष्यः—आपने मुझ पर कृपा की, सब पता ठीक २ बता दिया है, मैं आपसे एक बात और पूछना चाहता हूँ। आपके परमपावन सद्गुरु देवका व्यवहार में आने वाला नाम क्या है? आयु क्या है? और शरीरादि आकृति किस प्रकार की है उनके मंदिर के ऊपर पहिचानने का कोई खास चिन्ह हो तो वह भी बतला दीजिये।

पथिकः—मेरे गुरुदेव का नाम भद्रपुरुष है, आयु अन्दाज छत्तीस साल की होगी शरीराकृति मध्यम है बहुत ऊंची नीची नहीं शरीर का वर्ण भी मध्यम ही है बहुत पुष्ट नहीं है और दुबले भी नहीं हैं यानी सब प्रकार से समान ही है चेहरा चिन्ता रहित हमेशा प्रसन्न रहता है और उनके निवास स्थान के ऊपर चिन्हरूप भगवे रंग की ध्वजा उड़ती रहती है।

मनुष्यः—आपने मुझे जैसा पता दिया है उसी के अनुसार मैं कल ही पहुंचूंगा यदि आप भी मुझे मिलते रहे तो अच्छा है, मैं समझता हूँ कि आपभी वहां अपने और मेरे भी गुरुदेव के पास मिलेंगे।

पथिकः—मुझे अवकाश कम मिलता है तो भी चार पांच दिनमें किसी समय जाकर दर्शन करता हूँ; मैं वहां ही मिलूंगा। आज देरी होगई मुझे एक आवश्यकीय काम के लिये जाना है ऐसा कह कर वह वहां से चला गया।

मनुष्य अपने हृदय में बहुत प्रसन्न हुआ और विचारने लगा बहुत काल के प्रश्नोत्तर का फल

मुझे आज मिला, यदि में इस प्रकार चिल्लाता न होता तो यह सभ्य पुरुष से मुलाकात कैसे होती ? वह मुझे सद्गुरु के पास पहुंचने का मार्ग दिखलाने को ही आया था। धन्य हे पथिक पुरुष तुझे धन्य है धन्य तेरी परोपकार बुद्धि को ! दूसरे दिन वहां से सद्गुरु के निवास स्थान पर गया। सुंदर बगीचा लगा हुआ और राज महल के समान भव्य मकान देखकर प्रसन्न हुआ मकान पर भगवी ध्वजा देख कर यह ही सद्गुरु का स्थान है ऐसा निश्चय किया। वह वहां ही खड़ा रहा भीतर जाने की उसकी हिम्मत न हुई, उसे किसी मनुष्य को पूछने की इच्छा थी परन्तु चौकीदार अथवा कोई अन्य मनुष्य को देखा नहीं। थोड़ी देर खड़ा रहा होगा इतने में एक सात वर्ष की लड़की बगीचे में से फाटक पर आई और बोली यहां क्यों खड़े हो तुमको बाबूजी से मिलना हो तो मैं ले चलती हूँ, चलिये मेरे साथ।

मनुष्य लड़की की मधुर वाणी सुन कर प्रसन्न होता हुआ बोला बच्ची चल मैं यह ही चाहता था कि मुझे कोई तेरे बाबूजी के पास ले चले, अच्छा हुआ तू यहां आ पहुंची तूने कैसे जाना कि मुझे तेरे बाबूजी से मिलना है ?

लड़की:—आप जैसे कई मनुष्य यहां आया करते हैं इसीसे मैं समझ गई कि आपको बाबूजी से मिलने की इच्छा है ऐसा कह कर वह मनुष्य को भद्रपुरुष के पास ले गई।

मनुष्य ने जाते ही भद्रपुरुष को पहिचान लिया, दंडवत् करके उसकी आज्ञा से सामने बैठ गया और बोला आज मैं अपना अहो भाग्य समझता हूं पथिक पुरुष की कृपा से मुझे आप जैसे महत पुरुष का दर्शन हो रहा है।

भद्रपुरुषः—तुझे पथिक पुरुष ने मेरे पास भेजा होगा, तू किस हेतुसे मेरे पास आया है। पथिक पुरुष परोपकारी पुरुष है।

मनुष्यः—'मैं इस जगत में क्यों आया ?' यह मेरा प्रश्न है। इसके उत्तर पाने के लिये कई वर्षों से मैं प्रयत्न कर रहा हूं उसको मंत्र बना कर चिल्लाकर जपता रहा आज तक उसका उत्तर मुझे नहीं मिला, इसके लिये ही मैं आपके पास आया हूं। आपके दर्शन से ही मुझे निश्चय है कि मेरी इच्छा आपके उपदेश से पूर्ण होगी। आपके दर्शन से एक प्रकार की सतोगुणी प्रभाव की छाप मेरे हृदय में पड़ गई है, मुझे आप पर परम श्रद्धा है।

भद्रपुरुषः—तेरा प्रश्न महत्त्व का है, इस प्रश्न के उत्तर में सब शास्त्रों का रहस्य आजाता है। तू शंका करता है परन्तु तू शंका करने वाला कौन है इसका तुझे पता नहीं है, शंका करने वाले को प्रथम समझना चाहिये। तू जिसको मैं करके कहता है वह तू कौन है ? क्या शरीर तू है ? शरीर रूप तू जगत में आया है ऐसा नहीं है। शरीर जगत का है, पंच तत्त्वों की एक आकृति होजाना यह शरीर की उत्पत्ति है और तत्त्वों का विभिन्न होजाना शरीर का नाश है। इससे पंच तत्त्वों में से आकृतिका आविर्भाव और तिरोभाव ही होता है। शरीर के साथ तू अपने को मिला कर कहता है मैं आया हूं। इस जगत के बाहर का तू जगत के शरीर के साथ तादात्म्य से मैं हूं मान कर वर्तता है; वास्तविक में तू आया नहीं है शरीर के साथ मिल कर जीव भाव से तू अज्ञानी बना है। न तू जीव भाव है न आने जाने वाला है। जब तू आने वाला नहीं है ऐसा

सिद्ध हुआ तब तो क्यों आया यह तेरा प्रश्न ही नहीं बन सकता।

मनुष्यः—आप इस प्रकार के कथन से मेरे प्रश्न को मत उड़ाइये। आपका कहना सत्य है परन्तु मुझे तो जगत में आने का भास हो रहा है मैं यहां कर्तव्य मूढ़ हुआ हूं, यहां कोई हितकारक कार्य दीखता नहीं है जहां देखूं वहां दुःख चिन्ता और उपाधि ही दीखती है। यदि मैं आने जाने वाला नहीं हूं विकारी नहीं हूं ऐसा भली प्रकार जान जाऊं, ऐसा ही अनुभव करने लगूं तो सब दुःख से रहित हो जाऊं परन्तु इस समय में मुझमें इतनी योग्यता दीखती नहीं है यह बताइये कि मैं जिस हालत में हूं वहां मुझे क्या करना चाहिये और क्रम क्रम से किस मार्ग में जाना चाहिये जिससे मुझे मेरे अविकारी स्वरूप का अनुभव हो कर दृढ़ता से उसमें टिक जाऊं। आप मुझे उपदेश करिये मैं आपका शिष्य हूं। जिस प्रकार मेरी योग्यता हो उसी प्रकार का मुझे उपदेश देकर क्रम २ से आगे बढ़ा कर अन्तिम आद्य स्वरूप को प्राप्त कराइये। मैं इस शरीर की बीमारी वाला हूं आपके पास दवा कराने को आया हूं मैंने अपनी सब बीमारी की बागडोर आपके हाथ में दी है जिस प्रकार मैं आरोग्य हो जाऊं ऐसी औषधि और परहेज मुझसे कराइये। मैं आपका हुआ हूं आप ही मेरे उद्धार कर्ता हो।

भद्रपुरुषः—(विचार करके) मैं तुझे पाचन हो ऐसा खुराक दूंगा। तू जीव भाव के साथ कार्य करने को चाहता है, अच्छा है, तेरे लिये यह योग्य ही है, अब मैं जो कहता, हूं उसे श्रवण कर। तू बारंबार जन्म मरण को प्राप्त होने वाला सुख दुःख का भोक्ता जीव है, जीव मनुष्य शरीर धारण करके संसार में क्यों आया है क्या कार्य करने को आया है यह तेरा प्रश्न है। जीव पूर्व कर्म के अनुसार जन्म धारण करता है, जन्म धारण करके पूर्व के किये हुए कर्म का भोग करता है, भोग के लिये जन्म धारण करता है और जन्म धारण करके आगे के भोग के लिये कर्म करता है इस प्रकार दो कार्य करने के हैं। पूर्व कर्मों का भोग और नये भोग को उत्पन्न करने वाले कर्म। ये दोनों प्रकार के कर्म मनुष्य शरीर में ही हो सकते हैं; पशु आदि योनि तो केवल भोग योनि होने के कारण वहां पूर्व का भोग ही होता है नया भोग उत्पन्न करने का कार्य नहीं होता। वे भोग को भोग कर योनि को समाप्त करते हैं, बाद पूर्व संस्कार के भंडार में से पके हुए कर्म निकलते हैं उसीके अनुसार जन्म धारण करते हैं। अधिकता से स्वर्गादि लोक भी भोग की अधिकता से भोग भूमि होती है वहां भी नया फल पैदा करने का कर्म का होना अशक्य है, एक मनुष्य शरीर ही ऐसा है कि उसमें पूर्व का भोग और नया फल पैदा करने का कर्म हो सकता है।

भोग में संपूर्ण जीव परतंत्र है क्योंकि पूर्व किये हुए कर्म-भाव सूक्ष्म जीव सृष्टि में से पक कर, स्थूल ईश्वर सृष्टि में आये हैं ऐसे ईश्वर सृष्टि में आये हुए जीव के कर्मों में जीव परतंत्र है इसी से भोग की क्रिया सब किसी को यानी पशु, पक्षी, ज्ञानी, अज्ञानी, देव, मनुष्य सब किसी को करनी पड़ती है। मनुष्य योनि के सिवाय सब योनि में भोगों को दुःख सहित समाप्त करना पड़ता है और नया कर्म पैदा नहीं कर सकते।

मनुष्य शरीर में होने वाले भोग दो प्रकार के होते हैं। अज्ञान सहित भोग और ज्ञान सहित

भोग। अज्ञान सहित भोग करने वाला सुखी दुःखी होता है और उन भोगों के साथ में अहंभाव की अधिकता होने से आगे के लिये जिसका फल हो ऐसे नये कर्म उसी के साथ अज्ञान में कर लेता है। ज्ञान सहित कर्म का भोग करने वाला पुरुष ज्ञान के भाव से भोग के सुख दुःखादिक को जगत में छोड़ देता है उनमें अहंकार नहीं रखता उसी से दुःखी नहीं होता और नया फल पैदा करने वाले कर्म को भी नहीं बनाता। उसको कर्म, अज्ञान, ज्ञान, संसार, बन्धन मोक्ष आदि का बोध होने से कार्य करते हुए भी अलिप्त रहता है।

अन्तःकरण की शुद्धि बिना स्वस्वरूप का बोध नहीं होता। स्वस्वरूप के बोध रहित अज्ञानी दीन और दुःखी होता है, आत्म बोधके लिये अन्तःकरण की शुद्धि की आवश्यकता है इससे भोग को भोगते हुए–समाप्त करते हुए अन्तःकरण को शुद्ध करने का और उसके द्वारा ज्ञान प्राप्त होने के उपाय को बतलाता हूं।

मनुष्य पूर्व कर्म का भोग और पुरुषार्थ करने को जगत में आता है। पूर्व कर्मका भोग जिसे प्रारब्ध कर्म कहते हैं वह सबको भोगना ही पड़ता है तो भी ज्ञान सहित पुरुष ही उसको भली प्रकार भोग सकता है, अज्ञानी को वह भोग दुःख सहित होता है और पुरुषार्थ करने में भी बाधा पहुँचती है। पुरुष प्रयत्न के तीन भेद हैं। अधर्म वृद्धि रूप प्रयत्न, ऐश्वर्य निमित्त प्रयत्न और मोक्ष के हेतु प्रयत्न। अज्ञान की अधिकता से जो प्रयत्न होता है बहुत करके अधर्म की वृद्धि रूप ही होता है और कभी ऐश्वर्य की प्राप्ति का भी होता है, तीसरा प्रयत्न जो परम पुरुषार्थ है वह अन्तःकरण की शुद्धि के साथ होता है यह करना ही जगत में आने का मुख्य प्रयोजन है, इससे परमपद अखंडानंद की प्राप्ति होती है। ब्रह्मलोक और स्वर्गादिक की प्राप्ति इससे हलकी है और मनुष्य जन्म का फिर होना इससे हलका है और तुच्छ योनि की प्राप्ति अथवा तिर्यक योनि में आना अधम है।

यहां तुझे जो कर्म प्रारब्ध के अनुसार प्राप्त हुआ हो उसे भावाभावरूप आसक्ति को छोड़ कर, मेरा कर्तव्य है, अवश्य करना है, पूर्वकी समाप्ति का है ऐसा समझ कर करते रहना चाहिये। जैसे किसी कार्य के साथ अपना अधिक सम्बन्ध न हो और कार्य अवश्य करने का हो उसे भावाभाव रहित करते हैं अथवा करने के समय के पश्चात् भी भावाभाव नहीं रखते फल की चाहना नहीं रखते इस प्रकार प्रारब्ध के अनुसार प्राप्त हुए कर्म को करना चाहिये। यह कर्म प्रारब्ध कर्म रूप है अथवा नया क्रियमाण रूप है ऐसे भेद को समझना कठिन है; परन्तु जिसका अन्तःकरण जितना शुद्ध होता है उसके अनुसार मनुष्य समझ सकता है। प्रारब्ध कर्म में कर्तापने के भाव की गहराई नहीं होती भीतर से कार्य करने का भाव निकलता है और कर्म होकर शान्त होजाता है। प्रारब्ध कर्म के संस्कार सूक्ष्म में होते हैं वे स्थूल क्रिया में आने के लिये निकलते हैं उस समय सूक्ष्म में कोई वर्तमान आसक्ति के भाव का नया संस्कार पड़े तब प्रारब्ध कर्म समझना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य के प्रारब्ध कर्म का उत्थान इस प्रकार होता है। अज्ञान से जगत की आसक्ति से मनुष्य प्रारब्ध कर्मके साथ अपने भावको मिलाकर उसके सहारे नये क्रियमाण संस्कारों को पैदा करता है यह सूक्ष्म संस्कार ही क्रियमाण कर्म होकर हृदयमें पड़ जाते हैं, मतलब यह है कि अशुद्ध अन्तःकरण से अज्ञानी प्रारब्ध कर्म के भोग के साथ क्रियमाण को बनाता है और शुद्ध अन्तःकरण वाला

नये क्रियमाण संस्कारों को आनकर बन सके वहां तक नहीं बनने देता। ज्ञानी का संपूर्ण संचित कर्म सहित अज्ञान नष्ट होनेसे अनासक्ति से क्रियमाण नहीं बनता। क्रियमाण कर्म अज्ञान विना बन नहीं सकता।

तुझे प्रारब्ध कर्मों का चुपचाप भोग करना चाहिये। चुपचाप का अर्थ यह है कि भावाभाव और फल में आसक्ति न हो। तू यहां जो कर्म करता है अधिकता से पूर्व के बनाये हुए कर्म का फल भोगने के लिये ही करता है इससे फलरूप में फल की इच्छा न करना चाहिये। फल प्राप्ति में फिर फल की इच्छा करना क्रियमाण कर्म का बनाना है। जो तू प्रारब्ध कर्म को आसक्ति रहित करेगा तो वे कर्म निष्काम कर्म हो जायंगे, ऐसे कर्म को ईश्वरार्पण भी कहते हैं और यज्ञ-समाप्ति के हेतु भी वे ही हो जाते हैं। इस प्रकार कर्म करते रहने से कर्म के साथ में दुःख नहीं होता क्योंकि उसमें आसक्ति नहीं है और जिस करके दुःख हो ऐसे नये क्रियमाण भी नहीं बनते।

मनुष्य में बुद्धिवान मनुष्य वह ही है जिसने जगत में किस प्रकार कर्म करना, किस प्रकार कर्म करते हुए कर्म फल के भाव से भिन्न रहना जाना है और इसी के अनुसार वर्तता है वह यहां सुखी होता है। मनुष्य को जितने दुःख होते हैं सब मन से होते हैं, मन दुःख के भाव को पकड़ता है इसी से दुःख होता है जब मन किसी प्रकार दुःखादिभाव को पकड़े नहीं तब दुःख किस प्रकार हो। ऐसे बुद्धि पूर्वक कर्म करना ही मनुष्यत्व है, जो इस प्रकार से कार्य नहीं करता वह मनुष्य दीखता हुआ भी मनुष्यत्व से रहित है। इस प्रकार से कर्म करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है और स्वरूप ज्ञान करने के योग्य बनता है परन्तु अज्ञान से सब मनुष्य इस प्रकार कार्य करने को सम्पूर्ण समर्थ नहीं होते तो भी श्रद्धा वाला, जगत में जिसे दुःख प्रतीत होने से मुमुक्षु हुआ है ऐसा पुरुष इस प्रकार का कार्य कई अंश में कर सकता है और संपूर्ण अलिप्तता वाले कर्म तो ज्ञान के पश्चात् ही होते हैं।

जगत में आकर करने के कार्य के दो प्रकार में से एक का वर्णन ऊपर हो चुका है दूसरा कार्य परम पुरुषार्थ करने का है। ऊपर के अलिप्तकार्य से दुःख का अभाव होता है वह ही संसार निवृत्ति का हेतु है। और परम पुरुषार्थ परम शान्ति अखंडानंद को प्राप्त कराने वाला होता है। अलिप्त रह कर प्रारब्ध के अनुसार कार्य का करना जीव का कार्य है और परम तत्त्वके बोधरूप परम पुरुषार्थ का करना (शुद्ध) आत्मा का है। इन दोनों का आपस में सम्बन्ध है; जगत में जितनी अलिप्तता उतनी परम पुरुषार्थ की सिद्धि और जितना पुरुषार्थ उतनी अलिप्तता। दोनों की पूर्णता से मनुष्य कृतकृत्य होता है, कर्म का अलिप्त होना कर्म स्वरूप है और परम पुरुषार्थ भाव रूप है इससे कर्म से वह सूक्ष्म है। संसार के भाव से संसार की सिद्धि है और आत्म भाव से आत्मा--परमात्मा की सिद्धि है जो सच्चिदानंद स्वरूप है। अधिकारी के साधनों से युक्त होकर सद्गुरु के शरण में जाना चाहिये वहां श्रवण करके मनन में मन लगाना चाहिये, जिसका श्रवण मनन किया है उसका निदिध्यासन करना चाहिये इस प्रकार आत्मा-परमात्मा की एकता का दृढ़ अपरोक्ष बोध होजाता है तब परम पुरुषार्थ सिद्ध होता है। जगत के दुःखों की अत्यंत निवृत्ति और परमानंद की प्राप्ति ही मनुष्य शरीर धारण करके जगत् में आने का परम प्रयोजन है और शुभ कर्मादि अवान्तर प्रयोजन है। जो अपने

स्वस्वरूप को नहीं जानता वह अपने परम प्रयोजन की हानि करता है; मनुष्य जन्म धारण करके भी संपूर्ण लाभ को ले नहीं सकता वह अभागी है।

भद्र पुरुष के उपदेश का ग्रहण करके मुमुक्षु निष्कामना से प्रारब्ध का भोग करता हुआ परम पुरुषार्थ का प्रयत्न करके स्वस्वरूप के बोध से कृतार्थ हो गया। शरीर रहते हुए भी सब प्रकार के दुःखों से रहित होकर जीवन्मुक्त के विलक्षण सुख का भोग करता हुआ शरीर का अन्त हो जाने पर विदेह कैवल्य को प्राप्त हुआ।

ईश्वराराधन और संन्यास।

पंडित प्रभाकर ने एक दिन अपने पिता ज्ञानीजी से इस प्रकार प्रश्न किया:—

प्रभाकर—पिताजी! साधन चतुष्टय क्या हैं, उनके उपार्जन करने का क्या उपाय है और पुरुष को संन्यास आश्रम में कब प्रवेश करना चाहिये यानी संन्यास का किसको अधिकार है? इन मेरे प्रश्नों का उत्तर दीजिये आप चिरकाल से ईश्वराराधन और योग के साधनों में लग रहे हैं परंतु आपने अभी तक संन्यास नहीं लिया, इससे सिद्ध होता है कि संन्यास बहुत कठिन है और आप अभी अपने को संन्यास के योग्य नहीं समझते। यदि आप अपने को संन्यास के योग्य समझते होते, तो अवश्य संन्यास धारण कर लेते; क्योंकि आप सांसारिक भोगों से विरक्त हैं, अन्य संसारियों के समान आप स्त्री पुत्रों में आसक्त नहीं हैं, दिन रात सत्शास्त्रों का विचार करते हैं, घंटों तक एकान्त में ध्यान किया करते हैं, शहर भर में आप शिष्ट समझे जाते हैं, जिसके मुख से सुनता हूँ, आपकी प्रशंसा ही सुनता हूँ, निस्पृही हैं, विद्वान् हैं, संतोषी हैं, राग द्वेष रहित समदर्शी हैं, इत्यादि अनेक प्रकार के प्रशंसनीय वचन आपके विषय में मैंने गुप्त रहकर सुने हैं। अधिक क्या कहूँ आपके शुभगुणों के प्रभाव से मैं भी शहर भर में पुजता हूँ फिर भी आपने अभी तक संन्यास धारण नहीं किया, इससे सिद्ध होता है कि संन्यास में कठिनाई अवश्य है, सहज काम नहीं है कि शिखा, सूत्र त्याग दिये, दंड कमंडल ले लिये, कषाय वस्त्र धारण कर लिये, लगे द्वार २ पर 'नारायण' जगाने! संन्यासाश्रम में ऐसी कौनसी कठिनाई है, जिसके कारण से आप सर्वोत्तम आश्रम को भी अभी धारण करने में संकोच कर रहे हैं, कृपया मेरा समाधान कीजिये।

ज्ञानीजी—(मुस्करा कर) वत्स! तेरा कल्याण हो! तेरा प्रश्न बड़ा सुन्दर है, योग्यता और अधिकार विना आरंभ किया हुआ कोई कार्य सिद्ध नहीं होता जो कोई कार्य सफल होता है, योग्यता और अधिकार से ही होता है। योग्यता विना समझे सोचे आजकल बहुत से संन्यास धारण कर लेते हैं, इसीलिये वे निःश्रेयस् के बदले अधोगति को ही प्राप्त होते हैं या तो इधर उधर झक मार कर फिर भाई बांधवों में घुस जाते हैं और लोककी निन्दा के पात्र होते हैं, अथवा जिन में किंचित धैर्य होता है, लोक लाज से डरते हैं, वे किसी क्षेत्र में पड़े रहते हैं कोई २ दंभी सट्टा आदि बताकर दूसरों को ठगते हैं और आप ठगाये जाते हैं कोई सत्संग में पड़

जाते हैं, तो भिक्षा मांग कर खाते हैं और थोड़ा बहुत ईश्वर नाम लेते हैं तो आगे के लिये मार्ग सुधार लेते हैं, विशेष करके तो गृहस्थियों से भी अधिक संसार में फंसे हुए संन्यासी देखने में आते हैं और घर पर दोचार की सेवा करने के बदले सैकड़ों हजारों की सेवा करते हुए दिखाई देते हैं ! संन्यास लेकर भी संसार की सेवा, आश्चर्य है ! विश्वनाथ के सेवक होकर भी विश्व के सेवक होजाना आश्चर्य है ! विश्वसे प्यार करना विश्वेशकी सेवा है, विश्व से व्यवहार करना विश्वेश की सेवा नहीं है ! विश्वेश के भक्त होकर विश्व का भार ढोना आश्चर्य है ! बोझ ढोना ही है, तो विश्वको छोड़ कर संन्यास आश्रम लेने की अपेक्षा ही क्या है ! विश्व का बोझा ढोना संसारियों का भूषण है और विरक्तों के लिये दूषण है ! इस प्रकार हे वत्स ! बहुत से संन्यासियों को मैंने अपने धर्म से गिरते ही देखा है, गिरना ही चाहिये, 'देखा देखी साधे योग । छीजे काया बाढ़े रोग ॥ ' यह कहावत ठीक ही है, विचारे विना कोई कार्य करना ठीक नहीं है, संन्यास से पूर्व क्या कर्त्तव्य है, यह बताता हूँ ध्यान देकर सुन—

हे पुत्र ! सच्चिदानन्द परब्रह्म निरंशक परमात्मा का सर्वदा ध्यान करे, असत्, जड़, दुःख तमरूप माया का कभी ध्यान न करे ! परमात्मा का भूत, वर्त्तमान और भविष्यत तीनों काल में नाश नहीं होता, इसलिये परमात्मा सत् कहलाता है, परमात्मा प्रकाश यानी ज्ञानस्वरूप है, इसलिये चित् कहलाता है, परमात्मा निरतिशय सुख रूप है, परमात्मा में लेश मात्र भी दुःख नहीं है, इसलिये परमात्मा आनन्द कहलाता है, परमात्मा सर्वत्र व्यापक है, इसलिये ब्रह्म कहलाता है, माया भी सर्वत्र व्यापक है, किंतु ब्रह्म माया से भी अधिक व्यापक है, इसलिये परमात्मा को वेदवेत्ता परब्रह्म कहते हैं परमात्मा में कोई अंश नहीं है क्योंकि परमात्मा अवयव रहित है, इसलिये परमात्मा को निरंशक कहते हैं ऐसे परमात्मा का सर्वदा ध्यान करना चाहिये। माया परमात्मा से विरुद्ध स्वभाव वाली यानी असत्, जड़, दुःख और अन्धेरा रूप है, इसका कभी ध्यान न करना चाहिये ।

हे वत्स ! जिस परमात्मा का नाम प्रकाश है, जो परमात्मा स्वयं ही प्रकाशता है, जिस परमात्मा का नाम सदात्मा है, जिस परमात्मा का ही केवल अस्तित्व है, उस परमात्मा की सिद्धि के लिये प्रमाण ढूढ़ना निरर्थक है, क्योंकि परमात्मा ही सब प्रत्यक्षादि प्रमाणों को और प्रमाणों से सिद्ध होने वाले सब पदार्थों को प्रकाशता है, फिर उसकी सिद्धि के लिये प्रमाण चाहना व्यर्थ ही है । जैसे सूर्यको सिद्ध करने के लिये दीपक बाल कर देखने का प्रयत्न निष्फल है, इसी प्रकार सर्व प्रकाशक परमात्मा को प्रमाणों से जानने का प्रयत्न करना निष्फल है ।

हे पुत्र ! ब्रह्मा से लेकर स्तम्भ पर्यन्त भूलोक, भुवःलोक, स्वःलोक, महालोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक ये ऊपर के लोक और अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल, और पाताल ये नीचे के सात लोक जितना जगत् है और इस जगत् के भीतर जो कुछ है, इस सबको सच्चिदानन्द विग्रह परमात्मा बाहर भीतर से व्याप्त करके विराजमान है अथवा यों कहना चाहिये नाम रूप को छोड़कर यह संपूर्ण जगत् सच्चिदानन्द विग्रह परमात्मा ही है, परमात्मा के सिवाय अन्य कुछ नहीं है ।

हे पुत्र! यह संपूर्ण जगत् परमात्मा ब्रह्म से भास्य यानी प्रकाश्य है परमात्मा सबका प्रकाशक है, परमात्मा का कोई प्रकाशक नहीं है, परमात्मा सबको प्रकाशता है और वह ही जगत् का प्राण होकर जगत् के जीवन का कारण है। श्रुति भगवती कहती है कि प्राण अपान से कोई नहीं जीता, प्राण अपान के चलाने वाले परमात्मा की शक्ति से सब जीते हैं।

हे पुत्र! स्थूल, सूक्ष्म, बृहत्, क्षुद्र, गोरे काले, शीत उष्ण, ऊंचे नीचे, बाहर भीतर इन सब से परमात्मा विलक्षण है, नित्य है, स्वयं ज्योति है, अविकारी है और सर्वदा स्थिर है। सर्वदा विद्यमान रहने से नित्य है, अपने प्रकाश के लिये दूसरे प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखता, इसलिये स्वयं ज्योति है। घटना बढ़ना, चलना फिरना आदि से रहित होने से अविकारी है, और सर्वत्र ठसाठस भरा हुआ होने से स्थिर है।

हे पुत्र! चेतन रूप परमेश्वर इस संसार नाटक का नाट्य कर्ता है, एक होकर भी अनेक रूप से दिखाई देता है, निराकार होकर भी अनेक आकार धारण कर रहा है, अविभक्त होकर विभक्त सा हुआ दीखता है। अन्धकार रूप विश्व उसीके उजाले में विचित्र रूप से चेष्टा करता हुआ प्रतीत होता है। जब प्रलय कालमें, सुषुप्ति कालमें ये समस्त विश्व सोजाता है तब वह ही एक चिरंतन परमेश्वर जागता रहता है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और प्रलय में परमेश्वर ही जागता है, परमेश्वर की दृष्टि का कभी लोप नहीं होता।

हे पुत्र! आकाश में जो दीप्तिमान यह आदित्य मंडल दिखाई देता है, उस दीप्तिमान आदित्य मंडल में जो हिरण्यमय यानी तेजोमय पुरुष है, जो तेजोमय पुरुष सर्वदा आदित्य को देखता है, जिस तेजोमय पुरुष को आदित्य कभी नहीं देखता, वह पुरुष ही इन सब लोकों का ईश्वर यानी नियामक चिदानन्द, प्रभामय, निरंजन, महादेव, विज्ञानात्मा, सदा शिव परमात्मा है। अपनी माया शक्ति से सबको नियम में रखता है, इसलिये लोकों का ईश्वर-नियामक कहलाता है, ज्ञान स्वरूप और सुख स्वरूप होने से चिदानन्द कहलाता है, प्रकाशमयी प्रज्ञा वाला होने से प्रभामय कहलाता है, अंजन रूप माया से रहित होने से निरंजन कहलाता है, सर्व देवोंका देव-प्रकाशक होने से महादेव कहलाता है, सब बुद्धियों का साक्षी होने से विज्ञानात्मा कहलाता है, सर्वदा कल्याण स्वरूप होने से सदा शिव कहलाता है, समष्टि व्यष्टि पंच कोश रूप आत्माओं से पर होनेसे परमात्मा कहलाता है।

हे पुत्र! शरीर के भीतर दीप्तिमान् हृदयाकाश है, हृदयाकाश में मनोरम चित्ताकाश है, उस मनोरम चित्ताकाश में ज्वाला माला युक्त अग्नि भासती है, उस अग्नि की शिखा सूक्ष्म है और बिजली की रेखा के समान प्रकाश वाली है, उस अग्नि की शिखा के मध्य में परमेश्वर परमात्मा विराजमान है। यहां हृदयाकाश की अपेक्षा से परमात्मा के परिच्छिन्न होने की शंका करना न चाहिये क्योंकि यदि एक हृदयाकाश में हो तब तो परिच्छिन्न होसक्ता है, जब सबके हृदयाकाश में एकही परमात्मा विराजमान है, तब परिच्छिन्न नहीं होसक्ता।

हे पुत्र! जो परमात्मा बुद्धि के मध्य में नित्य विचरता है, बुद्धि के कलेवर को धारण करता है, जो बुद्धिको जानता है, जिसको बुद्धि कभी नहीं

जानती, वह ही सर्व भूतों का अन्तरात्मा है वही अन्तर्यामी भवेश्वर है, सर्वका प्रकाशक नित्य स्व प्रकाश चिदर्णव यानी ज्ञान समुद्र है।

हे वत्स ! हृदय में द्वादश आर का अनाहत चक्र है, यह शब्द ब्रह्ममय कमल बंधूक के पुष्प के समान है। यह अनाहत महापद्म कोटि विद्युत के समान प्रभा वाला है। इस पद्म के आकाश में जब पवन जाता है, तो महान् ध्वनि उत्पन्न होती है, ध्वनि के अन्तर्गत ज्योति है, ज्योति के अन्तर्गत मन है, यह मन जिसमें लीन होजाता है, वह विष्णु का परमपद है।

हे प्रिय ! भ्रकुटियोंके मध्य दिव्य नेत्र वाला बहुत ही उज्ज्वल आज्ञा चक्र है। इस पद्ममें ॐ एक अक्षर ब्रह्म साधक के लिये परम आलम्बन है। ॐकार में सूर्य मंडल के समान अकार विराजमान है, चन्द्र के समान उकार उसके मध्य में स्थित है, वह्नि के समान धूम रहित मकार उसके मध्य में है, इस प्रणव के ऊपर अर्ध मात्रा है, जो उच्चारण करने में नहीं आती। यह अर्ध मात्रा दीपक की शिखा के तुल्य और विद्युत की रेखा के समान प्रकाश वाली है। शिव रूप महा सूक्ष्म इस अर्ध मात्रा में मन लय होजाता है और मनके लय होने पर अव्यय, पूर्ण चैतन्य, द्वैत भाव रहित महत्तम ब्रह्म भासता है।

हे श्रेय कांक्षी ! योगीन्द्र स्थिर आसन से स्थित होकर प्रशान्त मनकी भावना से सुषुम्णा नाड़ी द्वारा क्रम से ऊपर को उठता है। ऊंचे से भी ऊंचा जाकर चाप से फेंके हुये बाण के समान शिवालय सहस्रार महापद्म में प्रवेश करता है, पश्चात् ब्रह्मरंध्र को भेदन करके अन्तरिक्षगामी होता है और फिर वह महान् तेज वाला योगी प्रभायुक्त नाना लोकोंको भेदन करता है, पश्चात् चन्द्रलोक को भेदन करके ब्रह्मांड खर्पर को भेदन करता है और काल के विलास मंदिर रूप महाकाश को प्राप्त होता है। हे तात ! इस महाकाश में समुद्र की तरंगों के समान असंख्य विश्व उठते खेलते और लीन होते रहते हैं ऊर्ध्व से ऊर्ध्व जाकर योगी बहुत ही ऊंचा जाकर निरामय महाशून्य को प्राप्त होता है। महाशून्य में कुछ भी नहीं है न आकाश है, न दिनादिक हैं, न मरण अमरण, न काल हैं, न दिशायें हैं, इस महाशून्य में स्वयं ज्योति, सदा पूर्ण निष्कल, परम शिव परमात्मा विराजमान है।

हे शुभेच्छुक ! एक परब्रह्म ही सर्वत्र व्यवस्थित है, यह समस्त जगत् वह ही है, इसके सिवाय यहां नाना-भेद कुछ नहीं है, भेद ज्ञान से नित्य भय होता है, इसलिये भेद ज्ञान को त्याग देवे और अभेद दर्शन ज्ञान का सर्वदा ही अवलम्बन लेवे। अद्वैत महादेव की निरंतर भावना करे और अद्वैत महादेव में मनको लयकर देवे। संसार नाशक इस योग का सदा आचरण करने से मानस आकाश में पर वैराग्यरूपी सूर्य उदय होता है। इस योग के प्रभाव से साधन चतुष्टय से संपन्न होकर योगी ज्ञान गोचर संपूर्ण दृश्य को मायामय मिथ्या जानता है साधन चतुष्टय के नाम ये हैं,—(१) आत्म अनात्म वस्तु विवेक (२) लोक परलोक के फल भोग में विराग (३) षट् सम्पत्ति और (४) मुमुक्षुता, जैसे हंस जलको छोड़कर दूध ग्रहण कर लेता है, इसी प्रकार योगी जड़ जगत् को त्यागकर चैतन्य ब्रह्मको ग्रहण कर लेता है। पश्चात् वह संयमी देह, गेह, अपने सर्वस्व को परमात्मा में समर्पण करके माया-

भय पाश को जलाकर वन में जाता है। शास्त्र का आदेश है कि जब विवेक से उत्पन्न होने वाली शुद्ध वितृष्णा-वैराग्य उत्पन्न हो तब ही विद्वान् संन्याश्रम में जावे, नहीं तो पतित होने का भय है।

एक ब्राह्मण, ब्राह्मणी, विद्वान्, धनवान्, कुटुम्बी और सदाचारी थे। एक दिन दोनों में इस प्रकार बात चीत हुई—

ब्राह्मण—हे प्रिये! मैं चतुर्थाश्रम संन्यास में जाना चाहता हूँ, तेरी क्या सम्मति है?

ब्राह्मणी—(प्रसन्न होकर) हे स्वामिन्! मैं भी यह ही चाहती हूँ कि आप संन्यास ग्रहण करलें; वह कौन सी शुभ घड़ी होगी जब आपको मैं दंड कमंडलु धारण किये देखूंगी! आप प्रेम पूर्वक अपनी इच्छा पूर्ण कीजिये! इतना ध्यान रखिये कि मन बड़ा नटखट है, यदि गृहस्थाश्रम त्यागने पर स्त्री की कामना मन में उठ आवे, तब तो गृहस्थ में ही रहना ठीक है क्योंकि रोग है तो उसके साथ रोग की दवा भी ईश्वर ने दे रक्खी है यदि रोग बना रहा और दवा न मिली तो रोग असाध्य हो जायगा! यदि संन्यास लेकर चेले चांटे कर लिये, तब तो बेटा बेटी ही अच्छे हैं। यदि संन्यासी होकर देश की सेवा करने लगे, तब तो जाति बांधव ही सेवा के लिये बहुत हैं! यदि कुए, बावड़ी, बगीचे, धर्मशाला बनवाने के लिये चंदा करते फिरे तब तो घर का बाग ही अच्छा है, धन भी है ही, चाहे जो कुछ बना सकते हैं। यदि संन्यासी होकर किसी सेठ साहूकार के द्वार पर चटपटे मिष्टान के लिये पड़ गये तो घर ही अच्छा है, अपकीर्ति तो नहीं है। यदि संन्यासी होकर मठधारी बनने की इच्छा से मुकद्दमे बाजी करने लगे, तब तो अपनी धरती ही अच्छी है, निष्कंटक तो है, इत्यादि बातों का विचार कर लीजिये, यदि आप में योग्यता हो, तब तो सोना और सुगंध है प्रेम से घर छोड़ कर चले जाइये।

स्त्री की युक्ति युक्त बातें सुनकर अपने में योग्यता न देख कर ब्राह्मण ने संन्यास लेने का विचार छोड़ दिया। हे पुत्र! बिना अधिकार कोई कार्य फलदायक नहीं होता, तो संन्यास तो महा कठिन है, अधिकार बिना कैसे फलीभूत होसक्ता है, साधन चतुष्टय संपन्न पुरुष ही संन्यास आश्रम में जाने का अधिकारी है। ईश्वराराधना रूप योग से चारों साधनों की सिद्धि होती है। साधन चतुष्टय संपन्न होने के बाद धारण करने से संन्यास शीघ्र ही सिद्धि दायक होता है, इसीलिये कहा है:—

कुं०—जब तक नहिं हो शुद्ध मन, पूर्ण न होय विराग।
देखा देखी अन्य की, मत दीजे घर त्याग॥
मत कीजे घर त्याग, भजन घर पर ही कीजे।
सत्यासत्य विवेक, हुये यति बाना लीजे॥
भोला! कर हरि ध्यान, ज्ञान सम्यक् हो तब तक।
धारण मतकर वेष, न हो अधिकारी जब तक॥

—सकल चराचरानुचर भोला।



एक जिज्ञासु की चिंता।

हे मन, अब हम तो उत्तराखंड को जाते हैं। हमारा विचार अब व्यवहार में प्रवृत्त होने का नहीं है। जिसने निवृत्ति के सुख का अनुभव किया है, प्रबुद्ध है और शांत चित्त है, वह प्रवृत्ति रूपी कीच से लिपायमान नहीं होना चाहता, ब्रह्माकार जिसका मन है, सम्पूर्ण जगत्‌में आत्मैक दृष्टि प्राप्त हुई है और जो मानापमान से रहित है, निर्मल शांति रूप शिखर पर जो आरूढ़ होगया है, वह दुःख रूपी व्यवहार दलदल में नहीं फंसना चाहता, जो सुख दशा को प्राप्त होकर आह्लाद को प्राप्त नहीं होता, दुःख दशा को प्राप्त होकर विपाद को प्राप्त नहीं होता और जाग्रत अवस्था ही में सुपुप्ति का निरादर करते हुए परम सुखका जिसने अनुभव किया है फिर वह प्रवृत्ति रूपी कंटक शय्या पर शयन नहीं करना चाहता, ज्ञान रूपी अग्नि करके वासना दग्ध हो जाने से जन्म मरण के भय से जो रहित है, शब्दादिक विपयों से विमुख होकर आत्म सम्मुख जिसकी वृत्ति हुई है, अहंकार रूपी वधिक से छूट गया है और लोभ में लिप्त नहीं होता, वह अज्ञान से उत्पन्न हुई प्रवृत्ति रूपी शूली पर चढ़ना नहीं चाहता, जो राग, द्वेष, हर्ष, शोक, हानि, लाभादि, द्वंद्व से रहित है, अस्ति नास्ति प्रत्यय जिसकी दृष्टि में नहीं हैं और कामादिकों से जो लिपायमान नहीं होता वह इस झगड़े की झोंपड़ी में नहीं रहना चाहता।

शब्दादिक विपय सुखाभास से वृत्ति मुड़कर परम रसरूप आस्वाद से परिपूर्ण चित् तत्त्व के प्रसन्न होने पर संसार से रहित दिव्य स्वरूप महादेव हैं मुखिया जिनमें, ऐसे सम्पूर्ण देवता जिसको प्राप्त होते हैं और सत् रजादि गुणोंसे जो रहित सत्य स्वरूप है, स्थूल सूक्ष्मादि अवयवों से रहित मायिक पदार्थोंसे परे है, ऐसे परम तत्त्व आत्म स्वरूप के ज्ञान होनेपर जीवन्मुक्त सूर्यकी किरणोंके समान संसार में विचरता है। अर्थात् जैसे सूर्य की किरण शुद्ध अशुद्ध ऊंच नीच, जल स्थल आदि भाव से रहित होकर जगत में विचरती हैं, इसी प्रकार जीवन्मुक्त हर्ष विपाद से रहित हो जगत् में विचरता है।

रथोऽस्थायी देह श्चपल तुरंगाश्चेन्द्रियगणो।
महाबुद्धिः सूतः परम सुख धाम्न्यथ्यनिविशे॥
रथा रूढोऽहं नो जनन मरणानर्थग इति।
परिज्ञाते तत्त्वे जगति रवि भाभं विहरणम्॥

नहीं स्थिर रहने वाला देह रूपी रथ है, पुनः इन्द्रियों का समूह रूप जिस रथ में चंचल घोड़े हैं, निश्चयात्मक शुद्ध बुद्धि रूपी सारथी है जिसकी, उसका रथ राग द्वेपरूपी गड्ढों में नहीं पतन होता। ऐसे रथ में आरूढ़ होकर मैं परम सुख रूप मोक्ष धाम में अभीसे निवास करूंगा। जिससे जन्म मरण रूपी अनर्थ भी मुझको नहीं प्राप्त होगा। हे मन, ऐसे रथ में आरूढ़ हुआ द्वंद्व प्रति द्वंद्व से रहित ऐसे स्वच्छ स्थान उत्तरा खंड में रहूँगा।

मनः—वाह! वाह!! ऐसी निर्वलता दिखाते हो यहां क्या दुःख है? देखो श्रुति क्या कहती है—'नाय मात्मा प्रवचनेन लभ्य' "नाय मात्मा वल हीननेन लभ्यः"

मुमुक्षुः—हे मन, मनमुखी अर्थ समझ लेना ठीक नहीं है, देख महा पुरुषों ने इन श्रुतियोंका क्या अर्थ

किया है ? और श्रुति भगवती स्वयं क्या कहती है ? आदि अन्त तक ठीक २ निर्णय करना चाहिये । अपने स्वार्थ सिद्धि के लिये शास्त्रों का अर्थ अंड बंड नहीं करना चाहिये नहीं तो यथेष्टाचरण हो जायगा । "अय मात्मा प्रत्यग भिन्न ब्रह्मरूप 'प्रवचनेन' वेदाध्यापने न 'लभ्यःन' ज्ञातुं शक्यं न । गुरु उपदेश विना न लभ्यः ।" "अयमात्मा बल हीनेन" कामादि शत्रु भिरनभिभाव्यता लक्षण बल रहितेन पुरुषेण 'नलभ्यः' नज्ञेयः ।" तर्हि के न उपायेन लभ्यते "श्रवण मननादिभिः प्राप्तमिच्छति श्रवणादि कालेपि प्रत्यग्ब्रह्मैवाह मित्यनु संधानं करोति इति । तेन अभेदानुसंधानवता पुरुषेण लभ्यः ज्ञेयः स आत्मा इति"

अर्थः—"यह प्रत्यक् आत्मा 'प्रवचनेन' वेद के केवल कथन मात्र से ही प्राप्त नहीं होता यानी जानने को समर्थ नहीं हो सकता । गुरु उपदेश से प्राप्त होता है ।" "बल हीनेन लभ्यः" कामादि शत्रुओं को विजय किये बिना नहीं प्राप्त होगा यह आत्मा, यानी जिससे कामादि शत्रु नहीं जीते जाते उस बल हीन पुरुष को यह प्रत्यक् आत्मा नहीं प्राप्त होगा, नहीं जाना जायगा । तो किस उपाय से जाना जायगा, प्राप्त होगा ? इसके उत्तर को श्रुति भगवती माता श्रोवो हितैषिणी अपने श्रोता रूप पुत्रों से आप आगे कहती है कि हे पुत्रो श्रवण मनन आदि करके प्राप्त करने की इच्छा करो और श्रवणादि काल में भी ऐसा अनुसंधान करो कि मैं ही प्रत्यक् आत्मा ब्रह्म हूँ । ऐसा अभेद अनुसंधान वाले पुरुष करके वह आत्मा प्राप्त व ज्ञात होगा ।

हे मन पहिले हमारा आपका इतना गाढ़ संबन्ध था यानी पहले आपसे मुझसे भेद नहीं था । सो आप थे सो मैं था और मैं था सो आप थे । मैं और आप दोनों एक ही से थे आप और मैं दोनों ही विषयासक्त थे, किन्तु अब बड़ा भेद होगया है, कि आप अब तक विषयासक्त हैं, पर मैं विषयों से विरक्त हो गया हूं । धिक्कार है ! धिक्कार है !! बारम्बार धिक्कार है !!! अब 'तू' आदरणीय शब्दों करके प्रयोग करने योग्य नहीं है, मैं तुझको अपने से अभेद मान कर भूल से आप शब्द का प्रयोग तेरे लिये अब तक करता रहा, अब हमको पता लग गया 'तू' तो हमसे दूसरा है ! अहा ! हा !! कैसा धोका खाया । तैने अब तक संसार के झूंठे सुखों का और विषय वासनाओं का परित्याग नहीं किया है । परन्तु हे मन मैं तो इनसे घबरा गया, थक गया, मुझे इनमें कुछ भी सार या तत्त्व न दीखा, इसलिये मैं अब सबसे किनारा करके वैराग्य लेना चाहता हूं । तू नरक में ही रहना चाहता है इसीसे प्रमाण देता है और श्रुतियों के अर्थ को अनर्थ रूप में परिणत करता है । हे मन जो पुरुष तेरे किये अर्थ का उपयोग करते हैं यानी यह कहते हैं "कि पढ़ने में क्या धरा है पोथी थोथी हैं, बलवांन बनो बल करके मारो कूटो चाहे किसी को दुःख हो या सुख परन्तु अपने बल करके धन व स्त्री आदि हरण करो फिर उनका भोग करो यही तो श्रुतियां कहती हैं शरीर ही आत्मा है, खूब मौज मजा लूटो स्वर्ग नरक कुछ नहीं है, कोई लौट कर आया है, लौट कर नहीं भी आवे तो वहां से चिट्ठी तो भेजे, सो चिट्ठी भी आज तक किसी ने भेजी है न तार ही दिया है इससे निःसंदेह सिद्ध हुआ कि स्वर्ग नरकादि हैं ही नहीं ।" हे मन, ऐसे विषय लंपटी पुरुष तेरी चाल बाजी न जानकर तेरे चक्कर में भले ही आओ उनको आने दो ।

मैं तो अब विवेक बुद्धि से काम लेकर, इस नरक से निकल कर स्वर्ग रूपी उत्तराखंड में ही जाऊंगा । तू अभी तक दुःख के बीज ही बो रहा है, परन्तु मैं अब तेरी न मान कर सुख के बीज बोऊंगा। हे मन, तू भी मेरी तरह इन भयंकर जंजालों को छोड़ कर मेरी जैसी सुख की राह पर क्यों नहीं आजाता । हे मन, इसी राह में सुख है, उस राह में घोर दुःख और नरक यातनायें हैं! संसार को छोड़ने और भगवत् की प्रीति करने में बड़ा आनंद है।

जिनका मोह जाल कट जाता है, जिनकी विषय वासना बुझ जाती है, जो विषयों की असलियत को समझ जाते हैं, जो उनको नरक की नसैनी समझ लेते हैं, उन पर विषयों की सौंदर्यता असर नहीं करती । हां वे अपने स्वभावानुसार अपनी २ सौंदर्यता दिखाते ही रहें, अपने जाल बिछाया ही करें, परन्तु तत्त्ववित् लोग उनके जाल में नहीं फँसते। मोह से अच्छादित होगया है अन्तःकरण जिनका वे मति मन्द, पामर विषयी पुरुष उनके जाल में फँस जाते हैं। वे अज्ञानी मनुष्य संसारी माया के मोह जाल में फँस कर पतंग और मछलियों की तरह अपना नाश करते हैं।

हे मन, क्या संतों के रहने के लिये उत्तमोत्तम महल न थे, क्या सुनने के लिये उत्तमोत्तम गान न थे, क्या प्यारी २ स्त्रियों के संगम का सुख न था, जो वे लोग वनों में रहने को गये? हाँ, सब कुछ था परन्तु उन्होंने इस जगत को पतङ्ग के पंखों से उत्पन्न वायु से हिलते हुए दीप की छाया के समान चंचल समझ कर छोड़ दिया, अथवा उन्होंने मूर्ख पतङ्ग की भांति जो वायु से हिलते हुए दीप की छाया में घूम घूम कर अपने तईं जलाकर भस्म कर देता है, इसी प्रकार संसार को अपना नाश कराते देख कर संसार को छोड़ दिया ।

सोरठा—मानस उतरा आय, तन सराय मन पाहरू।
देखा ठोक बजाय, कोऊ काहू को नहीं ॥

हे मन, विचार कर देख जब काल, सुमेरु पर्वत को जला कर गिरा देता है, महा सागरों को सुखा देता है, तब इस छोटे से चचल मनुष्य की क्या गिनती? इसके नाश होने में क्या आश्चर्य? हे मन, टुक शोच तो सही, देख एकांत वास करना, इच्छाओं को त्याग देना, शान्त रहना, हाथ से ही जलादि पीने के बर्तन का काम लेना, दिशाओं को ही वस्त्र समझना यानी नग्न रहना और कर्मों की जड़ उखाड़ने में समर्थ होना ये ही कल्याण के मार्ग हैं । जिनमें ये गुण हैं, वे धन्य हैं और वे ही सच्चे सुखिया हैं यानी आत्म चिंतन से अतिरिक्त सब दुःख ही दुःख है । योग शास्त्र में श्रीपतंजलि भगवान् ने भी यही कहा है "परिणाम ताप संस्कारदुःखैर्गुण वृत्ति विरोधाच्च दुःख मेव सर्वं विवेकिनः । " "कोई तन दुःखी कोई मन दुःखी कोऊ चित्त उदास। तनक तनक सब ही दुःखी, सुखी हरि के दास ॥"

यद्यपि सर्व अनुभव सिद्ध विषय को दुःख जान कर भी सर्वथा कोई दूर करने को समर्थ नहीं तथापि विवेकी का अविचारित रमणीय विषय सुख में आदर न होने से वह उसको दुःख ही जानता है। जैसे मधु विष मिलित भोजन में तत्कालिक सुख जनकता को सर्व अनुभव सिद्ध होने पर भी विवेकीलोग परिणाम में दुःख जान कर त्याग करते हैं तैसे ही योगी भी विषय सुख भोग को तात्कालिक रमणीय होने पर भी आगामी धर्माधर्मोत्पत्ति द्वारा दुःख प्रद

होने से हेय समझते हैं। अतएव भगवान् ने 'विषयेन्द्रिय संयोगाद् यत्तदग्रेऽमृतोपमम्। परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्' इस वचन से विषय सुख को परिणाम में विष तुल्य कथन द्वारा हेय कहा है। 'हेयं दुखमनागतम्' यो० सू० २-३

मनः—हम विषय भोग को सुख नहीं मानते हैं जिससे पूर्वोक्त दोष हो किन्तु भोग विषयक इन्द्रियों की तृप्ति होने से जो भोग तृष्णा की शान्ति है वह सुख है और जो तृप्ति के अभाव से शान्ति का अभाव है वह दुःख है, इसलिये भोग विषयक तृष्णा ही महान् दुःख है कुछ विषय भोग नहीं, और विषय तृष्णा विषय भोग बिना शान्त हो नहीं सकती, इससे तृष्णा की शांति करना ही विषय भोग का फल हुआ। वह शांति परिणाम में दुःख जनक है नहीं तो विषय भोग में परिणाम कैसे ?

मुमुक्षुः—तेरा वक्तव्य तब समंजस हो सकता है जब कि विषय भोग से तृष्णा शान्ति की संभावना हो, परन्तु सो संभावना हो नहीं सकती, क्योंकि आज तक किसी की भी शान्ति भोगों करके नहीं हुई, किन्तु तृष्णा की वृद्धि में प्रत्यक्षादि अनेक प्रमाण हैं। 'भोगाऽभ्यास मनुविवर्द्धन्ते रागाः कौशलानिचेन्द्रियाणाम्।' अर्थः—भोगों के अभाव से तृष्णा का अभाव तो दूर रहा प्रत्युत भोगाभ्यास से तृष्णा की वृद्धि और इन्द्रियों की भोग में कुशलता होती है। मनुजी ने भी विषय भोग को तृष्णा वृद्धि का हेतु कहा है "न जातु कामः कामाना मुप भोगेन शाम्यति, हविषा कृष्ण वर्त्मेव भूय एवाऽ विवर्द्धते।" २।९४ जो तू शान्ति भी मानता है वह क्षणिक और नाशमान है केवल क्षणिक और नाशमान ही नहीं प्रत्युत अत्यन्त अशान्ति प्रद है, यह सबके अनुभव सिद्ध है और तैंने बहुत बार अनुभव किया है, अरे भैया तू बड़ा ही भोला भाला है शीघ्र अनुभव की हुई बात को भूल जाता है। इसलिये अब तू सर्वदा स्मृति रख कि भोगाभ्यास सुख का उपाय नहीं। जो पुरुष विषय वासनासे युक्त हुआ भोगाभ्यास से तृष्णा की निवृत्ति का संपादन चाहता है, वह पुरुष वैसे ही दुःख पंक में निमग्न होगा, जैसे कि वृश्चिक से भीत हुआ पुरुष सर्पके मुख में पड़कर दुःख में निमग्न हो जाता है। इससे यही निष्पन्न हुआ कि भोगों की तृष्णा को सर्वथा त्याग देना चाहिये।

यदि मनुष्यों को सब इच्छाओं के पूर्ण करने वाली लक्ष्मी मिली तो क्या हुआ ? यदि शत्रुओं को विजय किया तो क्या ? यदि धन से मित्रों का सत्कार किया तो क्या ? यदि इसी देह से इस जगत् में एक कल्प तक भी रहे तो क्या ? यदि चिथड़ों की गुदड़ी पहनी तो क्या ? यदि निर्मल स्वच्छ वस्त्र पहने या पीताम्बर पहने तो क्या ? यदि एकही स्त्री रही तो क्या ? यदि हाथी घोड़ों सहित अनेकों स्त्रियां रहीं तो क्या ? यदि नाना प्रकार के व्यंजन किये तो क्या ? यदि एकही प्रकार का भोजन किया तो क्या ? चाहे जितना विभव पाया, चाहे अनेक शिल्पादि कला कौशल में चतुर हुए, चाहे शास्त्रार्थ करके दिग्विजय भी किया पर संसार बंधन को मुक्त करने वाली आत्मज्ञान की ज्योति न जानी और न आत्मारामी हुआ, तो कुछ भी न पाया और कुछ भी न किया। सारांश यह है कि सारे संसार के राज्य वैभव अथवा त्रिभुवन के अधिपति होने में जो आनंद नहीं है, वह आत्मज्ञान रूपी ब्रह्म ज्ञान में है। आत्मज्ञान होने से हो मनुष्य जीवन मरण के कष्टसे छुट कारा पाकर, परम शांति लाभ करता है।

हे मन, यदि मैं सदा आत्म परायण रहूँ, मुझे कभी जन्म मरण का भय न हो, आत्मीयजनों का स्नेह न हो, मनसे सब काम विकार दूर होजायँ तब शांति हो परन्तु ऐसा तो तब ही होगा, जब हम संसर्ग दोष से रहित होकर उत्तराखंड के गिरवर (पर्वतों) की गुहा में श्रीभागीरथी गंगा के किनारे निर्जन स्थान पर निवास करें। किसीने सत्य कहा है—

न सुखं देव राजस्य
न सुखं चक्र वर्तिनः।
यत्सुखं वीतरागस्य
मुनिरेकांत वासिनः ॥

हे मन, अब तू अपनी चंचल चालको छोड़, तू कभी आकाश में जाता है, कभी पाताल में और कभी दशों दिशाओं में फिरता है, पर भूलकर भी, जहां जाना चाहिये वहां नहीं जाता। हे मन तेरी पांच अवस्था हैं, तिनमें से तू अपनी तीन अवस्थाओं में विचरण करता है परन्तु दो अवस्थाओं को भूल गया है इसीसे तू आप भी विह्वल रहता है और मुझको भी अपने संसर्ग से चचंल करता है। हां, यदि मैं तेरा साथ छोड़ दूं तो मैं जैसे का तैसा असंग निर्विकार चित स्वरूप सत् चिदानन्द रूप जो मेरा स्वरूप है उसमें स्थित होजाऊँ, परन्तु मेरा तेरा घनिष्ट संवन्ध होने से मैं तुझको त्याग करने में असमर्थ हूँ। इसलिये हे मन तुझसे वारम्वार प्रार्थना करता हूँ कि तू अपनी दो अवस्थाओं को याद कर उन्हींमें विचरण करे तो हमारा तेरा अभेद होजाय, यानी 'तू' हम और हम 'तू' होजायँ। मैं तेरी पांच अवस्था सुनाता हूं श्रवणकर—१ क्षिप्त २ मूढ़ ३ विक्षिप्त ४ एकाग्र ५ निरुद्ध। जब तू रजोगुण की बाहुल्यता से अत्यंत चंचल शील होकर ऐहिक मिथ्या विषय सुखादि में सत्यत्व बुद्धि से जलौका यानी जोंक के समान लगता है और एक विषय को त्यागकर अन्य विषयों का ग्रहण करता हुआ कदापि स्थिरता को प्राप्त नहीं होता है यह तेरी पहिली क्षिप्त अवस्था है। ऐसा चित्त बहुलता से दैत्य दानवों का होता है इससे हे मन इसका सर्वथा त्याग करने की प्रतिज्ञा कर।

जो चित्त तमोगुण की अधिकता से कर्तव्या कर्तव्य विवेक से सून्य होकर निरंतर निद्रा तन्द्रा आलस्य आदिमें ही मग्न रहता है, कदाचित् आलस्य को त्याग किसी कर्म में प्रवृत्त होने पर भी क्रोधान्ध होकर अकारण किसी के मारणादि में ही तत्पर होजाता है, यह तेरी दूसरी मूढ़ अवस्था है। ऐसा चित्त बहुधा करके पिशाच वा राक्षसों का होता है। इसलिये हे मन इसको भी तू सत्य प्रतिज्ञा करके तिलांजलि दे दे।

जो चित्त सत्व गुणकी प्रधानता से सर्वदा दुःख साधन :जात पदार्थों का परि त्यागकर प्रायः सुख साधन कर्म करने में ही उद्यत रहता है, यह तेरी तीसरी विक्षिप्त अवस्था है। ऐसा चित्त प्रायः देव-ताओं का होता है।

जो चित्त रज, तम रूप मलके संपर्क से विरहित हो विशुद्ध सत्त्व गुण प्रधान हुआ किसी सूक्ष्म तत्त्व का आलंबन कर प्रतिक्षण निर्वात देशस्थ दीप शिखा-वत् स्थिरता को धारण करता है, यह तेरी चौथी एकाग्र अवस्था है। इसीको एक तान भी कहते हैं। एतादृश चित्त उन्हीं का होता है, जो यम नियमादि के अभ्यास से संप्रज्ञात समाधि में आरूढ़ हो चुके हैं।

जो चित्त निरालम्ब हो स्व कारण प्रकृति में लीन होने से निस्तरंग निस्पन्द होकर दग्ध रज्जु के तुल्य केवल संस्कार मात्र ही शेष वाला हुआ भर्जित चणकाकार यानी भुने हुए चने के समान होने से स्व कार्य जनन में असमर्थ होता है, यही तेरी पांचवीं निरुद्ध अवस्था है। इस प्रकार का चित्त पर वैराग्य शीलों का होता है, इसी निरुद्ध चित्त वाले को ही प्रक्षीण क्लेश कृत्य कृत्य और जीवन्मुक्त कहा जाता है।

हे मन, तेरे पास ही अमृत का सरोवर है, उसे छोड़ कर सड़ी गली नालियों में फिरता है, तुझको धिक्कार है। वारम्वार धिक्कार है और मुझको भी धिक्कार है कि जब तक तू अपनी दोनों एकाग्र और निरुद्ध अवस्था को प्राप्त न हो तब तक तेरा कहना मानूं। अब तुझको सब जगह छोड़कर अत्यन्त समीप अपने हृदय में ही बैठे हुए ब्रह्म के पास जाना चाहिये।

सारांश यह है कि अनन्त, अजर, अविनाशी, शोक रहित शांति पूर्ण ब्रह्मका ध्यान करना चाहिये। उसीके ध्यानमें पूर्णानन्द है। संसारके भोग विलासों में किंचित् भी आनन्द नहीं। वह आनन्द सदा है, यह आनन्द क्षणिक है। उसमें सदा सुख है, इसमें सदा दुःख है। जिनको ब्रह्मानन्द का किंचित भी आनन्द आजाता है, वे त्रिलोकी के अधिपति के आनन्द को भी तुच्छ समझते हैं। हे भैया, राज, धन, दौलत और स्त्री पुत्र आदि सब उस परमात्मा के ही आश्रित है, इसलिये इनको छोड़कर उससे ही प्रीति करने में चतुराई है।

दो०:—ब्रह्म अखंडानंद पद, सुमिरत क्यों न निशङ्क।
जाके छिन संसर्ग से, लगत नाक पति रंक॥१॥

मन विरक्त हरि भक्ति युत, संगी बन तृण डाभ।
याहूते कछु और है, परम अर्थ को लाभ॥२॥

मनः—आपके कथनानुसार ही आज्ञा पालन करूँगा, सेवक को क्या उजर? "नौकरी, उजर करी तो क्यों करी?" सेवक को तो सर्वदा स्वामी की आज्ञा पालन करना स्वधर्म है, मैंने आपका दृढ़ निश्चय नहीं जाना था इस कारण वाद विवाद किया। निश्चय करने वाली जो बुद्धि है वही तो मेरी माता है, उसकी आज्ञा पालन करना भी मेरा स्वधर्म है, मेरा सब प्रकार कल्याण है, मैं अपने वाद विवाद करने की क्षमा का आपसे प्रार्थी हूँ। मेरे विचार में भी प्रवृत्ति में भजन, ध्यान आदि नहीं बनता इस कारण वन में चलकर योगाभ्यास द्वारा ब्रह्माकार वृत्ति संपादन कर जीवन्मुक्ति सुख का अनुभव करते हुए परमपद को प्राप्त करें।

—आत्मानन्द।

वाक्य वृत्तिः।

(गतांक से आगे)

अनायासेन येनास्मा-
न्मुच्येयं भव बन्धनात्।
तन्मे संक्षिप्य भगवन्
केवलं कृपया वद॥४॥

अर्थः—(शिष्यः-) परिश्रम रहित जिस साधनसे मैं संसार रूप बन्धन से मुक्त होजाऊं हे भगवान् वह साधन केवल कृपा करके मुझको संक्षेपसे कहिये।"

विवेचन ।

साधन सम्पन्न और तीव्र बुद्धि वाला होने से उत्तम अधिकारी सद्गुरु से उपदेश करने की प्रार्थना करता है, इसीसे परिश्रम रहित मुख्य साधन को ही पूछ रहा है। उसको संसार बन्धन रूप है ऐसा पूर्ण निश्चय है इसी कारण संसार बन्धन से मुक्त होने को चाहता है। संसार जिसको बन्धन रूप नहीं मालूम देता उसे संसार बन्धन से मुक्त होने का भाव भी नहीं होता। जैसे किसी रस्से के दृढ़ बन्धन को काटने के लिये छुरे को आवश्यक्ता है, बन्धन काटने वाला छुरा होता है इसी प्रकार कौनसे साधन द्वारा मैं संसार बन्धन को काट सकता हूँ; मुझे ऐसा साधन दिखलाइये जो मेरे लिये सुलभ हो, जिसमें मुझे अधिक परिश्रम करना न पड़े और यत्नायास आनंद पूर्वक साधन द्वारा साध्य ऐसा जो परम पद है उसकी सिद्धि हो जाय ?

शंका:—बन्धन में से निवृत्त करने के साधन रूप सब शास्त्र हैं अनेक प्रकार के कर्म, यज्ञ, ज्ञान, उपासना भक्ति योग और नीति तक सब कल्याण के साधन कहे गये हैं, सब शास्त्रों का ध्येय परम शान्ति है, फिर शिष्य सुलभ साधन को क्यों पूछता है ? क्या साधनों में भी कठिन और सुलभ होगा ? साध्य को सिद्ध करने के लिये साधन हैं ऐसे साधनों में इस प्रकार के भेद क्यों किये गये ? यदि कठिन साधन है तो सुलभ साधन को छोड़ कर कठिन साधन कौन करेगा ?

समाधान:—बंधन में से निवृत्त करने वाला और परमानंद को प्राप्त कराने का हेतु सब शास्त्र हैं और उनमें वर्णन किये हुए कर्म उपासनादि साधनभूत है, परन्तु यह सब परंपरासे साधन हैं, मुख्य साधन नहीं हैं, परंपरा के साधन होने से निरर्थक वे भी नहीं हैं। यहां सुलभ का कथन उत्तम अधिकारी का है यह उत्तम अधिकारी होने से परमपद के मुख्य साधन को पूछ रहा है। अवांतर साधन उसके उपयोग के नहीं हैं और उसे कठिन भी हैं अवांतर साधनों करके गुरु शरण में आया है इससे उसको इनकी आवश्यक्ता नहीं है। सुलभ और कठिन वस्तुतः कोई नहीं हैं, जो जिसका अधिकारी होता है उसे वह साधन सुलभ होता है और दूसरे प्रकार के अधिकारिओं को वह साधन कठिन होता है। मुमुक्षु होकर ज्ञान मार्ग में प्रवृत्त हुआ उत्तम अधिकारी को योग मार्ग कठिन है और योग के अधिकारी को श्रवणादि कठिन होते हैं। उसे श्रवणादि से निर्विकल्प स्थिति-साक्षात्कार नहीं हो सकता।

ज्ञान के सिवाय सब साधन परिश्रम से होने वाले हैं यानी कर्म में अनेक प्रकार की सामग्री मनुष्यादि की आवश्यकता है, योग परिश्रम रूप ही है और उपासना भक्ति भी परिश्रम से होती है यह सब कर्म स्वरूप है ज्ञान कर्म स्वरूप न होने से सुलभ-परिश्रम से रहित है।

शंका:—ज्ञान कर्म रूप क्यों नहीं है ? श्रवण, मनन और निदिध्यासन से ज्ञान होता है। श्रवण करना इन्द्रिय का कर्म है और मनन और निदिध्यासन अन्तःकरण के कर्म हैं।

समाधान:—श्रवण मनन और निदिध्यासन में जो क्रियां हैं वे ज्ञान को उत्पन्न करने वाली नहीं हैं वे अज्ञान को निवृत्त करने वाली हैं। यदि ज्ञान को

उत्पन्न हुआ माना जाय तो उसका नाश भी होना चाहिये और श्रुतियों में ज्ञान को एकरस अखंडित कहा है। उत्पन्न हुए का नाश सब कोई देखते हैं इसीसे ज्ञान नित्य है। जिस अज्ञान से आत्मा का बोध नहीं होता था उस अज्ञान को हट जाने से बोध होता है। स्थूल बुद्धि से ज्ञान अन्तःकरण की क्रिया रूप दीखता है तब भी वह क्रिया रूप नहीं है भाव का बदलना ज्ञान है उसमें क्रिया क्या? विशेष ज्ञान को तू सूक्ष्म क्रिया रूप माने तब भी उसमें परिश्रम क्या?

शिष्य सद्गुरु को संक्षेप से उपदेश करने की प्रार्थना करता है उसका भाव यह है कि कर्म और उपासना के विधान का बहुत विस्तार है, इन सबको एक मनुष्य कर भी नहीं सकता अनेक अधिकारिओं के लिये उसकी अनेकता है। वे भी निष्कामता से अन्तःकरण की शुद्धि के हेतु न किये हों और कामना का भाव हो तब संसार में भ्रमण करने के हेतु हो जाते हैं। मैं संसार में अनेक योनियो में भ्रमण करके कष्ट को भोगता रहा हूँ इससे मैं भोग ऐश्वर्य में पड़ कर संसार भ्रमण को नहीं चाहता। निष्काम कर्म उपासना से जो अन्तःकरण की शुद्धि रूप फल होता है वह मुझे प्राप्त ही है इसलिये मुझे आत्म-ज्ञान के उपदेश की आवश्यकता है। उपदेश संक्षेप से और विस्तार से भी होता है। मंद बुद्धि वाला विस्तार से दिये हुए उपदेश को ग्रहण कर सकता है और तीव्र बुद्धि वाले मनुष्य को तो संक्षेप से दिये हुए उपदेश से बोध हो जाता है मेरी बुद्धि तीव्र है इसीसे संक्षेप से किये हुए उपदेश से मुझे बोध हो जायगा। गुरुजी को अधिक परिश्रम कराना भी ठीक नहीं है।

हे भगवन् आप केवल कृपा करके ही मुझे उपदेश दीजिये यद्यपि मैं आपका शिष्य हूँ कुछ समय से आपके पास रहता हूँ तो भी आपके उपदेश का बदला देने में मैं असमर्थ हूं। मेरी क्या अधिक से अधिक ऐश्वर्य वाले भी आपके अमृत प्राप्तिरूप आत्म बोध के उपदेश का बदला देने में समर्थ नहीं होते। मनुष्य एक पदार्थ को देकर दूसरे से दूसरा पदार्थ को ग्रहण करता है परन्तु आपके किये हुए उपदेश के बदले में देने योग्य कोई पदार्थ ही तीनों लोक में नहीं है, तीनों लोक का ऐश्वर्य वाला राज्य भी आपके उपदेश का कोट्यांस नहीं है। इसी से हम लोगों के कल्याण में आपकी कृपा ही मुख्य है। अहेतुक उपकार करने वाले आपही हो। अनंत कालसे भटके हुए जीवों को अपने आद्य-स्थान में स्थिर होने का आपका ही उपदेश है। आपकी दृष्टि में सब कुछ सामर्थ है मैं स्वस्वरूप की प्राप्ति का थोड़ा उपदेश ही आपसे चाहता हूँ।

साध्वी ते वचन व्यक्तिः
प्रति भाति वदामि ते।
इदं तदिति विस्पष्टं
सावधान मनाः शृणु ॥५॥

अर्थः---(गुरुः—) हे शिष्य, सज्जन मनुष्य जिस प्रकार कथन करते हैं ऐसी तेरी वाणी योग्य है। 'यहही मुक्ति का साधन है" इस प्रकार स्पष्ट रूप से मैंमुक्ति के साधन का कथन करता हूँ उसे तू एकाग्र चित्त होकर श्रवण कर।

विवेचन ।

प्रश्न करने वाले पुरुष की प्रश्न के शब्दोचार के साथ योग्यता प्रतीत होजाती है; योग्यता का प्रकाश शब्दों से बाहर चमकता है। सुनने वाले पुरुष शब्दों से ही कई अंश में बोलने वाले को पहिचान जाते हैं। जब तक मनुष्य चुप बैठा रहता है तब तक उसकी योग्यता का ख्याल आना भी कठिन होता है। शिष्य का प्रश्न सुनकर शिष्यकी योग्यता को समझ कर गुरु प्रसन्न हुए, कुछ समय से शिष्य गुरु के पास रहता था शिष्य की योग्यता मालूम थी फिर भी कल्याण कारक प्रश्न से प्रसन्न होकर स्पष्टरूप से साधन के कथन करने को कहते हैं। हे शिष्य तू मुझसे मुक्ति का साधन पूछता है, साधन करके सिद्ध होने वाली मुक्ति है। मुक्ति क्या वस्तु है यह तेंने पूछा नहीं है, तू अधिकारी होने से मुक्ति का समान्य बोध तुझे है, इसीसे केवल साधन पूछा है यह योग्य ही है। बन्धन में से छूटने का नाम मुक्ति है, कितने ही प्रकार की मुक्ति आपेक्षिक है और अखंड मुक्ति तो एक ही है जिसको मोक्ष भी कहते हैं। अज्ञान ही बन्धन है, अज्ञान में पड़ा हुआ जीव बन्धन में है और इस अज्ञान का हटजाना पूर्ण मुक्ति यानी मोक्ष है। अज्ञान किस करके हटता है यह तेरा प्रश्न है। शिष्य को विधिवत् गुरु की शरण में जाकर, श्रुति इस प्रकार के प्रश्न करने की आज्ञा देती है इसीसे तेरा प्रश्न योग्य ही है।

जो पुरुष स्वयम् मोक्ष को प्राप्त कर चुका है वह ही मोक्ष का साधन बता सकता है, छूटा हुआ ही दूसरे को छुड़ा सकता है इससे ज्ञान का उपदेश करने वाला सद्गुरु वह ही होता है जो स्वयम् बन्धन से रहित हुआ हो और दूसरे को युक्ति, प्रयुक्ति, शास्त्र और अनुभव की वाणी द्वारा दूसरों को बन्धन में से निकाल कर स्वस्वरूप में स्थापित करने के योग्य होता है। इसीसे यहां सद्गुरु का कथन है कि तेने जो मुक्ति का साधन पूछा है "यह ही मुक्ति का साधन है" इस प्रकार तुझे प्रत्यक्ष हो जाय ऐसी रीति से मैं समझाऊंगा। तू एकाग्र चित होकर श्रवण कर। जो बात जिसको हस्तामलक होती है उस सम्बन्ध के विवेचन में कथन करने वाले की वाणी में अनुभव का प्रकाश चमकता है और ऐसा पुरुष ही निश्चयता पूर्वक समझाने में समर्थ होता है और योग्य अधिकारी ग्रहण कर सकता है।

अनेक विषयों में भटकने वाला चंचल मन भी जब कोई कार्य करता है तब एक समय में एकही कार्य को करता है यदि एक कार्य करते हुए दूसरे कार्य में भाव चला जाय तो कार्य ठीक नहीं होता इसी कारण सद्गुरु शिष्य को एकाग्र चित्त से श्रवण करने को कहते हैं। एक विषय में रहने वाले चित्तको एकाग्र कहते हैं। वेदान्त विषय का ज्ञान श्रवण द्वारा लक्ष से करने योग्य है गुरुने दिया हुआ उपदेश शिष्य को श्रवण का विषय होता है और शिष्य के किये श्रवण मनन और निदिध्यासन से ज्ञान होता है। श्रवण गुरु कराते हैं और मनन निदिध्यासन मुमुक्षु को स्वयम् करने का होता है इससे श्रवण के हेतु चित्तका एकाग्र होना आवश्यक है। ज्ञानका विषय अत्यन्त सूक्ष्म है, बुद्धि से बाहर के तत्त्व को आत्म भाव वाली बुद्धि से समझना है इसीसे एकाग्रता रहित किया हुआ श्रवण निष्फल जाता है।

तत्त्वमस्यादि वाक्योत्थं
यज्जीव परमात्मनोः ।
तादात्म्य विषयज्ञानं
तदिदं मुक्तिसाधनम् ॥ ६ ॥

अर्थः—(गुरुः—) "तत्त्वमसि" आदि महा-वाक्य के श्रवण से उत्पन्न हुआ जो जीवात्मा और परमात्मा का एक रूपसे विषय करने वाला ज्ञान अर्थात् साक्षात्कार ही मुक्ति का साधन है ।

विवेचन ।

ज्ञान मुक्ति का साधन है ऐसा गुरुके कथन करने में शंका होती है कि ज्ञान कई प्रकार के हैं। जाग्रत अवस्था में जगत के सब पदार्थों का ज्ञान, स्वप्नावस्था में स्वप्न पदार्थ का ज्ञान, और सुषुप्ति अवस्था में पदार्थों के अभाव का ज्ञान होता है उसमें कौनसा ज्ञान मुक्ति का साधन है ? तीनों अवस्था में प्रत्येक प्राणी को ज्ञान होता है उस ज्ञान से मुक्ति हो तब तो बिना परिश्रम, बिना शास्त्र गुरु सब किसी की मुक्ति हो जायगी । तीनों अवस्था के अनेक पदार्थ के ज्ञान भी अनेक प्रकार के हैं उनमें कौन ज्ञान मुक्ति का साधन है इसके उत्तर में गुरु कहते हैं कि ऐसे ज्ञानसे मुक्ति नहीं होती यह सब ज्ञान अज्ञान में हैं इसीसे अज्ञान ही कहा जाता है । जिस ज्ञानसे अनादि अविद्या का नाश हो उसे ही आत्मज्ञान—वास्तविक ज्ञान कहते हैं। जिस ज्ञानमें अज्ञान बना रहता हो उसे ज्ञान न कहना चाहिये; यह ज्ञान व्यावहारिक, प्रातिभासिक और अभाव रूप ही है और जगत के पदार्थ का ज्ञान है इसीसे महावाक्य के ज्ञान से ही मुक्ति होती है । शास्त्र अनेक हैं उनमें वाक्य अनेक हैं ? शास्त्रों में वेद मुख्य कहा जाता है, वेद चार हैं, एक एक वेद में बहुत वाक्य हैं उसमें से कौन २ ग्राह्य हैं ? इस शंका के उत्तर में गुरु कहते हैं कि चारों वेद में से प्रत्येक वेद में एक एक महावाक्य विद्वान् पुरुषों ने निश्चित किये हैं और अन्य वाक्यों को अवान्तर वाक्य कहा है । अवान्तर वाक्य कर्म और उपासना के हेतु हैं और परोक्ष ज्ञानमें भी उपयोगी होते हैं परन्तु महावाक्य तो अपरोक्ष ज्ञानका ही हेतु है—महावाक्य से अपरोक्ष ज्ञान ही होता है । अज्ञान को नाश करने वाले ज्ञान भी दो प्रकार के हैं, परोक्ष और अपरोक्ष । अपरोक्ष ज्ञान अभेदरूप होता है, परदा रहित होता है, बोध बोध का पदार्थ और बोध की वृत्ति एकही स्थान पर होती है । परोक्ष ज्ञानसे अज्ञान का असत्वापादक—नहीं है इस अंश का नाश होता है और अपरोक्ष ज्ञानसे अज्ञान का दूसरा अंश अभानापादक—प्रकाशता नहीं है का नाश होता है। इस प्रकार परोक्ष और अपरोक्ष ज्ञानसे संपूर्ण अज्ञान निवृत्त होता है। प्रथम परोक्ष ज्ञान के बाद अपरोक्ष ज्ञान होता है केवल परोक्ष ज्ञान मुक्ति का मुख्य हेतु नहीं है और परोक्ष ज्ञान बिना अपरोक्ष ज्ञान होने का संभव ही नहीं है, परोक्ष ज्ञान सहित ही अपरोक्ष ज्ञान होता है और वह ही मुक्ति का मुख्य साधन है। ऐसा अपरोक्ष ज्ञान महावाक्य से होता है, चारों वेद में चार महावाक्य हैं उनमें से कौन से महावाक्य से अपरोक्ष बोध होता है ऐसी शंका के उत्तर में कहते हैं कि सबही महावाक्य होने से किसी एक अथवा अधिक से आत्मबोध हो सकता है इसीसे तत्त्वमस्यादि का कथन किया है । तत्त्वमसि महावेद सामवेद का है गुरु शिष्य को सुनाता है इसीसे यह वाक्य सुगम होता है अनेक

प्रकार से परब्रह्म का वर्णन करके वर्णन किया हुआ वह तू है इस प्रकार उपदेश दिया जाता है और सब वेदों में सामवेद की विशेषता होने से तत्त्वमसि महावाक्य में अन्य महावाक्य से विशेषता है । गुरुके उपदेश से शिष्यको अहं ब्रह्मास्मि का ज्ञान होता है । तत्त्वमसि समझाने का वाक्य है और अहं ब्रह्मास्मि समझे हुए का वाक्य है । महावाक्य से उत्पन्न हुआ दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान जो असंभावना और विपरीत भावना से रहित है वह मोक्ष का मुख्य साधन है । ईश्वर तू है ऐसा शब्द सुनकर मंद अधिकारी चोंकता है उसे ईश्वर और अपने में महान् विरोध भासता है और उत्तम अधिकारी तो विरोध भासते हुए भी शंका को स्थान नहीं देता और ग्रन्थकार इस विरोधाभासका समाधान स्वयम् आगे करेंगे ।

जब अपरोक्ष ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होती है, भेद रहित—अभेद—एकता का ज्ञान होता है तब ही समूल अज्ञान कट जाता है और मोक्ष की प्राप्त होता है । जीव वस्तुतः ब्रह्म स्वरूप है ऐसा तत्त्वमसि आदि महावाक्य से उत्पन्न हुआ ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है अन्य किसी प्रकार से अखंडित मोक्ष प्राप्ति नहीं होती । अपने आत्मा के अज्ञान से बन्धन हैं, इसीसे जब आत्मा का ज्ञान हो जाता है तब बन्धन नहीं रहता और अपना आद्य स्वरूप सच्चिदानन्द मय होता है उसीका नाम ही मोक्ष कहा जाता है ।

अन्य ज्ञान से आत्म ज्ञान की विलक्षणता है । अन्य जितने ज्ञान हैं वे सब बुद्धि वृत्ति से ग्राह्य और बुद्धि वृत्ति में पड़ा हुआ मायिक ऐसे आभास से प्रकाशित होता है । अभेद आत्म ज्ञान में—स्वस्वरूप के ज्ञानमें बुद्धि वृत्ति से ग्राह्य होते हुए स्वयम् प्रकाश से प्रकाशित हैं । बोध आत्म भाव वाली सूक्ष्म और शुद्ध बुद्धि में होकर यानी त्रिपुटी में होकर अभेद हो जाता है । बुद्धि जो मायिक भाव वाली है वह अपना मायिक भाव को छोड़कर चैतन्य हो जाती है उसे साक्षात्कार कहते हैं; ऐसा साक्षात्कार-ज्ञान मोक्ष का हेतु है । गुरु ने इस प्रकार ज्ञान और ज्ञान के स्वरूप को दर्शाया है । शुद्ध अन्तःकरण और वैराग्य वाले मुमुक्षु को समझना बहुत सुलभ है । मैं उत्तम अधिकारी हूँ शंका करने में मेरी हंसी होगी ऐसा भय शिष्य को रखना न चाहिये जब तक बोध दृढ़ होकर नहीं टिके वहां तक प्रश्न करके समझते रहना चाहिये ।

को जीवः कः परश्चाऽऽत्मा
तादात्म्यं वा कथं तयोः ।
तत्त्वमस्यादि वाक्यं वा
कथं तत् प्रतिपादयेत् ॥७॥

अर्थः—(शिष्यः—) जीव कौन है और परमात्मा कौन है ? और इन दोनों के स्वरूप का तादात्म्य (एकता) क्या है ? वह तत्त्वमस्यादि महावाक्य जीव ईश्वर की एकता किस प्रकार प्रतिपादन करते हैं ?

विवेचन ।

गुरुने समझने के हेतु शंका करने की अनुमति दी है ऐसा जान कर शिष्य पूछने को चाहता है । वह उत्तम अधिकारी होने से उसमें पूर्व जन्म के धर्म के संस्कार थे, इसीसे गुरु के शरण में आने के प्रथम धर्म शास्त्र और दर्शन शास्त्र पढ लिये थे, उनमें जीवका स्वरूप भिन्न २ प्रकारसे वर्णन किया है

ऐसा वह जानता था तब भी उसने कोई निश्चय किया न था। वह विचारने लगा कि गुरुजी ने तत्त्वमसि महावाक्य के सहारे जीव ब्रह्म की एकता करने का नाम ज्ञान कहा है, जिनकी एकता करना है इनदोनों के स्वरूप को प्रथम समझना चाहिये। जीव कोई देखने का पदार्थ नहीं है, वह सूक्ष्माति सूक्ष्म होने से इन्द्रियों का विषय नहीं होता इस प्रकार कई शास्त्रों का कथन है। उसे स्थूल शरीर के सहारे समझा जाता है परन्तु वास्तविक स्वरूप जाना नहीं जाता। शास्त्रों में उसके स्वरूप का भिन्न २ प्रकार से कथन है। कोई लोग स्थूल शरीर जो जन्म मरण वाला और विकारी है उसे ही आत्म यानी जीव कहते हैं। कोई गमनागमन करने वाला प्राण को ही आत्मा मानते हैं और प्राण से ही चेष्टा होने का प्रमाण देते हैं। कोई प्राण को जड कह कर उसे आत्मा न मान कर मन को आत्मा मानते हैं मनमें ही चेतनता है ऐसा वे कहते हैं। कोई बुद्धि को ही आत्मा मानते हैं, बुद्धि से आगे बोध करने वाला कोई नहीं है इसीसे बुद्धि ही आत्मा है। कोई सुषुप्ति अवस्था वाले को आत्मा कहते हैं और वे लोग आत्मा को जड़ मानते हैं मन के संयोग से आत्मा में ज्ञान गुण पैदा होता है ऐसा कहते हैं वास्तविक आत्मा जड़ है दूसरे लोग आत्मा को जड़ और चेतन दोनों प्रकार का खद्योत के समान मानते हैं। कोई आत्मा को अणु परिमाण, कोई मध्यम परिमाण और कोई महान मानते हैं; कोई अन्तःकरण के धर्म को आत्मा के धर्म कहते हैं, कोई सब विकार अन्तःकरण के मान कर आत्मा को अविकारी शुद्ध है ऐसा कथन करते हैं। कोई उसे सुख दुःख का वास्तविक भोक्ता मानते हैं और कोई अविद्या के संग से आत्मा जो स्वरूप मे शुद्ध है उसमें भ्रान्ति से कर्तापनेका आरोप मात्र ही मानते हैं। इस प्रकार जीव-आत्मा के स्वरूप में शास्त्रकारों में अनेक भेद हैं इसीसे जब तक जीव के स्वरूप का निर्णय न हो तब तक परब्रह्म के साथ एकता किस प्रकार से की जाय? इसीसे जीव के स्वरूप को प्रथम जानना चाहिये ऐसा विचार कर, वह गुरु से पूछता है कि जीव कौन है?

ईश्वर (परमात्मा) के साथ जीव की एकता करना है इसीसे ईश्वर के स्वरूप को भी समझना चाहिये। कोई ईश्वर और परमात्मा को एक ही कहते हैं और कोई भिन्न भी कहते हैं। ईश्वर और परब्रह्म को एक कहने वाले तत्त्वकी दृष्टि से एक कहते हैं और भिन्न कहने वाले मायायुक्त को ईश्वर और माया के अधिष्ठान को परमात्मा कहते हैं। ईश्वर सृष्टि का करने वाला और जीवों के कर्म का फल देने वाला है और स्वयम् बन्धन से रहित है, कोई उसे अक्रिय कहते हैं। कोई कर्म को ही ईश्वर कहते हैं जो कोई ईश्वर हो तो वह भी कर्म से बना है। कोई काल को ही ईश्वर कहते हैं क्योंकि काल में ही उत्पत्ति स्थिति और लय हुआ करते हैं। कोई ईश्वर को सगुण, कोई निर्गुण और कोई सगुण निर्गुण दोनों ही मानते हैं। कोई व्यापक कहते हैं तो कोई स्थान विशेष में रहने वाला आकृति युक्त और अपने प्रकाश से सब स्थान में व्यापक, आकृति वाला होकर भी पंच भौतिक नहीं है, दिव्य स्वरूप है और अहेतु कल्याण करने वाला है ऐसा मानते हैं। कोई ऐश्वर्य को ही ईश्वर कहते हैं। कोई सर्वज्ञ कहते हैं कोई जड़ कहते हैं, कोई जड़ चेतन उभय रूप कहते हैं। कोई जीव से ईश्वर को प्रथक् कहते हैं, कोई संपूर्ण जीवों से एक समष्टि भाव का

ईश्वर कहते हैं। इस प्रकार ईश्वर के स्वरूप के कथन में शास्त्र और लोगों की एकता नहीं है, तब कैसे ईश्वर (परमात्मा) के साथ जीव की एकता करनी होगी ऐसा विचार करके शिष्य गुरु को पूछता है, परमात्मा कौन है ?

जीव से ईश्वर अधिक सामर्थ्य वाला है जीव नियम में रहने वाला और ईश्वर नियम में रखने वाला है, जीव अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, उत्पत्ति नाशवान और विकारी है; ईश्वर सर्वज्ञ, सर्व शक्ति उत्पत्ति नाश रहित अविकारी है, इस प्रकार दोनों के स्वरूप में महान् अन्तर है ऐसे विरुद्ध धर्मों वाले की एकता किस प्रकार हो। जब तक विरुद्ध धर्म है तब तक एकता हो नहीं सकती और विरुद्ध धर्म न रहे ऐसा कोई उपाय भी नहीं दीखता, तब दोनों की एकता कैसे होगी ? ऐसा विचार करके शिष्य कहता है कि हे गुरु महाराज आपने, जीव ब्रह्म की एकता कही परन्तु एकता होने का संभव मुझे दीखता नहीं है दोनों के धर्मों में विरोध है तब एकता किस प्रकार होगी ?

मेरा दिल एकता होगी इस बात को स्वीकार नहीं करता। आपने ज्ञान होने का साधन उसे बताया है, श्रुति भी एकता को कहती है तब श्रुति का वाक्य किस प्रकार मिथ्या होगा ? कुछ समझने में नहीं आता। वेद का शिरो भाग रूप उपनिषद के कथन को मिथ्या किस प्रकार कहा जाय ? एक तरफ दोनों के विरुद्ध धर्म और दूसरी तरफ श्रुति वाक्य, इससे निर्णय नहीं होता, यह महान शंका है, अपने आप विचार करने से शंका की निवृत्ति न होती हुई देखकर शिष्य पूछ रहा है कि हे गुरुदेव, विरोध धर्म वाले जीव और ईश्वर की एकता श्रुति किस प्रकार करती है, समानता दोनों में नहीं है मुझे यह मालूम है कि श्रुति वाक्य मिथ्या नहीं है, श्रुति एकता किस प्रकार से करती है उसे समझाइये।

अपूर्ण।

महोपनिषद्।

(गतांक से आगे)

अब ये ज्ञानकी सात अवस्थाएं कहता हूँ हे निष्पाप, सुन; इनको जानने से तू फिर कभी मोह जालमें नहीं फंसेगा ॥२१॥ नाना मत वाले योगकी बहुत भूमिकाएं बताते हैं परन्तु मुझे तो कल्याण कारक सात ही अवस्थाएं मान्य हैं ॥२२॥ (स्वरूप में) जाग जाने को ज्ञान कहते हैं और उसकी सात भूमिकाएं हैं और इन सातों भूमिकाओं से परे ज्ञेय स्वरूप मुक्ति है ॥२३॥ प्रथम ज्ञान भूमिको शुभेच्छा कहते हैं, द्वितीय सुविचारणा, तृतीय तनुमानसा, ॥२४॥ चौथी सत्त्वापत्ति पांचवीं असंसक्ति, छठी पदार्थाभाविनी और सातवीं तुरीयगा कही जाती है ॥२५॥ मुक्ति इसके समीप हैं; इसमें फिर शोक की प्राप्ति नहीं होती। अब इन भूमिकाओं का यह वर्णन सुन ॥२६॥ शास्त्र और सज्जनों की दृष्टि से मैं मूढ़ ही हूँ, ऐसा देखता हूं, इस प्रकार वैराग्य पूर्वक इच्छा को विद्वान् शुभेच्छा कहते हैं ॥२७॥ शास्त्र और सज्जन संग से वैराग्य और अभ्यास के साथ सदाचार में जो प्रवृत्ति होती है उसको विचारणा कहते हैं ॥२८॥ शुभेच्छा और विचारणा द्वारा इन्द्रियों के विषयों में राग का घट जाना तनुमानसा

कही जाती है ॥२९॥ तीन भूमिकाओं के अभ्यास से वैराग्य के कारण शुद्ध सत्त्व स्वरूप में जो अवस्थिति होती है, उसको सत्त्वापत्ति कहते हैं ॥३०॥ चारों अवस्थाओं के अभ्यास से सत्त्व (आत्मा) का प्रकाश प्रकट होता है, और जिसमें संसार से संग न्यून होजाता है, ऐसी असंसर्ग कला रूप असंसक्ति नामक अवस्था है ॥३१॥ पांच भूमिकाओं के अभ्यास से आत्मा ही में मग्न रहने से बाह्य और आन्तर पदार्थों का अभाव होजाने से ॥३२॥ और उसका बहुत काल पर्यंत लगातार अभ्यास करने से (आत्मा में) जाग जाना यही पदार्थाभाविनी नामकी छठी भूमिका है ॥ ३३ ॥ छः भूमिका के अभ्यास से भेद की अप्राप्ति और आत्म स्वरूप में ही निष्ठा का रहना इसको तुर्यगा अवस्था कहते हैं ॥३४॥ यही जीवन्मुक्तों की तुर्यावस्था है। विदेह मुक्तों की तुर्यातीत अवस्था इसके आगे होती है ॥३५॥ हे निदाघ, जो महाभाग्यवान् पुरुष इस सातवीं भूमिका को प्राप्त हुए हैं, वे आत्मानन्द में निमग्न हुए महा पुरुष परमपद को प्राप्त हुए हैं ॥३६॥ जीवन्मुक्त पुरुष सुख दुःखमें समान रहने के कारण संसार सागर में नहीं डूबते। वे सहज प्राप्त कर्म करते हैं अथवा कर्म नहीं भी करते ॥३७॥ सद्गुरु द्वारा बोध को प्राप्त हुए महात्मा, सोकर जागे हुए पुरुष के समान पूर्व से चले आये आचार क्रम का पालन किया ही करते हैं ॥३८॥ इस भूमिका सप्तक को बुद्धिमान ही जान सकते हैं। इस ज्ञान दशा को प्राप्त हुए पशु हो या म्लेच्छ, ॥३९॥ देह सहित हो या विदेह, वे मुक्त ही हैं, इसमें अल्प भी संदेह नहीं ॥४०॥ मरुभूमि में जलकी बुद्धि रूप अविद्या की शान्ति होना ही मुक्त होना है और जो मोह सागर को तैर गये हैं उन्होंने ही परमपद प्राप्त कर लिया है ॥४१॥ वे इन भूमिकाओं को प्राप्त होकर आत्मानन्द में निमग्न रहते हैं।

मनको शान्त करने के उपाय को योग कहते हैं उसकी सात भूमिकाएं होती हैं, जो हम ऊपर कह चुके हैं। इन भूमिकाओं का अन्तिम लक्ष्य स्थान ब्रह्मपद ही है ॥४३॥ 'तू मैं और वह' का जहां कुछ भी भाव नहीं है, न और किसी प्रकार का बोध है, न भाव अभाव का बोध भी है ॥४४॥ जो सर्वमय, शांत, निरालंब, आकाश के समान व्यापक, शाश्वत और शिव है; ॥४५॥ जो न सत् है न असत्, उसका न मध्य है न अन्त, वह सब कुछ है और कुछ भी नहीं है। वह मन वाणी से ग्रहण नहीं हो सकता, पूर्ण से पूर्ण है और सब सुखों से अधिक सुख वाला है ॥४६॥ विशेष ज्ञान रहित और परम शांत ऐसा आत्मज्ञान चारों ओर फैल रहा है, इस ज्ञानके अतिरिक्त सब पदार्थों की कोई भिन्न सत्ता नहीं है ॥४७॥ द्रष्टा और दृश्य के संबंध के बीच में जो दृष्टि है, वही देहादि भाव है और द्रष्टा, दृश्य और दर्शन से जो रहित है, वही यह परमपद है ॥४८॥ एक स्थान से चित्त दूसरे स्थान पर जाता है, तब बीचमें जो चित्त का स्वरूप है, जिसमें जड़ता, विशेष ज्ञान, अथवा विचार नहीं हैं, ऐसा ही तू हमेशा बना रह ॥४९॥ जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति रहित जो तेरा सनातन स्वरूप है, जो न जड़ है न चेतन, उसीमें तू सर्वदा तन्मय बना रह ॥५०॥ जड़ता को छोड़कर जैसा शिला का स्वरूप है, वह एक मन रहित अवस्था है, उसी मय तू सदा बना रह ॥५१॥ पहिले परमात्म तत्त्व से मनका उत्थान हुआ और शून्य से शून्य की उत्पत्ति के समान, जैसे आकाश से सुन्दर नाम रूप वाली नीलता प्रकट होती है, उसी प्रकार उसने

अपने कल्पना जाल से इस जगत् का विस्तार किया ॥५२॥ संकल्प का क्षय होकर चित्त क्षीण होजाता है तब संसार मोह रूप कुहरा नष्ट होजाता है और शरद् ऋतु में आकाश स्वच्छ प्रकाशता है, वैसे, एक, अज, सबका आदि और अनन्त ऐसा चिदात्मा अन्तर में प्रकाशता है ॥५३॥ आकाश में एक चित्र उत्पन्न हुआ है, उसका न कोई कर्ता है, न (उपादान रूप) कोई रंग है, न कोई उसको देखने वाला है; अपने ही में उत्पन्न होने वाला यह बिना सोये का स्वप्न दर्शन है ॥५४॥ जैसे दर्पण में अनिच्छा से प्रतिबिम्ब पड़ते हैं वैसे ही सम, स्वच्छ साक्षी भूत चिदात्मा में ये जगत् प्रतिबिम्बित होते हैं ॥५५॥ चित्तकी चंचलता को शांत करने के लिये चिदाकाश रूप, सर्वात्मक, अद्वैत और अखंड ब्रह्म की भावना कर ॥५६॥ जैसे कोई रेखा मय पत्थर हो वैसे ही तीनों लोक मिलकर एक ब्रह्म होता है ऐसा जान ॥५७॥ 'अन्य कारण न मिलने से इस जगत् की सिद्धि हो नहीं होती।' अब जानने योग्य जान लिया और देखने योग्य आश्चर्य मय तत्त्व देख लिया ॥५८॥ बहुत कष्ट उठाने के पश्चात् अब मुझे विश्रान्ति मिली है, संदेह रहित होकर और आश्चर्य का भाव छोड़कर चिन्मात्र से भिन्न कुछ भी नहीं है ऐसा जान ॥५९॥ कल्पना जाल दूर होने पर चित्त रहित अवस्था ही परमपद है वे ही उस भूमिका में पहुंचे हैं जिन्होंने अशेष अज्ञानको नष्ट किया है ॥६०॥ और जो महा बुद्धिवान् और शान्त है और जो अमन-स्क भावको प्राप्त हुआ है। जिसने विचार किया है और जिसका मन वृत्ति रहित हुआ है ॥६१॥ और जो मनको संकल्प नहीं करने देता ऐसे पुरुष का मन कुछ परिपक्व होजाता है। फिर वह हेयरूप दृश्य को त्यागकर उपादेय ब्रह्मको प्राप्त करता है ॥६२॥ मिथ्या द्रष्टा का अभाव करते हुए वह द्रष्टा को देखता रहता है और जानने योग्य परम तत्त्व में जागरुक रहता है ॥६३॥ जो घन संमोह मय संसार मार्ग (प्रवृत्ति) में सोता रहता है, जिसका वैराग्य अत्यन्त परिपक्व होजाने के कारण सुख दुःख मय ॥६४॥ संसार का वासना जाल जिसको अब पारधी के जालका सा प्रतीत होने लगा है, जिसने वैराग्य के बल से हृदय ग्रन्थि को खोल दिया है; जिस प्रकार खट्टा फल खाने से (मुंह में) पानी आता है, वैसे ही विज्ञान बलसे उसमें आत्मा का ऐश्वर्य प्रकट होता है ॥६६॥ जैसे पिंजरे में से पक्षी उड़ जाता है, वैसे उसका मन राग आसक्ति और द्वंद्व भावसे मुक्त, बिना आश्रय ही बाहर जाता है ॥६७॥ पूर्णचन्द्र के समान उसका अन्तःकरण परिपूर्ण होजाता है, उसके संदेह और दुष्टता दूर होजाते हैं और उसको किसी बातका आश्चर्य या भ्रम नहीं रहता ॥६८॥ न मैं हूँ, न अन्य कोई है; एक निर्लेप ब्रह्म मात्र है, इस प्रकार जो पदार्थ और पदार्थाभावमें दृष्टि रखता है वही ज्ञानी है ॥६९॥ बिना यत्न के प्राप्त हुए देखने के किसी विषय में जिस प्रकार मन राग रहित ही गिरता है इसी प्रकार ज्ञानी राग रहित होकर कार्य करते हैं ॥७०॥ जानकर किया हुआ भोग ही सुखका हेतु होता है; जैसे, चोर को जानकर उससे बर्ताव किया जाय तो वह मित्र बन जाता है चोर नहीं रहता ॥७१॥ मार्ग से जाने वाले को बिना इच्छा किये भी ग्राम यात्रा देखने मिलती है इसी प्रकार ज्ञानी भोग का ऐश्वर्य देखते रहते हैं ॥७२॥ मनको वशमें लाने के पश्चात् थोड़ा सा भी लीला के लिये किया हुआ भोग वहीं समाप्त होने वाला होने से तथा पूर्व भोगों की दुःख मय स्मृति होनेसे उसको अधिक सुखकर होता है ॥७३॥

बंधन से मुक्त हुआ राजा एक ग्रास भर खाने को मिलने से भी संतुष्ट होजाता है; परन्तु जो दूसरे से घिर गया नहीं है और जो बंधन को प्राप्त नहीं हुआ है ऐसा राजा अपने राज्य को भी कुछ नहीं समझता ॥७४॥

हाथ से हाथ दबाकर तथा दांत से दांत पीसकर और एक अंग से दूसरे अंग को पीड़ित करके भी यानी हर प्रयत्न से अपने मनको जीत लेना चाहिये ॥७५॥ घोर नरक के साम्राज्य रूप इस भवसागर से पार होने के लिये मनको जीतने के अतिरिक्त और कोई मार्ग ही नहीं है। मद से बिगड़े हुए और आशा के बाणों से विद्ध ऐसे इन्द्रिय रूप हाथियों का जीतना अत्यन्त ही कठिन है। चित्तका बल तोड़कर जो इंद्रिय रूपी शत्रुओं को अपने वश कर लेता है ॥७६-७७॥ जैसे हेमंत ऋतुमें पद्मिनी (कमल विशेष) सूख जाती है वैसे इसकी भोग वासनाएं नष्ट होजाती हैं। जैसे रात्रिमें वेताल खड़ा होजाता है वैसे वासनाएं तभी तक अन्तःकरण में निवास करती हैं जब तक एक तत्त्व के दृढ़ अभ्यास से मनको नहीं जीता है॥७८॥ विवेकी पुरुष अपने अनुकूल काम करने से मनको नोकर समझते हैं, सब अर्थ साधन का हेतु होने से मंत्री और इन्द्रियों को जीतने वाला होने से सामंत मानते हैं ॥७९॥ लालन करने से स्नेह मयी स्त्री, पालन करने से पिता और अत्यन्त विश्वास पात्र होने से विवेकी पुरुष मनको सुहृद्-मित्र मानते हैं ॥८०॥ मन रूपी पिता शास्त्र दृष्टि से आत्माका अवलोकन करके उसका अनुभव कराता है और अपना विसर्जन करके श्रेष्ठ सिद्धि प्रदान करता है ॥८१॥ सुप्रसन्न, सुदृढ़, स्वच्छ, विजित, प्रबोधित और आत्मगुणों से सज्जित मन हृदय में मणि के समान शोभा देता है ॥८२॥ कीचड़ से अत्यन्त मलिन हुए इस मन रूपी मणि को, परमार्थ के लिये, विवेक जलसे धोकर, हे महान्, तेजस्वी होजा ॥८३॥ उच्च विवेक का आश्रय करके, बुद्धि से सत्य का ग्रहण करके और इन्द्रिय रूपी शत्रुओं का नाश करके संसार सागर से पार होजा ॥८४॥ आस्था ही अनन्त दुःखों का हेतु है और अनास्था ही अनन्त सुखों का खजाना है ॥८५॥ वासना के तागे से बंधा हुआ यह लोक भ्रमण करता है। यह बात प्रसिद्ध है कि वासना अनेक दुःख देने वाली हैं और उसका नाश होना ही सुखका हेतु है ॥८६॥ जैसे जंजीर से सिंह बंध जाता है वैसे जीव फिर वह कैसा भी धैर्यशाली हो, बहुत जानने वाला हो, कुलवान् हो या महान् हो तृष्णा से बंधन को प्राप्त होता है ॥८७॥ उत्तम पुरुषार्थ पूर्वक यत्न करके और शास्त्र के अनुसार उद्वेग न मानकर अच्छा उद्योग करने पर सिद्धि किसको प्राप्त नहीं होगी ? ॥८८॥ यह सब विश्व मैं ही हूँ, मैं अच्युत परमात्मा हूं और कुछ है ही नहीं ऐसा जानना यही श्रेष्ठ अहंकार है ॥८९॥ मैं सबसे भिन्न हूं, बालाग्र से भी छोटा हूँ इस प्रकार जानना यह दूसरे श्रेणी का कल्याण प्रद अहंकार है ॥९०॥ यह मोक्ष का हेतु है बंधका नहीं और यह जीवन्मुक्त में रहता है ॥९१॥ हाथ पैर वाला देह ही मैं हूं ऐसा निश्चय तीसरे प्रकार का अहंकार है, यह अहंकार लौकिक और अत्यन्त तुच्छ है ॥९२॥ यह (तीसरे प्रकार के अहंकार वाला) ही दुरात्मा जीव है। यही संसार वृक्षकी जड़ है, इसीसे जीव नाशको प्राप्त होकर नीचे को गिरता रहता है ॥९३॥ चिरकाल तक भावना द्वारा इस दुष्ट अहंकार का त्याग करने से उच्च अहंकार युक्त होकर जीव शान्ति को प्राप्त होता है ॥९४॥ पहिले दो अलौकिक अहंकारों को

अपने कल्पना जाल से इस जगत् का विस्तार किया ॥५२॥ संकल्प का क्षय होकर चित्त क्षीण होजाता है तब संसार मोह रूप कुहरा नष्ट होजाता है और शरद् ऋतु में आकाश स्वच्छ प्रकाशता है, वैसे, एक, अज, सबका आदि और अनन्त ऐसा चिदात्व अन्तर में प्रकाशता है ॥५३॥ आकाश में एक चित्र उत्पन्न हुआ है, उसका न कोई कर्ता है, न (उपादान रूप) कोई रंग है, न कोई उसको देखने वाला है; अपने ही में उत्पन्न होने वाला यह बिना सोये का स्वप्न दर्शन है ॥५४॥ जैसे दर्पण में अनिच्छा से प्रतिबिम्ब पड़ते हैं वैसे ही सम, स्वच्छ साक्षी भूत चिदात्मा में ये जगत् प्रतिबिम्बित होते हैं ॥५५॥ चित्तकी चंचलता को शांत करने के लिये चिदाकाश रूप, सर्वात्मक, अद्वैत और अखंड ब्रह्म की भावना कर ॥५६॥ जैसे कोई रेखा मय पत्थर हो वैसे ही तीनों लोक मिलकर एक ब्रह्म होता है ऐसा जान ॥५७॥ 'अन्य कारण न मिलने से इस जगत् की सिद्धि हो नहीं होती।' अब जानने योग्य जान लिया और देखने योग्य आश्चर्य मय तत्त्व देख लिया ॥५८॥ बहुत कष्ट उठाने के पश्चात् अब मुझे विश्रान्ति मिली है, संदेह रहित होकर और आश्चर्य का भाव छोड़कर चिन्मात्र से भिन्न कुछ भी नहीं है ऐसा जान ॥५९॥ कल्पना जाल दूर होने पर चित्त रहित अवस्था ही परमपद है ये ही उस भूमिका में पहुंचे हैं जिन्होंने अशेष अज्ञानको नष्ट किया है ॥६०॥ और जो महा बुद्धिवान् और शान्त है और जो अमनस्क भावको प्राप्त हुआ है। जिसने विचार किया है और जिसका मन वृत्ति रहित हुआ है ॥६१॥ और जो मनको संकल्प नहीं करने देता ऐसे पुरुष का मन कुछ परिपक्व होजाता है। फिर वह हेयरूप दृश्य को त्यागकर उपादेय ब्रह्मको प्राप्त करता है ॥६२॥

मिथ्या द्रष्टा का अभाव करते हुए वह द्रष्टा को देखता रहता है और जानने योग्य परम तत्त्व में जागरुक रहता है ॥६३॥ जो घन संमोह मय संसार मार्ग (प्रवृत्ति) में सोता रहता है, जिसका वैराग्य अत्यन्त परिपक्व होजाने के कारण सुख दुःख मय ॥६४॥ संसार का वासना जाल जिसको अब पारधी के जालका सा प्रतीत होने लगा है, जिसने वैराग्य के बल से हृदय ग्रन्थि को खोल दिया है; जिस प्रकार खट्टा फल खाने से (मुंह में) पानी आता है, वैसे ही विज्ञान बलसे उसमें आत्मा का ऐश्वर्य प्रकट होता है ॥६६॥ जैसे पिंजरे में से पक्षी उड़ जाता है, वैसे उसका मन राग आसक्ति और द्वंद्व भावसे मुक्त, बिना आश्रय ही बाहर जाता है ॥६७॥ पूर्णचन्द्र के समान उसका अन्तःकरण परिपूर्ण होजाता है, उसके संदेह और दुष्टता दूर होजाते हैं और उसको किसी बातका आश्चर्य या भ्रम नहीं रहता ॥६८॥ न मैं हूँ, न अन्य कोई है; एक निर्लेप ब्रह्म मात्र है, इस प्रकार जो पदार्थ और पदार्थाभावमें दृष्टि रखता है वही ज्ञानी है ॥६९॥ बिना यत्न के प्राप्त हुए देखने के किसी विषय में जिस प्रकार मन राग रहित ही गिरता है इसी प्रकार ज्ञानी राग रहित होकर कार्य करते हैं ॥७०॥ जानकर किया हुआ भोग ही सुखका हेतु होता है; जैसे, चोर को जानकर उससे बर्ताव किया जाय तो वह मित्र बन जाता है चोर नहीं रहता ॥७१॥ मार्ग से जाने वाले को बिना इच्छा किये भी ग्राम यात्रा देखने मिलती है इसी प्रकार ज्ञानी भोग का ऐश्वर्य देखते रहते हैं ॥७२॥ मनको वशमें लाने के पश्चात् थोड़ा सा भी लीला के लिये किया हुआ भोग वहीं समाप्त होने वाला होने से तथा पूर्व भोगों की दुःख मय स्मृति होने से उसको अधिक सुखकर होता है ॥७३॥

बंधन से मुक्त हुआ राजा एक ग्रास भर खाने को मिलने से भी संतुष्ट होजाता है; परन्तु जो दूसरे से घिर गया नहीं है और जो बंधन को प्राप्त नहीं हुआ है ऐसा राजा अपने राज्य को भी कुछ नहीं समझता ॥७४॥

हाथ से हाथ दबाकर तथा दांत से दांत पीसकर और एक अंग से दूसरे अंग को पीड़ित करके भी यानी हर प्रयत्न से अपने मनको जीत लेना चाहिये ॥७५॥ घोर नरक के साम्राज्य रूप इस भवसागर से पार होने के लिये मनको जीतने के अतिरिक्त और कोई मार्ग ही नहीं है। मद से बिगड़े हुए और आशा के बाणों से विद्ध ऐसे इन्द्रिय रूप हाथियों का जीतना अत्यन्त ही कठिन है। विराका बल तोड़कर जो इंद्रिय रूपी शत्रुओं को अपने वश कर लेता है ॥७६-७७॥ जैसे हेमंत ऋतुमें पद्मिनी (कमल विशेष) सूख जाती है वैसे इसकी भोग वासनाएं नष्ट होजाती हैं। जैसे रात्रिमें वेताल खड़ा होजाता है वैसे वासनाएं तभी तक अन्तःकरण में निवास करती हैं जब तक एक तत्त्व के दृढ़ अभ्यास से मनको नहीं जीता है॥७८॥ विवेकी पुरुष अपने अनुकूल काम करने से मनको नोकर समझते हैं, सब अर्थ साधन का हेतु होने से मंत्री और इन्द्रियों को जीतने वाला होने से सामंत मानते हैं ॥७९॥ लालन करने से स्नेह मयी स्त्री, पालन करने से पिता और अत्यन्त विश्वास पात्र होने से विवेकी पुरुष मनको सुहृद्-मित्र मानते हैं ॥८०॥ मन रूपी पिता शास्त्र दृष्टि से आत्माका अवलोकन करके उसका अनुभव कराता है और अपना विसर्जन करके श्रेष्ठ सिद्धि प्रदान करता है ॥८१॥ सुप्रसन्न, सुदृढ़, स्वच्छ, त्रिजित, प्रबोधित और आत्मगुणों से सज्जित मन हृदय में मणि के समान शोभा देता है ॥८२॥ कीचड़ से अत्यन्त मलिन हुए इस मन रूपी मणि को, परमार्थ के लिये, विवेक जलसे धोकर, हे महान्, तेजस्वी होजा ॥८३॥ उच्च विवेक का आश्रय करके, बुद्धि से सत्य का ग्रहण करके और इन्द्रिय रूपी शत्रुओं का नाश करके संसार सागर से पार होजा ॥८४॥ आस्था ही अनन्त दुःखों का हेतु है और अनास्था ही अनन्त सुखों का खजाना है ॥८५॥ वासना के तागे से बंधा हुआ यह लोक भ्रमण करता है। यह बात प्रसिद्ध है कि वासना अनेक दुःख देने वाली हैं और उसका नाश होना ही सुखका हेतु है ॥८६॥ जैसे जंजीर से सिंह बंध जाता है वैसे जीव फिर वह कैसा भी धैर्यशाली हो, बहुत जानने वाला हो, कुलवान् हो या महान् हो तृष्णा से बंधन को प्राप्त होता है ॥८७॥ उत्तम पुरुषार्थ पूर्वक यत्न करके और शास्त्र के अनुसार उद्वेग न मानकर अच्छा उद्योग करने पर सिद्धि किसको प्राप्त नहीं होगी ? ॥८८॥ यह सब विश्व मैं ही हूँ, मैं अच्युत परमात्मा हूं और कुछ है ही नहीं ऐसा जानना यही श्रेष्ठ अहंकार है ॥८९॥ मैं सबसे भिन्न हूं, बालाग्र से भी छोटा हूँ इस प्रकार जानना दूसरे श्रेणी का कल्याण प्रद अहंकार है ॥९०॥ यह मोक्ष का हेतु है बंधका नहीं और यह जीवन्मुक्त में रहता है ॥९१॥ हाथ पैर वाला देह ही मैं हूं ऐसा निश्चय तीसरे प्रकार का अहंकार है, यह अहंकार लौकिक और अत्यन्त तुच्छ है ॥९२॥ यह (तीसरे प्रकार के अहंकार वाला) ही दुरात्मा जीव है। यही संसार वृक्षकी जड़ है, इसीसे जीव नाशको प्राप्त होकर नीचे को गिरता रहता है ॥९३॥ चिरकाल तक भावना द्वारा इस दुष्ट अहंकार का त्याग करने से उच्च अहंकार युक्त होकर जीव शान्ति को प्राप्त होता है ॥९४॥ पहिले दो अलौकिक अहंकारों को

अंगीकार करके तीसरे दुःखदायी लौकिक अहंकार का त्याग करना चाहिये ॥९५॥ पश्चात् उन दोनों का भी त्याग करके संपूर्ण अहंकार का त्याग करने से उसकी बहुत ऊंची स्थिति होजाती है, वह परब्रह्म में आरूढ़ होजाता है ॥९६॥ भोगकी इच्छा ही बंध है और उसका त्याग ही मोक्ष है; मनका वैभव बढ़ाना ही नाश है और मनका नष्ट होना ही अहोभाग्य है ॥९७॥ ज्ञानीका मन नष्ट हुआ होता है और अज्ञानी का मन उसको जंजीर के समान बंधन रूप होता है। ज्ञानी के मनमें न आनन्द है न आनन्द का अभाव, वह न चंचल है न अचल या स्थिर; न वह सत् या असत् है, न ज्ञानीका मन इन दोनों भावों के बीच वाला होता है ॥९८॥ जैसे चिदाभास्य आकाश सूक्ष्म होने से देखने में नहीं आता इसी प्रकार सर्व व्यापक चित् निरंश होने से देखने में नहीं आता॥९९॥ सर्व संकल्प रहित और सर्व ज्ञान रहित ऐसे इस चित्को अविनाशी आत्मा, अपना आत्मा आदि नाम दिये जाते हैं ॥१००॥ आकाश के सौ में भाग से भी सूक्ष्म, ज्ञानियों में निष्कल रूप से रहने वाली और समस्त दोष युक्त संसार को एकहा आत्मा में दिखाने वाला ॥१०१॥ चित् न अस्त होता है न उदय, न उत्थान होता है न स्थिति, वह न आता है न जाता है, और वह यहां है और नहीं भी है ॥१०२॥ यह चित् शुद्ध स्वरूप, निर्विकल्प और निराधार है ॥१०३॥

अपूर्ण।



ब्रह्मसूत्र भाषा दीपिका।

(गतांक से आगे)

(पूर्वपक्षः–) यहां प्रथम ऐसा ही माने कि जीवके कर्तृत्व में ईश्वरकी अपेक्षा नहीं है। क्यों? इसलिये कि वैसी अपेक्षा होनेका कोई कारण नहीं प्रतीत होता। यह जीव राग द्वेषादि दोषों से युक्त और अन्य कारक (बुद्धि आदि) सामग्री से संपन्न होने से कर्तृत्व का अनुभव कर सकता है। ईश्वर उसमें क्या करेगा? खेती आदि के कामों में जिस प्रकार बैल आदि की आवश्यक्ता होती है, वैसे ही ईश्वर नामक साधन की अपेक्षा होती है, ऐसा जगत में कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है। सिवाय इसके जीवों के लिये क्लेशरूप कर्तृत्व उत्पन्न करने वाले ईश्वर को नैर्घृण्य यानी निर्दयता के दोष की प्राप्ति होगी और जिसका फल क्लेश है ऐसा कर्तृत्व देने वाले ईश्वर को वैषम्य (विषमता) दोष की भी प्राप्ति होगी। यदि कहें कि वैषम्य नैर्घृण्येन सापेक्षत्वात् [ब्र० सू० २।१।३४] (ईश्वर को वैषम्य और नैर्घृण्य, इन दोषों की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि इसके लिये धर्माधर्म की अपेक्षा होती है), ऐसा पहिले ही कह चुके हैं, तो जब ईश्वर को अपेक्षा रहने का संभव हो तब ही वह ठीक है। अब प्राणियों में यदि धर्म और अधर्म हों तब ही ईश्वर को उसकी अपेक्षा रहना संभव है और जीव को कर्तृत्व होगा तब ही उसके धर्माधर्म बन सकते हैं; परन्तु यदि यह कर्तृत्व ही ईश्वर के अधीन हो, तो फिर वह और किस की अपेक्षा रखेगा? इसके अतिरिक्त, ऐसा मानने से जीव को न किये हुए की प्राप्ति होगी ऐसा भी दोष प्राप्त होता है। इसलिये जीव में कर्तृत्व स्वाभाविक है यानी किसी की अपेक्षा से

रहित है। इस पूर्वपक्ष का तु शब्द से निराकरण करते हुए 'परात्तु तच्छ्रुतेः' यह सूत्र कहते हैं।

अज्ञान अवस्था में अज्ञान रूपी अज्ञान से अन्धा हुआ और शरीर इंद्रिय आदि के समूह से मैं भिन्न हूँ ऐसे न समझने वाला जो जीवात्मा है, उसको कर्म का अध्यक्ष, सब भूतों का एक मात्र निवास स्थान, सर्व साक्षी और सबको चेतना प्रदान करने वाले ऐसे परमेश्वर ही से अर्थात् उसकी आज्ञा से ही कर्तृत्व भोक्तृत्व रूप संसार की प्राप्ति होती है और केवल उसीकी कृपा द्वारा ही विज्ञान प्राप्त होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है ऐसा ही मानना युक्त है। क्योंकि वैसी श्रुति है इसलिये।

यद्यपि जीव रागादि दोषों से युक्त है, तथा खेती आदि के कामों में ईश्वर कारण नहीं माना जाता, तथापि सभी प्रवृत्तियों का हेतु रूप कर्ता ईश्वर ही है, यही श्रुतिका निश्चय है। इस प्रकार श्रुति है कि 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष ह्येवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' [कौषी० ३।८] (यह परमेश्वर ही जिनकी इस लोकसे उन्नति हो ऐसा चाहता है, उनसे शुभ कर्म कराता है और जिनकी इस लोकसे अवनति चाहता है, उनसे वह परमेश्वर ही बुरे कर्म कराता है), तथा 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमंतरो यमयति' (जो आत्मा में रह कर आत्मा का भीतर से नियमन करता है) इत्यादि प्रकार की श्रुतियां मिलती हैं ॥४१॥

यदि कोई कहे कि ईश्वर कर्म कराता है ऐसा मानने से वैषम्य और नैर्घृण्य (निष्ठुरता) ये दोष ईश्वर में प्राप्त होंगे और जीव को न किये हुए कर्म के फल की प्राप्ति होगी तो आगे के सूत्र से उत्तर देते हैं कि ऐसा नहीं है—

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहित प्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः २।३।४२॥

अन्वय और अन्वयार्थः—तु परन्तु **विहित प्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः** विहित और निषिद्ध उपदेशको व्यर्थता न प्राप्त हो इसलिये [ईश्वर जीवके] **कृत प्रयत्नापेक्षः** किये हुए प्रयत्न की अपेक्षा रखता है।

टीकाः—सूत्र में 'परन्तु' शब्द पूर्व कथित दोषों की निवृत्ति दर्शक है। जीवके किये हुए जो धर्म अधर्म रूप प्रयत्न की अपेक्षा रखकर ही ईश्वर जीव से कर्म कराता है। इसलिये पूर्व कथित दोषों की प्राप्ति नहीं होती। जीव के किये हुए धर्म अधर्म के अनुसार उनको अच्छा या बुरा फल देने में ईश्वर वर्षा के समान केवल निमित्त कारण बनता है; जैसे इस जगत् में छोटी बड़ी बेलें या धान जौ आदि अपने अपने अलग अलग (असाधारण) बीजों से उत्पन्न होते हैं, परन्तु उनके उपजाने में पर्जन्य एक साधारण कारण रूप होता है। यदि पर्जन्य न हो तो रस, फूल, फल आदि की विचित्रता नहीं उत्पन्न होती, उनके अपने अपने बीज न हों तो भिन्नता भी उत्पन्न नहीं होती, इसी प्रकार जीवों के किये हुए कर्मों की अपेक्षा ही से ईश्वर उनको शुभाशुभ फल देता है ऐसा ही मानना युक्त है।

यदि कहो कि जीव का कर्तृत्व अन्य किसी के (ईश्वर के) अधीन है, तो ईश्वर को जीव के प्रयत्न

की अपेक्षा है, यही नहीं संभवता तो यह दोष नहीं प्राप्त होता; क्योंकि, यद्यपि जीव का कर्म कर्तृत्व परमात्मा के अधीन है तो भी वह कर्ता है जीव ही कर्ता है उससे ईश्वर कर्म कराता है। विशेष यह है कि पूर्व प्रयत्न की अपेक्षा रखते हुए ही यह प्रयत्न उससे कराता है और उसके पूर्व के अपनी अपेक्षा ही से वह प्रयत्न कराया था इस प्रकार से यह संसार अनादि होने से कुछ भी दोष नहीं प्राप्त होता।

परन्तु ईश्वरको जीवकृत प्रयत्न की अपेक्षा है, यह कैसे जाना जाता है? कहते हैं कि 'विधि और निषेध का प्रतिपादन व्यर्थ न होजायं इत्यादि कारणों से। क्योंकि ऐसा मानलें तब ही स्वर्ग की इच्छा करने वाला यज्ञ करे, "ब्राह्मण को न मारे," इत्यादि विधि निषेध का उपदेश व्यर्थ नहीं होता, अन्यथा निरर्थक होजाता है। जीव के अत्यंत परतंत्र होने पर ईश्वर ही उसको विहित कर्मों में प्रवृत्त करता और निषिद्ध कर्मों से निवारण करता है। वैसे ही, ईश्वर विहित कर्म करने वाले को दुःख देता और निषिद्ध कर्म करने वाले को भी सुख देता; और ऐसा होने से वेदों का माहात्म्य ही नष्ट हो जायगा। ईश्वर को जीवकृत प्रयत्न की नितान्त आवश्यकता नहीं है, ऐसा मानें तो लौकिक प्रयत्न भी व्यर्थ हो जायंगे और देश काल और कारण ये भी व्यर्थ हो जायंगे। और पूर्व कथित दोष (न किये हुए कर्मों के फल की प्राप्ति) भी प्राप्त हो जायगा; ये सब दोष सूत्र में "इत्यादि"-शब्द से सूचित किये गये हैं ॥४२॥

१७ अंशाधिकरण।

अंशो नाना व्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्व मधीयत एके॥२।३।४३

अन्वय और अन्वयार्थः—अंशः [जीवात्मा परमात्मा का] अंश है; **नानाव्यपदेशात्** क्योंकि [श्रुति में जीवात्मा और परमात्मा] भिन्न हैं ऐसा कथन किया गया है। **अन्यथा चापि** और अन्य प्रकार से भी कथन किया गया है। **एके** कुछ लोग [ईश्वर ही] **दाशकितवादित्वम्** पारधी जुआरी आदि है ऐसा **अधीयते** पाठ करते हैं।

टीकाः—जीव और ईश्वर में उपकार्य उपकारक भाव का संबंध है ऐसा कहा गया है। परन्तु यह संबंध स्वामी और सेवक या अग्नि और चिनिगारियां इनके समान परस्पर संबंध दो वस्तुओं में बनता है ऐसा जगत में देखा जाता है। अर्थात् जीव और ईश्वर में उपकारी उपकारक संबंध है ऐसा मानने पर वह संबंध स्वामी सेवक का सा है अथवा अग्नि और चिनगारियों का सा है इसका निर्णय करना होगा। पूर्वपक्षी का कहना है कि याता जीव ईश्वर के नियमन में नहीं है (जैसे अग्नि और चिनगारियों का संबंध है) अथवा स्वामी सेवक संबंध के प्रकारों में से नियम्य नियामक भाव का संबंध प्रसिद्ध होने से उसी प्रकार का संबंध इनमें होना चाहिये। इसलिये सूत्रकार कहते हैं कि 'जीवात्मा इत्यादि।'

अपूर्ण।

वेदान्त दीपिका

इस ग्रन्थ में जिज्ञासु को स्वाभाविकता से होने वाले प्रश्नों का अत्यन्त मार्मिकता से समाधान किया गया हैं। वेदान्त विषय के चौबीस प्रश्न ये हैं:-

१—एक ब्रह्म के सिवाय और कुछ नहीं हैं, तब संसार क्या है? ब्रह्म चैतन्य और जगत् जड़ है इसलिये जड़ जगत् चैतन्य ब्रह्ममें से नहीं होसक्ता। २—जीव क्या चीज़ है? चैतन्य हो तो चैतन्य असंग है इसलिये कर्ता भोक्ता नहीं हो सकता और जड़ हो तो क्रिया नहीं कर सकता। ३—अज्ञान और ज्ञान किसको होता है? ४—जगत् प्रत्यक्ष है और तुम एक ब्रह्मको और बताते हो तब जगत् और ब्रह्म दो होने से द्वैत हुआ। अद्वैत कैसे है? ५—पाप, पुण्य, स्वर्ग, नरक और मोक्ष क्या चीज है? कर्म कहां रहते हैं? ६—माया अनादि मानते हो तो अनादि का नाश कभी नहीं होता इसलिये माया कभी नहीं छूटेगी और जीवका कभी मोक्ष न होगा, फिर मोक्ष क्या? ७—असंग होकर ब्रह्म सृष्टि का कर्ता कैसे है? एक ही सब व्यवहार का हेतु है तो सब एक समान क्यों नहीं होते? ८—पुनर्जन्म का शास्त्र वाक्य के सिवाय क्या सबूत है? पुनर्जन्म होता है तो याद क्यों नहीं रहता? ६—पूर्वजन्म में किये हुये कर्मों का फल इस जन्ममें भोगा जाता है, पाप कर्म का फल दुःख भोग होता है, पूर्वजन्म की याद नहीं, किये हुये कर्मों की खबर नहीं, पाप जाने विना पाप का फल भोगना यह अन्याय क्यों है? १०—एक शरीर से किये हुये शुभ अशुभ कर्मों का फल दूसरे शरीर से भोगना यह अन्याय क्यों? ११—आत्मा शुद्ध है तो सब बातों को क्यों नहीं जानता? १२—प्रारब्ध का ही भोग होता है तो शास्त्र और गुरु उपदेश व्यर्थ है, प्रारब्ध से परतंत्र हुआ मनुष्य क्या कर सकता है? १३—जीव मरने के समय किस प्रकार जाता है? १४—मोक्ष सुखका किसी ने प्रत्यक्ष नहीं किया है, विना जाने किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा नहीं होती तो मोक्षकी इच्छा कौन करेगा? १५—प्रत्यक्ष दीखने वाले संसार को तुम असत्य बताते हो और न दीखने वाले आत्मा को सत्य बताते हो, यह कैसे समझ में आवे? १६—आत्मा समान्य प्रकाश करने वाला है तो प्रकाश करने वाले दीपक के समान जड़ हुआ! सामान्य में विशेषता नहीं और विशेषता विना चैतन्यता कहां! शरीर पैदा होता है उसमें जीवके प्रवेश होने का क्या प्रमाण है? १७—मरने के बाद सब जल कर खाक होगया, कुछ न रहा फिर जन्म किसका होगा? १८—मैं कौन हूँ किसके सहारे टिका हूँ? जाग्रतादि अवस्था क्या है? किस की है? और अवस्थाओं का फल क्या है? भावना अनुसार फल होता है तो हम राजा होने की भावना करने से राजा क्यों नहीं होजाते? १६—लोभ, क्रोध, मोह आदिकों को दुःख देने वाला जानकर भी जीव क्यों नहीं त्यागता? सब संसार और संसार के पदार्थ ईश्वर रचित हैं तो लोभ, क्रोध, मोहादिक भी ईश्वर रचित हैं, उनको जीव कैसे हटा सकता है? २०—मात्र ज्ञान ही सत्य है तो कर्म, उपासना, भक्ति आदिका विधान बताने वाले सब शास्त्र किस अर्थ हैं? २१—जीवको संसार में विशेष कर दुःख ही दुःख होता है तो जीवों को दुःख देने के लिये ऐसी दुनियां ईश्वर ने क्यों रची? २२—आत्मा शुद्ध स्वरूप है तो अशुद्ध स्वरूप वाला जीव किस प्रकार हुआ? अशुद्ध किसने किया? जड़ माया चेतन आत्मा को अशुद्ध नहीं कर सकती, स्वयं अशुद्ध हो नहीं सकती और दूसरा अशुद्ध करने वाला है नहीं। २३—ज्ञान और अज्ञान ईश्वरकृत हैं। ईश्वर ने किसी को ज्ञानी और किसी को अज्ञानी बनाया तो ईश्वर पक्षपाती हुआ, ऐसा क्यों? २४—विना कर्म कोई शरीरधारी नहीं रह सकता, कर्म फल दिये विना नहीं रहता, ज्ञानी भी कर्म करता है तो कर्म का फल भोगने के लिये उसको भी जन्म धारण करना पड़ेगा। जन्म धारण करके कर्म करेगा तो ज्ञानी जन्म रहित कैसे हो सकता है?

प्रत्येक प्रश्नको प्रथम युक्तिपूर्वक समझा कर उसको अधिक दृढ़ करने के लिये प्रसंगानुसार दृष्टांत देकर ग्रन्थ अत्यन्त रोचक बनाया गया हैं। मूल्य रु० १॥) डाकखर्चा अलग।

वेदान्त केसरी बेलनगंज—आगरा।

REGD. NO. A. 1821

वेदान्त केसरी की छपी हुई पुस्तकें।

वेदान्त केसरी मासिक पत्र—नवाँ साल चालू है वार्षिक मूल्य ३) वर्ष के मध्य में ग्राहक होने वालों को वर्ष के आरंभ से सब अंक लेने होंगे मई मास से वर्ष आरंभ होता है नमूने की कापी मुफ्त नहीं मिलती। एक प्रति का मूल्य पाँच आना। पिछले आठों साल की जिल्द (प्रत्येक बारह अङ्कों की) तय्यार हैं, थोड़ी कापियां शेष रही हैं। श्रीमच्छङ्कराचार्य्यके अद्वैत सिद्धान्तके अनुसार सम्पूर्ण वेदान्त की प्रक्रिया आगई है।

अधिकारी के लक्षण, गुरु-शिष्य लक्षण, पंचकोष विवेक, जगत्, जीव, ईश्वर, ब्रह्म, माया, अविद्या, ज्ञान, अज्ञान, आसक्ति, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, महावाक्य, जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति, छोटे छोटे उपनिषद्, स्तोत्र आदि अनेक लेख आये हैं, जो बोलचालकी बहुत ही सीधी भाषामें युक्ति और दृष्टांतपूर्वक समझाये गये हैं। बहुत ही रोचक होने से पढ़ने को लेनेके बाद पुस्तक छोड़ने को चित्त नहीं चाहता। सामान्य भाषा जानने वाले भी बारम्बार पढ़ने से आत्मबोध प्राप्त कर सकते हैं। प्रत्येक पुस्तक का मूल्य ३) सम्पूर्ण सैट यानी आठों पुस्तक का मूल्य २४)

उपासना—इसमें साकार, सगुण, निर्गुण, कार्य ब्रह्म तथा कारण ब्रह्म आदि कई प्रकार की उपासना को भिन्न २ प्रकार से समझाया है। उपासना की स्थिरता ही से मन एकाग्र होकर आत्म साक्षात्कार होता है। मूल्य ॥)

चर्पट पंजरिका—"भज गोविंदं भज गोविंदं" पद्य का विवेचन सहित भाषानुवाद है। अनेक दृष्टांतों से रोचक है। सम श्लोकी पद्य भी है। मूल्य १)

कौशल्य गीतावली भाग १—२—वेदान्त केसरी में आई हुई कविताओं का संग्रह। कविता रोचक सरल और ज्ञान के संस्कारों को प्रदीप्त करने वाली तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन रूप है। प्रत्येक भाग का मूल्य ।≠)

वेदान्त स्तोत्र संग्रह—श्रीमच्छङ्कराचार्य्य आदि के प्रतिभाशाली वेदान्त के मुख्य २ चुने हुए २१ स्तोत्रों का संग्रह किया गया है और प्रत्येक स्तोत्र का अर्थ भी सरल भाषा में दिया गया है, जो थोड़े पढ़े हुए मुमुक्षुओं को भी नित्य पाठ और श्रवण में अति उपयोगी है। कई संन्यासियों ने भी इसे बहुत पसंद किया है। मूल्य प्रति पुस्तक ॥) सब पुस्तकों का डाक खर्च ग्राहकों को देना होगा।

व्यवस्थापक—वेदान्त केसरी, बेलनगंज—आगरा।

केसरी प्रेस, बेलनगंज आगरा में सूरजभान गुप्त द्वारा मुद्रित और प्रकाशित।

REGD. NO. A. 1821

ॐ

वेदान्त केसरी

मासिक पत्र

पुस्तक ६ } मार्गशीर्ष सं० १९८७ दिसम्बर १९३० { अंक ८

श्लोक—तावद्गर्जन्तिशास्त्राणि जम्बुका विपिनेयथा।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद्वेदान्त केसरी॥

अर्थ—जब तक महाबलवान सिंह गर्जना नहीं करता तब तक बन में श्याल खूब गर्जना करते हैं। इसी प्रकार जब तक वेदान्त सिद्धान्त की गर्जना नहीं होती तभी तक अन्य लौकिक शास्त्रों की गर्जना हुआ करती है।



सम्पादक—
ब्रह्मचारी विष्णु,
बेलनगंज-आगरा।

वार्षिक मूल्य ३) एक प्रति का मूल्य ।=)

विषयानुक्रमणिका ।

वेदान्त केसरी के नियम ।

(१) यह पत्र प्रत्येक अंग्रेजी महीने के आदि में निकलता है ।

(२) वेदान्त विषय का विवेचन करना इसका मुख्य प्रयोजन है ।

(३) वार्षिक मूल्य ३) अग्रिम लिया जाता है । विना मूल्य पत्र किसी को नहीं भेजा जाता है।

(४) एक अङ्क का मूल्य ।–) नमूने का अङ्क पांच आने के टिकट आने पर भेजा जाता है।

(५) जिन ग्राहकों के पास पत्र न पहुँचे उनको १५ तारीख तक सूचना देनी चाहिये ।

(६) एक वर्ष से कम के ग्राहक नहीं किये जाते । मध्य में ग्राहक होने वालों को चालू साल के आरम्भ से सब अङ्क लेने होंगे ।

(७) चिट्ठी लिखते समय प्रत्येक ग्राहक को अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखना चाहिये ।

ॐ

वेदान्त केसरी

पुस्तक ९ | मार्गशीर्ष सं० १६८७ दिसम्बर १६३० | अङ्क ८

अमृत वर्षा ।

हरिगीत छन्द ।

(१)

देखा बरफ भी वर्षता, जल वर्षता देखा घना ।
ओला तथा पाला कभी, रज वर्षता देखा सुना ॥
वर्षा भिगोती मलिन करती, हाथ पग ठिठरावती ।
देखी विलक्षण आज वर्षा, मोद मन उपजावती ॥

(२)

आकाश से बिनु मेघ ही क्या इन्द्र वर्षा कर रहा ।
क्या सिंधु से निकला सुधा, सो कुंभ में से झड़ रहा ॥
इच्छा हुई क्या इन्द्र को संतृप्त सबको कीजिये ।
तिहुँ ताप से जो तप रहे, शीतल उन्हें कर दीजिये ॥

(३)

बड़ भाग्य है नर लोक का, वर्षा अमृत की गिर रही ।
ब्रह्मादि को दुर्लभ्य जो, मर को अमर सा कर रही ॥
नर भाग्यशाली पी रहे हैं, स्नान भी हैं कर रहे ।
मन मैल हँस हँस धो रहे, भव सिंधु से हैं तर रहे ॥

(४)

अद्भुत अमृत पावन परम, पापी इसे नहिं पा सकें ।
भव रोग के रोगी महा, नहिं पास तक भी आसकें ॥
भव ज्वर चढ़ा जिन शठन पर, कड़वा अमृत लगता उन्हें ।
नहिं छींट तक भी ले सकें, पीना रुचे कैसे तिन्हें ॥

(५)

लेना कई चाहें अमृत, करने ग्रहण जब जांय हैं ।
नहिं पात्र रखते पास वे, रीते वहां से आय हैं ॥
है आश उनकी व्यर्थ ही, नहिं पास जिनके पात्र हीं ।
दुर्भाग्य पाकर रत्न आकर, भी सहे दुःख मात्र हीं ॥

(६)

आते कई हैं पात्र लेकर, पात्र में पर छेद है ।
भरते अमृत हैं पात्र में, जाता निकल सब, खेद है ॥
जाने कई नहिं अमृत को, माने अमृत दुर्गन्ध को ।
पीते उसे हैं प्रेम से, धिक्कार ऐसे अन्ध को ॥

(७)

हैं धन्य वे ही धीर नर, जो हैं अमृत पहिचानते ।
न्हाते उसीमें नित्य हीं, पीवें वही सुख मानते ॥
पीकर अमृत होते अमर, ब्रह्मांड में भर जावते ।
पी ज्ञान वर्षा अमृत सादर, विष्णु पदवी पावते ॥

(८)

वेदान्त चर्चा है अमृत, था गुप्त यह चिरकाल से ।
है अब लुटाया जारहा, बाजार में कुछ साल से ॥
जो भाग्यशाली पान करते, कृत्य कृत होजांय हैं ।
स्वाराज्य निश्चल पाय के, सुख नींद में सो जांय हैं ॥

मनन।

मनन करते २ एक भिक्षुक इस प्रकार बड़ बड़ाने लगा:—

अहाहाहा! द्वैत कहां चला गया? अब तो द्वैत का कहीं पता तक नहीं है। निशान तक नहीं है! धूल तक भी तो दिखाई नहीं देती, उड़ गई द्वैत की धूल! मिट गये सब शूल! शोक, मोह होगये निर्मूल! द्वैत का कहीं नहीं निशान है! एक अद्वितीय महादेव ही विराजमान है, नित्य है, पूर्ण है, समान है! न घटता है, न बढ़ता है, सदा एक रस है! अनेक विश्व उत्पन्न होते रहते हैं, स्थित भी रहते हैं और लय होजाते हैं, ब्रह्मांडों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय में सनातन देव सर्वदा एक समान ही रहता है! समान में क्रिया संभव नहीं है, फिर जीव क्या है और विश्वको कौन देखता है? वह ही निरंजन देव अपनी इच्छा से प्रयोजन विना ही आत्म भाव को छोड़कर जीव बन जाता है और जीव भावसे विश्वको देखता है! तब तो निरंजन देव बंधन में पड़ गया, फिर सम कहां रहा? नहीं! नहीं! बंधन में नहीं पड़ गया, वह तो ज्यों का त्यों ही है क्योंकि विश्व माया मय होने से मिथ्या है। जैसे रज्जु में दीखने वाला सर्प मिथ्या है। इसी प्रकार परब्रह्म में दीखने वाला विश्व मिथ्या है! तब जिनको विश्व दीखता है, वे तो बंधन में हैं ही! हां! यह बात तो ठीक हो है, इस बातके, तो ब्रह्मा भी झूंठो नहीं कर सके, जिसको विश्व दीख रहा है, वह अवश्य बंधन में है क्योंकि जहां दृष्ट है वहां बंध है और जहां दृष्ट नहीं है वहां बंधन भी नहीं है! जब जगत् की भ्रांति लीन होजाती है दृश्य का दोष शांत होजाता है और ज्ञान का उदय होता है तब जगत् की भ्रांति चली जाने पर और ज्ञान के उदय होने पर फिर बंधन कैसा? फिर बंधन नहीं है! अंधेरे में ही रज्जु सर्प बन जाती है उजाले में नहीं बन सक्ती! भ्रांति ही अनर्थ का कारण है; जहां भ्रांति नहीं है वहां अनर्थ नहीं होता भ्रांत हुआ मृग ही मरुजल पीने को दौड़ता है, भ्रांत हुआ ही लोभी पुरुष सीपी को चांदी समझकर उसे लपकने दौड़ता है! मरुजल को मिथ्या जानकर कोई उससे अपनी प्यास बुझाना नहीं चाहता और सीपी को सीपी जानकर फिर उसके कोई गहना गढ़ाना नहीं चाहता! इससे सिद्ध हुआ कि भ्रांति ही जन्म मरणादि अनेक अनर्थों का कारण है। फिर यह भ्रांति आ कहां से गई? यह तो बताइये! आ कहां से गई? क्या आप नहीं जानते? नहीं जानते हैं तो सुनिये—यह भ्रांति मन से उत्पन्न हुई है इसमें संशय नहीं है ये सर्व नाम रूप मन ने धारण कर रक्खे हैं यह सर्व विश्व मनोमय है मन के सिवाय अन्य कहीं भी विश्व नहीं है! मन में ही विश्व है, मन से ही विश्व है इसमें संशय नहीं है। तब क्या बाहर दृश्य नहीं है? बाहर हो या न हो इसका विवाद करना युक्त नहीं है जब दृश्य बाहर दीखता है तो यह कह नहीं सकते कि बाहर नहीं है परन्तु दृश्य रूप से सदा मन ही भासता है जहां मन होता है वहां ही दृश्य होता है, जहां मन नहीं होता वहां दृश्य भी नहीं होता; सुषुप्ति में जब मन दब जाता है तब विश्व दिखाई नहीं देता इससे सिद्ध हुआ कि विश्व दिखाई देना मन की करतूत है। मन ही दृश्य रूप होकर चांचल भासता है और मन रूप से किया हुआ दृश्य का दर्शन ही बंधन है। यदि मन दृश्य को न देखे तो बंधन नहीं है विचित्रता संपन्न यह विश्व बाहर देश में हो अथवा न हो परन्तु मन में आकर ही यह जगत् दृश्य बंधन का कारण होता है इसमें संशय नहीं है।

बड़े शोक की बात है कि दृष्टिकाल में द्रष्टा सदा अपने स्वरूप को छोड़ देता है यानी स्वस्वरूप को भूल जाता है इसलिये जगत् का दृश्य केवल नाश के लिये ही है यानी दृश्य का देखना द्रष्टा का मर जाना है। इसलिये वे ही सुकृति धन्य हैं जो सर्वदा अपने स्वरूप का ही अनुसंधान करते रहते हैं जगत् दृश्य को नहीं देखते जगत् दृश्य में भी अपने स्वरूप को ही देखते हैं अपने स्वरूप के सिवाय अन्य कुछ नहीं देखते। अपने स्वरूप के सिवाय अन्य कुछ न देखना यह ही मृत्यु के मुख से छूटने का उपाय है अन्य उपाय नहीं है। यह संपूर्ण दृश्य मन दिखलाता है मन के सिवाय दृश्य को दिखलाने वाला दूसरा नहीं है। जब मन क्षय होजाता है तब दृश्य फिर नहीं भासता उपाधियों के विलय होजाने पर केवल आत्मा ही शेष रहता है।

आत्मा कभी जन्मता नहीं है क्योंकि अजन्मा है। आत्मा कभी मरता नहीं है क्योंकि जो जन्मता है वह ही मरता है। आत्मा जन्मता नहीं है इस लिये मरता भी नहीं है। आत्मा में शोक नहीं, मोह नहीं, चिंता नहीं, भय नहीं, दुःख नहीं; ये सब मन के धर्म हैं। मन के क्षय होजाने से आत्मा इन सब अनर्थों से छूट जाता है, बंध से छूट जाता है तीनों प्रकार के ताप लय होजाते हैं और जीव परम अमृत रूप शाश्वती शांति को प्राप्त होता है स्वस्वरूप से स्थित होता है फिर उसे विश्व का कहीं नाम तक भी किंचित् नहीं भासता, एक परब्रह्म ही विश्व रूप से भासता है।

जैसे भ्रान्ति काल में रज्जु ही सर्प रूप से भासती है सर्प का नाम कहीं किंचित् भी वस्तुतः नहीं है सर्प नहीं है एक रज्जु ही विराजमान है इसी प्रकार जगत् नहीं है, एक परब्रह्म ही तो विराजमान है। जो सर्प दिखाई देता है, वह भी वस्तुतः रज्जु ही है इस में संशय नहीं है इसी प्रकार जो विश्व दिखायी देता है वह ब्रह्म ही है इसमें संशय नहीं है। मरु भूमि में मृग तृष्णा का जल कभी उत्पन्न नहीं होता किंतु भ्रम से सूर्य की किरणें जल रूप होकर भासती हैं इसी प्रकार मृग तृष्णा के जल के समान यह विश्व उत्पन्न न हुआ भी भासता है यह भ्रांति ही है भ्रांति मात्र विश्व है निश्चय यह मन की भ्रांति ही है कि न होता हुआ भी विश्व सच्चा होकर भासता है। मन में ही यह विश्व है, मन के सिवाय अन्य कहीं नहीं है मन ने ही यह न होता हुआ विश्व खड़ा कर दिया है मन न हो तो न विश्व है, न बंधन है, न शोक है, न मोह है, न भय है, मन का किया हुआ ही सब अनर्थ है मन मिट जाता है तो सब अनर्थ मिट जाते हैं। जो धीर पुरुष मन को मार देता है, वह ही माया के किले को जीत लेता है और स्वाराज्य निष्कंटक भोगता है। जिन मूढ़ पुरुषों का मन जी रहा है, वे कभी सनातन शांति नहीं पा सक्ते, अनेक योनियों में जन्मते रहेंगे, मरते रहेंगे और जन्म मरण के मध्य में अनेक प्रकार के कष्ट सहते रहेंगे। मन का मारना परम पुरुषार्थ है, मन का जीना ही बंधन है, मन ही अहंकार है, मन ही काम है, मन ही क्रोध है, मन ही लोभ है, मन में ही सर्व विकार हैं, विकारी मन में ही ब्रह्मांड उत्पन्न हो सकते हैं।

महा विष्णु निर्विकार हैं, नित्य हैं, असंग हैं, निरंतर हैं, ऐसे निर्विकार नित्य असङ्ग और निरंतर महा विष्णु में चराचर सहित ये ब्रह्मांड हो ही कैसे सकते हैं? किसी प्रकार भी नहीं हो सकते! निर्विकार महा विष्णु में विकार होना संभव ही नहीं

है, तब उनमें ये विकार कहां से उत्पन्न हों! जब सत्य, असङ्ग और निरञ्जन देव में विकार है ही नहीं तो विश्व कैसे उत्पन्न हों और किस लिये उत्पन्न हों? सदा शिव आप्तकाम है, सदा पूर्ण हैं निर्विकार हैं, परम अद्वय है, ऐसे आप्त काम, सदा पूर्ण और निर्विकार सदा शिव में से विश्व कैसे उत्पन्न हो सकता है? नहीं हो सकता इसलिये विश्व सत्य नहीं है, किंतु मिथ्या है। आनन्द स्वरूप आत्मा नित्य है, निराकार है, निर्विकार है, चिन्मात्र है, ऐसे नित्य, निराकार, निर्विकार, चिन्मात्र आनन्द स्वरूप आत्मा में से क्लिष्ट और आकार वाला जड़ विश्व कैसे उत्पन्न हो सकता है? नहीं हो सकता इसलिये विश्व आत्मा में वस्तुतः नहीं है किंतु आरोपित है, आत्मा के अज्ञान से दिखाई देता है और आत्मा के ज्ञान से लय हो जाता है।

जैसे रज्जु का अवलम्बन लेकर सर्प का रूप भासता है इसी प्रकार ब्रह्म का अवलम्बन लेकर विश्व का रूप भासता है। जैसे रज्जु के अवलम्बन बिना सर्प का भान नहीं हो सकता, इसी प्रकार ब्रह्म के अवलम्बन बिना विश्व का भान संभव नहीं है। जैसे रज्जु सत्य है, इसमें संदेह नहीं है और सर्प मिथ्या है, यह बात निश्चित है, इसी प्रकार ब्रह्म सत्य है, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है और जगत् मिथ्या है, इसमें भी किसी प्रकार का संदेह नहीं है। सच्ची वस्तु सर्वदा सच्ची ही रहती है और मिथ्या वस्तु तीनों काल में एक सी नहीं रहती। रज्जु तीनों काल में रज्जु ही है, सर्प मात्र भ्रांति काल में है। जैसे भ्रांति काल में भी रज्जु सर्प नहीं हो गयी है किंतु रज्जु ही है, इसी प्रकार भ्रांति काल में भी ब्रह्म विश्व नहीं है किंतु ब्रह्म ही है। जैसे काली पीली ऐनक लगाने से श्वेत वस्तुयें भी काली पीली दीखने लगती हैं, इसी प्रकार इस मन रूप ऐनक से देखने से ब्रह्म विश्व रूप दिखाई देता है, नहीं तो विश्व का कहीं पता ही नहीं है, केवल ब्रह्म ही है; जो विश्व रूप से दिखाई देता है वह केवल ब्रह्म ही है अन्य कुछ नहीं है। ब्रह्म नित्य है, शान्त है, निराकार है, चित्स्वभाव है और सदा अमल है। ऐसे नित्य, शान्त, निराकार, चित्स्वभाव और अमल ब्रह्ममें विश्व होना संभव नहीं है परन्तु ब्रह्म के अज्ञान से न होता हुआ भी विश्व ब्रह्म में दिखाई देता है, यह महामाया का प्रभाव है। महामाया का पुत्र मन है, यह मन ही जब तक जीता रहता है, अनेक स्वांग किया करता है, और जब मर जाता है, सब खेल बिगड़ जाते हैं, पुरानी कहावत है, "मनुआ मर गया, खेल बिगड़ गया!" जैसे बालक मट्टी के घर और खिलोने बना लेते हैं और उनसे खेलते रहते हैं, पीछे उनको तोड़ फोड़ डालते हैं, इसी प्रकार मन अनेक प्रकार के शरीर धारण करता रहता है; जन्मता, मरता, हंसता, रोता रहता है और अन्त में सबसे विरक्त होकर मुक्त हो जाता है।

यह सब जगत् ब्रह्म में दीखता है, इसलिये सर्व जगत् निश्चय ब्रह्म ही है और ब्रह्म ही संपूर्ण जगत् है, ब्रह्म ही मैं हूँ, मैं ही ब्रह्म हूँ। ब्रह्म स्वप्रकाश है, सनातन है, मैं भी स्वप्रकाश सनातन ब्रह्म ही हूँ, इसमें संशय नहीं है, मैं देह नहीं हूं, न मैं इन्द्रियां हूँ किंतु देहेन्द्रियों से रहित उन सब का प्रकाशक परं ज्योति ब्रह्म मैं हूँ! न मैं मन हूँ, न मैं बुद्धि हूँ, किंतु मन बुद्धि से हीन, उनका अवभासक परं ज्योति ब्रह्म मैं हूँ! न मुझमें जाग्रत है, न मुझमें स्वप्न है और न मुझमें सुषुप्ति है, जाग्रत स्थूल देह का धर्म है, स्वप्न सूक्ष्म देह का धर्म है और

सुषुप्ति कारण देह का धर्म है, मैं स्थूल, सूक्ष्म अथवा कारण देह नहीं हूं किंतु तीनों देहों का साक्षी, तीनों देहों से भिन्न परं ज्योति ब्रह्म मैं हूं! न मुझ में शोक है, न मुझ में मोह है, शोक, मोह अन्तःकरण के धर्म हैं, मैं अन्तःकरण नहीं हूँ किंतु अन्तःकरण से वर्जित अन्तःकरण को प्रकाश देने वाला परं ज्योति ब्रह्म मैं हूँ! न मुझमें भूख है, न मुझमें प्यास है, भूख प्यास प्राण के धर्म हैं, प्राण पांच वृत्ति वाला है, प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, ये पांच प्राण की वृत्तियां हैं, मैं प्राण नहीं हूं, न प्राण की वृत्तियां हूँ किंतु प्राण और प्राण की वृत्तियों का चलाने वाला परं ज्योति ब्रह्म मैं हूँ! न मुझ में जन्म है, न मुझमें मरण है न मुझमें आधि व्याधि है, जन्म, मरण, आधि व्याधि देह के धर्म हैं, मैं जन्म, मरण, आधि व्याधि से रहित शुद्ध, निरामय परं ज्योति ब्रह्म हूँ! मैं आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी पंच स्थूल भूत नहीं हूँ, न मैं आकाशादि पंच सूक्ष्म भूत हूँ किन्तु पंच स्थूल सूक्ष्म भूतों से भिन्न उन सबका साधक परं ज्योति ब्रह्म मैं हूँ! स्थूल, सूक्ष्म, कारण, देश, काल, वस्तु, नाम, रूप, क्रिया, कोई उपाधि मुझमें नहीं है। सर्व उपाधियों का अधिष्ठान परं ज्योति ब्रह्म मैं हूँ। प्रत्यक्ष, अनुमान, शाब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि ये छः प्रमाण हैं। इन छः प्रमाणों से ब्रह्मांड का ज्ञान होता है, मैं अप्रमेय हूं, किसी प्रमाण से मैं जाना नहीं जाता, इसलिये मैं प्रत्यक्षादि प्रमाण नहीं हूँ किंतु प्रत्यक्षादि प्रमाणों से रहित सब प्रमाणों का सिद्ध करने वाला स्वयं सिद्ध अप्रमेय परं ज्योति ब्रह्म मैं हूँ! न मैं विकल्प स्वरूप हूँ, न मैं विपर्यय हूँ, न निद्रा हूँ, न स्मृति हूं किंतु विकल्पादि से रहित सबका साक्षी स्वप्रकाश परं ज्योति ब्रह्म मैं हूँ! ब्रह्म निष्कल है, निर्गुण है, शान्त है, सत्य है, एक है, चिदाकाश है, मैं भी कलाओं से रहित हूँ गुणों से वर्जित हूँ त्रिकालाबाधित हूँ, अद्वितीय हूँ, चिदम्बर हूँ!

अरे! यह द्वैत कहां भाग गया? इतना बड़ा प्रपंच कहां छुप गया? अनादि काल का जगत् कहां लय हो गया? जो कुछ जगत् में दीखता है, कुछ भी सत्य नहीं है! दृश्य रूप द्रष्टा रूप सब गदहे के सींग हैं! भूमि, जल, तेज, वायु, आकाश मन, बुद्धि, अहंकार, सूर्य, चन्द्र, भुवन मंडल सब मरु भूमि के जल हैं! जन्म, मरण, सत्य, पुण्य, पाप, जय, अजय, राग, काम, क्रोध, लोभ, ध्यान, ध्येय, ये सब बंध्या के पुत्र हैं! गुरु, शिष्य, उपदेश, उपदेशक, आदि, अन्त, शम, शुभ, अशुभ, भूत, भव्य, वर्तमान सर्व ही नर विषाण हैं! भोक्ता भोग्य, कर्ता कर्म, यमादि अष्टांग योग, जाना आना, ग्राह्य त्याज्य, हरि, शिव ये सब अद्वय स्वरूप ही हैं, जहां दूसरा होता है, वहां द्वैत के समान दीखता है, जहां दूसरा है ही नहीं, वहां कौन किसको देखे, किससे देखे? न इन्द्रिय हैं, न मन है, न तीनों अवस्थायें हैं, न चौबीस तत्त्व हैं, न साधन चतुष्टय हैं, न सजातीय है, न विजातीय है, न भू है, न भुवः है, न स्वः है। न महः है, न जनः है, न तप है, न सत्य है वर्णाश्रमों के आचार, मंत्र तंत्रादि संग्रह विद्या, अविद्या, जड़, अजड़, बंध मोक्ष विभाग ज्ञान विज्ञान, बोध अबोध स्वरूप, द्वैताद्वैतादि का भाषण कुछ भी नहीं है!

जो कुछ चित्तसे ध्यान किया जाता है, जो कुछ मन से संकल्प किया जाता है, जो कुछ बुद्धि से निश्चय किया जाता है, जो २ गुरु से सुना जाता है, जो कुछ वाणी कथन करती है, जो २ मीमांसा कीजाती है, जो कुछ वेदवेत्ताओंने निर्णय किया है,

शिव लोकों का संहार करते हैं, विष्णु तीनों लोकों को पालते हैं, ब्रह्मा जगत् को उत्पन्न करते हैं, इन में से कुछ भी सत्य नहीं है, तत्त्व में इनका कहीं पता नहीं लगता, एक अद्वितीय ही अपनी महिमा में विराजमान है, सर्व द्वैत सीपी की चांदी है अथवा रज्जु का सर्प है, अथवा मरु भूमि का जल है अथवा शशे के सींग हैं, अथवा वंध्या के पुत्र हैं परमार्थ से एक के सिवाय कुछ नहीं है! भ्रम से जगत् भासता है, भ्रम निकल जाय तो कुछ भी नहीं है!

'मैं देह हूँ' इस संकल्प का नाम अन्तःकरण है, 'मैं देह हूँ' यह संकल्प बंधन कहलाता है, 'मैं देह हूँ' यह संकल्प दुःख का कारण है, 'मैं देह हूँ' इस संकल्प का नाम नरक है, 'मैं देह हूँ' यह संकल्प ही जगत् कहलाता है, 'मैं देह हूँ' यह संकल्प ही हृदय की ग्रन्थि है! 'मैं देह हूँ' यह जो ज्ञान है यह ही अज्ञान है, 'मैं देह हूँ' यह जो भान है वह ही असद्भाव है 'मैं देह हूँ' यह जो बुद्धि है वह ही अविद्या कहलाती है 'मैं देह हूँ' ऐसा जो अभिमान है वह ही द्वैत कहलाता हैं 'मैं देह हूँ' ऐसी प्रतीति ही जीव बनाती है 'मैं देह हूँ' यह ज्ञान ही अपरिच्छिन्न को परिच्छिन्न कर देता है ! 'मैं देह हूँ' ऐसा संकल्प करना महा पाप है 'मैं देह हूँ' इस संकल्प से ही आशा तृष्णा काम क्रोध लोभ बंधन सर्व दोष और विश्व जाल उत्पन्न होता है।

सर्व विश्व संकल्प का जाल है, मन ही सर्व जगत् है, मन ही महा रिपु है मन ही संसार है मन ही महा दुःख है मन ही जन्म है मन ही जरा है मन ही मरण है मन ही मल है मन ही संकल्प है मनही जीव है मनही चित्त है मनही अहंकार है मन हो महान् बंधन है! मन ही ब्रह्मा है मनही विष्णु है मन ही रुद्र है मन ही भूमि है मनही जल है मन ही तेज है, मन ही मरुत है और मन ही आकाश है। मन ही शब्द है मन ही स्पर्श है मन ही रूप है मन ही रस है और मन ही गंध है मन ही पंच कोश है मन ही जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति है। दिग्पाल वसु रुद्र आदित्य सब मनोमय हैं। दृश्य जड़ द्वन्द्व अज्ञान ये सब मन ही हैं।

मन संकल्प रूप है संकल्प से जो कुछ बनता है निश्चय सब मिथ्या ही होता है। तब संकल्प का बना हुआ सब मिथ्या ही है। परब्रह्म में संकल्प संभव नहीं है अपने स्वरूप के अज्ञान से परब्रह्म में संकल्प उठता है और अपने स्वरूप के ज्ञान से संकल्प उत्पन्न नहीं होता। स्वरूप के जानने से संकल्प का पसारा हुआ सर्व प्रपंच बिला जाता है। मन के उदय होने से बंधन है, मन के क्षय होने से मोक्ष स्वयंसिद्ध है स्वयंसिद्ध मोक्ष को मन ने ही ढांक रक्खा है। सच कहा है—

कुं०—मन का जीना बंध है मनका मरना मोक्ष।
जो नर मन को मार दे सो पावे निर्मोक्ष ॥
सो पावे निर्मोक्ष गर्भ में लौट न आवे।
अजर अमर होजाय विष्णु पद अक्षय पावे ॥
भोला! तज अभिमान देहका जनका धनका।
मन रिपु को दे मार संग अब मत कर मनका ॥

—सकल चराचरानुचर भोला।

मुक्ति ।

मुमुक्षु—हे भगवन्! मुक्ति कितने प्रकार की हैं, मुक्ति का स्वरूप क्या है, मुक्त के साधन क्या है और मुक्ति का फल क्या है?

संत—मुक्ति के सम्बन्ध में शास्त्रकारों का विवाद है उसी को संक्षेप से दिखाता हूं। अग्नि होत्रादिक कर्मों से स्वर्ग के सुख की प्राप्ति होती है यह ही मुक्ति है यह मीमांसकों का मत है। सत्त्व, रज, तम इन तीन गुण रूप नित्य, एक और परिणामी प्रधान नामा जड़ प्रकृति है। कार्य कारण भाव से रहित, नित्य, कूटस्थ अकर्ता चेतन पुरुष है इस प्रकृति पुरुष के विवेक से जिस पुरुष का अनादि अविवेक निवृत्त होजाता है उस पुरुष के भोग के लिये प्रकृति की प्रवृत्ति नहीं होती। पश्चात् त्रिविध दुःखों के अत्यन्त निरोधपूर्वक उस पुरुष का जो वास्तव अकर्ता, उदासीन, कूटस्थरूप से अवस्थान है वह ही मुक्ति है यह सांख्य शास्त्र वालों का मत है। योग शास्त्र वाले पातंजलि का यह मत है कि अविद्या, अस्मिता, राग द्वेष, अभिनिवेश ये पांच क्लेश और जाति, आयु, भोग जितना परतंत्रतारूप बंधन है अष्टांग योग से उस बंध की निवृत्ति हो जाती है और स्वतन्त्रता की प्राप्ति होजाती है यह ही मुक्ति है। पाशुपत मत वाले ऐसा कहते है कि पाशुपत शास्त्र में कहे हुए पशुपति के पूजन, अर्चन आदिक धर्मों के अनुष्ठान से इस जीव रूप पशु के बंधन की निवृत्ति होती है और जीव पशुपति के समीप जाता है और वहां से लौटता नहीं है यह ही मुक्ति है। वैष्णव ऐसा मानते हैं कि विष्णु के प्रतिपादक पंच रात्रादिक शास्त्रों में कथन किये हुये विष्णु भक्तों के धर्मों के अनुष्ठान से विष्णु का प्रसाद उत्पन्न होता है उस विष्णु के प्रसाद से जीव का विष्णु लोक में पुनरावृत्ति रहित गमन होता है यह ही मुक्ति है। हैरण्यगर्भ ऐसा मानते हैं कि पंचाग्नि विद्यादिक उपासनाओं से अर्चिरादि मार्ग द्वारा जीव को पुनरावृत्ति रहित ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है यह ही मुक्ति है। रामानुज मत वालों का यह मानना है कि श्रीवासुदेव के सर्व जगत् कर्तृत्व धर्म को छोड़कर भगवान् के सर्वज्ञत्वादि अन्य कल्याण गुणों की प्राप्तिपूर्वक जीव को भगवान् के यथार्थ स्वरूप का जो अनुभव है वह ही मुक्ति है। मध्व मत वाले ऐसा मानते है कि जगत् कर्तृत्व, लक्ष्मी, श्रीवत्स इन तीनों को छोड़कर दूसरे निरतिशय विष्णु भगवान् के आनन्दादिक धर्मोंके समान धर्मों की जो जीव को प्राप्ति है वह ही मुक्ति है और यह मुक्ति सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य भेद से चार प्रकार की है। वल्लभ मतवालों का यह मत है कि गोलोक में दो भुजा वाले कृष्ण भगवान् के साथ उनके अंशरूप जीवों को जो रास लीला का अनुभव है वह ही मुक्ति है। व्याकरण शास्त्र वाले ऐसा मानते हैं कि परा, पश्यंती, मध्यमा, वैखरी इन चार प्रकार की वाणियों में से प्रथम की परा वाणी ब्रह्मरूप है ब्रह्मरूप परा वाणी का जो दर्शन है वह ही मुक्ति है। रसेश्वर वादी ऐसा मानते हैं कि पारद रस के पान से जरा मरणादिकों से रहित इस देह की स्थिरता होती है यह ही मुक्ति है, पारद नाम पारे का है। शून्यवाद माध्यमिक ऐसा मानता है कि सर्व जगत् शून्य है भ्रांति से सत् प्रतीत होता है वस्तुतः कोई भी वस्तु सत् नहीं है इस प्रकार की शून्य भावना के परिपाक से शून्यरूप आत्मा का तत्त्व ज्ञान होता है इस तत्त्व

ज्ञान से जो शून्य भाव की प्राप्ति है वही मुक्ति है। देहात्मवादी चार्वाकका मत हैकि विधि निषेधसे रहित जो स्वतंत्रता है, वह ही मुक्ति है अथवा इस शरीर का मरण ही मुक्ति है। विज्ञान वादी योगाचार ऐसा मानता है कि 'इदं' 'इदं' इस प्रकार का ज्ञान प्रवृत्ति विज्ञान है और 'अहं' 'अहं' इस प्रकार का ज्ञान आलय विज्ञान है। आलय विज्ञान के सिवाय सब पदार्थ तुच्छ हैं। प्रवृत्ति विज्ञान के उच्छेद होने पर केवल आलय विज्ञान की जो धारा है, वह ही मुक्ति है, अर्हंत मत वाले ऐसा मानते हैं कि जैसे पिंजरे में बन्द पक्षी पिंजरे के टूट जाने पर स्वतंत्र होकर आकाश में गमन करता है, इसी प्रकार अर्हंत शास्त्रोक्त तप से और आत्म एकाकार समाधि से, अष्ट विध कर्म रूप बंध के नष्ट होने पर सुखैक रूप तथा निरावरण ज्ञान रूप आत्मा का स्वतंत्र होकर निरंतर ऊर्ध्व गमन अथवा अलौकिक आकाश में गमन ही मुक्ति है। नैयायिक दुःख की अत्यन्त निवृत्ति को मुक्ति मानते हैं। ये सब प्रकार की मुक्तियां सापेक्षिक हैं, वेद वेत्ता तो जीव ब्रह्म के अभेद ज्ञान से दुःख की अत्यन्त निवृत्ति और स्वरूपावस्थिति रूप परमानन्द की प्राप्ति को मुक्ति मानते हैं, यह ही वास्तविक मोक्ष है और एक प्रकार का है।

मुक्ति का उपाय:—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्ण हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों का धर्म अध्ययन, यजन और दान है। ब्राह्मण की जीविका अध्यापन यानी पढ़ाना, याजन यानी यज्ञ कराना और सत् प्रतिग्रह यानी दान लेना है। क्षत्रिय की जीविका प्रजा रक्षण आदि है। वैश्य की जीविका कृषि, गो रक्षा, वाणिज्य और कुसीद यानी ब्याज है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की शुश्रूषा यानी सेवा शूद्र का धर्म है और यह ही शूद्र की जीविका है। ब्रह्मचारी, गृही, वानप्रस्थ और भिक्षु चार आश्रम हैं। उपनयन के पश्चात् नियम पूर्वक गुरु के समीप रह कर अङ्गों सहित वेदों का अध्ययन करना ब्रह्मचारी का धर्म है। समावर्तन के पीछे घर पर आकर पाणिग्रहण करके स्त्री सहित श्रद्धा पूर्वक पांच महा यज्ञ करना, देवता, अतिथि का पूजन करना, यथा शक्ति यथा विधि यज्ञ दानादि करना और वेद कर्म में रत रहना गृहस्थ का धर्म है, पुत्र को भार्या सौंप कर अथवा साथ लेकर वन में जाकर जितेन्द्रिय होकर तप करना वानप्रस्थ का धर्म है। गृहादिक को छोड़ कर मुंडित होकर गैरिक कौपीन आच्छादन दंड, कमंडलु धारण करके निर्जन स्थान में रहकर भिक्षा वृत्ति करना और केवल ईश्वराराधन करना भिक्षु का धर्म है। ईश्वराराधन सब वर्ण और आश्रमों का साधारण धर्म है। अपने अपने वर्णाश्रम के धर्म के पालन करने का नाम कर्म है। दान, सत्य, तप, अलोभ, विद्या, इज्या, पूजन और दम, इन आठ का नाम शिष्टाचार है। अपने २ वर्णाश्रम का कर्म निष्काम होकर करने से और शिष्टाचार का पालन करने से राग द्वेष क्षय हो जाते हैं और अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। अन्तःकरण शुद्ध हो जाने पर मन रूपी आकाश में स्वयं ही ज्ञान रूपी सूर्य उदय होता है। ज्ञान रूपी सूर्य के उदय होने पर द्वैत रूप महा अंधकार नष्ट हो जाता है और मन की भ्रांति जाती रहती है। ऐसा होने पर चित्त रूपी प्रसन्न सरोवर में 'मैं ब्रह्म हूं' 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार की मनोहर तरंगे निरन्तर क्रीड़ा करने लगती हैं और भाग्यवान् अधिकारी शोक, मोह और भय से रहित होकर निश्चल बुद्धि वाला हो

जाता है। तब उस श्रद्धावान् अधिकारी के चित्त में से सर्व संशय निर्मूल होजाते हैं और विचार, युक्ति-जाल सब ही निष्प्रयोजन होजाते हैं यानी फिर उसको युक्ति पूर्वक मनन करने की अपेक्षा नहीं रहती ऐसा गत संशय अधिकारी श्रीगुरु के कमल मुख से परम तत्त्व को सुनते ही श्रद्धा और प्रीति से विश्वास कर लेता है और धारण कर लेता है। पश्चात् वह गुरु आज्ञा का पालन करने वाला शिष्य निर्जन स्थान में गुणातीत ब्रह्म का ध्यान करता हुआ मायातीत, सर्वाधार, निराधार स्वयं शिव ही होजाता है। यह उत्तम अधिकारी का वृत्तांत है।

जो शिष्य पूर्ण श्रद्धा वाला नहीं होता किंतु अल्प श्रद्धा वाला होता है और मन में संशय वाला होता है, वह परम तत्त्व को श्रवण करके तुरंत ही मूढ़ता को नहीं त्याग सक्ता किंतु तत्त्व को सुनकर वारम्वार चिंतन और विचार करके परम उद्यमी होकर प्रयत्न पूर्वक धीरे २ मूढ़ता को त्यागता है और संशयों को छेदन करता है। ऐसा मध्यम अधि-कारी दृढ़ अभ्यास के योग से ध्यान और चिंतवन करता हुआ कुछ कालमें मोक्षदायक परम ज्ञानको प्राप्त होता है।

ब्रह्मवेत्ता विद्वानों का कथन है और वेद भग-वान् का भी आदेश है कि जब तक सर्व संशय निर्मूल न होजांय और अद्वैत तत्त्व में दृढ़ स्थिति न होजाय तब तक परम तत्त्व का उत्साह पूर्वक निरं-तर विचार ही करता रहे, विचार का त्याग न करे। श्रेयाभिलाषी वेद प्रतिकूल तर्कों को अशेष यानी बिल्कुल त्याग देवें और सत्य के निर्णय करने के लिये ही नित्य विचार किया करें। आचार्यों का कथन है कि नीति, धर्म तथा सदाचार के पालन करने से और वेद ग्रन्थ तथा आचार्य की सेवा करने से अधिकारी विचार करने के योग्य होजाता है, योद्धा, मेधावी होकर तत्त्व के धारण करने को समर्थ हो जाता है, इसलिये अधिकारी को चाहिये कि प्रथम वाक्य को जानकर, फिर यत्न पूर्वक विचारने योग्य वाक्य के अर्थ को निश्चय करके विचार करे कि अब इस अर्थ में कोई संशय होसक्ता है या नहीं ? इस प्रकार पूर्व पक्ष का विचार करके फिर उसका उत्तर पक्ष से खंडन करे और सत्य अर्थ का निर्णय करके उसी सत्य अर्थ में सर्वदा निष्ठा वाला होवे। सिद्धांत विरुद्ध कोटिका नाम पूर्व पक्ष है और सिद्धांत के अनुकूल तर्कों का कथन उत्तर पक्ष है। वेदान्त शास्त्र रूपी सागर में बहुत प्रकार की युक्तियां हैं, जो युक्तियां अपने अभिमत हों, उनको ही मुमुक्षु ग्रहण करे, अन्य युक्तियों से प्रयोजन न रक्खे। जब तक ध्यान का सामर्थ्य छेद रहित यानी स्वाभाविक न होजाय तब तक श्रवण, मनन और निदिध्यासन तीनों निरंतर करते रहना चाहिये।

श्रवण—समस्त वेदान्त वाक्यों का अद्वितीय वस्तु के प्रतिपादन करने में ही तात्पर्य है इस बात को छः प्रकार के लिंगों से अवधारण करना यानी निश्चय करना, इसका नाम श्रवण है। (१) उपक्रम, उपसंहार, (२) अभ्यास, (३) अपूर्वता, (४) फल, (५) अर्थवाद और (६) उपपत्ति, आख्यान यानी दृष्टांत ये छः लिंग हैं। जो बात आदिमें कही हो, वहही बात अन्तमें भी कहना, इसका नाम उपक्रमो-पसंहार है। प्रकृत विषय को बारंबार कहना, इसका नाम अभ्यास है। श्रुति प्रमाण के सिवाय अन्य प्रमाण से जो बात सिद्ध न हो, इसका नाम अपूर्वता है। प्रयोजन का नाम फल है। प्रकृत विषय के सिद्ध

करने के लिये अन्य विषय की तुच्छता बताना, इसका नाम अर्थवाद है। युक्ति और दृष्टांत का नाम उपपत्ति है।

मनन—श्रवण की हुई अद्वितीय वस्तु का वेदांत अर्थ के अनुसारी युक्तियों से निरंतर अनुचिंतन करना, इसका नाम मनन है।

निदिध्यासन—श्रवण और मनन किये हुये ज्ञान की एकतानता सिद्ध करने के लिये निरंतर चिंतन करना, इसका नाम निदिध्यासन है। वेदवेत्ताओं का कथन है कि गुरु मुखसे श्रवण किये हुये अर्थ का जो निरंतर विचार है, वह निदिध्यासन कहलाता है और यह निदिध्यासन चित्त की एकाग्रता से सिद्ध होता है। और भी कहा है कि अनात्म में चित्त की अरुचि और आत्म में चित्त की रुचि पुण्य पुंज से प्राप्त होती है और एकाग्र चित्त में ही होती है। वेदान्त सार में कहा है कि देहादि विजातीय प्रत्यय से रहित अद्वितीय वस्तु में सजातीय प्रत्यय का जो प्रवाह है, उसका नाम निदिध्यासन है।

जब तक मुक्ति न प्राप्त हो, तब तक निरंतर निदिध्यासन करना चाहिये, निदिध्यासन मोक्ष का देने वाला है, मुमुक्षु को निदिध्यासन का ही आश्रय लेना चाहिये क्योंकि विद्वानों का कथन है कि जब तक तत्त्व का साक्षात्कार न हो, तब तक नियम पूर्वक तप करे। तप करने वाला तत्त्व का मनन करता है। परिवार आदिका त्याग करता है और योग के अंगों का स्वीकार करता है, इसलिये तप करने वाले को वेदवेत्ता तपस्वी कहते हैं। वाद विवाद करने का नाम परिवाद है। आदि शब्द से जल्प वितंडा आदिका ग्रहण करना चाहिये। योगी तप के बलसे सब कुछ होसक्ता है और हो भी जाता है, इसमें संदेह नहीं है। अन्य लौकिक सिद्धियों की तो बात ही क्या है, योगी ज्ञानके योग से पर से पर परब्रह्म ही होजाता है। इसलिये श्रेयाभिलाषी को चाहिये कि धैर्य और उद्यम से युक्त होकर, आलस्य को त्यागकर, प्रपंच से पराङ्मुख होकर फल के उदय होने तक ज्ञान योग का प्रेम पूर्वक निरंतर अभ्यास करे।

शिव सर्व प्रपंच से शून्य है, सम रस है अद्वितीय है सबका आत्मा है, आत्म स्वरूप शिव के पूर्ण ज्ञान से मुक्ति होती है अन्य प्रकार से नहीं होती। जगत् सत्य नहीं है यदि जगत् सत्य हो, तो उसका लय होना संभव नहीं है, जगत् लय होजाता है, इसलिये सत्य नहीं है। जगत् का भेद भी सत्य नहीं है, यदि जगत् का भेद सत्य हो, तो मोक्ष होना संभव न हो। मोक्ष का सत्यात्मक सनातन वेद में वर्णन है और सम्यग्ज्ञान से मुनियों ने मोक्ष प्राप्त किया है, इसलिये यह विश्व भ्रांतिमय है, सम्यग्ज्ञान से अशेष नष्ट होजाता है। परम शंभु द्वन्द्व की गन्ध से रहित है, उसमें यह विश्व अध्यस्त है, अध्यस्त आरोपित को कहते हैं।

इन्द्रियों से बुद्धि पर है, बुद्धि निर्मल है और अनेक युक्तियों से युक्त है। बुद्धि से पर महान् अजन्मा ज्ञान है, यह ज्ञान पूर्ण है, सत्य है और समाधि से उत्पन्न होता है। अथवा यों कहना चाहिये कि समाधि से पूर्ण, सत्य, ज्ञानका आविर्भाव होता है क्योंकि ज्ञान नित्य है। नेत्रों से दीखता हुआ भी यह विश्व मिथ्या ही है। तत्त्वदर्शी मुनियों का कथन है कि जैसे मरु भूमिमें जल दीखता हुआ भी वस्तुतः नहीं है, इसी प्रकार दीखता हुआ भी

विश्व परमार्थ से नहीं है। जैसे सीपी में दीखती हुई चांदी वस्तुतः नहीं है, इसी प्रकार दीखता हुआ भी प्रपंच परमार्थ दृष्टि से नहीं है। अद्वितीय शिव बुद्धि से अतीत है, परम सूक्ष्म है और मन वाणी का अविषय है, ऐसे अद्वितीय शिवको कोई प्रत्यक्षादि प्रमाणों से कैसे जान सक्ता है? नहीं जान सक्ता। स्वप्रकाश, चिदानन्द शिव जिसके चित्तमें प्रकाशता है, वह ही अधिकारी सत्य तत्त्व को जानता है, अन्य कोई नहीं जानता।

शुद्ध अद्वैत महा विष्णु में जगत् का भेद यानी भिन्नता नहीं है, इस बातको तत्त्वदर्शी मुनि ही जानते हैं, इनके सिवाय दूसरा कोई नहीं जानता। माया के फैलाये हुये इस विश्वको भ्रांत मन वाले ही देखते हैं, जब मनकी भ्रांति चली जाती है, तब जगत् मिथ्या होजाता है, इसमें संशय नहीं है। श्रेष्ठ मुनि अपने अनुभव से शास्त्र के अर्थ को जैसा है वैसा जानते हैं, शास्त्रका अर्थ निर्णय करने के लिये तत्त्वदर्शी मुनियों का वाक्य ही प्रमाण है, अन्य प्रमाण नहीं है।

स्थूलदर्शी, जड़ अज्ञानियों के बोध कराने के लिये शास्त्रों में सृष्टि का अनेक प्रकार से वर्णन है, परमार्थ से सृष्टि सत्य नहीं है। यदि सृष्टि सत्य होती तो उसका एक प्रकार से ही वर्णन होता, अनेक प्रकार से न होता। बहुत लोगों के बोध कराने के लिये सृष्टि का बहुत प्रकार से वर्णन है, इसलिये बहुत प्रकार से वर्णन करना सार्थक है। जगत् दृश्य वस्तुतः तो है नहीं, एक परम देव ही सत्य है और वह परम देव अपने हृदय में ही विराजमान है अथवा सर्वत्र विराजमान होते हुये भी हृदय से जानने में आता है, इसलिये ऐसा कहा जाता है कि हृदय में विराजमान है।

उस महादेव के जानने से अधिकारी जन्म मरण रूप संसार से मुक्त होजाता है, मुक्ति के लिये और सुखके लिये कोई दूसरा मार्ग नहीं है। मनके निरोध करने मात्र से दृश्य दोष नष्ट नहीं होता क्योंकि निरोध के अन्तमें दृश्य फिर भासने लगता है इसलिये मनका निरोध मोक्षका कारण नहीं है। 'ब्रह्म ही केवल सत्य है, जगत् निश्चय मिथ्या है, ब्रह्म ही मैं हूं, मैं ही ब्रह्म हूं' यह ज्ञान ही मोक्ष का देने वाला है, निर्मल अन्तःकरण वाले को ध्यान से ज्ञान और वैराग्य उत्पन्न होता है, इसलिये शुद्ध और निर्मल मनकी नित्य अपेक्षा है। अधिकारी पुरुष मनको निर्विषय करके परम अव्यय, देव, परिपूर्ण, महा शंभु का अभेद रूप से निरंतर ध्यान करे। अव्यय देव ऊर्ध्व पूर्ण है, नीचे पूर्ण है, मध्य पूर्ण है, सदात्मक है, सुसूक्ष्म है, पुरुष है, ब्रह्म है, विष्णु है, सर्वगत है, विभु है, अज है, सत्य है, ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है, सनातन है, निराकार है, निराधार है, निरालम्ब है, निराश्रय है, अविभक्त है, अखंड है, निष्कल है, निरंशक है, एकरूप है, सदा शान्त है, निर्भेद है, सुस्थिर है, सम है, धूम रहित अग्नि के समान सर्व तेजोमय है, परम है, प्रकाश रूप है, पूर्ण है, चैतन्य है, स्वप्रभारूप है, चिदात्मक है, आनन्द रूप है, परमानन्द रूप है, पूर्णानन्द रूप है, महाशिव है, भूमानन्द है, सदानन्द है, परानन्द है और परात्पर है। ऐसे महादेव का ध्यान करने से सत्य ब्रह्म, पर और अपर दिखाई देता है, संसार लय होजाता है, सर्व प्रकार के कर्म क्षय होजाते हैं और सर्व प्रकार के बंधन टूट जाते हैं, सर्वत्र उनका राज्य होजाता है, चाहे जहां स्वच्छन्द होकर विचरते हैं, उनका कोई अधिपति नहीं होता, सर्वके वे ही अधिपति होजाते हैं। इत्यतिशोभनम्।

—सकल चराचरानुचर भोला।

ब्रह्म ही सर्वत्र पूजनीय है।

एक जिज्ञासु, श्रोत्रिय ब्रह्म निष्ठ की शरण को प्राप्त हो इस प्रकार प्रार्थना करने लगा। हे भगवन् मैं अज्ञ हूँ, मेरा समय अब तक व्यर्थ ही नष्ट हुआ; मेरी अब तक सम्पूर्ण चेष्टाएं निष्फल हुई। क्योंकि मुझको प्रथम तो अब तक ब्रह्मनिष्ठ महात्माओं का सतसङ्ग ही नहीं प्राप्त हुआ और जो कोई मिला भी वह राग द्वेष रूपी दावानल से व्याप्त ही मिला। वही अग्नि मेरे भी अन्तःकरण में भड़कती रही। मैंने व्याकरण, काव्य, गुरु मुख से पढ़ा परन्तु वेद वेदांग धर्म शास्त्र स्वयं विचारे, इसीसे स्यात् शांति नहीं हुई होगी। हे भगवन् अभी तक अविद्या रूपी तृषा निवृत्त नहीं हुई, इसीके मारे मैं भटकता फिरता हूँ। हे दीनबन्धु मैं यथार्थ कहता हूँ मैं सच्चा जिज्ञासु हूँ। अब आपकी शरण ली है जो आप उचित समझें वह कीजिये। इस प्रकार कथन कर चरणों में पड़कर बोला त्राहि मां! त्राहि मां!! त्राहि मां!!!

संतः—उठो नारायण, उठो चैतन्य घबराते क्यों हो, आपतो योग्य पुरुष हो यदि आप जैसे साक्षर ही ऐसे पद का निर्णय नहीं करेंगे तो कौन करेगा? उठो नारायण उठो जो कुछ आप को शङ्का हो वह पूछो मैं यथायोग्य उत्तर दूंगा।

जिज्ञासुः—भगवन् व्यवहारी बातों में तो मुझे कुछ प्रष्टव्य है नहीं क्योंकि जो कुछ समय अब तक मैंने नष्ट किया और लोगों को वाग जाल में डाला उसीका मुझे बहुत पश्चात्ताप है। अब तो केवल अपना ही निर्णय करने का विचार है, वह आपकी कृपा विना नहीं होगा। यथार्थ हित वक्ता गुरु के विचार से ही ब्रह्म का निश्चय होता देखा गया है। वह न स्नान से, न दान से, न प्राणायाम से निर्णय होता है, इसी कारण हे कृपालु गुरु मैंने आपकी शरण ली है। हे भगवन्, जीवका स्वरूप क्या है? देह क्या है? और देह से किस प्रकार इसका सम्बन्ध हुआ है? किस प्रकार देह बन्धन से छूट स्वयं स्वरूप को प्राप्त होता है, कृपा करके विस्तार पूर्वक वर्णन कीजिये जिससे मेरा भ्रम निवृत्त हो।

सन्तः—सावधान चित्त से श्रवण कर, हे प्रिय दर्शन शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप निर्गुण निराकार निर्विकार अस्ति नास्ति प्रत्यय से रहित है। सृष्टि क्रम में श्रुतियों ने ब्रह्म के आश्रय माया का अध्यारोप किया है, वह माया ब्रह्म के आश्रय अभिन्न रूप से है। जैसे अग्नि में दाह शक्ति अनिर्वचनीय है, अर्थात है भी और नहीं भी। कदाचित कोई कहे 'कि अग्नि में दाह शक्ति है' तो उससे पूछना चाहिये 'कि काष्ठादिकों में सर्वगत सामान्य अग्नि से भी दाह होना चाहिये।' यदि वह कहे कि 'काष्ठ में अग्नि कहां है?' तो उसका उत्तर यह है कि काष्ठों के घिसने से वही सामान्य अग्नि विशेष रूप से प्रकट होकर दाह करती है यह सर्व जनों को निस्संदेह प्रत्यक्ष है, इससे नित्य सिद्ध है कि अग्नि में दाह शक्ति अनिर्वचनीय है। इसी प्रकार ब्रह्म के आश्रय माया अनिर्वचनीय है। यदि कोई कहे "कि शुद्ध ब्रह्म निर्विकार चैतन्य में माया को आश्रय कहां? और यह कहे कि आश्रय नहीं है। तो उसका उत्तर यह है कि माया का कार्य जगत् प्रत्यक्ष देखने में आता है और माया देखने में नहीं आती, इससे सिद्ध हुआ माया अनिर्वचनीय है।

जैसे सर्वगत सामान्य अग्नि में दाह शक्ति नहीं है और एक देश में स्थित विशेष रूप अग्नि में दाह

शक्ति है, इसी प्रकार ब्रह्म के किसी एक देश में त्रिगुणात्मक माया है, वह माया ब्रह्म की सत्ता को पाकर महत्तत्त्व को उत्पन्न करती है। जैसे पुरुष का वीर्य स्त्री के रज से सम्बन्ध पाकर एक अंड उत्पन्न करता है और उसके अन्दर अनेक अवयव रहते हैं। इसी प्रकार महत्तत्त्व में पिंड ब्रह्मांड आदि अनन्त गुण हैं, उस महत्तत्त्व से शब्द तन्मात्रा उत्पन्न हुई। शब्द से आकाश हुआ, इसीसे आकाश में शब्द गुण है इसी प्रकार शब्द सहित आकाश से, स्पर्श वायु, वायु रूप से अग्नि, रूप अग्नि से रस जल, रस जल से गंध हुआ गंध से पृथ्वी इसी कारण क्रम से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, गुण पांचों में हैं। इस त्रिगुणात्मक माया से सत्, रज, तम तीन गुणयुक्त शब्दादिक तन्मात्राओं सहित आकाशादि पंच भूत उत्पन्न हुए और शब्द तन्मात्रा सहित आकाशादि के सात्त्विक अंशों से ज्ञानेन्द्रिय और मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार चतुष्टय अन्तःकरण उत्पन्न हुआ। आकाशादि के राजस अंशों से कर्मेंद्रिय और प्राण उत्पन्न होकर सात्त्विक राजस अंश से सूक्ष्म शरीर होगया। पांचों तत्त्वों के तामस अंश से पंचीकरण होकर स्थूल शरीर हुआ। जैसे कोई पांच पुरुष हरद्वार यात्रा करने को आये, गंगा स्नान कर नित्य कर्म सन्ध्यादि से निवृत्त हो हलवाई की दुकान पर आय पांचों ने प्रथक् २ प्रकार का भोजन लिया। एक ने १ सेर लड्डू, दूसरे ने १ सेर बरफी तीसरे ने १ सेर पेड़े चौथे ने १ सेर पूरी कचौड़ी और पांचवे ने एक १ सेर बालूसाई लिया। पांचों ब्रह्म कुंड पर आय गंगाजी का भोग लगाय प्रसाद पाने लगे। सबने अपने २ सामान में से आधा २ सेर अपने वास्ते रख लिया और आधे २ सेर में से चार २ भाग करके अन्य चारों को दे दिये, इसी प्रकार पांचों के पास पांच प्रकार का भोजन हो गया। इसी प्रकार पांचों तत्त्वों का पंचीकरण होकर स्थूल शरीर बने।

आकाश तत्त्व अधिक होने से देवयोनि के शरीर बने। आकाश तत्त्व अधिक होने के ही कारण वे शरीर दृष्टि गोचर नहीं होते। जिसमें वायु तत्त्व आधा है और आधे में आकाश, अग्नि, जल, पृथ्वी यह चारों हैं, इससे "वायुचर" पक्षी आदिकों के शरीर बने। अग्नि तत्त्व अधिक वालों से अग्निचर शरीर बने। जल तत्त्व अधिक वालोंसे जलचरों के शरीर बने। पृथ्वी तत्त्व अधिक वालों से पृथ्वी पर रहने वाले मनुष्य, पशु आदिकों के शरीर बने। कारण शरीर तो माया है ही। माया, अविद्या, प्रकृति कारण यह सब पर्याय शब्द हैं। जिस समय स्थूल शरीर बन गया तब इसको चैतन्य करने के निमित्त परमात्म देव ने क्रम क्रम से सूक्ष्म शरीर को प्रविष्ट किया। यानी प्रथम ज्ञानेन्द्रिय अपने स्व स्व गोलकों में स्थित हुई, परन्तु शरीर चैतन्य न हुआ। अन्तःकरण हृदेश में स्थित हुआ तो भी शरीर चैतन्य न हुआ। फिर पंच प्राण अपने २ स्थानों में स्थित हुए तब भी शरीर चैतन्य न हुआ सुषुप्तवत् रहा तब परमात्मा देव ने विचार किया कि मेरे प्रवेश किये बिना यह शरीर चैतन्य नहीं होगा इससे मैं स्वयं इसमें प्रवेश करूं। परन्तु सब द्वारों में इन्द्रियों के देवता विराजमान हैं, अब मैं किस द्वार होकर इसमें प्रवेश करूं। वैसे भी नव द्वार मल मूत्र का आगार होने से मेरे प्रवेश का द्वार नहीं है, ऐसा विचार करके परमात्म देव दशम द्वार ब्रह्म रन्ध्र में होकर प्रवेश किया। यानी दशम द्वार खुलने से सूक्ष्म शरीर में ब्रह्म का प्रतिबिंब पड़ा

तब शरीर चैतन्य हुआ। श्रुति प्रमाण है "स एत-मेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यतेति प्रवेश वचनम्"

यस्यसन्निधिमात्रेण
देहेंद्रिय मनोधिय।
विषयेपुस्व कीयेषु
वर्तंते प्रेरिता इव ॥१२६ वि० चू०॥

अर्थः—देह इन्द्रिय जिस चैतन्य की समीपता से सत्ता स्फूर्ती ग्रहण कर अपने शब्दादिक विषयों में सेवकों वत् प्रेरणा को प्राप्त हुए वर्तते हैं, वह साक्षी रूप कूटस्थ निर्लेप व्याप्त है, परन्तु साक्षात्कार अन्तःकरण में ही होता है। क्योंकि अन्तःकरण तत्त्वों के सात्त्विक अंश से उत्पन्न होने से शुद्ध है। जैसे जितने भी दृश्य पदार्थ हैं वे सब पृथ्वी का ही विकार हैं, परन्तु जैसे शुद्ध होने से दर्पणादिकों ही में मुख की प्रतीति होती है, दीवार आदिकों में नहीं; इसी प्रकार, स्थूल सूक्ष्म सब माया का ही विकार है, परन्तु अंतःकरण स्वच्छ होने से उसमें पड़े हुए ब्रह्मका प्रतिबिम्ब प्रतीत होता है। अंतःकरण में पड़ा हुआ चैतन्यका आभास, वही चिदाभास जीव है। वह प्रतिबिम्ब रूप जीव अपने बिम्ब रूप ब्रह्म से भिन्न नहीं है परन्तु अंतःकरण उपाधि से भिन्न प्रतीत होता है।

जैसे सूर्यकी किरणों द्वारा वृष्टि हुआ जल पृथक् २ गड्ढों में स्थित होता है और उस जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है वह प्रतिबिम्ब सूर्य से भिन्न नहीं है और जल उपाधि भी सूर्यसे पृथक् नहीं है। क्योंकि विवर्त्त अधिष्ठान रूप ही होता है अधिष्ठान का ज्ञान होने पर विकार शेष नहीं रहता। जैसे एक मृत्पिंड के ज्ञान से सर्व मृद्विकार विज्ञात होते हैं नाम रूप विकार वाचारम्भण मात्र यानी कहने ही मात्र हैं वास्तविक में मृत्तिका ही सत्य है घट आदि मिथ्या हैं। स्थूल सूक्ष्म प्रपंच सत् रूप ब्रह्मका कार्य विवर्त्त यानी ब्रह्म रूप ही है, कार्य समूह सत् रूप ब्रह्म से अन्य नहीं है यदि कोई कहे कि अधिष्ठान ब्रह्म से कार्य पृथक है, तो यह जानिये कि उसका मोह निवृत्त नहीं हुआ उसका कहना सोते हुए पुरुष के कथन के समान प्रलाप मात्र ही है यानी कार्य कारण से भिन्न नहीं होता। जिस प्रकार जल रूप उपाधि अधिष्ठान सूर्य से भिन्न नहीं है; परन्तु जब तक जल उपाधि सूर्य से पृथक् स्थित है तब तक प्रतिबिंब भिन्न ही प्रतीत होता है, जब जल सूर्यकी किरणों से तप्त हो शुद्ध होकर सूर्य में लय होजाता है तभी प्रतिबिम्ब रूप होजाता है। इसी प्रकार जल रूप अन्तःकरण में सूर्य रूप ब्रह्मका जीव रूप आभास है, वास्तव में जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं। क्योंकि सर्वाधिष्ठान करण कारण यानी अभिन्न निमित्तोपादान कारण एक ब्रह्मही है, परन्तु जब तक अन्तःकरण ब्रह्म में लय नहीं होता तब तक जीव संज्ञा बनी रहती है, अन्तःकरण के लय होते ही ब्रह्म ही ब्रह्म है और कुछ भी नहीं। जैसे जल सूर्य की किरणों के तपनेसे पृथ्वी का विकार मल (गदलापन) शुद्ध होकर जल सूर्य में लय होता है इसी प्रकार अन्तःकरण में से मल विक्षेप दूर होकर अन्तःकरण ब्रह्म में लय होजाता है।

उन दोषों के दूर करने के साधन दो प्रकार के हैं, एक अन्तरंग और दूसरे बहिरंग। जिस साधन से अन्तःकरण शीघ्र शुद्ध हो वह अंतरंग साधन

विवेकादि चतुष्टय है और जिससे चिरकाल में शुद्धि हो वह कर्म उपासना बहिरंग साधन हैं। विवेकादिकों की अपेक्षा से भी श्रवणादिक अन्तरंग साधन हैं। निष्काम कर्म करने से अन्तःकरण का मल (पाप) दोष दूर होता है और उपासना करने से विक्षेप (चंचलता) दोष दूर होता है। वह उपासना इस प्रकार होती है। प्रथम ईश्वर के साकार रूपका ध्यान किया जाता है, फिर निराकार ओंकार का अभेद रूप से चिंतन किया जाता है।

वासुदेव परमात्मा के साकार रूप दो हैं १ चल २ अचल। गुरुमूर्त्ति भगवन् का चल रूप है और विष्णु, शिव, राम, कृष्णआदि की प्रतिमा अचल रूप है। इन दोनों प्रकार की मूर्तियों में से किसी एक मूर्ती का ध्यान करने से चित्त स्थिर होता है। चित्त स्थिर होने से निर्गुण निराकार परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान होता है तब उस निराकार परमात्मा के अभेद रूप के चिंतन करने से मन ब्रह्म में लय होजाता है। जैसे सुगंधि का समूह कपूर है इसी प्रकार संकल्प का समूह अन्तःकरण (मन) है। जैसे सुगंधि उड़ जाने से कपूर कुछ शेष नहीं रहता, इसी प्रकार संकल्प लय होजाने से अन्तःकरण (मन) कुछ शेष नहीं रहता तभी जीव ब्रह्म में लय होजाता है। इसीका नाम मुक्ति है, इसीका नाम परमपद है कि जिसको प्राप्त होकर फिर नहीं लौटता। श्रुति भगवती भी यही कहती है "तेषुब्रह्मलोकेषु परापरा वतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः" [ब्र० उ० अ० ६।२] अर्थ—जो ज्ञानी ब्रह्मकी अभेद उपासना करते हैं सो देवयान मार्ग द्वारा ब्रह्मलोक में प्राप्त हो ब्राह्म महाकल्प पर्यंत वासकर ऊर्ध्व गमन करते हैं, अर्थात् विदेह कैवल्य मोक्ष को प्राप्त होते हैं, उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती। अर्थात् जीव इस दुःखागार संसृति को यानी जन्म मरण को नहीं प्राप्त होता यह क्रम मुक्ति प्रकरण है इससे भी, मुक्ति से जीवका लौटना सिद्ध नहीं होता। वास्तव में लौटना आना जाना कुछ बनता नहीं एक सच्चिदानन्द स्वरूप नित्य मुक्त ब्रह्म ही सर्वत्र तन्तु पटवत् ओत प्रोत होरहा है।

जिज्ञासुः—भगवन् आपके कथन से मेरे संपूर्ण संदेह निवृत्त होगये। परन्तु मुझे प्रथम एक बात पूछना है। आपने कहा कि गुरुमूर्ति का ध्यान करने से भी कल्याण होजाता है। श्रीमहाराज, गुरु माहात्म्य, गुरु गीता आदिमें लिखा हैकि चाहे गुरु लोभी, मोही, क्रोधी, कामी भी हो तब भी उसमें दोष न देखे; हे भगवन् मेरे विचारमें तो एक बड़ी भारी पोपलीला है।

जिन लक्षणों वाले को आपने गुरुपद प्रदान किया है ऐसा पुरुष तो गुरु होने के योग्य ही नहीं है। गुरु ब्रह्म वेत्ता है तिसके विषय में देखिये वेद क्या कहता है।

"वह जो इस लोक में प्रसिद्ध परब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही होता है उसके कुल यानी संप्रदाय में अब्रह्मवित् यानी अज्ञानी कोई नहीं होता और वही ब्रह्मवेत्ता शोक रूप संसार समुद्र को तरता है। हृदय रूपी गुफाकी भेद रूपी ग्रन्थि से विमुक्त होकर अमृत होता है" ऐसा ब्रह्मवित् ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्म स्वरूप गुरुमूर्ति ध्यान के योग्य हैं वही गुरु हो सकते हैं। जो आपके कहे हुए लक्षणों से स्वयं लिप्त हैं उनको तो कल्याण की इच्छा वाला कोई भी शिष्य गुरु नहीं करेगा। कदाचित् कोई भी दोष अपने भ्रम से या शरीर विकार से किसी गुरुमें दृष्टि गोचर भी हों तो भी गुरुमूर्ति पूजने के योग्य ही है। क्योंकि वह परब्रह्म स्वरूप ही है।

—स्वामी आत्मानन्द।

कष्ट ही है इष्ट ।

'हे पार्थ ! ये विषय भोग जिस पुरुष को व्यथा-पीड़ा नहीं दे सक्ते, वह पुरुष अमर पद प्राप्त होने के योग्य होता है।' श्रुति भगवती का आदेश है—'यह आत्मा बलहीन को प्राप्त नहीं होता किन्तु धीर वीर पुरुष ही आत्मा को प्राप्त होता है।

हे योगिन् ! जिस किसी को जो कुछ प्राप्त हुआ है अथवा होता है कष्ट से प्राप्त हुआ है और होता है। तू इतना क्यों अधीर होता है, धैर्य धारण करके उत्साह पूर्वक निरंतर योग में लगा रह, धीर पुरुष जिस कार्य को आरंभ करते हैं, पूरा करके छोड़ते हैं, पुराण और इतिहासों से भी यह ही सिद्ध होता है—राजा हरिश्चन्द्र सब राजपाट तज कर, मजदूर बन गये थे एक चांडाल के घर नाना सहे थे कष्ट, एक से एक बढ़ कर, यह सब कुछ सहन किया था एक वचन पर ! दशरथ ने क्या काम किया थोड़ा, प्राण त्यागदिये वचन न छोड़ा ! "निरुपमम राम लक्ष्मण का जोड़ा, अपने पिता की आज्ञा से राजतक से मुख मोड़ा ! सीता द्रौपदी मंदोदरी को देख, गिरजा के चरित्र याद कर सती को देख ! संजोगता का ध्यान कर पद्मावती को देख, चञ्चल कुमारी के साहस और कलेजे को देख ! जिसमें धैर्य नहीं है, वह बारह बाट का है, जैसे धोबी का कुत्ता घर का है न घाट का है ! इत्यादि अनेक दृष्टांत हैं, जिन्होंने धैर्य से कष्ट सहन किया, उनका ही विजय हुआ !

एक बाबू साहब नें झोंपड़ा बनवाया था, वह उनके मन को बहुत ही भाया था। रात दिन उसीमें पड़े रहते थे, उसीमें धरती पर लेटे रहते थे ! वहीं बैठ कर खाते थे खाना, न कहीं जाना था, न कहीं आना ! पानी बरसे या पाला, झोंपड़ेमें था बिस्तरा डाला ! एक दिन हुई बड़े जोर की वर्षा, झोंपड़े में लग गया टपका ! बाहर पानी था पानी अन्दर था ! झोंपड़े का बन गया समन्दर था ! एक मित्र ने कहा, अजी बाबू साहब बाहर आजाइये, इस समन्दर में डूब कर अपनी जान न गँवाइये ! कहने लगे हंसकर, जब ओखली में सिर दिया तो मूसलों से क्या डर ? जब एक से मैत्री करली, तो फिर उसकी उपेक्षा करनी बुद्धिमानी नहीं है।

जब संसारी मनुष्यों में इतनी आसक्ति होती है कि जिसमें एक बार आसक्त होगये, फिर उसकी आसक्ति नहीं त्यागते, आपत्ति को भी सम्पत्ति मान कर उत्साह पूर्वक झेल लेते हैं, तब तू तो ऐसे मार्ग में जारहा है कि मार्ग के अन्त पर पहुंचने से सर्वदा के लिये समस्त क्लेशों से मुक्त हो जायगा, फिर तू किंचित् कष्ट से क्यों घबराता है ? भाई जीवन्मुक्त पद प्राप्त करने के लिये पुरुषार्थ कर, देह के दुःख और मानसी दुःख की परवाह मत कर ! जिन भगवान् से तूने प्रेम जोड़ा है, वे प्रेम के करुणा जल से पूर्ण सागर है, उन्होंने तुझ पर करुणा के वश होकर दुःख के वेश में सुहृद दूत भेजा है, इस सुहृद दूतका प्रेम से अभिनन्दन कर, यह दुःख रूपी सुहृद तेरे पाप क्षीण करके तेरे लिये सुखका द्वार खोल देगा !

शिव शंकर इस विश्वके क्षेम करने वाले हैं, इसमें किंचित् भी संदेह नहीं है, यह पीड़ा उन्हीं दया सागर विश्वेश की भेजी हुई है, इसका प्रीति पूर्वक स्वागत कर ! देख जिस पुरुष पर जगदीश अनुग्रह करता है,

उसकी परीक्षा लेने के लिये दुःख को प्रेरणा करता है, यह दुःख साधक की कामनाओं को सर्वदा नियम में रखता है, साधक के भ्रमोंका सर्वदा शोधन करता है! यह दुःख मित्र है, दुर्बल मनुष्यों को भय से मुक्त करता है और पापों से सर्वदा रक्षा करता है, अंतमें अकिंचन धन रूप ब्रह्मकी प्राप्ति रूप अमृत धारा को वर्षाता है! हे प्रियदर्शन! सब जीव भय और दुःखमें ही श्रीमधुसूदन का स्मरण करते हैं, यह दुःख बुद्धि रूप गुहा में छुपे हुये बल और वीर्य का विकास करता है। वैवर्त पुराण में शिवजी का वचन है कि महा विपत्ति रूप संसार में जो मधुसूदन का स्मरण करता है, उसकी विपत्ति भी संपत्ति होजाती है, और यह भी कहा है कि कर्म का फल परिणाम में अशुभ ही होता है परंतु भ्रांत पुरुष कर्म फल को मधुर मानते हैं, इसलिये कर्म मधु कहलाता है, मधु रूप कर्मों को जो नष्ट कर देता है, उसका नाम मधुसूदन है।

दुःखमें बड़े २ गुण हैं। उनको सुन, दुःख ज्ञान की वृद्धि करता है, दुःख वैराग्य को उत्पन्न करता है, दुःख से तितिक्षा की सिद्धि होती है, दुःख से योग की उत्पत्ति होती है और दुःख से नम्रता का उपदेश मिलता है। दुःख दुःखको नष्ट करता है क्योंकि दुःख से पाप क्षीण होते हैं। पाप क्षीण होजाने से दुःख से सुखकी उत्पत्ति होती है, दुःख शान्ति देता है और परम शुभ निर्वाण को देता है। इसलिये हे प्रिय! योग प्राप्ति के अर्थ अल्प दुःखका भोग लेना ही उचित है, यह दुःख भूमानन्द का देने वाला है, इसका सर्वदा आदर किया कर! हे पुत्र! यह कष्ट शिवका आपत्य यानी पुत्र है, शिव से उत्पन्न हुआ है, इस कष्ट के नाना रूप हैं, अनेक वेष धारण करके यह शिवके भक्तों को पावन करता है, इसलिये शिव में अनुरक्त होकर इसका आवाहन कर! 'मैं कृतार्थ हूँ,' 'मैं अनुगृहीत हूँ' ऐसा कहकर इसका स्वागत कर! पवित्र संतोष रूप पाद्य उसको अर्पण कर! ब्राह्मी भावके शुद्ध आसन पर उसको बैठा और तितिक्षा आदि यंत्र रूप पुष्पों से दिन रात उसका पूजन कर! हे शिष्य! करुणा जल पूर्ण शंकर को ही सबमें जान, और दुःखमें भी श्रीकृष्ण का प्रसन्न कमल मुख देख! विश्वमूर्ति,—अनामय आत्मा का सेवन करता हुआ पीड़ा में भी चिन्मय आनन्द रूप सदा शिवको देख!

भाई! तू ताल तलैयों, कुये बावड़ी के जलका प्यासा तो है नहीं, तू तो अमृत जलका प्यासा है, सुधा जल पूर्ण समुद्र की खोज में जारहा है, जहां जाकर परम तृप्त हो जायगा, फिर किंचित् धूल तेरे पगों में लगती है अथवा कीचड़ में पैर सनते हैं, उसको तू कष्ट क्यों मानता है, कष्ट की परवाह न कर सुधा सागर में जाकर डुबकी लगा! यदि दुःख के भय से तू कल्याणकारी भवभयहारी तप को भीरु के समान छोड़ देगा, तो तेरे दुःखों का फिर कब अन्त होगा और महाभयंकर भव सागर से तू कब तरेगा? फिर तेरे तरने की आशा नहीं है! मनुष्य शरीर बड़े पुण्य से मिलता है, मनुष्य शरीर मिलने पर भी पुरुष शरीर मिलना दुर्लभ है, पुरुष शरीर भी मिल गया तो विद्या प्राप्त होना कठिन है, विद्या भी प्राप्त होगई तो साधु संग मिलना कठिन है; ये सब तुझे ईश्वर के अनुग्रह से प्राप्त हैं इस समग्र सामग्री को प्राप्त करके यदि तूने अपना श्रेय नहीं किया और भोगों में लवलीन रहा, तो फिर तेरे मुक्त होने की आशा नहीं है। इस अमूल्य मानुष्य शरीर और अमूल्य समय को आलस्य में मत व्यतीत कर, आलस्य त्याग कर योग में लग जा!

हे सौम्य दर्शन ! भगवान् के भक्तों ने पूर्व में जो २ कष्ट सहे हैं, उन कष्टोंकी अपने कष्टों से तुलना कर, उनके कष्ट की अपेक्षा से तो तेरा कष्ट कुछ भी नहीं है। प्रह्लाद ने कितने २ कष्ट सहे थे, युधिष्ठरादि पांडवों ने बारह वर्ष वन में व्यतीत किये थे, स्वयं श्री राम लक्ष्मण ने चौदह वर्ष वन में रह कर अनेक कष्ट उठाये थे, भरतजी ने अयोध्या में रहकर कैसा दारुण तप किया था, भर्तृहरि और गोपीचन्द ने वर्षों वन में रह कर तप किया था, नल दमयन्ति राजा रानी बहुत दिनों तक मारे२ फिरे थे, इत्यादि अनेक दृष्टांत हैं तेरा कष्ट उनके कष्ट की अपेक्षा से कुछ भी नहीं है। फिर तू इतना क्यों घबराता है ? धैर्य धारण कर, हिम्मत बांध, 'हारिये न हिम्मत बिसारिये न राम !' यह बड़ों का कथन है।

हे प्रिय ! तुझे कष्ट भी क्या है, इधर उधर की गप्पें सुनने को नहीं मिलतीं क्या यह कोई कष्ट है ? जमीन पर सोने को मिलता है, यह भी कोई कष्ट नहीं है, बाजार की सैर करने को नहीं मिलती, यह कोई कष्ट है ? जंगल का शुद्ध वायु मिलता है, हरे हरे वृक्षों की छाया में बैठने को मिलता है। अच्छे अच्छे भोजन नहीं मिलते, फिर भी भोजन तो मिलता ही है, कुछ पत्ते तो चबाने ही नहीं पड़ते, फिर कष्ट ही क्या है ? अतर फुलेल नहीं मिलता, तो क्या हुआ, वन के वृक्ष और उनके फूलों की सुगंध तो बिना मांगे ही मिल जाती है, फिर कष्ट क्या हुआ ? एकांत में वास करना पड़ता है, यह भी कोई कष्ट नहीं है, यह तो स्त्रियां ही कर लेती हैं, वर्षों घर में ही बैठी रहती हैं ! उपन्यास पढ़ने को नहीं मिलते तो न सही, भक्ति, योग, ज्ञान, वैराग्य के ग्रंथ तो पढ़ने को मिलते हैं, उनमें एक से एक उत्तम दृष्टांत आते हैं। भक्तों के ऐसे चरित्र पढ़ने में आते हैं जिनको पढ़ने से मन का मैल धुल जाता है। अंतःकरण शुद्ध दर्पण का सा हो जाता है फिर कष्ट ही क्या है ? बुद्धि विकास करने वाले अनेक ग्रंथ पढ़ने में आते हैं, फिर कष्ट क्या है ? भाई ! बुद्धि मलिन होना ही तो दुःख है ! तेरी बुद्धि को शुद्ध करने वाली अनेक सामग्री विद्यमान हैं। फिर तू क्यों घबराता है ? यदि ऐसा ही था, तो योग करने घर से क्यों आया था ? थोड़ी सी गर्मी सर्दी ही नहीं सही जाती तो जा, संसार में चला जा, बोझा ढोयाकर और जन्मता मरता रह !

यदि तू कहे कि योग में आनन्द तो आता ही नहीं, तो यह तेरा कहना ठीक नहीं है। तू स्वयं कहता है कि थोड़ी देर को मन एकाग्र हो जाता है, तब आनन्द आता है ! भाई, ज्यों २ मन एकाग्र और शुद्ध होता जायगा, त्यों २ आनन्द बढ़ता जायगा अभी तुझे दिन ही कितने हुये हैं ! अभी तेरी ममता, अहंता, शरीर की आसक्ति और भोगों में लालसा कम नहीं हुई। इसलिये तुझे पूर्णानन्द का अनुभव नहीं होता, फिर भी कुछ तो होता ही है। इस विषय में मैं तुझे एक दृष्टांत सुनाता हूं।

एक मरुदेश में कुछ चेंटियां रहती थीं। उन का भोजन रेत था जब ये मरु स्थल में घूम रही थीं तब एक चेंटी की दृष्टि एक मिश्री की डेली पर पड़ गई। उसने उसे चक्खा तो बड़ा स्वाद आया। उसने दूसरी चेंटियों से कहा कि अमुक स्थान पर मिश्री पड़ी हुई है, उसको चक्खो ! वे सब एक २ करके मिश्रीके ढेर के पास आईं परन्तु उसको चख करके स्वाद न आने से पत्थर का टुकड़ा समझ कर लौट गईं और सूचना देने वाली चेंटी को झूँठा बनाने लगीं। वह चेंटी तो चख चुकी थी

उसने उनकी बात न मानी. सबको समझाने लगी किंतु कुछ फल न हुआ, थी वह बुद्धि वाली, पूछने लगी क्या बात है, जो इनको स्वाद नहीं आता। बहुत विचार करने से उसे मालूम हुआ कि उनके मुख में रेत के टुकड़े हैं। जब तक वे उनको फैंक न देंगी, तब तक इनको मिश्री का स्वाद नहीं आवेगा। यह सोच वह कहने लगी कि बहिनों! पहिले तुम अपने मुख में से रेत के अणुओं को निकाल दो, फिर इस मिश्री के डेली को जिसे तुम पत्थर कहती हो, चक्खो, तब तुम समझ जाओगी कि वह पत्थर नहीं है किंतु मिश्री है। किसी २ ने उसकी बात मान ली और रेत को मुख में से निकाल कर जब मिश्री को चखने लगीं, तो उनको विश्वास आया। तब तो वे प्रशंसा करने लगीं।

हे साधक योगी! तेरे बुद्धि रूप मुख में भी संसारी लोगों के समान अहंता, ममता रूप रेत लगी हुई है, इसलिये तुझे आनन्द स्वरूप आत्मा का पूर्ण अनुभव नहीं होता, फिर भी तेरे कहने से सिद्ध होता है कि कुछ २ स्वाद तो आने ही लगा है। फिर क्यों घबराता है, एक दिन में तो अंकुर उत्पन्न होकर वृक्ष नहीं हो जाता, कुछ काल में ही वृक्ष होता है! ज्यों २ सींचा जाता है, त्यों २ बढ़ता जाता है। तू भी अभ्यास वैराग्य किये जा! ऐसा करने से धीरे २ शांति बढ़ती जायगी! विषय भोग आगमापायी हैं, विष रूप हैं, उनकी प्राप्ति अप्राप्ति को कष्ट मत मान! यह तेरा मोह है, मोह तेरे सामर्थ्य को नष्ट करने वाला है। इस मोह को शीघ्र त्याग दे, वर्तमान व्यथा को तू सहन करने को समर्थ है, इसमें संदेह नहीं है। इस व्यथा को तू सर्वदा सहता ही रहा है, मरा नहीं है, अब भी सहता ही रहेगा। मरेगा नहीं! 'हाय! मर गया,' ऐसा कह कर तू अपने बल को क्यों घटाता है? तू तो अमृत में दृष्टि रख, और वसुधा जितने कष्ट दे सक्ती है, उन सब को तृण के समान मान! योग शिव का उपनेत्र है जब शिव के उपनेत्र रूप योग से तू जगत् को देखेगा, तो तू दुःख और दुःख के आकार को त्याग कर शिव रूप ही हो जायगा। हे पुत्र! तूने तो देहादिक सब को विष्णु को निवेदन कर दिया है, तुझे महा दुःख के प्राप्त होने पर भी रुदन करना शोभा नहीं देता। तू ने तो विश्व भर पर लात मार दी है देह तक की उपेक्षा कर दी है, फिर तू दुःख से घबरा कर क्यों रोता है? क्या तुझे लज्जा नहीं आती। तू असङ्ग है, निराकार है, निर्विकार है, निरंजन है और गुणातीत है, फिर तुझे दुःख कैसे स्पर्श करेगा? दुःख की त्रास छोड़ दे, स्थिरता और धैर्य से युक्त हो, सर्व दुःखों को सहन करता हुआ नित्य योग कर! तेरा कल्याण हुआ ही धरा है, इसमें संशय नहीं है, रुक मत बढ़े चले जा।

करुणा सागर गुरु की हितकारिणी भवभयहारिणी वाणी सुनकर घबराया हुआ शिष्य संभल गया और विषय भोगकी आशा छोड़कर योग में लग कर परम सुखी हुआ!

—सकल चराचरानुचर भोला।

वाक्य वृत्तिः ।

(गतांक से आगे)

अत्र ब्रूमः समाधानं
कोन्यो जीवस्त्वमेव हि ।
यस्त्वं पृच्छसि मां कोहं
ब्रह्मैवासि न संशयः ॥ ८॥

अर्थः-(गुरुः-) हे शिष्य ! तेरे पूछे हुए प्रश्नों का उत्तर देता हूँ तेरे सिवाय जीव अन्य कौन होगा ? तूही जीव है तू मुझे पूछता है कि "मैं कौन हूँ" उत्तर यह है कि तू ब्रह्म ही है उसमें संशय नहीं है ।

विवेचन ।

शिष्य के प्रश्न के उत्तर में गुरु कहते हैं कि तेरे सिवाय जीव और कोई नहीं है तूही जीव है क्योंकि शरीरादिक समुदाय को तू 'मैं हूँ' इस प्रकार नहीं कहता, यह सब मेरे हैं ऐसा कहता है और अपने-- जीव के सुख के निमित्त सब चेष्टा करता है, तू जीव न हो तो और कोई जीव होनेकी योग्यता रखता नहीं है । जड़ और चेतन दो पदार्थ हैं, जड़ पदार्थ सुख दुःख का भोक्ता बन नहीं सकता, जड़ में अपना और दूसरे का ज्ञान नहीं है इससे चेतन ही भोक्ता सुखी दुःखी जीव होने के योग्य है । जो चेतन स्वरूप है वह ही जीव बना है, यदि तू ऐसा कहे कि 'चेतन एक है, अखंडित है वह जीव कैसे बना ? जीव अनेक दीखते हैं, अनेक प्रकार के भिन्न २ व्यवहार करते हैं तब अखंड चेतन जीव किस प्रकार होगा ? चैतन्य पदार्थों का पृथक् पृथक् बोध कर नहीं सकता और वह व्यापक होने से आने जाने से रहित, विकार से रहित, अकर्ता अभोक्ता है तब वह जीव किस प्रकार हो सकता है ?'

गुरुः—तेरा कहना ठीक है परन्तु जड़ भी तो जीव नहीं हो सकता तब जड़ और चेतन रहित जीव कौन होगा ? तू अपने को जीव मानता है जीव समझकर व्यवहार करता है । क्या तू चेतन नहीं है क्या तू अपने को जड़ मानता है ? नहीं, तू चेतन ही है ।

शिष्यः—जैसा चेतन का वर्णन शास्त्र में किया है ऐसा चेतन मैं कहां हूँ । मैं चेतन हूँ परन्तु विकारी चेतन हूँ। विकारी चेतन मैं (जीव) हूँ ऐसा आप कहो तो बन सकता है, परन्तु मुझे जीव बतला कर परब्रह्म से मेरी एकता करते हो यह नहीं हो सकता । मैं विकारी चेतन और परब्रह्म व्यापक अविकारी चेतन स्वरूप है ।

गुरुः—मैं जैसा कहता हूँ ऐसा ही है तू अपने को विकारी चेतन स्वीकार करता है यह विकार तेरे अज्ञान से है। अज्ञान ही अविकारीमें विकारीत्व दिखलाता है । अज्ञान के विकारों को अज्ञान सहित हटा कर देखने से अविकारी चेतन परब्रह्म ही रहता है; वह ही तू है । तू विकारी चेतन और परब्रह्म अविकारी चेतन इस प्रकार दो चेतन नहीं हैं, चेतन एक ही है । विकारी नहीं है तो भी विकारी हो अज्ञान से इस प्रकार भान होता है जिसे तू अज्ञान में विकारी चेतन कहता है वह परब्रह्म से भिन्न नहीं है ।

शिष्यः—मैं विकारी दीखता हुआ भी विकारी नहीं हूँ तब तो मैं जीव भी न रहा। विकारी भावसे जीव की सिद्धि है, विकार नहीं तो फिर जीव

कहां ? वेदान्त की कई प्रक्रिया में मैंने सुना है कि व्यष्टि अज्ञान के ऊपर चेतन के पड़े हुए आभास सहित जीव होता है, आभास विकारी चेतन है तब विकारी चेतन में क्यों नहीं ?

गुरु:—इस प्रकार का कथन मुमुक्षुओं को अपने स्वरूप की तरफ जाने के लिये—स्वस्वरूप का बोध कराने के हेतु है जहां चिदाभास का कथन है वहां चिदाभास को मिथ्या कहा है और साक्षी सहित आभास युक्त व्यष्टि अज्ञान को जीव कहा है उसमें से मिथ्या को हटा देने से सत्य स्वरूप ही शेष रहता है और अवच्छेद वाद में तो विकार वाला चिदाभास को माना ही नहीं है अज्ञान में चेतन का अवच्छेदक चेतन अज्ञानके पदार्थ से माना है, इससे विकारी दीखता हुआ चेतन जीव है वह शुद्ध परम चेतन से अभिन्न है। फिर तैंने पूछा है परब्रह्म क्या है ? इसका उत्तर भी यह है कि परब्रह्म तू ही है, परब्रह्म तुझसे कोई अन्य पदार्थ नहीं है। तूही जीव है और तू ही परब्रह्म है इससे दोनों की एकता बनती है।

एक समृद्धि वाला राजा संग के दोष से मौज शौक में पड़ गया, उसने राज्य की व्यवस्था को देखना छोड़ दिया, प्रजा भी बहुत दुःखी हुई इस प्रकार जो देश समृद्धि वाला था वह कुछ वर्ष में कंगाल बन गया। राज्य की दुर्दशा देख कर पास के राजा ने उसपर चढ़ाई की और राज्य को स्वाधीन किया। वह राजा वहां से जंगल में भाग चला। उसके पास निर्वाह का कुछ भी साधन नहीं था इससे अत्यन्त दुःख भोगता हुआ एक देश से दूसरे देश में भटकता रहा, कहीं कुछ मिल जाय तो खा लेता था अथवा अत्यन्त क्षुधा से पीड़ित होकर भीख मांग कर भी खा लेता था। उसका मामा एक राज्य का राजा था उसके पास जाकर उसने आश्रय लेना चाहा, वह वहां गया वहां भी उसकी दरिद्रता ने उसे टिकने न दिया, किसी ने सत्कार न किया, वहां से वह निराश होकर चला और एक देवालय में जाकर विश्राम लिया। वहां के पुजारी को उस कंगाल के ऊपर दया आई। उसने उसको एक संदूक देकर कहा:—इस संदूक से तेरा सब व्यवहार चलेगा। कंगाल संदूक को लेकर जंगल में चला गया। उसके पास दो कपड़े, एक लुटिया और एक फटा कम्बल था वह उसने संदूक में रक्खे फिर भी संदूक में बहुत जगह रह गई देख कर वह भी उसी में जा बैठा और ढकन को बन्द करके बोला मुझे आसमान की तरफ उड़ा लेजा, संदूक आसमान में उड़ी वह जिस संदूक में बैठा था उसमें दो छिद्र थे उस द्वारा वह बाहर देखा करता था। जिस प्रकार वह संदूक को कहे इस प्रकार संदूक चलती थी, ठहरती थी और जहां कहे वहां ले जाती थी वह कंगाल संदूक मिलने से अपने को सुखी मानने लगा।

वह जहां जाता था वहां सब लोग उसे देखने को पहुंचते थे। उसकी और संदूक की चर्चा किया करते थे। जब से उसे संदूक मिली है तब से लोग उसे संदूक वाला मनुष्य कहा करते थे और उस संदूक के सहारे भटका करता था। जब वह टूट जाती थी तब मरम्मत कर लेता था जब अधिक टूट जाती थी तब तोड़ कर नयी बना लेता था। वह समृद्धि वाला राजा और सन्दूक वाला मनुष्य दोनों ही है क्योंकि पुरुष एक ही है। जीव को सन्दूक वाला पुरुष समझ, वह सन्दूक की उपाधि से सन्दूक वाला है और राज्य की उपाधि से राजा था। राजा में और सन्दूक वाले मनुष्य में मनुष्यत्व

एक ही है; इसी प्रकार तू ही जीव है और तू ही परब्रह्म है।

परब्रह्म अद्वैत तत्त्व स्वरूप सब स्थान में परिपूर्ण है वृद्धि ह्रास से रहित है। अज्ञान से उसमें अनेक प्रकार की रचना का दीखना संसार है और उस रचना में वह ही परब्रह्म जीव रूप से चेष्टा करता है इसीसे जीव ही परब्रह्म है। जैसे कोई लड़का जिसका नाम जीवाराम है वह विवाह करने को जाता है तब वह दुलहा कहलाता है, विवाह के प्रसङ्ग की उपाधि से वह दुलहा है वस्तुतः वह जीवाराम ही है; इस प्रकार अज्ञान की चेष्टा करने वाले परब्रह्म का नाम ही जीव है, वास्तविक वह परब्रह्म ही है इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है।

पदार्थमेव जानामि
नाद्यापि भगवन् स्फुटम्।
अहं ब्रह्मेति वाक्यार्थं
प्रतिपद्ये कथं वद ॥९॥

अर्थः—(शिष्यः—) हे भगवन्! आपके कहने से मैं पदार्थ को जानता हूँ परन्तु स्पष्ट नहीं जानता, तब मैं ब्रह्म स्वरूप हूँ इसको किस प्रकार जानूं? इससे महा वाक्य के अर्थ को भली प्रकार कथन करके समझाइये।

विवेचन।

तू जीव है, तू ब्रह्म है ऐसा एक साथ गुरुने कथन किया इससे अनेक जन्मों से भटकता हुआ अज्ञानी जीव को यह कथन पहाड़ के समान भारी मालूम होता है, परन्तु अधिकारी के लक्षणों से युक्त शिष्य होने से असंभवित दीखता हुआ कथन असंभवित ही होगा इस प्रकार मानता नहीं है। अपनी समझने की बुद्धि की न्यूनता समझ कर शिष्य गुरु को फिर से स्पष्ट विवेचन करके समझाने के लिये प्रार्थना करता है। शिष्य की योग्यता पूर्ण होगी तो इतने कथन से समझ जायगा ऐसा समझ कर गुरु ने सामान्यता से जीव और ब्रह्म उसे बताकर एकता की थी। जो शिष्य इतने से नहीं समझेगा तब प्रश्न करने से इसकी योग्यता का पता लग जायगा तब मैं विवेचन करके समझाऊंगा ऐसा गुरु का भाव था।

शिष्य का भाव यह है कि आपने मुझे जीव कहा उसे मैं सामान्यता से ही समझा हूँ स्पष्ट रूप से जीवको समझा नहीं हूँ। आपने चेतन जो उपाधि सहित है उसे जीव कहा है मैं शब्द से जानता हूँ कि ऐसा जीव मैं हूँ परन्तु जीवरूप पदार्थ यानी जो वस्तु है उसे यह जीव है इस प्रकार अपरोक्ष रूप से जानता नहीं हूँ; इस प्रकार परब्रह्मको जो शुद्ध व्यापक अखंड चेतन कथन किया उसे भी शुद्ध व्यापक चेतन है वह परब्रह्म है ऐसे जानता हूँ परन्तु कौन चेतन परब्रह्म, किस प्रकार अखंड है कैसे व्यापक है उसे स्पष्ट नहीं जानता, यानी यह परब्रह्म है ऐसा उसका अपरोक्ष ज्ञान हुआ नहीं है। जब तक पदार्थ का अपरोक्ष बोध नहीं होता तब तक वाक्यार्थ का मेल नहीं होता। आपने तत्त्वमसि करके मुझे परब्रह्म कहा इससे मैंने अपने को ब्रह्मास्मि समझा परन्तु यह समझना शब्द में ही है पदार्थ का बोध पदार्थ में होकर वाक्यार्थ की संगति लगती नहीं है इसीसे आप अधिक परिश्रम लेकर मुझे वाक्यार्थ स्पष्ट अनुभव में आजाय इस प्रकार पदार्थ को समझाइये?

यह विषय अत्यन्त सूक्ष्म और गहन होने से सामान्यता से किया हुआ कथन से बोध नहीं

होता इसीसे शिष्य को सूक्ष्म बुद्धि से समझकर ऊहापोह करके निश्चय करना चाहिये। बोध को दृढ़ करने के हेतु शिष्य गुरु को वारम्वार पूछता है तब गुरु जिस प्रकार शिष्य समझ सके इस प्रकार उत्तर देकर समाधान करते हैं और जब तक शिष्य को दृढ़ बोध न हो तब तक अनेक प्रकार की युक्ति से समझाते रहते हैं, समझाने में सद्-गुरु खिन्न नहीं होते।

सत्य माह भवानत्र
विज्ञानं नैव विद्यते।
हेतुः पदार्थबोधो हि
वाक्यार्थावगते रिह ॥१०॥

अर्थः—(गुरुः—) तैंने सत्य कहा है महा वाक्य में पदार्थ का ज्ञान ही वाक्यार्थ ज्ञान का साधन है, इसलिये तेरा कहना यथार्थ है दोष युक्त नहीं है।

विवेचन।

गुरु शिष्य के प्रश्न से प्रसन्न होकर उसकी प्रशंसा करते हैं। इस प्रकार के प्रश्न से शिष्य की बुद्धि तीव्र है ऐसा गुरु समझ गये और कहने लगे कि हे शिष्य, तैंने जो शंका की है वह ठीक है, जब तक पदार्थ का बोध नहीं होता तब तक उसके वाक्यार्थ का बोध नहीं होता; पदार्थ ज्ञान ही वाक्यार्थ ज्ञान में हेतु है। जैसे कारण विना कार्य की सिद्धि नहीं होती इस प्रकार पदार्थ ज्ञान के विना वाक्यार्थ ज्ञान की सिद्धि नहीं होती। तत्त्वमसि महावाक्य में दो पदार्थ हैं, तत् और त्वं इन दोनों पदार्थों के ज्ञानके लिये सद्-गुरु सतरह श्लोक से आगे निरूपण करके समझाते हैं।

पदार्थ और शब्द का आपस में सम्बन्ध है, एक का ठीक बोध होने से दूसरे का बोध होजाता है। शब्द की शक्ति पदार्थ के ज्ञानका हेतु है और पदार्थ ज्ञानका वाच्य शब्द है। अमुक शब्द अमुक पदार्थ के कथन में उपयोगी होता है ऐसा जानना शब्द ज्ञान है और शब्द के उच्चार से पदार्थ का भान हो यह अर्थ ज्ञान यानी पदार्थ का ज्ञान है। जिस समुदाय में शब्द का जिस पदार्थ के साथ सम्बन्ध बाँध रखा है उस समुदाय में ही शब्द से पदार्थ और पदार्थ से शब्द का बोध होता है। जहां ऐसा सम्बन्ध निश्चित नहीं हुआ है वहां पदार्थ से शब्द का और शब्द से पदार्थ का बोध नहीं होता। जैसे अज्ञात भाषा के शब्द से पदार्थ का ज्ञान नहीं होता।

शब्द क्या होता है और पदार्थ क्या होता है, इन दोनों का आपस में क्या सम्बन्ध है? यह जानकर ही शिष्य प्रश्न करता है यह गुरुकी प्रसन्नता का हेतु है। जब विद्वान् शिष्य सूक्ष्म बुद्धि से प्रश्न करता है तब सद्गुरु शिष्य की योग्यता से प्रसन्न होकर विस्तार सहित महावाक्य का विवेचन करने का आरंभ करते हैं। शिष्य के सूक्ष्म प्रश्न से सद्गुरु का उत्साह बढ़ता है। जो सुनने वाला सुनकर सुनने का सत्कार करके ग्रहण करता है ऐसे का सुनना ही यथार्थ श्रवण है और श्रवण करके श्रवण किया हुआ तत्त्व का ग्रहण न हो तो श्रवण मिथ्या ही है।

अन्तःकरणवद्वृत्ति
साक्षी चैतन्य विग्रहः।
आनन्द रूपः सत्यः सन्
किं नाऽऽत्मानं प्रपद्यसे ॥११॥

अर्थः—तू अन्तःकरण और उसकी वृत्तियों का साक्षी है, चैतन्य स्वरूप है, आनन्द स्वरूप है, और सब अवस्थाओं में बाध रहित सत्य है फिर भी तू अपने स्वरूप को क्यों नहीं जानता ?

विवेचन ।

जीव रूप पदार्थ को प्रथम समझाते हैं, जीव रूप जो तू है सबका साक्षी है। तू जितना बोध करता है वह सब अन्तःकरण से करता है, और सूक्ष्मता से देखा जाय तो भी अन्तःकरण को छोड़-कर अपने व्यक्तित्व को और कोई स्थान में देख नहीं सकता सब व्यवहार अन्तःकरण से ही होता है; अन्तःकरण ही पृथक् व्यवहार का हेतु होने से उसे तू जीव मानता है वास्तविक वह जीवका स्वरूप नहीं है। अन्तःकरण में बुद्धि कर्ता भोक्ता वाली है और मन आदि वृत्तियां करण रूप हैं। कर्म को करने वाली बुद्धि कर्ता है और कार्य करने का साधन मन आदि है इससे अन्तःकरण और उसकी वृत्तिको कहा है कि उसका जो साक्षी है वह तू है। करण नाम कार्य करने का साधन का है ऐसे करण दो प्रकार के हैं बाहर के और आन्तर के। बाहर के करण इन्द्रियां कही जाती हैं और आन्तर करण मनादि कहे जाते हैं। अज्ञान के कारण से बुद्धि जो आन्तर करण है वह किसका करण है यह न जानने से उसे ही कर्ता मानते हैं। वास्तविक बुद्धि और वृत्तियां को प्रकाश देने वाला, उसे तटस्थ रूप से देखने वाला ऐसा सबका साक्षी तू है।

शिष्यः—अन्तःकरण रूप बुद्धि और उसके करण का ही साक्षी क्यों कहा ? वह साक्षी चेतन तो सब किसी का साक्षी है। स्थावर जंगम स्थूल शरीर इन्द्रियां और प्राणादि सबका ही साक्षी क्यों नहीं कहा ? जड़ पदार्थों का साक्षी भी इसके सिवाय और कोई नहीं है।

गुरुः—साक्षी सबका है परन्तु तुझे तेरे चेतन को समझाना है। जड़को तू अपना स्वरूप समझता नहीं है इससे उसका साक्षी कहने से प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। तू चेतन है और अन्तःकरण और उसकी वृत्तियां भी चेतन हैं इसीसे तू उनको अपना स्वरूप समझ ले ऐसी भ्रान्ति है, उस भ्रान्तिको निवारण करना है इससे अन्तःकरण और वृत्तियों के साक्षी का कथन है। जब किसी पदार्थ का बोध कराना होता है तब उससे मिलती झुलती वस्तु को कह करके उसकी विशेषता आदि सम-झाते हुए जिसे समझाना है उसे समझाते हैं। जिस प्रकार प्रकाश वाले तारे के सहारे सूक्ष्म ऐसी अरु-धति को समझाया जाता है। ऐसे चेतन दीखती हुई बुद्धि वृत्ति के सहारे उनका आधार, उनमें प्रकाश देने वाला, उनका साक्षी का कथन करते हैं कि यह साक्षी तू है। यद्यपि बुद्धि और उसकी वृत्तियोंके समान साक्षी में चेतन नहीं है वह चेतन स्वरूप है तब भी कुछ साम्यता है।

शिष्यः—अन्तःकरण और उसकी वृत्तियां तो पंच महाभूतों का अपंचीकृत कार्य है और मायिक तीनों गुणों से युक्त है; साक्षी इस प्रकार का नहीं है तब साम्यता कहां है ? क्या साक्ष्य के धर्म साक्षी में प्रवृत्त हो नहीं सकते ?

गुरुः—साक्षी भूतात्मक और मायिक नहीं है तो भी भूतोंका और गुणों का प्रकाशक है। साक्ष्य के धर्म साक्षी में होना ही चाहिये यह नियम नहीं है। साक्षी कहने से भी यह भले बुरे कार्य की भिन्न

स्मृति रखने वाला साक्षी नहीं है; केवल प्रकाशदाता होने से साक्षी कहा है। जैसे सूर्य सब जगत को प्रकाशित करता है, उसके प्रकाश में सबका जीवन और व्यवहार है उसे जगत का साक्षी कहा जाय, उसी प्रकार तू अन्तःकरण और उनकी वृत्तियों का साक्षी है। तुझे अन्तःकरण से समझना है इसीसे उसका साक्षी कहा है। जब मैं कहता हूँ इस प्रकार तू ठीक २ समझ जायगा तब तू सबका ही साक्षी और प्रकाशक है ऐसा तुझे अनुभव होगा। तुझे अपने बोध में, अन्तःकरण और उसकी वृत्तियों में हुआ अहं और मम भाव ही बाधा पहुँचाता है उसको हटाते हुए उनका आधार और प्रकाशक साक्षी रूप से तू अपने को समझ सकता है।

भिन्न २ बोध को करने वाला साक्षी नहीं है ऐसा कथन करने से कोई उसे जड़ मान ले उसीके निषेधार्थ कथन करते हैं कि वह चैतन्य स्वरूप है। चैतन्य चैतन्य का ही जिसमें ग्रहण हो इस प्रकार का चैतन्य-साक्षी तू है। न्याय शास्त्र के कथन के समान जड़ होकर चैतन्य गुण वाला नहीं है। जैसे मिसरी में मिठाश सिवाय और कोई वस्तु नहीं होती, मिठाश को उसमें से हटा लेने से मिसरी ही नहीं रहती; इसी प्रकार साक्षी चैतन्य स्वरूप है।

शिष्यः—जब वह साक्षी भिन्न बोध का हेतु नहीं है तब चैतन्य क्यों माना जाय? जैसे जड़ पदार्थ बोध नहीं कर सकते वैसे वह भी बोध नहीं करता। जड़ से उसमें विलक्षणता क्या है?

गुरुः—भिन्न बोध मायिक पदार्थों के करने का होता है इससे मायिक करण से ही बोध हो सकता है। मायिक बोध करने वाले अहंकार और इन्द्रियां उस साक्षी का प्रकाश लेकर पदार्थ का बोध करने में समर्थ होते हैं, इसीसे जो जड़को चैतन्यता देकर बोध कराने का सामर्थ्य देता है उसे जड़ किस प्रकार कहा जाय। जो साक्षी जड़ हो तो दूसरों को चैतन्य युक्त न करे।

शिष्यः—आपके कथन के अनुसार साक्षी को चैतन्य का ढेर माना जाय, जड़ न माना जाय तो भी उसमें आनन्द कहां है? जगत् में देखते हैं कि चेतन प्राणियों को आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। उस साक्षी में आनन्द की प्रतीति नहीं होती आनंद रहित ऐसा साक्षी किस कामका?

गुरुः—तू जैसा कहता है इस प्रकार नहीं है जैसे चैतन्य उसका स्वरूप है इसी प्रकार आनंद भी उसीका स्वरूप है और चैतन्य स्वरूप से आनंद स्वरूप भिन्न भी नहीं है। जैसे सब पदार्थों का प्रकाश चैतन्य से होता है इसी प्रकार सब आनंद उसमें से ही आये हुए हैं उस आनंद स्वरूप के कण से देव दानवादि विषय और ऐश्वर्य में आनंद वाले होते हैं वह आनंद का खजाना है। ब्रह्मांड भरमें जितना आनंद, ज्ञान अज्ञान और स्वरूप में है वह सब उसीका है, उसको छोड़कर और कोई आनंद नहीं है, न कोई आनन्द देने वाला है। अज्ञान से बहुत समय पर दुःखका भान होता है, आनन्द का भान नहीं होता वह भी आवरण विक्षेप दोष से दुःखाकार वृत्ति से ऐसा होता है। आनन्द स्वरूप के आनंद में कभी न्यूनाधिक नहीं है वह कभी हो और कभी न हो इस प्रकार का आनन्द नहीं है और विषयादि में प्रतिबिम्बित हुआ आनन्द प्रतीत होता है।

इस प्रकार चैतन्य और आनन्द स्वरूप के साथ तू सत्य स्वरूप भी है। विकारी भावों के विकार का आधार और प्रकाशक होने से सत्यत्व का भी लोप

नहीं होता। तू अवाधित सत्य है। जिसका कभी भी किसी प्रकार देशकाल और वस्तु के सम्बन्ध से वाध न हो उसे अवाधित कहते हैं, जो अवाधित होता है वह ही वास्तविक सत्य होता है। शरीर की तीन अवस्था जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति हैं। जगत में स्थूल शरीर के भान सहित इन्द्रियां प्राण द्वारा चेष्टा होती रहती है वह जाग्रत अवस्था है यहां की सब चेष्टा उत्पत्ति नाश वाली और विकारी है इन सबका आधार उन समुदाय में रहा हुआ तू विकार रहित है, तेरा कभी नाश नहीं होता इसीसे तू सत्य स्वरूप है। स्थूल शरीर, जाग्रत अवस्था और उनकी क्रियाओं का स्वप्नावस्था में वाध होता है; उस अवस्था में सूक्ष्म अपंचीकृत शरीर है, वहां स्थूल पंचीकृत स्थूल शरीर का अनुसंधान छूट जाता है और वहां की सृष्टि और चेष्टा सब स्वप्नमय है, जाग्रत अवस्था से उसका सबा सम्बन्ध नहीं है ऐसी सब विलक्षणता होते हुए भी जो तू विकार रहित सत्य स्वरूप जाग्रत में है वही स्वप्न में होता है, तू स्वप्न के साथ विकारी नहीं होता। तू न स्वप्न के साथ उत्पन्न होता है न निवृत्ति में निवृत्त होता है। सुषुप्ति अवस्था में स्थूल सूक्ष्म और अन्तः-करण की स्थूल सूक्ष्म चेष्टाओं का सबका अभाव होता है, वहां सबका अभाव ही होता है कि जो अन्य अवस्था में तू अपने को व्यक्तिरूप मानता था वहां व्यक्तित्व का भी अनुसंधान नहीं रहता, तो भी तू तो सत्य स्वरूप जाग्रत स्वप्नावस्था में था वैसा ही वहां विकार रहित है इसीसे ही सत्य स्वरूप है। सब कोई बदलने वाले हैं, उन सब बदलने वाले की सिद्धि कोई न बदलने वाले में ही हो सकती है इसीसे सब बदलने वाले का आधार सत्य स्वरूप तू है।

इस प्रकार सबका साक्षी, चैतन्य, आनंद और सत्य स्वरूप तू है ऐसा अपने स्वरूप को तू क्यों नहीं जानता? सत् चित् और आनन्द जितना है वे सब तेरे आत्म स्वरूप हैं ऐसा प्रत्यक्ष है तब भी बड़ा आश्चर्य है कि तू अपने स्वरूप को नहीं जानता, वह छिपा पदार्थ नहीं है हमेशा प्रकट है फिर भी तू जानता नहीं है।

शिष्यः—आत्मा अद्वितीय है ऐसा सुना है और आप सबका साक्षी, सत् चित् और आनंद से तीन प्रकार का कथन करते हो यह अद्वितीय तीन प्रकार का कैसे हुआ?

गुरुः—सच्चिदानन्द करके तीन प्रकार से तुझे समझाया है इससे यह तीन प्रकार का है ऐसा मत समझ। जो सत् है वह ही चित् है और जो चित् है वह ही आनन्द है जगत् के पदार्थों के साथ उसके भान होने में तीन भेद हैं, वस्तु स्वरूप में भेद नहीं है। सच्चिदानन्द सब अवस्था में एकसा भरा हुआ होकर भी मायिक पदार्थों में एक प्रकार से भान नहीं होता। जड़ पदार्थों में सत् की प्रतीति होती है, अन्तःकरण और वृत्तियों के साथ चेतन की प्रतीति होती है और एकाग्रता में आनंद की प्रतीति होती है। मायिक तीन प्रकार के पदार्थों में तीन प्रकार के भान होने से समझाने के समय में सच्चिदानन्द कहा है।

आत्म स्वरूप एक ही है तो भी अविद्या की दूरी से उसमें भेद प्रतीत होता है। उसके बहुत समीप में आनन्द सहित चेतन और सत् का भी भान होता है, वृत्ति आदिमें सत् सहित चेतन का भान होता है और जगत् में जो जड़ पदार्थ कहे जाते हैं उनमें सत् का ही भान होता है। अज्ञानिओं को इस प्रकार भान होता है तो भी ज्ञानी पुरुषों को सब स्थान में एकसा अखंडित सच्चिदानन्द स्वरूप का अनुभव होता है। अपूर्ण।

महोपनिषद् ।

(गतांक से आगे)

प्रथम शमदमादि गुणों से शिष्य की शुद्धि करनी चाहिये और पश्चात् 'यह सब शुद्ध ब्रह्म है और वही तू है' ऐसा बोध करना चाहिये ॥ १०४ ॥ अज्ञ को अथवा अर्ध प्रबुद्ध को जो 'सब ब्रह्म है' ऐसा उपदेश देता है, वह उसको महान् नरकों के प्रति भेजता है ॥ १०५ ॥ जिसकी बुद्धि जागृत हुई है जिसकी भोगेच्छा क्षीण हुई है और जिसको किसी प्रकार की इच्छा न हो ऐसे पुरुष को, अब इसमें अविद्या मल नहीं है ऐसा जान कर, प्राज्ञ गुरु उपदेश प्रदान करे ॥ १०६ ॥ दीप से जैसा प्रकाश होता है, सूर्य से दिवस होता है, पुष्प से सुगंध फैलता है, इसी प्रकार चित् में जगत् सत्य है, ॥१०७॥ ऐसा भासता है मात्र, परन्तु परमार्थ से जगत् है ही नहीं। ज्ञान दृष्टि प्राप्त होकर ज्ञान का उदय होने से ॥१०८॥ तू स्वस्थ होकर मेरे नाना प्रकार के कथन का बलाबल ठीक २ पहिचानेगा। अविद्या के उत्तम रूप से जब अपने स्वरूप की खोज होती है तब ॥१०९॥ सब दोष और पाप को निवृत्त करने वाली विद्या, हे ब्रह्मन्, प्राप्त होती है। अस्त्र का अस्त्र ही से निवारण होता है, मल ही से मल धोया जाता है ॥११०॥ विष ही से विष शान्त होता है और शत्रु ही शत्रु को मारता है। इसी प्रकार यह अविद्या अपने नाश ही से आनन्द देती है ॥१११॥ इसका तत्त्व देख नहीं सकते और देखते ही इसका नाश हो जाता है। इसलिये परमार्थ से यह है ही नहीं इस प्रकार दृढ़ बुद्धि से भावना करनी चाहिये ॥११२॥ सब ब्रह्म है ऐसी जो आंतर में भावना है वही मोक्ष प्रद है। भेद दृष्टि ही अविद्या है, उसको हर तरह से त्यागना चाहिये ॥११३॥ हे मुने, जिसको प्राप्त नहीं किया जाता उसी को अक्षय पद कहते हैं और यह (अविद्या) कहां से उत्पन्न हुई; हे द्विज, इसका तू विचार ही छोड़ दे ॥११४॥ इसको किस प्रकार नष्ट किया जाय इसीका विचार किया कर, यह दूर हो जाय नष्ट हो जाय तब ही तुझे उस परम पद का ज्ञान हो जायगा ॥११५॥ इसकी रोग शाला में सतत चिकित्सा करने का यत्न करता रहे कि यह कहां से आई, और किस प्रकार नाश को प्राप्त होती है ॥११६॥ जिससे कि यह फिर तुझे जन्म के दुःख में न डाल दे। चित्समुद्र अपने में अपनी लहरों से, लहराता है ॥११७॥ वह एक है और अखंड है ऐसा आन्तर में निश्चय रख। चित्सागर में किंचित् क्षोभ रूप चिच्छक्ति (चित् शक्ति) है ॥११८॥ वह तन्मय रूप से और उसीमें, जैसे समुद्र में लहरें उठती हैं वैसे, स्फुरती है; जैसे आकाशमें अपने ही में अपने से वायुका स्फुरण होता है ॥११९॥ उसी प्रकार आत्मा अपनी शक्तिही से अपनेमें हिलोरें लेता है, वैसेही उसी क्षण यह देवी (चिच्छक्ति) सर्व शक्तिमान रूप से स्फुरण पाती है ॥१२०॥ जब ऐसे ब्रह्म के स्थान पर यह टिकी हुई होने से अपने स्वभाव को जानने के अतिरिक्त देशकाल क्रिया की शक्ति इसको हटाने में समर्थ नहीं होती ॥१२१॥ यह अव्यक्त होते हुए भी परिमित रूपों की भावना करती है और जैसे ही इस परम शक्ति ने रूप की भावना की ॥१२२॥ नाम संख्या आदि दृश्य प्रकट होगये, यही देशकाल क्रिया के आधार रूप यह विपरीत ज्ञानमय ॥१२३॥ चित् के रूप ही को, हे ब्रह्मन्, क्षेत्रज्ञ कहते हैं। वासना की कल्पना करके फिर वह अहंकार युक्त हो जाता है ॥१२४॥ अहंकार निर्णय करता है बुद्धि ही संकल्प की आकृति धारण करती है वह मन हो जाता है

॥१२५॥ मन का विकल्प घनता को प्राप्त होता है वह धीरे धीरे इन्द्रियत्व को प्राप्त होता है और आगे हाथ पैर वाला देह इन इन्द्रियों से बनता है, ऐसा विद्वानों का मत है ॥१२६॥ इस प्रकार वासना की रस्सी से बंधा हुआ और दुःखों से घिरा हुआ यह क्रम से नीचत्व को प्राप्त होता है ॥१२७॥ इस प्रकार चित् शक्ति रूप से घन अहंकारवान् होकर कोष के कीड़े के समान अपने आपही बंधन को प्राप्त होता है ॥१२८॥ जंजीर से बंधे हुए सिंह के समान यह अपनी ही कल्पना से खड़े किये हुए तन्मात्राओं की जाल में अत्यन्त विवश हो जाता है ॥१२९॥ यह कहीं मन तो कहीं बुद्धि, कहीं ज्ञान तो कहीं क्रिया और कहीं अहंकार तो कहीं यह चित्त कहा जाता है ॥१३०॥ कहीं इसको प्रकृति कहते हैं, कहीं माया मानते हैं, कहीं इसको मल तो कहीं कर्म कहते हैं ॥१३१॥ कहीं इसको बंध नाम मिलता है, तो कहीं इसे पुर्यष्टका कहते हैं और कहीं अविद्या तो कहीं इच्छा मानते हैं ॥१३२॥ जिस प्रकार फल से निकला बड़का बीज अपने भीतर बड़का वृक्ष धारण करता है, इसी प्रकार यह अखिल संसार वासनापाश को दृढ़ जमाने वाला है ॥१३३॥ चिन्ता की ज्वाला से जलते हुए, कोप रूप अजगर के निगले हुए, काम सागर के हिलोरों में प्रेम रखने वाले और अपने पितामह रूप परमात्मा को भूल गये हुए ॥१३४॥ कीचड़ में फंसे हुए हाथी के समान इस मन का (विषय रूप कीचड़ से) उद्धार कर । इस प्रकार ये सब जीवाश्रित भाव संसार की भावनाही से उत्पन्न होते हैं, ये सब लाखों और करोड़ों की संख्यामें ब्रह्माकी कल्पनासे उत्पन्नहुए हैं और अभी भी सब तरफ उत्पन्न होते ही रहते है, ॥१३५-१३६॥ जैसे एक झरने से उसकी बूंदों द्वारा दूसरे अनेक प्रवाह चालू हो जाते है , इनमें कइयों के प्रथम जन्म होते हैं तो दूसरों के सौ से भी अधिक जन्म हुए होते हैं ॥१३७॥ कइयों के असंख्य जन्म हुए होते हैं तो कइयों को दो तीन भव हुए होते हैं कई मनुष्य, गंधर्व, विद्याधर और नाग होते हैं ॥१३८॥ तो कई सूर्य, चन्द्र, वरुण, शिव, विष्णु और ब्रह्मा होते हैं, तो कई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र बन जाते हैं ॥१३९॥ कई तृण, औषधी, वृक्ष, फल, मूल, चन्दन तथा कई कदम्ब जंबीर, साल, ताल, तमाल होते हैं ॥१४०॥ कई महेंद्र, मलय, सह्य, मंदर तथा मेरु बनते हैं । कई क्षार, समुद्र, तथा दूध, दही ऊख के पानी के समुद्र बनते हैं ॥१४१॥ कई विशाल पर्वत शिखर होते हैं, तथा कई बड़े वेग वाली महा नदियां होती हैं । मृत्युद्वार गेंद के समान वारंवार आहत होने से कई आकाश में उड़ते हैं और फिर नीचे गिरते हैं । कई अज्ञानी सहस्रों जन्मों को भोग कर विवेक प्राप्त करके भी संसार के कष्ट में गिरते हैं । जब दिशा काल आदि से अमर्यादित ऐसा आत्मतत्त्व अपनी शक्ति से ॥१४२—१४४॥ लीला वश दिशा काल से मर्यादित शरीर धारण करता है यह ही परम तत्त्व जीव के परिणाम रूप वासना धारण करके ॥१४५॥ दृश्य को ग्रहण करने के लिये तैयार रहने वाला मन बन जाता है । जानने वाली मनःशक्ति तत्काल (इस प्रकार) प्रथम भावना करती है—॥१४६॥ शब्द तन्मात्रा मय और आकाश तत्त्व को उत्पन्न करने वाले सूक्ष्म आकाश की यह भावना करता है, पश्चात् यह मन अधिक स्पंद के कारण घनता को प्राप्त होता है तब यह ॥१४७॥ स्पर्श तन्मात्रामय और वायु को उत्पन्न करने वाले अग्नि स्पंद की भावना करता है, आकाश और वायु के दृढ़ अभ्यास के पश्चात् ॥१४८॥ शब्द और स्पर्श की तन्मात्राओं के परस्पर संघर्षण से रूप तन्मात्रा वाला और

शब्द, स्पर्श रूप तीनों से युक्त अग्नि उत्पन्न होता है ॥१४६॥ इन गुणों को प्राप्त हुआ मन रस तन्मात्रा भावनाकरता है, उसी क्षण जलकी शीतलता (सरदी) उसमें आजाती है तब से जल का ज्ञान हो जाता है ॥१५०॥ फिर उन गुणों से युक्त हुआ मन उसी क्षण गंध तन्मात्रा की भावना करता है और उससे पृथ्वी उत्पन्न होती है ॥१५१॥ अब यह इस प्रकार भूत तन्मात्राओं से युक्त मन सूक्ष्मता का त्याग कर एक आग की चिनगारी के समान एक शरीर आकाश में देखने लगता है ॥१५२॥ इसमें अहंकार की कला होती है और बीज रूप से बुद्धि भी होती है उसीको भूतोंको भोगने वाला पुर्यष्टक कहते हैं ॥१५३॥ उसीमें तीव्र संवेग से भावना करने पर एक तेजोमय देह उत्पन्न होता है, जैसे पकाने से बिल्वफल कठिन होजाता है ॥१५४॥ शुद्ध आकाश में स्फुरित, मुषा में गलाये हुए सोने के समान प्रभावाला, यह तेज अपने स्वभाव ही से स्थिर हो जाता है ॥१५५॥ ऊपर पिंड के समान शिर नीचे पैर बाजू को हाथ औरबीच में पेट, ॥१५६॥ इस प्रकार वह समय पाकर एक अच्छा देह तैयार हुआ जिसमें बुद्धि, तेज, बल, उत्साह, विज्ञान और ऐश्वर्य अवस्थित थे ॥१५७॥ यही सब लोकों का पितामह ब्रह्मा है। अपने उत्तम शोभा वाले शरीर को देख कर, तीनों काल का विशुद्ध ज्ञान रखने वाला वह भगवान् ब्रह्मा चिन्ता करने लगा कि इस केवल चिदाकाश में ॥१५८॥ अदृष्ट के अन्त तक प्रथम क्या होगा इस प्रकार चिंता करने वाले ब्रह्माको तत्काल शुद्ध आत्म दृष्टिप्राप्त हुई ॥१६०॥ जैसे २ वह सब के धर्म गुण क्रम से याद करने लगा वैसे २ वह उन पदार्थों को चारों तरफ संख्याबद्ध उत्पन्न हुए देखने लगा ॥१६१॥ उसने लीलामात्र के संकल्प द्वारा गंधर्व नगर के समान नाना प्रकार की और नाना आचार विचार वाली प्रजा उत्पन्न की ॥१६२॥ उनके स्वर्ग और मोक्ष के लिये तथा धर्म, अर्थ और काल की सिद्धि के लिये उसने नाना प्रकार के अनंत शास्त्रों की कल्पना की ॥१६३॥ इस जगत् की स्थिति विरंची रूप मन से हुई होने से उसकी स्थिति और उसके नाश से इसका नाश होता है ऐसा कहते हैं ॥१६४॥ परमार्थ से न कुछ कहीं उत्पन्न होता है न मरता है सब कुछ मिथ्या ही नजर आता है ॥१६५॥ आशा रूप सर्प के कोप रूप इस संसार आडंबर का त्याग कर और यह सब असत् है, ऐसा जान कर इसमें मिथ्या भाव धारण कर ॥१६६॥ गंधर्व नगर अच्छे हों या बुरे, उसमें सुख दुःख क्या? इसी प्रकार अविद्याके अंशरूप पुत्रादिमें सुख दुःखका संभव कहां? ॥१६७॥ धन और स्त्री अपनी वृद्धावस्थामें दुःख ही देते हैं सुख नहीं देते; फिर इन वृद्ध मोह और माया में सुख की इच्छा कौन करेगा? ॥१६८॥ जिन भोगों से मूर्ख में राग उत्पन्न होता है उन्हीं भोगों की अधिकता से प्राज्ञों में वैराग्य उत्पन्न होता है ॥१६९॥ इसलिये, हे तत्त्वज्ञ निदाघ, इस संसार के व्यवहार जो जो नष्ट हो जाय उसकी उपेक्षा करके जो जो प्राप्त हो उसका उपभोग कर ॥१७०॥ अप्राप्त भोगों के लिये हार्दिक अनिच्छा और प्राप्त भोगों का उपभोग, यही पंडितके लक्षण हैं ॥१७१॥ सत् और असत् दोनों में रहने वाले पद को जान कर अवलंबन कर, तथा आभ्यंतर और बाह्य का द्रव्य न छोड़, न ग्रहण कर ॥१७२॥ जैसे कमल पानी से लेपायमान नहीं होता, जिस ज्ञानीको कर्म करते हुए न इच्छा है न अनिच्छा, उसकी प्रज्ञा वैसे लेपायमान नहीं होती ॥१७३॥ यदि तेरे हृदय में इन्द्रियों के विषयों से सुख नहीं होता हो तो, हे ब्राह्मण, तूने जानने योग्य जान लिया है और भव सागर से पार हो गया है ॥१७४॥ उच्च पदकी प्राप्ति के लिये सूक्ष्म बुद्धि से, पुष्प से गंध पृथक् होता है वैसे वासनाओं से

चित्त वृत्ति को पृथक् कर ॥१७५॥ इस संसार सागर में वासना जल भर जाने पर जो प्रज्ञा के नाव पर आरूढ़ होते हैं ऐसे पंडित उससे पार हो जाते हैं ॥१७६॥ ब्रह्मविद् पुरुष जगत् के व्यवहार को न चाहते हैं न त्यागते हैं, वे व्यवहार में सबका अनुकरण करते हैं ॥१७७॥ सामान्य सत्ता रूप, अनन्त, आत्म तत्त्व रूप चित् का चेत्य दृश्य की ओर मुख फेरना इसी को संकल्प का अंकुर जानो ॥१७८॥ प्रथम सूक्ष्म सत्ता पाकर वही धीरे२ घनता को प्राप्त होता है और मेघ आकाश को भर देता है वैसे यह चित्ताभ्र को पूर्ण रीति से भर देता है ॥१७९॥ चिति मानो अपने से भिन्न ऐसे दृश्य की भावना करती है और बीज जैसे अंकुर पैदा करती है वैसे उत्पत्ति करती है ॥१८०॥ संकल्पसे स्वयं ही उत्पत्ति होती है यही संकल्पन है; वह फिर तुरंत बढ़ने लगता है; परन्तु दुःख ही के लिये, सुख के लिये नहीं ॥१८१॥ उत्पत्ति का संकल्प मत कर और स्थिति का भाव न रख; क्योंकि संकल्प का नाश होने पर वह फिर (यहां) नहीं आता ॥१८२॥ भावनाका अभाव करने से संकल्प आप ही आप क्षीण हो जाता है। हे मुने, संकल्प से संकल्प को और मन से मन को ॥१८३॥ काट कर आत्मा में स्थित हो। क्या यह तेरे लिये अति दुष्कर है? जैसा यह आकाश शून्य है वैसे यह जगत् भी शून्य है ॥१८४॥ जैसे चावल का भूस और तांबे की काई परिश्रम करने से दूर होती है वैसे ही पुरुष का मल परिश्रम करने से दूर होता है ॥१८५॥ जीव का मल और चावल के छिलके इनके साथ ही उत्पन्न होते हैं तो भी ये निःसंदेह नष्ट हो जाते हैं; इतना बस है इसलिये इसके दूर करने के लिये उद्योग अवश्य करना चाहिये ॥१८६॥

॥ इति पंचम अध्याय ॥ अपूर्ण।

ब्रह्मसूत्र भाषा दीपिका।

(गतांक से आगे)

जैसी अग्नि की चिनगारियां होती हैं वैसा जीव ईश्वर का अंश है यही मानना ठीक है। अंश के समान अंश होता है और परमात्मा निरवयव होने से उसका मुख्य अंश नहीं बन सकता। और यदि ईश्वर निरवयव है तो वही जीवात्मा क्यों नहीं है यानी दोनों को भिन्न क्यों मानना चाहिये? जीवात्मा और परमात्मा भिन्न हैं ऐसा श्रुतिमें व्यवहार किया गया है। इसलिये 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः [छां० ८।७।१] (उसको खोजना चाहिये, उसको जानने की इच्छा करना चाहिये), 'एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति' [बृ० ४।४।२२] (इसीको जानने से वह मुनि होजाता है), 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरोयम यति' (वह आत्मा में रहकर आत्मा का भीतर से नियमन करता है) इत्यादि श्रुतियों में जीवात्मा और परमात्मा भिन्न है, ऐसा व्यवहार पाया जाता है वह दोनों को भिन्न न माने तो युक्त नहीं होता।

अब इनमें स्वामी सेवक सम्बन्ध है ऐसा माने तो श्रुतिका भेद निर्देश अधिक युक्त प्रतीत होता है, ऐसा कोई कहे तो उसके उत्तर में सूत्रकार कहते हैं कि 'और अन्य प्रकार से भी कथन किया गया है।'

जीवात्मा परमात्मा का अंश है, यह केवल उनका श्रुतिमें भिन्न कथन किया है, इतने ही से नहीं, परन्तु श्रुतिमें उनका अन्य प्रकार से यानी दोनों अभिन्न हैं ऐसे कथन से भी यही विदित होता है।

अथर्ववेद की एक शाखा के अनुयायी ब्रह्म सूत्र में 'पारधीपन और जुआरीपन आदि ब्रह्म ही के धर्म हैं' ऐसा कहते हैं; जैसे, 'ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मैवेमे कितवाः (दाश ब्रह्म है, दास ब्रह्म है और ये जुआरी भी ब्रह्म ही है) इत्यादि। दाश उनको कहते हैं जो पारधी नाम से प्रसिद्ध हैं, स्वामी के लिये अपने शरीर से कष्ट करते हैं उनको दास कहते हैं और जुआ खेलने वालों को कितव कहते हैं; ये सभी ब्रह्म ही हैं। इस वाक्य में नीच जाति के प्राणियों के उदाहरण देकर श्रुति कथन करती है कि नामरूप से उत्पन्न हुए शरीर इन्द्रिय आदि के संघात में प्रविष्ट हुए सब जीव ब्रह्म ही है। अन्य श्रुतियों में भी ब्रह्म की प्रक्रिया में इसी बात का विस्तार किया है। 'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेन वंचसि त्वं जातो भवसि विश्वतो मुखः।' [श्वे० ४।३] (तू स्त्री है, तू पुरुष है, तू ही कुमार और कुमारी है, तू ही बुढ़ापे में लकड़ी लेकर चलता है, तू ही चारों ओर उत्पन्न होता है।), 'सर्वाणि-रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते' [तै० आ० ३।१२।७] (ज्ञानवान् आत्मा सब रूपों को उत्पन्न करके उनके नाम रखते हुए उन नामों से बुलाया करता है), 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' [बृह० ३।७।२३] (इससे भिन्न और कोई द्रष्टा नहीं है) इत्यादि श्रुतियों से यही बात सिद्ध होती है। और जैसे अग्नि और चिनगारियों में उष्णता यह गुण सामान्य है, वैसे जीव और ईश्वर में चैतन्य गुण समान हैं। अर्थात् इस प्रकार जीव और ईश्वर में भेद और अभेद, दोनों वर्तमान होने से जीव ईश्वर का अंश है यही विदित होता है ॥४३॥

और कैसे जाना जाता है कि जीव ईश्वर का अंश है ?

मंत्रवर्णाच्च ॥ २ । ३ । ४४ ॥

अन्वय और अन्वयार्थः—च और **मंत्रवर्णात्** मंत्र वर्ण से भी [जीवात्मा परमात्मा का अंश है ऐसा विदित होता है]।

टीकाः—'तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥' [छां० ३।१२।६] (इतनी इस गायत्री नामक पुरुष का महिमा है, इससे पुरुष और महान् है; सब भूत इसका एक पाद है और उसके तीन पाद प्रकाश-वान् आत्मा में स्थित हैं), इस प्रकार मंत्र वर्ण से भी यही बात सूचित होती है। यहां 'भूत' शब्द से स्थावर जंगम का निर्देश किया गया है, क्योंकि 'अहिंसन् सर्व भूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः [छां० ८।१५] (तीर्थों को छोड़कर अन्य सब स्थान पर हिंसा न करने वाला) इस प्रकार प्रयोग मिलता है। अंश, पाद भाग, ये सब एकही अर्थ के शब्द हैं। इनसे भी अंश भावकी सिद्धि होती है ॥४४॥

और किस प्रकार जाना जाता है कि जीव ईश्वर का अंश है ?

अपि च स्मर्यते ॥ २ । ३ । ४५ ॥

अन्वय और अन्वयार्थः—अपि च और **स्मर्यते** स्मृति में भी ऐसा ही कहा है।

टीकाः—भगवद्गीता में भी जीव ईश्वर का अंश ऐसा कहा है; जैसे 'ममैवांशो जीव लोके जीव भूतः सनातनः [भ० गी० १५।७] (जीव लोक में मेरा

ही एक सनातन अंश जीव बना हुआ है)। इससे भी अंशत्व जाना जाता है।

परन्तु 'नियम्य नियामक भाव इस लोकमें केवल स्वामी सेवक ही में देखा जाता है' ऐसा पूर्वपक्षी का कहना है। (उसका उत्तर यह है कि) यद्यपि इस लोकमें ऐसा ही प्रसिद्ध है तो भी ईश्वर और जीवमें अंश अंशित्व और नियम्य नियामक ऐसे दोनों भावों का शास्त्र द्वारा निश्चय होता है। अत्यंत उत्कृष्ट उपाधि से युक्त ईश्वर, अत्यन्त निकृष्ट उपाधि से युक्त जीवका नियमन करता है ऐसा कहने में कुछ भी विरोध नहीं है ॥४५॥

पूर्वपक्षः—जीव ईश्वर का अंश है ऐसा माना जाय तो उसके संसार दुःखों के भोग से जिसका वह अंश है ऐसे अंशी ईश्वर को भी दुःख होगा। जैसे, इस लोकमें देवदत्त के हाथ पांव आदिमें से किसी अवयव में दुःख होने से अवयवी देवदत्त को पीड़ा होती है वैसा ही यह समझो। इसीलिये ईश्वर को प्राप्त हुए जीवोंको और भी अधिक दुःख प्राप्त होगा और पश्चात् पूर्वकी संसार अवस्था ही इससे अच्छी थी ऐसा उनको प्रतीत होगा और ऐसा होने से सम्यक् ज्ञान निरर्थक होने का प्रसंग प्राप्त होगा। इसका समाधान कहते हैं—

प्रकाशादिवन्नैवं परः॥ २ । ३ । ४६ ॥

अन्वय और अन्वयार्थः—परः परमात्मा **प्रकाशादिवत्** प्रकाश आदि के समान **एवं** [जीवात्मा दुःखी होता है] वैसा **न** [दुःखी] नहीं होता।

टीकाः—जैसे जीवात्मा संसार दुःखों का अनुभव करता है वैसे परमात्मा संसार दुःखों का अनुभव नहीं करता यह हम प्रतिज्ञासे कहते हैं। क्योंकि, जैसे जीव अज्ञान की जालमें फँसकर देहादिको ही अपने आत्माके समान मानने लगता है और उनके दुःखोंसे मैं दुःखी हूँ, ऐसा अविद्याजनित दुःख के उपभोग का अभिमान करता है वैसे परमात्मा को न शरीर आदि में अहंभाव है, न दुःख का अभिमान है। जीव को होने वाला दुःख का अभिमान भी सच्चा नहीं है; अज्ञान से उत्पन्न हुए नाम रूप और उनसे उत्पन्न हुए शरीर, इंद्रिय आदि उपाधियों से 'मैं पृथक् नहीं हूँ' जो उसकी भ्रांति होती है उसीका वह फल है। जैसे जीवात्मा को शरीर का अभिमान भ्रांति के कारण होने से उस शरीर का दाह, छेद आदि होने से उस दुःख का वह अनुभव करता है वैसे ही पुत्र मित्र आदि में भी स्नेह वश "मैं ही पुत्र हूँ, मैं ही मित्र हूँ" इस प्रकार उनमें, मानो उसने प्रवेश किया हो वैसे, उसके अभिमान की भ्रांति से ही उनके दुःखों का अनुभव करता है। इसलिये, भ्रांति वश मिथ्या अभिमान धारण करने ही से उस अभिमान से ही दुःख का अनुभव होता है ऐसा निश्चय होता है।

लोगों में (दुःख का) व्यतिरेक देखने में आता है उससे भी यही निश्चय होता है। जैसे, पुत्र, मित्रादि का सम्बन्ध रखने वाले उसके संबंधके अभिमानी कई पुरुष बैठे हों और अन्य पुरुष भी बैठे हों, और "पुत्र मर गया, मित्र मर गया" इस प्रकार घोषणा कीजाय तो जिनको पुत्र मित्र भाव का अभिमान हो, उनही को उसका दुःख होता है; उस अभिमान से रहित हों ऐसे परिव्राजक को उसका दुःख नहीं होता।

अपूर्ण।

वेदान्त दीपिका

इस ग्रन्थ में जिज्ञासु को स्वाभाविकता से होने वाले प्रश्नों का अत्यन्त मार्मिकता से समाधान किया गया हैं। वेदान्त विषय के चौवीस प्रश्न ये हैं:-

१—एक ब्रह्म के सिवाय और कुछ नहीं हैं; तब संसार क्या है? ब्रह्म चैतन्य और जगत् जड़ है इसलिये जड़ जगत् चैतन्य ब्रह्ममें से नहीं होसक्ता। २—जीव क्या चीज़ है? चैतन्य हो तो चैतन्य असंग है इसलिये कर्ता भोक्ता नहीं हो सकता और जड़ हो तो क्रिया नहीं कर सकता। ३—अज्ञान और ज्ञान किसको होता है? ४—जगत् प्रत्यक्ष है और तुम एक ब्रह्मको और बताते हो तब जगत् और ब्रह्म दो होने से द्वैत हुआ। अद्वैत कैसे है? ५—पाप, पुण्य, स्वर्ग, नरक और मोक्ष क्या चीज है? कर्म कहां रहते हैं? ६—माया अनादि मानते हो तो अनादि का नाश कभी नहीं होता इसलिये माया कभी नहीं छूटेगी और जीवका कभी मोक्ष न होगा, फिर मोक्ष क्या? ७—असंग होकर ब्रह्म सृष्टि का कर्ता कैसे है? एक ही सब व्यवहार का हेतु है तो सब एक समान क्यों नहीं होते? ८—पुनर्जन्म का शास्त्र वाक्य के सिवाय क्या सबूत है? पुनर्जन्म होता है तो याद क्यों नहीं रहता? ९—पूर्वजन्म में किये हुये कर्मों का फल इस जन्ममें भोगा जाता है, पाप कर्म का फल दुःख भोग होता है, पूर्वजन्म की याद नहीं, किये हुये कर्मों की खबर नहीं, पाप जाने बिना पाप का फल भोगना यह अन्याय क्यों है? १०—एक शरीर से किये हुये शुभ अशुभ कर्मों का फल दूसरे शरीर से भोगना यह अन्याय क्यों? ११—आत्मा शुद्ध है तो सब बातों को क्यों नहीं जानता? १२—प्रारब्ध का ही भोग होता है तो शास्त्र और गुरु उपदेश व्यर्थ है, प्रारब्ध से परतंत्र हुआ मनुष्य क्या कर सकता है? १३—जीव मरने के समय किस प्रकार जाता है? १४—मोक्ष सुखका किसी ने प्रत्यक्ष नहीं किया है, बिना जाने किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा नहीं होती तो मोक्षकी इच्छा कौन करेगा? १५—प्रत्यक्ष दीखने वाले संसार को तुम असत्य बताते हो और न दीखने वाले आत्मा को सत्य बताते हो, यह कैसे समझ में आवे? १६—आत्मा समान्य प्रकाश करने वाला है तो प्रकाश करने वाले दीपक के समान जड़ हुआ! सामान्य में विशेषता नहीं और विशेषता बिना चैतन्यता कहां! शरीर पैदा होता है उसमें जीवके प्रवेश होने का क्या प्रमाण है? १७—मरने के बाद सब जल कर खाक होगया, कुछ न रहा फिर जन्म किसका होगा? १८—मैं कौन हूँ किसके सहारे टिका हूँ? जाग्रतादि अवस्था क्या है? किस की है? और अवस्थाओं का फल क्या है? भावना अनुसार फल होता है तो हम राजा होने की भावना करने से राजा क्यों नहीं होजाते? १९—लोभ, क्रोध, मोह आदिकों को दुःख देने वाला जानकर भी जीव क्यों नहीं त्यागता? सब संसार और संसार के पदार्थ ईश्वर रचित हैं तो लोभ, क्रोध, मोहादिक भी ईश्वर रचित हैं, उनको जीव कैसे हटा सकता है? २०—मात्र ज्ञान ही सत्य है तो कर्म, उपासना, भक्ति आदिका विधान बताने वाले सब शास्त्र किस अर्थ हैं? २१—जीवको संसार में विशेष कर दुःख ही दुःख होता है तो जीवों को दुःख देने के लिये ऐसी दुनियां ईश्वर ने क्यों रची? २२—आत्मा शुद्ध स्वरूप है तो अशुद्ध स्वरूप वाला जीव किस प्रकार हुआ? अशुद्ध किसने किया? जड़ माया चेतन आत्मा को अशुद्ध नहीं कर सकती, स्वयं अशुद्ध हो नहीं सकती और दूसरा अशुद्ध करने वाला है नहीं। २३—ज्ञान और अज्ञान ईश्वरकृत हैं। ईश्वर ने किसी को ज्ञानी और किसी को अज्ञानी बनाया तो ईश्वर पक्षपाती हुआ, ऐसा क्यों? २४—बिना कर्म कोई शरीरधारी नहीं रह सकता, कर्म फल दिये बिना नहीं रहता, ज्ञानी भी कर्म करता है तो कर्म का फल भोगने के लिये उसको भी जन्म धारण करना पड़ेगा। जन्म धारण करके कर्म करेगा तो ज्ञानी जन्म रहित कैसे हो सकता है?

प्रत्येक प्रश्नको प्रथम युक्तिपूर्वक समझा कर उसको अधिक दृढ़ करने के लिये प्रसंगानुसार दृष्टांत देकर ग्रन्थ अत्यन्त रोचक बनाया गया है। मूल्य रु० १॥) डाकखर्चा अलग।

वेदान्त केसरी बेलनगंज—आगरा।

वेदान्त केसरी की छपी हुई पुस्तकें ।

वेदान्त केसरी मासिक पत्र—नवाँ साल चालू है वार्षिक मूल्य ३) वर्ष के मध्य में ग्राहक होने वालों को वर्ष के आरंभ से सब अंक लेने होंगे मई मास से वर्ष आरंभ होता है नमूने की कापी मुफ्त नहीं मिलती। एक प्रति का मूल्य पाँच आना। पिछले आठों साल की जिल्द (प्रत्येक बारह अङ्कों की) तय्यार हैं, थोड़ी कापियां शेष रही है। श्रीमच्छङ्कराचार्य्यके अद्वैत सिद्धान्तके अनुसार सम्पूर्ण वेदान्त की प्रक्रिया आगई हैं।

अधिकारी के लक्षण, गुरु-शिष्य लक्षण, पंचकोष विवेक, जगत्, जीव, ईश्वर, ब्रह्म, माया, अविद्या, ज्ञान, अज्ञान, आसक्ति, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, महावाक्य, जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति, छोटे छोटे उपनिषद्, स्तोत्र आदि अनेक लेख आये हैं, जो बोलचालकी बहुत ही सीधी भाषामें युक्ति और दृष्टांतपूर्वक समझाये गये हैं। बहुत ही रोचक होने से पढ़ने को लेनेके बाद पुस्तक छोड़ने को चित्त नहीं चाहता। सामान्य भाषा जानने वाले भी बारम्बार पढ़ने से आत्मबोध प्राप्त कर सकते हैं। प्रत्येक पुस्तक का मूल्य ३) सम्पूर्ण सैट यानी आठों पुस्तक का मूल्य २४)

उपासना—इसमें साकार, सगुण, निर्गुण, कार्य ब्रह्म तथा कारण ब्रह्म आदि कई प्रकार की उपासना को भिन्न २ प्रकार से समझाया है। उपासना की स्थिरता ही से मन एकाग्र होकर आत्म साक्षात्कार होता है। मूल्य ॥)

चर्पट पंजरिका—"भज गोविंदं भज गोविंदं"पद्य का विवेचन सहित भाषानुवाद है। अनेक दृष्टांतों से रोचक है। सम श्लोकी पद्य भी है। मूल्य १)

कौशल्य गीतावली भाग १—२—वेदान्त केसरी में आई हुई कविताओं का संग्रह। कविता रोचक सरल और ज्ञान के संस्कारों को प्रदीप्त करने वाली तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन रूप है। प्रत्येक भाग का मूल्य ।≠)

वेदान्त स्तोत्र संग्रह—श्रीमच्छङ्कराचार्य्य आदि के प्रतिभाशाली वेदान्त के मुख्य २ चुने हुए २१ स्तोत्रों का संग्रह किया गया है और प्रत्येक स्तोत्र का अर्थ भी सरल भाषा में दिया गया है, जो थोड़े पढ़े हुए मुमुक्षुओं को भी नित्य पाठ और श्रवण में अति उपयोगी हैं। कई संन्यासियों ने भी इसे बहुत पसंद किया है। मूल्य प्रति पुस्तक ॥) सब पुस्तकों का डाक खर्च ग्राहकों को देना होगा।

व्यवस्थापक—वेदान्त केसरी, बेलनगंज—आगरा।

केसरी प्रेस, बेलनगंज आगरा में सूरजभान गुप्त द्वारा मुद्रित और प्रकाशित।

REGD. NO. A. 1821

ॐ

वेदान्त केसरी

मासिक पत्र

पुस्तक ६ } पोष सं० १९८७ जनवरी १९३१ { अंक ६

श्लोक—तावद्गर्जन्तिशास्त्राणि जम्बुका विपिनेयथा ।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद्वेदान्त केसरी ॥

अर्थ—जब तक महाबलवान सिंह गर्जना नहीं करता तब तक वन में श्याल खूब गर्जना करते हैं। इसी प्रकार जब तक वेदान्त सिद्धान्त की गर्जना नहीं होती तभी तक अन्य लौकिक शास्त्रों की गर्जना हुआ करती है।



सम्पादक—
ब्रह्मचारी विष्णु,
बेलनगंज-आगरा।

वार्षिक मूल्य ३)   एक प्रति का मूल्य ।-)

वेदान्त केसरी की छपी हुई पुस्तकें।

वेदान्त केसरी मासिक पत्र—नवाँ साल चालू है वार्षिक मूल्य ३) वर्ष के मध्य में ग्राहक होने वालों को वर्ष के आरंभ से सब अंक लेने होंगे मई मास से वर्ष आरंभ होता है नमूने की कापी मुफ्त नहीं मिलती। एक प्रति का मूल्य पाँच आना। पिछले आठों साल की जिल्द (प्रत्येक बारह अङ्कों की) तय्यार हैं, थोड़ी कापियां शेष रही है। श्रीमच्छङ्कराचार्य्यके अद्वैत सिद्धान्तके अनुसार सम्पूर्ण वेदान्त की प्रक्रिया आगई है।

अधिकारी के लक्षण, गुरु-शिष्य लक्षण, पंचकोष विवेक, जगत्, जीव, ईश्वर, ब्रह्म, माया, अविद्या, ज्ञान, अज्ञान, आसक्ति, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, महावाक्य, जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति; छोटे छोटे उपनिषद्, स्तोत्र आदि अनेक लेख आये हैं, जो बोलचालकी बहुत ही सीधी भाषामें युक्ति और दृष्टांतपूर्वक समझाये गये हैं। बहुत ही रोचक होने से पढ़ने को लेनेके बाद पुस्तक छोड़ने को चित्त नहीं चाहता। सामान्य भाषा जानने वाले भी बारम्बार पढ़ने से आत्मबोध प्राप्त कर सकते हैं। प्रत्येक पुस्तक का मूल्य ३) सम्पूर्ण सेट यानी आठों पुस्तक का मूल्य २४)

उपासना—इसमें साकार, सगुण, निर्गुण, कार्य ब्रह्म तथा कारण ब्रह्म आदि कई प्रकार की उपासना को भिन्न २ प्रकार से समझाया है। उपासना की स्थिरता ही से मन एकाग्र होकर आत्म साक्षात्कार होता है। मूल्य ॥)

चर्पट पंजरिका—"भज गोविंदं भज गोविंदं" पद्य का विवेचन सहित भाषानुवाद है। अनेक दृष्टांतों से रोचक है। सम श्लोकी पद्य भी है। मूल्य १)

कौशल्य गीतावली भाग १—२—वेदान्त केसरी में आई हुई कविताओं का संग्रह। कविता रोचक सरल और ज्ञान के संस्कारों को प्रदीप्त करने वाली तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन रूप है। प्रत्येक भाग का मूल्य ।≈)

वेदान्त स्तोत्र संग्रह—श्रीमच्छङ्कराचार्य्य आदि के प्रतिभाशाली वेदान्त के मुख्य २ चुने हुए २१ स्तोत्रों का संग्रह किया गया है और प्रत्येक स्तोत्र का अर्थ भी सरल भाषा में दिया गया है, जो थोड़े पढ़े हुए मुमुक्षुओं को भी नित्य पाठ और श्रवण में अति उपयोगी है। कई संन्यासियों ने भी इसे बहुत पसंद किया है। मूल्य प्रति पुस्तक ॥) सब पुस्तकों का डाक खर्च ग्राहकों को देना होगा।

व्यवस्थापक—वेदान्त केसरी, बेलनगंज—आगरा।

केसरी प्रेस, बेलनगंज आगरा में सूरजभान गुप्त द्वारा मुद्रित और प्रकाशित।

REGD. NO. A. 1821

ॐ

वेदान्त केसरी

मासिक पत्र

पुस्तक ६ } पोष सं० १६८७ जनवरी १६३१ { अंक ६

श्लोक—तावद्गर्जन्तिशास्त्राणि जम्बुका विपिनेयथा ।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद्वेदान्त केसरी ॥

अर्थ—जब तक महाबलवान सिंह गर्जना नहीं करता तब तक वन में श्याल खूब गर्जना करते हैं। इसी प्रकार जब तक वेदान्त सिद्धान्त की गर्जना नहीं होती तभी तक अन्य लौकिक शास्त्रों की गर्जना हुआ करती है।



सम्पादक—
ब्रह्मचारी विष्णु,
बेलनगंज-आगरा।

वार्षिक मूल्य ३) एक प्रति का मूल्य ।–)

विषयानुक्रमणिका ।

वेदान्त केसरी के नियम ।

(१) यह पत्र प्रत्येक अंग्रेजी महीने के आदि में निकलता है ।

(२) वेदान्त विषय का विवेचन करना इसका मुख्य प्रयोजन है ।

(३) वार्षिक मूल्य ३) अग्रिम लिया जाता है । बिना मूल्य पत्र किसी को नहीं भेजा जाता है ।

(४) एक अङ्क का मूल्य ।―) नमूने का अङ्क पांच आने के टिकट आने पर भेजा जाता है ।

(५) जिन ग्राहकों के पास पत्र न पहुँचे उनको १५ तारीख तक सूचना देनी चाहिये ।

(६) एक वर्ष से कम के ग्राहक नहीं किये जाते । मध्य में ग्राहक होने वालों को चालू साल के आरम्भ से सब अङ्क लेने होंगे ।

(७) चिट्ठी लिखते समय प्रत्येक ग्राहक को अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखना चाहिये ।

ॐ

वेदान्त केसरी

पुस्तक ९ } पौष सं० १९८७ जनवरी १९३१ { अङ्क ९

मुसाफिर।

हरिगीत छन्द।

(१)

आया जहां से सैर करने, हे मुसाफिर! तू यहां।
था सैर करके लौट जाना, युक्त तुझको फिर वहां॥
तू सैर करना भूलकर, निज घर बनाकर टिक गया।
कर याद अपने देश की, परदेश में क्यों रुक गया॥

(२)

अंजान कुलटा नारि से, सम्बंध तूने कर लिया।
बच्चे हुये कच्चे हुये, जंजाल में है फँस गया॥
चें चें करें मैं मैं करें, यह हँस रहा वह रो रहा।
हे रे मुसाफिर! चेत जा, गू मूत क्यों है धो रहा॥

(३)

अंबार तेरा सत्य है, व्यवहार तेरा सत्य है।
चैतन्य में करता रमण, तू मुक्त शाश्वत नित्य है॥
सुख रूप है, निश्चिन्त है, क्यों हो रहा तू दीन है।
भाई मुसाफिर शोक तज, तू सर्व चिंता हीन है॥

(४)

संकल्प तेरा सिद्ध, तू वरदान दाता सर्व का।
अज्ञान से अपने बंधा, चाकर बना है खर्व का॥
नहिं याद करता आपको, दर २ भटकता फिर रहा।
आजा मुसाफिर! होश में, क्यों हाय, हा है कर रहा॥

(५)

फँसकर अविद्या जालमें, आनन्द अपना खो दिया।
न्हाकर जगत मल सिंधुमें, रंग रूप सुन्दर धो दिया॥
निःशोक है तू सर्वदा, क्यों मोह वश पागल भया।
तज दे मुसाफिर! नींद, जग! अब भी न कुछ तेरा गया॥

(६)

जिनको सुहृद् तू जानता, सब शत्रु हैं सच मान रे।
जीते मरे भी कष्ट दें, हित कर न उनको जान रे॥
दे त्याग ममता सर्व की, सच झूँठ को पहिचान रे।
हे रे मुसाफिर चेत हितकर, वाक्य पर दे ध्यान रे॥

(७)

आया यहां तू सैर करने, मार्ग अपना भूल कर।
खाता फिरे है ठोकरें, निज भूल अब निर्मूल कर॥
कर याद अपने धाम की, तू मत भटक अब दर ब दर।
श्रुति संत कहते हैं, मुसाफिर! मान सच विश्वास कर॥

(८)

सद्गुरु वचन शिर धार कर, व्यापार जगका छोड़ दे।
जा लौट अपने धाम में, नाता यहां का तोड़ दे॥
सद्गुरु वचन जो मानता, निश्चय अचल पद पाय है।
हे रे मुसाफिर हो सुखी, क्यों कष्ट व्यर्थ उठाय है॥

कुछ भी नहीं किया ।

जैसे भली प्रकार जोती हुई उत्तम भूमि में बोया हुआ बीज शीघ्र ही अंकुर देकर वृक्ष होजाता है और उत्तम फल देने लगता है, इसी प्रकार शुद्ध अंतःकरण से पढ़ा हुआ अथवा सुना हुआ सत्शास्त्र तुरत ही विचारांकुर उत्पन्न करके ज्ञान रूप वृक्ष होजाता है और मोक्ष रूप फलका अपूर्व स्वाद चखाता है। वेदान्त केसरी का शुद्ध मन से पाठ करके एक मुमुक्षु इस प्रकार विचार करने लगा—

मुमुक्षु—ओ हो ! मैंने आज तक कुछ न किया ! आयु के चालीस वर्ष व्यर्थ ही खो दिये ! दयालु ईश्वर जीव पर अनुग्रह करके सुर दुर्लभ, सब साधनों का धाम मनुष्य शरीर अपने अखंड आनन्द स्वरूप धाम को प्राप्त कराने के लिये प्रदान करता है मैंने उसी अमूल्य शरीर को पाकर अपना कर्तव्य नहीं किया, दूसरों का कर्तव्य ही करता रहा ! खाना पीना, सोना, विषय भोग करना तो सब ही योनियों में होसक्ता है, ईश्वर की भक्ति, ईश्वर की प्राप्ति नर शरीर में ही होसक्ती है, ईश्वर भक्ति ही मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है, सो तो नहीं किया, इतनी आयु विषय भोगों के भोगने में बिता दी ! 'आयी थी बगीचे में टहलने, बैठ गई दाल दलने !' यह ही मेरी मसल हुई ! आया था ईश्वर भजन करके अमर होने, लग गया सुत वित्तदार के लिये रोने अथवा संसार के लिये गर्दभ सम बोझा ढोने ! अपना काम छोड़ दिया, दूसरों का काम करने लगा ! जो कुछ करना था न किया, तब क्या किया ? कुछ भी नहीं किया ।

बद्रीनारायण आदि पावन तीर्थों में नहीं गया, एकादशी आदि व्रत नहीं किये, पात्रको दान नहीं दिया, साधु महात्माओं का संग नहीं किया, सत्शास्त्रों का अवलोकन नहीं किया, तीर्थों में गया भी तो सैर करने को गया, एकादशी आदि व्रत किये तो स्वादिष्ट भोजनों के लोभ से किये, दान दिया तो धूर्त पुरुषों को दिया, संग किया तो संसारी विषयासक्तों का किया, चोरी करी, जुआ खेला, ग्रन्थ पढ़े तो कुग्रन्थ उपन्यास आदि पढ़े, जिनसे मनको शान्ति के बदले विक्षिप्तता ही प्राप्त हुई ! कभी किसी की निन्दा की, दूसरों के छिद्र देखे, अपने दोषों का कभी स्वप्न में भी विचार नहीं किया ! शुभ कर्मों में कभी भूलकर भी मन नहीं लगा, अशुभ ही करता रहा ! सुख का मार्ग नहीं ढूंढ़ा, दुःख प्राप्त होने का ही उपाय किया ! जो कुछ किया उलटा ही किया, तब क्या किया ? कुछ भी नहीं किया ।

बाहर का चौका तो इतना शुद्ध रखता था कि दूसरे की छाया भी नहीं पड़ने देता था ! भीतर का चौका जिसमें मुकुंद भगवान् रहते हैं, कभी शुद्ध नहीं किया, शुद्ध ही नहीं किया उलटा इतना अपवित्र कर दिया कि भगवान् उसमें रह ही न सकें, इतने चोर उचक्के बसा लिये कि सुहृद् भगवान् को भागते ही बना ! प्रथम तो इतने अभिमान भर लिये कि जिनकी गणना न हो सके। देह का अभिमान, कुल का अभिमान, जाति का अभिमान, धन का अभिमान, जनका अभिमान, बल का अभिमान, विद्या का अभिमान, ऐश्वर्य का अभिमान इत्यादि अनेक अभिमान हृदय मन्दिर में एकत्र कर लिये कि प्रत्यक्ष से प्रत्यक्ष आनन्द स्वरूप सर्वांतर्यामी ईश्वर को छुपा दिया। जब ईश्वर दिखाई ही न दे तो ईश्वर की भक्ति कैसे हो सके ? अभिमान ही तो

आड़ है, अभिमान ही सुख सागर को छुपाने वाला और भव सागर में पटकने वाला है, अभिमान कर २ के दुःख को बढ़ाता रहा, सुख को घटाता रहा, जो कुछ किया, उलटा ही किया। तब क्या किया ? कुछ भी नहीं किया।

अभिमान ही नहीं, जो कुछ व्यापार किया, सब छल, कपट, दंभ का किया। मनमें कुछ था, बाहर का बर्ताव कुछ था ! ऊपर से भक्तों के लक्षण धारण करता था, भीतर से दूसरों का धन हरण करना चाहता था ! कहा करता था कि मैंने संसारियों का संग, संसार का काम छोड़ दिया है, रोटी खाने से मतलब रखता हूँ, अन्य झगड़ों से दूर रहता हूं परंतु जब कभी कहीं से बरात आदि के लिये निमंत्रण आजाता था, तो सबसे पहिले तैयार होजाता था ! कोई आसामी आता था, तो उससे चिकनी चुपड़ी बातें किया करता था और समय पर उसके हल जोतने की बैलों की जोड़ी तक भी कुड़क करवा लेता था। एक २ रुपये के दश २ रुपये वसूल कर लेता था, खाता फिर भी बेबाक नहीं करता था, इससे अधिक दंभ क्या होगा, 'हाथ में सुमिरणी, बगल में कतरनी' यह ही कहावत थी ! जब सरल व्यवहार ही न किया, कपट का व्यापार किया, तब क्या किया ? कुछ भी नहीं किया। शोक !

कभी किसी से मीठी वाणी नहीं बोला, मीठी बोला तो स्वार्थ साधने के लिये बोला ! नहीं तो सबको बुरी लगे, ऐसी ही कटु वाणी फूटे मुख में से निकली ! दो भाइयों में द्वेष बढ़े, ऐसा वाक्य ही बोलता रहा, हाथ से दंड अथवा पीड़ा देता रहा, जब वाणी और शरीर से ही किसी का भला न किया बुरा ही किया, तो मन से तो किसी का भला कब चाहने लगा ! तन से, मन से, वाणी से दूसरों की हिंसा ही की ! 'अहिंसा परम धर्म है' ऐसा शास्त्र महात्माओं से सुनने पर भी अहिंसा का पालन भूल कर नहीं किया ! क्रोध तो नाक पर बैठा ही रहता था ! प्रथम तो क्रोध से अपने चित्त को जलाकर अपनी हिंसा करता और फिर दूसरे की हिंसा करता था, इस प्रकार क्रोध के वश होकर अपनी और पराई दोनों की हिंसा करता रहा ! सिवाय हिंसा के अहिंसा का स्वप्न में भी पालन न हुआ, तब क्या किया ? कुछ भी नहीं किया। शोक !

बाहर और भीतर किसी प्रकार के कष्ट आजाने पर न तो कोप करे और न दूसरे को हनन करे, इसका नाम क्षमा है। जो सर्वदा अभिमान, दंभ और हिंसा ही करता रहा हो, उससे क्षमा का पालन तो हो ही कैसे सक्ता है ? नहीं होसक्ता ! बात २ पर कोप करता था, दूसरों को मन, वाणी अथवा कर्म से हनन करता था, क्षमा को तो पास तक आने नहीं देता था। शिष्टों का भूषण क्षमा ही धारण नहीं किया, तब क्या किया ? कुछ भी नहीं किया। शोक !

जो कुछ अपने मन में हो, वह ही कहना इसका नाम आर्जव है। जो दंभी पुरुष हो, भला वह आर्जव कैसे कर सक्ता है ? नहीं कर सक्ता ! सर्वदा दूसरों को वंचन ही करता रहा ! यद्यपि जानता था कि जो दूसरों को वंचन करता है। वह आप ही ठगा जाता है, फिर भी आर्जव न किया यानी दूसरों को धोखा ही देता रहा ! आर्जव ज्ञानी भक्तों का गुण है, यह भी मुझ दुराचारी से न हुआ ? तब क्या किया ? कुछ भी नहीं किया। शोक !

आचार्य की उपासना—सेवा विना किसी वस्तु की प्राप्ति नहीं होती, जो कुछ मिलता है, आचार्य की सेवा से ही मिलता है; ऐसा जानकर भी मैंने कभी आचार्य की सेवा नहीं की ! मेरे समान पापी कौन होगा ? माता पिता से भी वढ़कर आचार्य को सेवा है क्योंकि माता पिता तो जन्म और संसार के पदार्थों की प्राप्ति कराते हैं और आचर्य तो परमार्थ की प्राप्त कराकर सर्वदा के लिये आवागमन के चक्र से छुटा देता है, ऐसे परम हितैषी आचार्य की सेवा भी मैंने नहीं की, तब क्या किया ? कुछ भी नहीं किया। शोक !

शौच दो प्रकार का है; एक वाह्य का दूसरा भीतर का यानी मनका ! स्नान मञ्जन से वाहर का शौच होता है और उत्तम विचारों से भीतर का शौच होता है। वाहर का शौच अवश्य कुछ करता था और अब भी करता हूँ परन्तु अन्य जो वाहर का शौच नहीं करते, उनको देखते ही मन विगाड़ लेता हूँ; तब वाहर के शौच से क्या लाभ ? उलटी हानि ही है ! भीतर के शौच का तो कहना ही क्या है, कपटी, छली, पाखंडी से भीतर का शौच होना संभव ही नहीं है। मनके शुद्ध हुये विना न इस लोक में कीर्ति प्राप्त होती है, न उच्च लोकों का सुख मिलता है। जब इस लोक और परलोक का सुख ही नहीं मिलता, तो अक्षय मोक्ष सुख तो मिले ही कैसे ? लोक, परलोक में सुख देने वाला और अन्तमें अखंड सुख प्राप्त कराने वाला आन्तर शौच भी मुझ से न हुआ ! तब क्या किया ? कुछ भी नहीं किया। शोक !

जब मुमुक्षु मोक्ष के साधनों में लगता है, तब अनेक प्रकार के विघ्न आते हैं, उन विघ्नों से न घबराकर मुमुक्षु प्रयत्न का त्याग न करे किंतु अभ्यास को वढ़ाता ही रहे, इसको वेदवेत्ता स्थैर्य कहते हैं, मैं तो अभी तक मोक्ष मार्ग में चला ही नहीं हूँ, इसलिये मुझ से स्थैर्य भी न हुआ ! इसी प्रकार देह इन्द्रियों को वश में रखने का नाम आत्म निग्रह है, यह भी मुझ से न हुआ ! तब मैंने क्या किया ? कुछ भी नहीं किया। शोक !

श्रोत्रादि पांच इन्द्रियों के शब्दादि पांच विषय हैं। विषयों की स्पृहा कल्याण में वाधक है; इन विषयों की स्पृहा न करना वैराग्य है; यह वैराग्य भी मैंने नहीं किया किन्तु दिन प्रतिदिन विषयों की इच्छा अधिक ही होती जाती है। यद्यपि विषय भोग से तृप्ति नहीं होती, उलटी तृष्णा ही वढ़ती है, फिर भी मैं विषयों से वैराग्य नहीं करता। शोक !

'मैं सब से श्रेष्ठ हूँ' इस प्रकार के गर्व को अहंकार कहते हैं, इसके न होने का नाम अनहंकार है, यह गुण संत महात्माओं की सेवा करने से प्राप्त होता है, अहंकारी से संत महात्माओं की सेवा नहीं होसक्ती, इसलिये यह गुण भी मुझ में नहीं है। शोक !

जन्म, मरण, जरा व्याधि आदि दुःख अनेक प्रकार के दोष इस शरीर में हैं, उनका मैंने कभी विचार नहीं किया ! नव मास तक माता के उदर में रह कर फिर माता की योनि द्वारा वाहर निकलना, इसका नाम जन्म है, इस जन्म में जितना दुःख होता है, उतना दुःख नरक में भी नहीं होता ! मरण काल में प्राण के निकलते समय सर्व मर्मस्थानों का छेदन होता है, जिससे सहस्र विच्छू काटें ऐसी पीड़ा होती है, इसलिये मरण में महा कष्ट है ! बुढ़ापे में बुद्धि

मंद होजाती है, सब अंग ढीले पड़ जाते हैं, लड़के वाले कहना नहीं मानते, उलटा अनादर करते हैं, बुढ़ापे में जैसा कष्ट होता है, सबको प्रसिद्ध है ! जन्म मरण के मध्य में काश, श्वास, अतिसार, संग्रहणी, बवासीर आदि अनेक प्रकार के रोग होते हैं, इष्ट वस्तुके वियोग से अनिष्ट वस्तुकी प्राप्ति से अध्यात्म, अधिभूत अधिदैव ये तीन प्रकार के दुःख आये दिन बने ही रहते हैं, इस प्रकार इस शरीर में अनेक प्रकार के दोष हैं, इन दोषों का विचार मैंने कभी नहीं किया ! सर्वदा इस शरीरमें ममता करके इसके पोषण करने को अनेक प्रकार के पाप करता रहा ! जब पाप ही किये तब क्या किया कुछ भी नहीं किया ! महा शोक !

अस्तु; जो कुछ होगया सो होगया अब बीती हुई का सोच करना वृथा है, आगे के लिये मुझे संभल जाना चाहिये । जो शास्त्रको पढ़कर धारण नहीं करता, उसके लिये शास्त्र भार रूप है, जो शास्त्र को पढ़ कर उसके अनुसार वर्तता है, उसीको शास्त्र फल दायक होता है । दुर्जनों के संसर्ग से सांसारिक दोष उत्पन्न होते हैं, संग दोषसे शुभ गुणोंका नाश होता है, इसलिये मुझे दुर्जनों का संग प्रथम त्यागना चाहिये । दुर्जनों के पास बैठने से, उनके साथ भाषण करने से, उनका स्पर्श करने से, उनके साथ भोजन करने से, पाप का संक्रमण होता है । शास्त्र में कहा है कि कुसंग, कुचिंता, कुपुस्तक, कुशब्द, कुद्रव्य, कुकर्म और कुमित्र को शीघ्र ही त्याग देवे, जैसे दुष्ट स्वभाव वालों का संग भय का देने वाला है, इसी प्रकार सदाचारी पुरुषों का संसर्ग दुःखों की औषधि है, सत्पुरुषों के संगमें बैठे, सद्ग्रन्थ का अवलम्बन लेवे, सत् का चिंतवन करे, सुकृत और शुद्धता का सर्वदा अभ्यास करे । शरीर मन और वाणी से पुण्य कर्म करने वाला होवे, धर्मके कर्ममें कभी आलस्य न करे ! जो कुछ प्राप्त होता है, श्रम से ही प्राप्त होता है, बिना श्रम कुछ नहीं मिलता, इसलिये धैर्य और उद्यम से आलस्य को मारना चाहिये ! आलस्य से कल्याण और उन्नति दोनों रुक जाती हैं, अंधकार से आच्छादित आलस्य में सब दोष छुपे रहते हैं । आलस्य से अपनी और पराई दोनों की निश्चय हानि होती है, आलस्य और अनुत्साह से पुरुष की अधोगति होती है । जो पुरुष अपने पर विश्वास करता है, उसका विश्वनाथ सहायक होता है इसलिये आलस्य रहित होकर सर्वदा उद्यम करना चाहिये । समय और जल स्रोत किसी की प्रतीक्षा नहीं करते, इसलिये शीघ्र ही अधर्म के बीज उखाड़ कर फैंक देने चाहिये ।

इस शास्त्रके वचनानुसार अबमैं काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, दम्भ, मिथ्याचार, अनाचार और मात्सर्य का परित्याग करूंगा । अश्लील भाषण, हँसी ठट्ठा, व्यर्थ भाषण, अपने मुख से अपनी प्रशंसा, झूँठी चुगली खाना, पराई निन्दा, चोरी, विश्वासघात, दूसरे का अनिष्ट चाहना, इन सब दोषोंको मूल सहित चित्त में से निकाल कर फैंक दूंगा । कुत्सित कर्मों से चित्त और इन्द्रियों को सर्वदा बचाऊंगा, सब दोषों का त्यागने वाला और गुण ग्राही होऊंगा ! सत्य, बाध रहित सरल और मधुर वाणी बोला करूंगा, दूसरों के गुणों में दोषारोपण कभी नहीं करूंगा, दुःख आने पर कोप नहीं करूंगा, बाहर भीतर से सर्वत्र पवित्र रहूँगा, यथा प्राप्त में संतुष्ट रहूँगा और शीतोष्णादि द्वन्द्वोंको सहन करूँगा ! श्रद्धा, भक्ति, स्थिरता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा के पालन करने का सर्वदा

यत्न करूँगा, और विषय भोग की लालसा त्याग दूंगा ! प्रेम पूर्वक सबका क्षेम चिंतवन करूँगा, शिष्टाचार, अमानत्व, नम्रता का पालन करूँगा और विद्या विनय से युक्त होकर सर्वदा ईश्वर भजन में लगूंगा !

शास्त्र का वचन है कि जो एक शंकर का ही ध्यान करते हैं, शिव की भक्ति का ही बल रखते हैं, वे बड़भागी ही भव से तारने वाली शिव की कृपा को भोगते हैं। महेश्वर में अनन्य ममता होना ही भक्ति है, यह भक्ति वैराग्य से रहित, तृष्णा और दुर्भावना वाले को नहीं प्राप्त होती। जो सर्व विश्व को मायामय जान कर सबका संग त्याग देता है, वह वैरागी ही उत्तम भक्ति को प्राप्त करता है। तत्त्व ज्ञान के उत्पन्न होने पर मनुष्य को वैराग्य उत्पन्न होता है, "ब्रह्म ही सब है" यह ज्ञान ही तत्त्व ज्ञान है। पुण्य से पूर्ण, गंभीर, निर्मल, स्थिर और शुद्ध चित्त रूपी सरोवर में ज्ञान कमल उत्पन्न होता है। निष्काम कर्म करने से चित्त की शुद्धि होती है, संयम और सदाचार चित्त की परम शुद्धि करने वाला है। बुद्धिमान् पुरुष अपने धर्म का पालन करने से और पूजनीय महेश्वर का पूजन करने से नित्य, अव्यय ब्रह्म पद को प्राप्त होता है। महेश्वर का पूजन न करने वाले जड़ बुद्धि, आलसी, मूढ़ लोग दुःख रूपी नाकों से भरे हुये घोर संसार समुद्र में डूबते हैं। इसलिये विधिपूर्वक नित्य कर्म करना चाहिये और निषिद्ध संपूर्ण कर्मों का त्याग करना चाहिये। आदि में संयम रूप अमल अग्नि से देह का शोधन करे। संयम का उपाय सीखने के लिये और शुभ इच्छा की वृद्धिके लिये श्रद्धापूर्वक कल्याण कारक शास्त्र और सज्जनों का सेवन करना चाहिये।

सन्तों का संग और सत्शास्त्र ये दो निरोग नेत्र हैं। जो पुरुष इन दोनों नेत्रों से हीन है, वह अंधा ही है, इसमें संशय नहीं है। संसार वन है, यह वन अंधकार रूप अविद्या से आच्छादित है, जो मूढ़ काम कर्म रूप लता से बँधा हुआ है, वह सत्संग और सत्शास्त्र रूप नेत्र बिना मार्ग भूल जाता है और काल रूप सर्प से डसा जाता है और जो विद्वान् उपरोक्त नेत्रों से युक्त होता है, वह इस संसार वन में आनन्द करता हुआ संसार से पार हो जाता है। ऐसा वीर कौन है, जो इस लोक में महा माया से मोहित नहीं हुआ हो, कौन ऐसा धीर है, जिसका मन मोह से आकर्षित नहीं किया गया हो ? जैसे मोदक से बालक धोखे में आजाते हैं, इसी प्रकार काम से सब ठगे जाते हैं। जैसे राहु ग्रस्त चन्द्र की कौमुदी—चांदनी भान रहित मंदी हो जाती है, इसी प्रकार मोह से दबी हुई शुभ बुद्धि भासती नहीं है भवारण्य में भटकने वाले मोह से अंधे हुये दुर्बल पथिकों के लिये सत्संग और सत्शास्त्र वृद्ध की लकड़ी के समान शुभ अवलम्बन—सहारा है जो सज्जन सिवाय ब्रह्म के दूसरे को नहीं देखता, वह ही महा मोह का निवारण करने वाला है, उसीका सर्वदा सेवन करना चाहिये। जो सज्जन विष्णु के प्रेम रूप जल में सदा स्नान करता है, तप और वैराग्य से अलंकृत है, चित्त को समाहित करने के लिये उसी सज्जन की सेवा करे। जो सज्जन सर्व भूतों पर दया करता है, कपट से रहित है, धर्म प्राप्त करने से भोक्ता नहीं है, जो सत्य परायण है, अपने धर्म में रत है, निःस्वार्थ है, निर्मल आशय वाला है, शुभेच्छा की वृद्धि के लिये ऐसे संत का संग करना चाहिये। जो सब वर्णाश्रम वालों पर दया करके शासन करता है और सब पापों से तारण करता है,

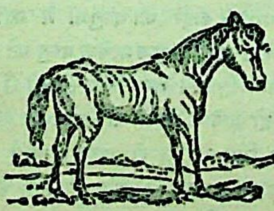
इसका नाम शास्त्र है ? ऐसे संत और सत्शास्त्रों के अवलम्बन से ही पुरुष संसार अरण्य से पार जाता है, इसलिये उनका अवश्य सेवन करना चाहिये !

ऐसा विचार करके मुमुक्षु सन्त और सत्शास्त्रों का सेवन करने लगा और धीरे धीरे तत्त्व को जान कर ज्ञात ज्ञेय हो गया, अब तो महाकर्ता और महा भोक्ता हो जाने से वह सब कुछ करते हुये भी कुछ नहीं करता था तत्त्व जान कर वह करता हुआ भी वह कर्म में लिप्त नहीं हुआ, तब क्या किया ? कुछ भी नहीं किया। वाह गुरु! वाह शास्त्र ! अच्छी रेख पर मेख मारी ! आपका यह आदेश ठीक ही है—

छप्पय ।

पढ़ते जो सत्शास्त्र, सँग सन्तों का करते ।
जानत सत्य असत्य, मोह में कभी न पड़ते ॥
करते हैं सब कार्य, लेश नहिं करते धरते ।
काम रहित निर्लोभ, शांत मन स्वस्थ विचरते ॥
भोला! तजदे काम सब, होजा आत्माराम रे।
करने दे सब देहको, तू मतकर कुछ काम रे ॥

—सकल चराचरानुचर भोला ।



भावना की सामर्थ्य ।

एक मुमुक्षु गुरुकुल रहकर कुछ काल में साधन संपन्न हो श्रुतियों के सिद्धांत को जान कर शुद्ध बुद्धि से विचार करने लगा, अन्त में संसार की दशा को स्वप्न के समान समझकर उसने शोक करना छोड़ दिया। मानसिक स्वस्थता प्राप्त कर वह अपने गुरु से सविनय पूर्वक पूछने लगा।

मुमुक्षुः—भगवन् आप बड़े बुद्धिमान् और प्रत्यक्ष ब्रह्मदर्शी हैं, आपसे कुछ छिपा नहीं है । अतएव मैं आपसे जो पूछता हूँ उसका कृपापूर्वक उत्तर दीजिये । आपके श्रीमुख से श्रवण किया है और शास्त्रों में भी स्थल स्थल पर यही देखने में आता है कि यह सब संसार भावना प्रधान है। परन्तु मैं जैसी भावना करता हूं वैसा अनुभव मुझे बाहर से क्यों नहीं होता ? दूसरी बात यह है कि एक ही समय एक ही स्थान दो रूपों में कैसे दिखाई पड़ा ? फिर इनमें सच्चा कौन है और झूठा कौन है ? इसे कृपा कर मेरे कल्याणार्थ समझा दीजिये ।

गुरुः—भावना का अर्थ संकल्प है। भावना दो प्रकार की होती है, एक सिद्ध दूसरी असिद्ध। जिस भावना में उसके विरुद्ध विकल्प का बिलकुल प्रवेश नहीं होता, अर्थात् मन अपने एक ध्येय से थोड़ा भी चञ्चल नहीं होता उसे सिद्ध भावना कहते हैं । जिस भावना में विकल्प बार बार उठें उसे असिद्ध भावना कहते हैं। यह संसार चित्र ब्रह्म देव की भावना के कारण निर्मित हुआ है और समस्त जीवों की भावना की दृढ़ता के कारण इसे सत्यता मिली है । ब्रह्मा के संसार की तरह, तुम्हारे संकल्प अन्य

संसार के संबंध में किसी की भी सत्यता की भावना नहीं है। इसी विकल्प के मन में आजाने के कारण तुम्हारी भावना असिद्ध रहती है। यह भावना जन्य सिद्धि कई प्रकार की होती है। किसी को यह जन्म से ही प्राप्त रहती है, किसी को प्रयत्न से प्राप्त होती है, किसी को औषधि की सहायता से, किसी को योग मार्ग से, किसी को तपस्या से, किसी को मन्त्र सिद्ध कर लेने पर और किसी को वर मिलने पर सिद्धि प्राप्त होती है। ब्रह्मा को जन्म से ही सिद्धि मिली है, यक्ष राक्षसों को प्रयत्न से मिली है, देवताओं को औषधि—अमृत से मिली, है, योग मार्ग जन्य सिद्धि योगियों को मिलती है, तपस्वियों की सिद्धि तप से और मांत्रिक लोगों की मंत्र से है। विश्वकर्मादि को वरके द्वारा सिद्धि मिली है। इसलिये जैसे जैसे अनुभव की आवश्यकता हो वैसा वैसा संकल्प करना चाहिये। संकल्प करते २ जब यह भावना भुला दी जावेगी कि "मैं संकल्प कर रहा हूं" तब वह संकल्प सिद्ध होगा। इस तरह से जब पहिले अन्य स्मरण छूट जावेगा और निर्विकल्प भावना बिलकुल दृढ़ हो जावेगी तथा प्रयत्न के बिना ही बिलकुल दृढ़ हो जावेगा तब यह भावना सिद्ध हो जावेगी और फिर इच्छानुसार सब महत्कार्य सिद्ध होजाया करेंगे। हे प्रिय दर्शन, धीरे धीरे उत्पन्न होने वाले विकल्पों के कारण तेरी भावना अभी तक सिद्ध नहीं हुई है। यदि तेरा हौसला भिन्न सृष्टि बनाने का हो तो तू अपनी भावना को शीघ्र सिद्ध करले। फिर तुझे मेरे समान प्रत्यक्ष अनुभव होगा मैंने अपनी भावना के बल पर ही इस पहाड़ी में स्वतंत्र संसार निर्मित किया है।

दूसरी बात देशकाल की द्विविधता के संबंध की है। यह कैसे मालूम हुई उसे मैं बतलाता हूं। सुन, तूने इस लोक व्यवहार के स्वरूप को ठीक ठीक नहीं समझा है इसलिये तुझे आश्चर्य मालूम होता है। अस्तु: मेरे कथन को ध्यानपूर्वक सुन। अनेक रूपों से भासित होना इस संसार का स्वभाव है। सूर्य का प्रकाश एक ही होता है परन्तु उसका अनुभव दो प्रकार से होता है—उल्लू पक्षी को अन्धकार और अन्य लोगों को उजेला। मनुष्यों और पशुओं को श्वास लेने में पानी बाधा करता है परन्तु मछलियों को बाधा नहीं करता। आग सब जीवों को भस्म कर देती है परन्तु चकोर पक्षी अग्निका ही भक्षण करता है। आग पानी में बुझ जाती है परन्तु कई जगह कुंडों में खौलता हुआ गरम पानी पाया जाता है। सारांश यह है कि संसार के सभी भाव द्विविध हैं। यह उन पदार्थों का हाल है जिनका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, परन्तु ऐसे भी सैकड़ों और हजारों पदार्थ हैं जो इन्द्रियों से न मालूम होने वाले और परस्पर विरुद्ध अनुभव के हैं, मैं इसकी उत्पत्ति बतलाता हूं। यह सब अनुभव चक्षुरिन्द्रिय पर अवलंबित है। नेत्रों की विकृति ही इनका स्वरूप है। नेत्रों के बाहर इस दृश्य का एक भी अंश कहीं नहीं है। जिस मनुष्य की आखें पित्त दोषसे बिगड़ जाती हैं वह बाहर सर्वत्र पीला ही देखता है, यह पीलापन यथार्थ में बाहर की वस्तुओं में नहीं रहता। तिमिर रोग वाला मनुष्य प्रत्येक वस्तु को दो प्रकार से देखता है, इसी तरह भिन्न २ दोषों से नेत्रों के दूषित हो जाने के कारण सब लोग इस संसार का अनुभव भिन्न २ रीति से करते हैं। पूर्व समुद्र में करंडक नामक एक ही द्वीप है, वहां के मनुष्यों को सब पदार्थ लाल रंग के दिखलाई पड़ते हैं।

इसी तरह रमणक द्वीप के निवासियों को सब पदार्थ उलटे—नीचे के भाग ऊपर और ऊपर के भाग नीचे दिखलाई पड़ते हैं। इस तरह से भिन्न २ देशों के लोग अपनी २ नेत्र इन्द्रियकी रचना के अनुसार नित्य भिन्न २ बातें देखतेहैं। यदि उन्हें सब को तरह उलटा दिखाई नहीं पड़ता—सीधा दिखाई पड़ता है तो औषधि से अपनी आंखों को सुधरवा कर वे पूर्व वत् लाल अथवा उलटे पदार्थ देखने लगते हैं, ऐसा करने पर इनको संतोष होता है। सारांश यह है कि इस संसार में पीलिया रोग से दूषित मनुष्यों की तरह आंखों से वैसा वैसा ही दिखलाई पड़ता है जैसा जैसा देखा जाता है। यही दशा घ्राण आदि इन्द्रियों की भी हैं इनके गंधादि पदार्थ केवल घ्राण मात्र हैं, उनका अस्तित्व घ्राणेन्द्रियसे भिन्न नहीं है। इसी प्रकार मानसिक भाव केवल मन है। व्यवहार में पदार्थों का जो क्रम और परस्पर संबंध भासित होता है वह सब इन्द्रियों का उत्पन्न किया हुआ है, इनके बाहर कुछ भी नहीं है।

हे सौम्य, इस संसारमें जो कुछ "बाहर" भासमान होता है वही इस संसारका मूल है, संसार रूपी चित्रका वही, दीवालकी तरह आधार है। परन्तु उसे भी "बाहर" कहने के लिये निश्चित आधार थोड़ा भी नहीं है। यह नहीं मालूम होता कि वह किसके बाहर है। यदि हम ऐसा उपादान कारण ढूंढ़ने लगें तो कदाचित् शरीर हो सके—दूसरा कुछ नहीं माना जा सकता। परन्तु यथार्थ शरीर भी बाहर ही भासित होता है, फिर वह संसार को बाहर बतलाने के लिये उपादान कैसे हो सकता है? इसलिये घटकी तरह शरीर भी बाहर ही मालूम होता है, यदि कहैं कि "इसका जो भासक है उसके बाहर है" तो यह भी ठीक नहीं मालूम होता क्योंकि जो दीप अथवा सूर्य के प्रकाश के बाहर अंधकार में होगा वह कभी भासमान नहीं होगा। इसलिये यही कहना उचित मालूम होता है कि जब यह सारा संसार भासमान हो रहा है तब वह भासक के भीतर ही है। अब विचार करना चाहिये कि यह भासक कौन है? देहादिकों को भासक कह नहीं सकते, क्योंकि पर्वत आदि की तरह देह भास्य वस्तु है। अतएव 'जो भास्य है वही भासक है' ऐसा कहना बिलकुल अयोग्य है भासकका भास्य हो जाने पर भासकता रह ही नहीं जाती। स्वयं भासक और स्वयं भास्य होने पर कर्तृ कर्म विरोध उत्पन्न हो जाता है, अतएव यह ठीक नहीं है। जो भासक तत्त्व है उसे अत्यंत शुद्ध एक ही रूप का केवल प्रकाश रूप, परिपूर्ण और एक रसात्मक होना चाहिये देश और काल उसी से व्याप्त हैं, क्योंकि ये भी उस भासकके कारण भासित होते हैं, इसलिये वह भासक तत्त्व परिपूर्ण है। श्री गोस्वामीजी ने रामायण में कहा है 'जगत प्रकाश्य प्रकाशक रामू। मायाधीश ज्ञान गुण धामू॥ सब कर परम प्रकाशक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥ जासु सत्य ताते जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥' वेदोंकी अनेक श्रुतियां भी यही कहती हैं 'न तत्र सूर्योभातिन चन्द्र तारकं नेमा विद्युतो भाति कुतोयमग्निः तमेव भान्त मनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥' इत्यादि।

इसके सिवा, जिसे भासक से तादात्म्य नहीं मिला वह भासमान भी नहीं होता। इस कारण से उस भासक के भीतर दूसरा कोई नहीं है यानी केवल वही प्रकाशक होकर एक रस से भरा है। भीतर और बाहर जो पदार्थ भासमान होते हैं वे सब उसी में स्थित हैं। पर्वत का शिखर जैसे पर्वत से

बाहर नहीं कहा जा सकता; उसी तरह बाहर भासित होने वाला यह संसार भासक से बाहर नहीं जा सकता। इस तरह से यह प्रकाश स्वरूप भासक सब प्रपञ्च को ग्रस रहा है, वही आत्म रूप तुममें स्वतंत्रता पूर्वक सब समय और सब स्थान में भासमान हो रहा है। इसीका नाम परम चैतन्य स्वरूप त्रिपुरा देवी है। इसी को वेदान्ती ब्रह्म कहते हैं, शैव शिव कहते हैं, वैष्णव विष्णु कहते हैं और शाक्त पंथी शक्ति कहते हैं। इस चित्स्वरूप के अतिरिक्त जो जो बतलाया जाता है वह अपूर्ण है। पूर्ण रूप यही है जैसे सब प्रतिबिम्ब में दर्पण व्याप्त रहता है वैसे ही इस चित् शक्ति से सब व्याप्त है। उसमें जो भासकता है वह भास्य की आवश्यकता के कारण है, वस्तुतः उसमें नहीं है। दर्पण में दीखने वाले नगर की तरह सब भास्य पदार्थ भान रूप में अभिन्न है। दर्पण का नगर जैसे उससे भिन्न नहीं है वैसे ही पूर्ण और एक रस चैतन्य में भासित होने वाला यह संसार उससे भिन्न नहीं है। दर्पण पर भासित होने वाला नगर जैसे उससे भिन्न सिद्ध नहीं किया जा सकता; वैसे ही संसार एक रस चैतन्य से भिन्न नहीं बतलाया जा सकता। आकाश पोला है और उसका स्वरूप शून्य है, फलतः उसमें उससे भिन्न रहने वाला संसार समा सकता है; परन्तु सर्वदा और सर्वत्र सद्रूप तथा एक रस चैतन्य में द्वितीयत्व का लवलेश हो नहीं सकता।

सारांश यह है कि शुद्ध संवित दर्पण की तरह स्वच्छ है, वह अपने अद्वितीय स्वरूप में अपनी स्वतंत्रता के बल पर सब चराचर संसार को भासित करता है। इसी रीति से निमित्त और उपादान कारणों के बिना ही यह अत्यंत आश्चर्य पूर्ण द्वैत प्रगट होता है। दर्पण में अनेक आकारों के व्यक्त होने पर भी उनकी एकता थोड़ी भी न बिगड़ कर स्पष्ट मालूम होती है। इसी प्रकार संसार अनेक अद्भुत भासों के भासमान होने पर उन सब में मिलकर रहने वाला एक चित् तत्त्व निर्दोष ही रहता है।

हे सौम्य, तू अपने मनोराज्य का सूक्ष्म विचार कर, वहां भी स्पष्ट दिखलाई पड़ेगा कि केवल चैतन्य भिन्न भिन्न विचित्र आकार धारण करता है। अतएव जैसे प्रतिबिम्ब के पड़ने पर दर्पण शुद्ध ही रहता है; वैसे ही यह चिद्रूप सृष्टिकाल में और प्रलयकाल में निर्विकल्प ही रहता है। अपनी स्वतंत्रता के द्वारा यह एक रस चैतन्य अपने ही स्वरूप को बाहर करके भासित करता है। यही पहिली उत्पत्ति है, इसे ही अविद्या कहते हैं, कोई इसे तम कहते हैं। परिपूर्ण व्यापक चिद्रूप में अंशात्मक सा जो भान होता है उसे बाह्य भास कहते हैं। अहमात्म स्वरूप पूर्ण चैतन्यमें अहंका स्फुरण न रहने के कारण अनहंकार भावना प्राप्त हो जाती है। अर्थात् जिसमें अहं तत्त्व नहीं है वह जड़ ही है। इस जड़ तत्त्व को अव्यक्त कहते हैं। मनुष्य भी अपने में अहंभाव का धारण करता है परन्तु शरीर के हाथ पैर आदि अंशों में उसका अहंपन नहीं रहता; इसी प्रकार जड़ अव्यक्त तत्त्व पर शुद्ध चैतन्य के अहंका स्फुरण नहीं होता वह उसका विराट शरीर ही है। इस स्थान में जो चैतन्य मर्यादितपन से भासित होता है उसे 'शिव तत्त्व' कहते हैं।

यह वही शिव तत्त्व है जो प्रलयकाल में जड़ सृष्टि के लय हो जाने पर चैतन्य का निर्विकल्प

शुद्ध स्वरूप बच जाता है और जो बाह्य भास अर्थात् अहंका स्फुरण है यानी जो चैतन्य का सविकल्प स्वरूप है उसे शक्ति कहते हैं यही जीवत्व है। बाहर शून्य आकाश में जिस पदार्थ की कल्पना होती है उसमें 'मैं यह हूं' का भाव रखने वाले तत्त्व को 'सदा शिव' कहते हैं। इस तीसरे तत्त्व में 'यह मैं हूँ' के 'यह' जड़ तत्त्व का विचार करते समय उसे ईश्वर नाम देते हैं, इसे चौथा तत्त्व समझना चाहिये सदा शिव और ईश्वर के दो तत्त्वों में जो भेदाभेद पूर्वक संवेदन है जो उन दोनों का अनुगत होकर सामान्यता से भासित होता है वह शुद्ध विद्या नामक पांचवां तत्त्व है यहां तक जड़ शक्ति का विकाश नहीं होता, ये सब आत्म तत्त्व के ही अभाव से हैं। अतएव इन पांचों तत्त्वोंको 'शुद्ध तत्त्व पंचक' कहते हैं। अस्तु: इसके अनंतर भेद संकल्प चित्स्वातंत्र्य के महात्म्य से बढ़ता है तब चैतन्य जड़ शक्ति का धर्म हो जाता है और जड़ शक्ति धर्मी बन जाती है। उस समय जड़ शक्ति को "माया" कहते हैं। भेद संकल्प की प्रबलता होने के कारण जो विशिष्ट भेद निश्चित करने वाली अवस्था है यही माया है। जब चिति इसी भेद भावना से व्याप्त होती है तब संकोच पाकर उसे पंच कंचुकों यानी पांच आवरणों के योग से पुरुष रूप प्राप्त होता है। १-कला २-विद्या ३-राग ४-काल आदि पंच कंचुक हैं। ये पांच शक्तियां शिव में पूर्णतया और जीव में अंशतः रहती हैं। जीव के पांच लक्षण ये हैं:—१-कुछ मर्यादा तक कर्म कर सकना २-कुछ मर्यादा तक जानना ३-कुछ मर्यादा तक इच्छा करना ४-कुछ समय तक रहना ५-कुछ बातों में स्वावलंबी होना। अनादि काल से जीव भले बुरे कर्म कर रहा है इन कर्मों के समुदाय को प्रकृति कहते हैं। कर्म के फल तीन प्रकार के होते हैं १ सुख २ दुःख और मोह। अतएव प्रकृति भी तीन प्रकार की होती है उसी की एक विशिष्ट अवस्था को चित्त कहते हैं, सुषुप्ति की स्थिति में उसे प्रकृति कहते हैं, इस स्थिति के अंत होते ही उसका नाम चित्त हो जाता है। उसका नाम अव्यक्त भी है। पुरुष भेद से चित्त कई प्रकार का होता है। परन्तु सब जीवों का मूल स्वरूप एक ही होने के कारण सुषुप्ति अवस्था में वह सदा एकसा ही रहता है। अतएव वह उस समय प्रकृति कहाता है, जागृति में फिर भी चित्त बन जाता है। चैतन्य की प्रधानता के कारण इसीको पुरुष कहते हैं, अव्यक्त की प्रधानता से वह प्रकृति हो जाता है। क्रिया भेद से चित्त अहंकार मन और बुद्धिके तीन नामोंसे तीन प्रकार का होता है, इसके पश्चात् पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय उत्पन्न होती हैं, तत्पश्चात् शब्द आदि विषयपंचक और आकाशादि सूक्ष्म तथा स्थूल पंच महाभूत उत्पन्न होते हैं।

हे श्रेयोत्सुक, यह शुद्ध और सर्व साक्षी परम संवित् इस क्रम से बाहर का आभास प्रगट करके क्रीड़ा कर रहा है। इन सब की मूल शक्ति त्रिपुरा देवी है, उसने सृष्टि काल के आरंभ में हिरण्य गर्भ और ब्रह्म देव को अपनी भावना के बल से बनाया था. इन्हीं की भावना से यह संसार प्रगट हुआ है। मैं तू इत्यादि रूपों से जो संवित शुद्ध ज्ञान स्वरूप और अनुभव रूप से भासित हो रहा है वह यही परम चैतन्य शक्ति है। उसके मूल स्वरूप में भेद नहीं है उपाधि के कारण भेद मालूम होता है। इस उपाधि का जन्म ब्रह्मा की भावना के कारण हुआ है और उसका संहार होने पर किंचित्

भी भेद न रहेगा। चैतन्य की भावना का सामर्थ्य तुझमें माया के कारण आवृत्त हो गया है । मैं एक क्षुद्र जीव हूं हृदय की यह दृढ़ ग्रंथि उस माया स्वरूप है, उस माया के आवरण के नष्ट होते ही यह तेरी शक्ति सिद्ध हो जावेगी। चाहे देश और काल कुछ भी क्यों न हों, भावना के अनुसार वे अल्प अथवा विस्तृत मालूम होते हैं। मैंने एक दिन की भावना की थी अतएव एक दिन हुआ, परन्तु ब्रह्मा ने उसी समय में बाहर अर्व वर्षों की भावना की थी, इस कारण से यह छोटे बड़े का अनुभव हुआ। ब्रह्मा के बनाये हुए तीन चार मील के पहाड़ में मैंने अनन्त प्रदेश की भावना की थी अतएव उसमें अनन्तता उत्पन्न होगई।

हे प्रिय दर्शन, यदि सच कहो तो ये सब सच्ची भी हैं और झूठी भी हैं, क्योंकि ये सब पूरी तरह से भावना पर अवलंबित हैं। चाहे तू भी एक दो मील के प्रदेश और अल्प काल को लेकर अनन्त योजन लम्बे प्रदेश की और दीर्घ काल की भावना कर, भावना के सिद्ध होते ही अर्थात् चित्त में विरुद्ध विकल्पों का उदय होना बन्द होते ही तुझे उसका प्रत्यक्ष अनुभव होगा। सारांश यह है कि बाह्य जगत केवल भावना मात्र है यानी यह चित्रमय जगत् अव्यक्त नामक दीवाल पर अव्यक्तक स्वरूप से भासित हो रहा है। यह अव्यक्त दीवाल चैतन्य है। सामान्य मनुष्य को जहां जाने में कई युग लग जाते हैं उन दूर देशों में भी योगी एक क्षण में जा पहुंचता है।

हे प्रिय वत्स, इसलिये यह निश्चय पूर्वक जान कर कि दूर अथवा निकट और विलम्ब से अथवा शीघ्र भावना के बल पर है और इनका आश्रय चैतन्य रूप है, तू शुद्ध चिद् भावना की सहायता से सब भ्रांतियों को छोड़ दे, फिर मेरी तरह तू भी सर्व समर्थ हो जायगा।

इस भाषण को सुनकर कुछ विचार करने से मुमुक्षु के सर्व भ्रम दूर हो गये। समस्त ज्ञेय बातोंको जान लेने के कारण उसका अन्तःकरण भी शुद्ध हो गया। समाधि की भावना करके उसने सामर्थ्य प्राप्त किया और सर्व समर्थ होकर इस पृथ्वी पर चिरकाल तक विहार किया। शरीर के अहंभाव को नष्ट करके शुद्ध चित् स्वरूप के आश्रय से अंत में उसे परम निर्वाण पद प्राप्त होगया।

—स्वामी आत्मानन्द।

विद्या देवी का उपदेश।

किसी समय सत्य लोक में ब्रह्मा की सभा में ज्ञान विषय पर सूक्ष्म से भी सूक्ष्म विचार हो रहा था। ब्रह्मा के इस ज्ञान सूत्र में भृगु, अंगिरा, प्रचेता, नारद, च्यवन, वामदेव, विश्वामित्र, गौतम, शुक्र, पराशर, कण्व, काश्यप, दत्त, सुमंत, शंख, लिखित, देवल और अनेक ब्रह्म ऋषि तथा अन्य बड़े बड़े राज ऋषि एकत्रित थे। वहां सूक्ष्म से भी सूक्ष्म विषय उपस्थित कर उन लोगों ने बड़ी भारी मीमांसा की। उस समय ऋषियों ने ब्रह्मा से प्रश्न किया कि "हम सब लोगोंका स्वभाव भिन्न २ होने के कारण आचरण भिन्न भिन्न हैं। हम में अनेक समाधिस्थ रहते हैं; अनेक मीमांसा करने में ही लगे रहते हैं। कुछ भक्ति प्रेम में निमग्न रहते हैं, कुछ लोग उत्साह पूर्वक कर्म मार्ग से ही चलते

हैं। कुछ लोग किसी वहिर्मुख पुरुष की तरह व्यवहार किया करते हैं; भगवन् आप हम सब लोगों में ज्ञानी और परम तत्त्व के जानने वाले हैं। आप बतलाइये कि इनमें श्रेष्ठ कौन है। अभी तो हम सब लोग अपने अपने पक्ष का ही समर्थन करते हैं।

ऋषियों के प्रश्न को सुनकर ब्रह्मा ने अपने मन में विचार किया कि इन लोगों को अपने पर जैसा चाहिये वैसा विश्वास नहीं है। ऐसा विचार कर कहने लगे:—"हे मुनियो, इस बातको मैं ठीक २ नहीं जानता। सर्वज्ञ महादेव को यह बात पूर्णतया मालूम होगी। यदि इच्छा हो तो चलिये उन्हीं से पूछें।"

यह कहकर ब्रह्म देव ऋषि मंडली के साथ उस देवाधिदेव के पास गये। वहां श्री विष्णु भी उपस्थित थे। ब्रह्मा ने ऋषियों के प्रश्न को महादेव के सामने प्रगट किया। प्रश्न को सुनने से और ब्रह्मा के आशय को समझने से महादेव को भी मालूम हुआ कि ये ऋषि श्रद्धावान् नहीं हैं। वे समझ गये कि मेरा कथन इन लोगों को सच्चा नहीं मालूम होगा। ये लोग ये ही समझेंगे कि "हम लोगोंकी तरह यह मत अकेले एक महादेवका है।" ऐसा विचार कर महादेव कहने लगे:—"हे मुनियो, मैं भी इस विषय को ठीक ठीक नहीं समझता। हम लोग भगवती श्री विद्यादेवी का ध्यान करें। उसकी कृपा से हमें सब गूढ़ अर्थ समझ पड़ेगा।"

महादेव के भाषण को सुनकर सब ऋषियों तथा ब्रह्मा विष्णु महेशादि देवताओं ने महेश्वरी चित्-शरीरिणी विद्यादेवी का ध्यान आरम्भ किया। उस समय सब लोगों के ध्यानस्थ होजाने पर आकाश मंडल में मेघ गर्जन सरीखी एक गंभीर ध्वनि हुई और वह देवी गगन में शब्द रूपसे प्रगट हुई। "मुनियो! आप लोगों ने मेरा ध्यान क्यों किया है? अपना मनोरथ बतलाइये। मेरे भक्तों की कोई भी इच्छा कभी भी विफल नहीं होती।" आकाश वाणी को सुनकर मुनि मंडली ने उस विद्यादेवी को नमस्कार किया। फिर तीनों देवताओं ने भिन्न भिन्न रीति से स्तुति करके उसे संतुष्ट किया। अनन्तर ऋषियों ने बोलना आरम्भ किया। वे कहने लगे:—हे श्रीविद्या देवी, तुझे हमारा साष्टांग नमस्कार है। तू सबको उत्पन्न करने वाली, पोषण करने वाली और विलीन करने वाली है तुझे नमस्कार है। तेरा जन्म नहीं है—तू सदैव पुरातन है, तुझे जरा नहीं है अतएव तू सदैव नूतन भी है। तू सब कुछ है, सबका सार है, सर्वज्ञ है और सर्वानन्द रूप है और फिर तू सर्व शून्य, कहीं भी नहीं रहने वाली, सार रहित कुछ भी न जानने वाली और सर्व आनन्द वर्जित है। देवी तुझे बारम्बार प्रणाम है। आगे से, पीछे से, नीचे से, ऊपर से, बाजू से और सभी दिशाओं से तुझे हमारा प्रणाम है। हे देवी, हे अम्बे, अब हमें यह बतलाने की कृपाकर कि १–तेरा पर रूप कौन है?, २–अपर रूप कौनसा है?, ३–तेरा ऐश्वर्य क्या है?, ४–तेरा ज्ञान कैसा है?, ५–तेरे ज्ञानका फल क्या है?, ६–उसे प्राप्त करने का साधन क्या है?, ७–मुख्य साधक कौन है?, ८–सिद्धि की पूर्ण अवस्था कैसी होती है?, ९–सिद्ध पुरुषों में श्रेष्ठ कौन है? हे मातेश्वरी, जगदम्बे! इन हमारे नौ प्रश्नों का उत्तर हमारे कल्याणार्थ दीजिये और अनुग्रह करके हमारी बुद्धि में स्थित होकर अपने किये हुए उपदेश को ग्रहण करने की सामर्थ्य प्रदान कीजिये। तुझे हे देवी फिर भी हमारा बारंबार प्रणाम है।"

प्रश्न सुनकर ऋषि मंडली के संबंध में देवी की प्रेम दृष्टि उत्पन्न होगई। उसने अपना असंदिग्ध (संदेह से रहित) और उत्कृष्ट भाषण आरंभ किया। वह कहने लगी:—ऋषियो सुनो, तुम्हारे सब प्रश्नों का उत्तर क्रमशः बतलाती हूँ। आज वेद सागरों का मंथन कर तुम्हारे लिये मैं अमृत को ही निकाल देती हूँ।

१—पहिले मेरे पर रूपका हाल सुनो यह सब जगत दर्पण प्रतिबिम्ब की तरह जिसमें उत्पन्न होता है, रहता है और लीन होता है, आत्म ज्ञान रहित पुरुषों को जो जगत के आकार से भासित होता है, योग्य लोगों को जो निर्विकल्प मालूम होता है जो यथार्थ में शांत, गंभीर और निश्चल है, किसी तरह की कामना न रखकर एक निष्ठ भक्त प्रेम पूर्वक जिसका सेवन करते हैं, अद्वैत पद का ज्ञान होजाने पर भी भक्त जिसके लिये देवता और भक्त का भेद भाव उत्पन्न करते हैं, जो इन्द्रिय, मन और प्राण का अंतः सूत्र है, जिसके अभाव होने पर कुछ भी शेष नहीं रहता और जो शास्त्रों के आधार पर सामान्य रीति से जाना जाता है वही मेरा पर रूप श्रेष्ठ-मूर्ति है।

२—सारे ब्रह्मांडों के आगे अमृत समुद्र में जो रत्नों का द्वीप है उसमें एक कदंब-वनमें चिंतामणि का बनाया हुआ एक मनोहर मन्दिर है। उसमें ब्रह्मदेव, विष्णु, रुद्र और ईश्वर इन चार पैरों वाला सदा शिवात्मक जो मंच है उस पर जो अनादि मिथुनात्मक त्रिपुर सुन्दर मूर्ति विराजमान है वह मेरा अपर रूप है। इसी तरह सदाशिव, ईशान, ब्रह्मदेव, विष्णु, शंकर गणपति, षडानन, इन्द्रादि, दिग्पाल, लक्ष्मी आदि शक्ति, वसु रुद्र आदि गण, राक्षस, देव, नाग, यक्ष, किन्नर आदि जो जो पूज्य हैं वे सब मेरे अपर रूप ही हैं। मैं सर्वत्र हूँ परन्तु माया से मोहित पुरुष मुझे नहीं पहिचानते। वे मेरी ही सेवा करते हैं और उनका अभीष्ट फल मैं ही देती हूँ, मुझे छोड़कर न तो कोई पूज्य है और न कोई फल का देने वाला है, जो मेरा सेवन जैसे करता है उसे मुझ से वैसा ही फल मिलता है।

३—मेरा ऐश्वर्य अमर्याद है किसी की सहायता न लेकर अपने चित् स्वरूप से मैं अकेली अनंत जगत के आकार से भासमान होती हूँ और भासमान होकर भी अपने स्वरूप से विचलित नहीं होती, ऐसी असंभवित बात कर डालना ही मेरा महदैश्वर्य है। ऋषियो, मेरे महान् ऐश्वर्य का और भी सूक्ष्म वर्णन सुनो, सबका आश्रय और सबकी अन्तर्यामी होकर भी मैं संग रहित हूँ, नित्य मुक्त होकर भी मैं फिर फिर मुक्त होती हूँ। सद्‌गुरु के पास जाकर और शिष्यत्व स्वीकार कर पुनः आत्म स्वरूप को जानती हूँ। आत्म स्वरूप को भूलकर बहुत समय तक संसार में मग्न रहती हूँ। इस संसार को किसी भी साधन सामिग्री के बिना निर्माण करती हूँ, इस तरह मेरा अनेक प्रकार का ऐश्वर्य है, सहस्र मुख वाला भी उसकी गणना नहीं कर सकता। संक्षेप यह है कि मेरे ऐश्वर्य के एक लेश मात्र से यह अद्भुत संसार चारों ओर फैला है।

४—मेरा ज्ञान द्वैत अद्वैत आदि अनेक प्रकार का है, उनका फल भी श्रेष्ठ कनिष्ठ के भेद से भिन्न भिन्न है। द्वैत ज्ञान अनेक प्रकार का है क्योंकि वह भिन्न भिन्न उपास्य मूर्तियों पर अवलम्बित है, उसे ध्यान और उपासना कहते हैं, परन्तु ये स्वप्न अथवा कल्पना की तरह क्षणिक अनुभव के हैं, अपने मान से ये सफल भी होते हैं, इसके अनेक

भेदों में पहिले बतलाई हुई मेरी अपर मूर्ति का ध्यान मुख्य है क्योंकि वह क्रम २ से मुख्य फल अर्थात् मोक्ष देती है, अद्वैत ज्ञान का ही मुख्य नाम ज्ञान है। मेरी—परम श्री विद्या देवी की आराधना किये विना अद्वैत महा विद्या प्राप्त कैसे हो सकती है ? केवल परम चैतन्य ही अद्वैत ज्ञान है। उसकी शुद्ध अवस्था का ज्ञान होने पर द्वैत भावना की निवृत्ति होती है, इस ज्ञान का अनुभव चित्त केवल आत्माभिमुख होने पर होता है। हे ऋषियो, वेद वाक्यों की सहायता से तथा युक्ति पूर्वक विचारों के द्वारा केवल आत्मा के भासित होने को और 'मैं शरीर ही हूँ' इत्यादि भावनाओं के नाश होने को ही ज्ञान कहते हैं। जिस ज्ञान द्वारा भासित होने वाले दृश्य कहीं भी कुछ भी नहीं होने के सदृश मालूम होते हैं, जिस ज्ञान के हो जाने पर कहीं कुछ भी जानने के लिये बाकी नहीं रह जाता, सभी विषय सुखों का अनुभव जहां आत्मरूप होता है वही सच्चा अद्वैत ज्ञान है। जिस ज्ञान के प्राप्त होने पर चिर कालीन दृढ़ संदेह नष्ट हो जाते हैं और काम आदि वासनाएं सन्मुख नहीं आ सकतीं, दांत टूटे हुए सर्प की तरह व्यर्थ हो जाती हैं वही परम ज्ञान है।

५—ज्ञानका फल सब दुःखों का नाश होना है, अत्यन्त निर्भय अवस्था प्राप्त होना ही सच्चा फल है। "यह कोई दूसरा है" इस भावना से डर उत्पन्न होता है परन्तु सूर्योदय से अंधकार दूर हो जाता है; उसी तरह अद्वैत तत्त्व को पूरा पूरा जान लेने पर द्वैत भावना नष्ट हो जाती है अतएव द्वैत संकल्प नष्ट हो जाने पर कहीं भी डर नहीं रह जाता। जिस से स्वस्वरूप से भिन्न फल मिलता है वह सदव भय कारक होगा क्योंकि आत्म स्वरूप को छोड़कर अन्य सब नाशवान् हैं। नाशवान् वस्तु में भय रहने के कारण उसमें निर्भयता कहां से आ सकती है ? सब संयोगों के अंत में वियोग होता है, समाधि के योग का भी नष्ट होना निश्चित है। फलतः जब तक फल आत्म रूप न होकर अन्य रूप का हो तब तक भय है। आत्म स्वरूप भिन्न न हो वही निर्भय फल है, उसी को मोक्ष कहते हैं। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के एक रूप हो जाने पर सर्व भय रहित मोक्ष नामक सर्वोत्तम फल मिलता है। ज्ञाता का संकल्प शून्य और मूढ़ता रहित शुद्ध आत्म स्वरूप ही ज्ञान है। वह स्वरूप पहिले नहीं जाना जाता गुरु और शास्त्र उसकी पहिचान कराते हैं। यही ज्ञेय तत्त्व है। जब तक ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान भिन्न भिन्न मालूम होते हैं तब तक सब व्यर्थ हैं। जब इन तीनों का परस्पर भेद नष्ट हो जाता है तभी वह ज्ञाता है, तभी वह ज्ञेय है और तभी वह ज्ञान है, यही ज्ञान का फल है। यथार्थ में ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय फल में भेद ही नहीं है। व्यवहार की सफलता के लिये यह भेद की कल्पता की गई है। तात्पर्य यह है कि यहां कुछ नया फल नहीं मिलता। जब तक यह आत्मा ही माया के कारण कर ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान और उसके फल आदि के रूपों से भासित होता है तब तक यह संसार पर्वत के समान कठिन रहता है; परन्तु जब प्रसंग वश किसी भी कारण से भेद शून्य स्वरूप भासमान होता है तब पानी में शक्कर की तरह यह सारा संसार विलीन हो जाता है।

६—ऐसे सच्चे मोक्ष को प्राप्त करने के लिये मुख्य साधन उसके संबंध में तत्परता है। तीव्र तत्परता होने पर अन्य साधनों की कुछ भी आवश्यकता

नहीं। विशेष तत्परता न होने पर दूसरे हजारों उत्तम साधनों से क्या हो सकता है ? तत्पर होना मोक्ष का मुख्य साधन है। "कितनी ही कठिनता क्यों न हो परन्तु इस कार्य को मैं अवश्य सिद्ध करूंगा" ऐसा निरन्तर मालूम होना ही तत्परता है। जिसकी ऐसी अवस्था है वह सर्वथा मुक्त होता है क्योंकि वह कुछ दिनों में, कुछ महीनों में, वर्षों में अथवा दूसरे जन्म में मुक्त होने वाला ही है- वह सच्चे मार्ग में लग चुका है देरी इतनी है कि निर्मल बुद्धि वाले जल्दी से और अल्प बुद्धि वाले देरी से यात्रा समाप्त करते हैं। ज्ञान के उद्योगों का नाश करने वाला यह बुद्धि संबंधी दोष कई प्रकार का होता है। उसीके कारण लोग घोर संसाराग्नि में जल रहे हैं। उनमें पहिला दोष अनाश्वास, दूसरा काम वासना और तीसरा जाड्यता है। अनाश्वास संशय और विपर्यय ऐसे दो प्रकार का होता है। उपर्युक्त तत्परता के लिये ये दोनों मुख्य बाधाएं हैं। उलटा निश्चय करते रहने पर इनका क्रमशः नाश होता है। इनका नाश करने का मुख्य उपाय इनके मूलका ही विनाशकर डालना है। अनाश्वास का मूल शास्त्र विरुद्ध तर्कों को ढूंढ़ना है। उसका त्याग कर सतर्क विचार करने के लिये उसके विरोधी तर्कों के विरुद्ध निश्चय करना पड़ता है। ऐसे करने पर श्रद्धा की उत्पत्ति होती है और अनाश्वास नष्ट होता है। बुद्धि पर कामादि वासनाओं के पुट होने पर श्रवण में बाधा होती है। ऐसी बुद्धि प्रायः ज्ञान विषयों की ओर प्रवृत्त नहीं होती। व्यवहार में भी देखा जाता है कि कामी पुरुष अपने प्रिय विषय में इतना लीन हो जाता है कि उसे सामने कुछ भी देख नहीं पड़ता है और न कुछ सुन ही पड़ता है, इसी तरह इनका श्रवण करना न करने के बराबर हो जाता है। इस काम वासना को वैराग्य बल से वश में करना चाहिये। ये काम क्रोध, लोभ, दंभ इत्यादि हजारों हैं। सबका मूल काम है। इसके नष्ट हो जाने पर दूसरे कोई नहीं रह जाते, वह वैराग्य से नष्ट होता है। "मुझे यह मिलना चाहिये" ऐसी जो आशा होती है वही काम है। वह प्राप्य पदार्थों के संबंध में स्थूल और अप्राप्य के संबंध में सूक्ष्म रहती है, उसे दृढ़ वैराग्य का मूल प्रति क्षण काम्य विषयों के दोषों का विचार करना और उन विषयों के संबंध का त्याग करना है। इस तरह से विषय वासनाएं नष्ट होती हैं। बुद्धि के तीसरे दोष, जड़ता को अभ्यास से भी जीतना कठिन है। इस दोष के रहने पर बड़ी तत्परता से श्रवण करने पर भी बुद्धि में कुछ प्रवेश नहीं होता, यह पुरुषार्थ का नाश करने वाला बड़ा दोष है। उसके लिये परमेश्वर की सेवा के सिवा दूसरा उपाय नहीं है, उसकी सेवा के परिमाण से मैं उसकी बुद्धि की जड़ता को हटाती हूँ। इस जड़ता की न्यूनाधिकता के अनुसार उसी अथवा दूसरे जन्म में फल प्राप्ति होती है। ऋषियो, किसी भी पुरुष को सारी साधन सामिग्री मेरी कृपा से ही प्राप्त होती है। जो पुरुष मेरी उपासना निष्काम बुद्धि से, भक्ति पूर्वक और नित्य करता है वह साधनों की कठिनाइयों को दूर कर शीघ्र ही कृतार्थ हो जाता है। जो लगातार अनेक साधनों के अनुसार कार्य करते हुए बुद्धि को विकसित करने वाली परमेश्वरी की ओर- मेरी ओर दुर्लक्ष्य करता है उसकी बुद्धि की मंदता दूर नहीं होती और वह पद पद में ठोकरें खाता है, उसे कभी फल भी नहीं मिलता। सारांश यह है कि तत्परता ही ज्ञान का मुख्य साधन हैं।

७—जिसमें ऐसी तत्परता है वही मुख्य साधक है, फिर उसमें मेरी भक्ति भी हुई तो वह सर्व मान्य ही है।

८—मैं शरीर नहीं हूँ—आत्मा हूँ ऐसा निश्चय होना सिद्धि है। देहादिकों में भासित होने वाले आत्म भाव के नष्ट होजाने पर बुद्धि निर्मल होजाती है तब सिद्धि आपही आप हो चुकती है। आत्मा के संबंध में सभी का निश्चय है अर्थात् यह सब जानते हैं कि वे हैं। परन्तु यह निश्चय केवल रूप से न होकर शरीर आदि के रूप से होता है, इसलिये बड़ी भारी अनर्थ परंपरा होती चली आई है। अतएव "देहादिकों को भासित करने वाला जो केवल चैतन्य है वही आत्मा है" ऐसा निश्चय होकर सब संशयों के नष्ट होजाने ही को ज्ञान सिद्धि कहते हैं। खेचरत्व और अणिमा आदि इस ज्ञान सिद्धि के सोलहवें अंश के समान भी नहीं हैं। ये सब सिद्धियां विशिष्ट देशकाल से मर्यादित रहती हैं, इनके सामर्थ्य का अनुभव अमुक स्थान अमुक समय में ही हो सकता है। परन्तु यह शिव स्वरूप आत्म सिद्धि अमर्यादित है। आत्म ज्ञानका साधन करते २ अणिमा आदि क्षुद्र सिद्धियां प्राप्त होजाती हैं, परन्तु आत्म ज्ञानकी प्राप्ति में वे विघ्नकारक हैं। इन्द्रजाल सरीखी इन सिद्धियों से स्वहित क्या हो सकता है? आत्म ज्ञान होजाने पर जिसे ब्रह्मा का अधिकार भी तृण के समान मालूम होता है उसके लिये ये सिद्धियां क्या चीज हैं, अतएव आत्म ज्ञानके सिवाय दूसरी सिद्धि ही नहीं है। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि जिससे दुःखों का नाश सदा के लिये होजाता है, आनन्द से हृदय गद्‌गद् होजाता है और मृत्यु से छुट्टी मिल जाती है वही सच्ची सिद्धि है। यह ज्ञान सिद्धि विविध अभ्यास भेद के कारण बुद्धि की निर्मलता की न्यूनाधिकता के कारण और ज्ञानकी परिपकता के तारतम्य के कारण उत्तम, मध्यम और कनिष्ट तीन प्रकार की है।

व्यवहार करते समय जिस सिद्धि के द्वारा तत्त्वानुसंधान नहीं करना पड़ता—जहां स्वभावतः ही वह होते रहते हैं। वह उत्तम ज्ञान सिद्धि है।

जहां अनुसंधान करना पड़ता है वह मध्यम सिद्धि है।

जहां व्यवहार थोड़ा भी नहीं होता—लगातार स्वरूप का अनुसंधान ही करना पड़ता है वह कनिष्ट ज्ञान सिद्धि है।

वस्तुतः इनमें स्वरूप से कुछ भी भेद नहीं है, उत्तम सिद्धि को सिद्धि की पराकाष्ठा कहते हैं जो स्वप्न आदि अवस्थाओं में भी सच होती है और जिसका अनुभव विचार होते ही होने लगता है वह स्वरूप सिद्धि सबमें श्रेष्ठ है। पूर्व संस्कार वश जब सब व्यवहारों में आप ही आप बिना किसी हेतु के प्रवृत्ति होने लगती है तब उसे सिद्धिकी पराकाष्ठा समझनी चाहिये। जब प्रयत्न किये बिना संविद्रूप आत्मामें अखंड स्थिति होने लगती है तब समझना चाहिये कि सिद्धि मर्यादा तक पहुंच गई। व्यवहार करने पर और पदार्थों का अनुभव लेते रहने पर भी जब द्वैत भासित न हो तभी पूर्ण अवस्था की सिद्धि होती है। जागृति में व्यवहार करते समय नींद की तरह अन्तःकरण में स्वस्थता होना ज्ञान सिद्धि की पूर्णता का लक्षण है।

९—जिसकी उपरोक्त ऐसी स्थिति हो वह उत्तम सिद्धि है। व्यवहार करते समय भी जिस बुद्धिमान्‌की समाधिका कभी भंग न हो वह उत्तमसिद्धि है। उत्तम सिद्ध वह जो भिन्न २ ज्ञानियों की भिन्न २ स्थिति को अपने अनुभव से समझ ले, जो संदेह और इच्छा रहित है वह सर्वोत्तम सिद्ध है। जो

व्यवहार में बिलकुल निर्भय है और जो सब सुख दुःख तथा संसार के अनेक व्यवहारों को अपने ही ऊपर भासित समझता है वह पूर्ण सिद्ध है। जो अत्यंत बद्ध और पूर्ण मुक्त सभी को अपना ही रूप समझता है वह सर्वात्मा उत्कृष्ट सिद्ध है। जो अपने ऊपर फैले हुए बंधन के जालों को हटाने की चेष्टा अन्य लोगोंकी तरह नहीं करता—क्योंकि उनसे उसे पीड़ा ही नहीं हो सकती वह सबमें श्रेष्ठ सिद्ध है। अधिक क्या कहूं, वह उत्तम सिद्ध मैं ही हूँ। तुम लोगों के प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर होचुका इस रहस्य को ठीक २ समझ लेने पर किसी को कभी फिर मोह नहीं होगा।

इतना कहकर उस विद्यादेवी ने अपना भाषण समाप्त किया और अन्तर्ध्यान होगई। देवी के भाषण को सुनकर सब ऋषियों ने अपने संदेह छोड़ दिये। सब लोगों ने देवी को मानसिक प्रणाम किया, फिर वे अपने २ स्थान को चले गये।

प्रिय पाठको, जो कोई मुमुक्षु इस प्रकार की उपासना में प्रवृत होगा वह अपने इष्ट की कृपा से स्वानन्द साम्राज्य को प्राप्त है इसमें संदेह नहीं है। यदि कोई इस देवी के कथन किये हुए उपदेश को नित्य पाठ करेगा वह संतुष्ट होकर इस मृत्यु रूपी संसारमें अलिप्त ही विचरेगा।

इसे साक्षात् विद्या ने प्रगट किया है अतएव यह अत्यन्त महत्व पूर्ण है।

—स्वामी आत्मानन्द।

वाक्य वृत्तिः।

(गतांक से आगे)

सत्यानंद स्वरूपं धी
साक्षिणं बोध विग्रहम्।
चिंतयात्मतया नित्यं
त्यक्त्वा देहादिगां धियम् ॥१२॥

अर्थ:—देहादिक में आत्म बुद्धि को छोड़कर जो सत्य और आनन्द स्वरूप है जो बुद्धि का साक्षी है और ज्ञान स्वरूप है वह मैं हूँ इस प्रकार निरन्तर चिंतवन कर।

विवेचन।

जीव जैसा चिंतवन करता है वैसा हो जाता है, वर्तमान जीव की स्थितिका कारण भी उसका पूर्वका चिंतवन है। व्यवहार में देखते हैं कि बच्चे को जिस प्रकार सिखाया जाता है बच्चा उसे सीख कर वैसा ही होता है अपने को वैसा ही मानता है और यह उसका मानना इतनी घहराई में पहुँच जाता है कि बेहोशी में भी वह निकलता है। जीव को अनात्म चिंतवन से ही अनात्म भाव ऐसा जीव के स्वरूप की प्राप्ति हुई है उसको हटाने के लिये आत्म चिंतवन की आवश्यका है, अनात्म चिंतवन छोड़कर आत्म चिंतवन करने लग जाय तो जीव अपने अज्ञान को त्याग करके शुद्ध स्वरूप जो आत्मा है उसीको प्राप्त होजाय इस निमित्त आत्म चिंतवन कराते हैं।

अज्ञान के कारण से जीव को अपना आत्म स्वरूप का बोध स्वभाविक नहीं होता, क्योंकि

उसकी बुद्धि बहिर्मुख हो रही है इसीसे स्थूल शरीर जो सब प्रकार के व्यवहार को करने वाला है उसे ही वह मैं हूँ इस प्रकार मानता है, आत्मा न मान कर अनात्म देह को मैं मानने से देह के समान अनुभव और सुख दुःख होते हैं उसका नाम ही देहाध्यास है। यह देहाध्यास ही अज्ञान की जड़ है। देहाध्यास के पश्चात् अज्ञान की वृत्तियों से कर्म धर्म और गमनागमन की सिद्धि होती है इसीसे अज्ञान को निवृत्त करने की इच्छा वाले मुमुक्षु पुरुष को प्रयत्न पूर्वक देहाध्यास को निवृत्त करना चाहिये। देह मैं हूँ ऐसी बुद्धि बन्धन का हेतु है अथवा देह में रहे हुए प्राण मन बुद्धि आदि को मैं मानना भी बन्धन का हेतु है और ये सब देहाध्यास ही कहे जाते हैं, स्थूल देह की एकता हो अथवा सूक्ष्म देह या उसमें रहे हुए किसी को मैं मानना सूक्ष्म देहाध्यास ही है इस प्रकार सुषुप्ति अवस्था वाला कारण शरीर मैं हूँ ऐसे मानना कारण शरीर का अध्यास है। ऐसे तीनों शरीर अथवा उसमें के किसी एक के साथ एकता करके मैं हूँ करके मानना देहाध्यास है। यह अज्ञान स्वरूप और विपरीत बुद्धि का कार्य होने से हटाने के योग्य है, देहाध्यास को निवृत्त किये बिना समूल दुःखों की निवृत्ति नहीं होती।

जब तक जीवका भाव मैं रूप से आत्मा के तरफ न जाय तब तक देहाध्यास का पूर्ण निवृत्त होना भी नहीं बन सकता तो भी प्रयत्न से देहाध्यास को शिथिल कर सकते हैं इसी कारण आत्म भाव की बुद्धि को करने के लिये आत्मा के कुछ लक्षण दिखलाते हैं। जो त्रिकालाबाधित सत्य स्वरूप है, जो आनन्द स्वरूप है जो बुद्धि का साक्षी और ज्ञान स्वरूप है वह मैं हूँ ऐसी भावना करे और शरीरादि में मैं हूँ इस भाव को हटावे।

जो हमेशा सत् ही रहता है कभी भी असत नहीं होता उसे सत स्वरूप कहते हैं, जो आनन्द ही आनन्द है जहां दुःख का लेश नहीं है, दुःख का विरुद्ध भाव वाला आनंद नहीं है अखंड आनँद है वह आनंद स्वरूप है, जो चैतन्य होकर सबका बोध कराने का समुद्र रूप है जो भिन्नता के बोध से रहित है वह बोध स्वरूप अथवा ज्ञान स्वरूप कहा जाता है और जो सबका प्रकाशक होने से बुद्धि आदि संपूर्ण अनात्मा का साक्षी है वह सच्चिदानंद है सच्चिदानंद ही मेरा आत्म स्वरूप है इस प्रकार चिंतवन करना चाहिये।

बुद्धि चैतन्य और सब कार्य करने वाली दीखती है इसीसे बुद्धि ही आत्मा हो ऐसा भ्रम होता है उसीको हटाने के लिये बुद्धि को प्रकाश देने वाला बुद्धि का साक्षी करके आत्मा का कथन किया है। बुद्धि विकार वाली है आत्मा अविकारी है, बुद्धि जिसके प्रकाश से बोध करने के सामर्थ्य वाली होती है वह आत्मा है वह आत्मा मैं हूँ इस प्रकार शरीर से लेकर बुद्धि पर्यंत के सब अध्यास को हटा कर आत्मा का भाव करके नित्य चिंतवन करना चाहिये। यद्यपि आत्म स्वरूप नित्य सिद्ध है उसे चिंतवन करके सिद्ध करने की आवश्यका नहीं है परन्तु अनात्म भाव में मैं हूँ ऐसा भाव को हटाने के निमित्त चिंतवन की आवश्यका है यह चिंतवन भी निरंतर करना चाहिये क्योंकि थोड़े समय का खंडित चिंतवन से अनात्म भाव की दृढ़ता निवृत्त नहीं होती; जब तक पूर्ण रूप से असंभावना और विपरीत भावना रहित दृढ़ आत्म साक्षात्कार न हो तब तक आत्म चिंतवन को करते रहना चाहिये। जैसे मैं जीव हूँ यह दृढ़ भाव है इसी प्रकार मैं अखंड चैतन्य स्वरूप आत्मा हूँ ऐसा भाव दृढ़ न हो तब तक चिंतवन किया करे।

शंका:—चिंतवन मन से होता है, आत्मा में मन की गम नहीं है तब मन से किये हुए चिंतवन से आत्मा की प्राप्ति किस प्रकार होगी ?

समाधान:—मन से अनात्म भाव हुआ है इसीसे इस अनात्म भाव को छोड़ना भी मन से ही होता है। अनात्म भाव को छोड़ने के निभित्त आत्म भाव का लक्ष करना है इससे मन से हो सकता है। मन आत्मा को पहुँच नहीं सकता परन्तु आत्मा के बोध में जो पदार्थ—भाव आड़ रूप बाधा पहुँचाने वाले हैं उसे हटाने का कार्य मन कर सकता है, मन अपने को अमन कर सकता है तब शेष रहा हुआ आत्मा है इस प्रकार स्वयम् सिद्ध का परदा रहित होने से बोध हो सकता है। अनात्म भाव वास्तविक हुआ नहीं है इसीसे जिससे हुआ है ऐसा मन, काल्पनिक आत्म भाव करे इससे अनात्म में आत्म अध्यास से निवृत्त हो कर काल्पनिक आत्म भाव भी निवृत्त हो जाता है तब शेष आत्मा ही रहता है इस प्रकार होने से आत्म चिंतवन से आत्म लाभ होता है।

शंका:—शरीरादिक आत्मा नहीं है यह प्रथम सिद्ध हो जाय तब आत्मा का चिंतवन करना बन सकता है। आत्मा को सत् चित्त और आनंद कहते हो तो यह शरीर भी ऐसा है तब शरीर आत्मा क्यों नहीं ? शरीर असत् नहीं है क्योंकि दीखता है सब व्यवहार उसीसे होता है घूमता फिरता है इसीसे चेतन भी है और अनेक प्रकार के सुख भोगता है इससे सुख—आनंद भी है।

समाधान:—शरीर सत् चित और आनंद स्वरूप नहीं है आत्माका सत् चित् और आनंदका भान अज्ञान से अज्ञानियों को शरीर में होता है शरीर और आत्मामें महान अंतर है दोनोंके लक्षणों में भिन्नता है इसको आगे के श्लोक में घट के दृष्टांत से समझाते हैं।

> रूपादिमान् यतः पिंडस्
> ततोऽनात्मा घटादिवत्।
> वियदादि महाभूत
> विकारत्वाच्च कुंभवत् ॥१३॥

अर्थ:—जैसे घट पंच महाभूतों का कार्य होने से आत्मा नहीं है तैसे ही यह शरीर घटके समान रूपादि गुण वाला होने से आत्मा नहीं है।

विवेचन।

मृत्तिका में से घटको कुंभार बनाता है ऐसा सब मनुष्य जानते हैं इससे घट मृत्तिका का कार्य है और मृत्तिका घटका उपादान कारण है। जिस मृत्तिका से घट बनता है वह मृत्तिका पंचीकृत की हुई होने से पाचों तत्त्व से मिली हुई है इससे आकाश आदि पंचभूत स्वरूप है उसीका कार्य घट है। जगत में जितने पदार्थ हैं सब पंचीकृत किये हुए पंच महाभूतों के कार्य हैं परन्तु जिसमें जिस तत्त्व की अधिकता होती है सामान्यता से उस तत्त्वका कार्य कहा जाता है ऐसे घट पृथिवी का कार्य है। पांचों भूतों की तन्मात्रा भी कार्य में अनुगत होती है इसीसे घट, शब्द स्पर्श रूप रस और गंध गुणवान भी है और पांचों इन्द्रियों का विषय भी होता है।

आत्मा पंचभूतों का कार्य नहीं है, पंचभूतों में से आत्मा की उत्पत्ति नहीं है क्योंकि आत्मा उत्पत्ति नाश रहित है। जो उत्पत्ति नाश वाले होते हैं वे पंचभूतों का कार्य होते हैं और शब्द स्पर्श

रूप रस और गंध गुण वाले भी होते हैं आत्मा भूतों का कार्य न होने से शब्द स्पर्श रूप रस और गंध गुण वाला भी नहीं है और पांचों इन्द्रियों का विषय भी नहीं होता। इस प्रकार घटकी और आत्मा की भिन्नता को दिखलाया; आत्मा आत्मा है और घट अनात्मा है। अब कहते हैं कि जिस प्रकार का घट है ऐसा ही शरीर है, शरीर और घट में अन्तर नहीं है। यह शरीर भी पंचभूतों का कार्य है, जो पंच महाभूतों के कार्य होते हैं वे सब विकारी उत्पत्ति नाश वाले और अनात्म होते हैं स्थूल शरीर भी ऐसा ही है उसका उत्पत्ति नाश और विकार देखते हैं और शब्द स्पर्श रूप रस और गंध गुण युक्त इन्द्रियों का विषय होने से अनात्मा है शरीर आत्मा नहीं है।

शंका:—घट जड़ होने से अनात्मा है ऐसा स्पष्ट मालूम होता है, घटके समान शरीर जड़ नहीं है तब शरीर अनात्मा कैसे ? घटको कुंभार बनाता है ऐसा देखा जाता है, शरीर को कोई मनुष्य अथवा देवता बनाता हो ऐसा देखा नहीं जाता, उत्पत्ति नाश और विकार की कुछ समानता होने से घटके समान शरीर नहीं हो सकता ?

समाधान:—घट और शरीर में भेद कुछ भी नहीं है। घटी यंत्रके ऊपर चढ़ा हुआ घट घूमता-क्रिया करता मालूम होता है; इसी प्रकार शरीर माया चक्र में चढ़ा हुआ जड़ होकर भी चैतन्य के समान और क्रिया वाला मालूम होता है, शरीर जड़ ही है इससे दोनों की समानता है। शरीर माता पिता के रज वीर्य से बनता है यह सब जानते हैं।

शंका:—घट जड़ है घटी यंत्र भी जड़ है परन्तु उसे घुमाने वाला चैतन्य होने से, चैतन्य की शक्ति से घटी यंत्रका घट घूमता है, शरीर को घुमाने वाला कोई चैतन्य दीखता नहीं है इससे शरीर जड़ नहीं है चैतन्य है।

समाधान:—घट के समान शरीर जड़ ही है चैतन्य नहीं है, जैसे घट में घटी यंत्र के घुमाने वाले की शक्ति से क्रिया दीखती है; इसी प्रकार शरीर में भी चिदाभास के चैतन्य से क्रिया दीखती है। जब शरीर से चिदाभास का वियोग होता है तब शरीर मृतक-अचेतन प्रत्यक्ष मालूम होता है। जैसे गाड़ी चलती हुई मालूम देती है, परन्तु वह जड़ होने से स्वयम् चल नहीं सकती, बैल के चलने से ही गाड़ी चलती है; इसी प्रकार चिदाभास की चेतनता से शरीर चेतन होकर चेष्टा करता है।

शंका:—फिर भी घट और शरीर की समानता नहीं है घटी यंत्र के ऊपर चढ़ा हुआ घट घूमता हुआ मालूम देता है परन्तु वह बढ़ता घटता नहीं है और शरीर तो बढ़ता घटता रहता है इसीसे शरीर जड़ नहीं चेतन है।

समाधान:—शरीर अनात्मा ही है चेतन किसी प्रकार नहीं है वह बढ़ता घटता है इसीसे चेतन नहीं हो सकता। जिसको लोग जड़ कहते हैं ऐसा पाषाण भी बढ़ता घटता है। जैसे दिवाल के ऊपर एक पर एक ईंट चढ़ाने से बढ़ती है और ईंट निकालने से घटती है; इस प्रकार शरीर में पाचन शक्ति से शरीर बढ़ता है और पाचन शक्ति न्यून होने से शरीर क्षीण होता है वह घट के समान जड़ ही है, आत्मा नहीं है जो पंच महाभूतों का कार्य होता है वह आत्मा नहीं होता इससे शरीर आत्मा नहीं है। आत्मा स्वतः सिद्ध है वह किसी का कार्य नहीं है और उसका भी कोई कार्य नहीं

है वह कार्य कारण रहित ही है। शरीर कार्य है और पुत्रादिक का कारण भी होता है इससे कार्य कारण रहित आत्मा शरीर नहीं हो सकता।

अनात्म यदि पिंडोऽय-
मुक्त हेतु बलान्मतः।
करामलकवत्साक्षा-
दात्मानं प्रतिपादय ॥१४॥

अर्थः—(शिष्य—) जो इस शरीर को हेतु के बल से अनात्मा कहते हो तो भले ऐसा ही हो परन्तु मुझे तो हाथ में आंवला के समान साक्षात् आत्म बोध हो इस प्रकार से प्रतिपादन करिये।

विवेचन।

घट के समान पंच भूतात्मक होने से शरीर अनात्मा है इस अनुमान में चार वस्तु हैं, पक्ष साध्य हेतु और दृष्टान्त। शरीर पक्ष है, अनात्मा साध्य है, हेतु पंच भूतात्मक है और घट दृष्टांत है। इस प्रकार हेतु के बल से शरीर को अनात्म सिद्ध हुआ देखकर शिष्य कहता हैं कि आप शरीर को अनात्म कहते हो और आपको वह सम्मत भी है तो भले ही शरीर वैसा ही हो, ऐसे शरीरके भावको छोड़ देने से आत्म बोध किस प्रकार होगा ? शरीर में से आत्म भावका हटा देना एक वस्तु है और आत्म बोध का होना दूसरी वस्तु है। अभाव से बोध ज्ञान किस प्रकार होगा ? मैं आत्मा का साक्षात् बोध चाहता हूँ, पदार्थ का प्रत्यक्ष दर्शन विना साक्षात् बोध नहीं होता। जैसे मैं आंवले को हाथ में लेकर सब बाजू से देखकर यथार्थ बोध को कर लेता हूं इसी प्रकार आत्मा का बोध चाहता हूँ। एक वस्तु को दिखला कर कहना कि यह वस्तु को हटा देने से अमुक रहता है इस प्रकार अनुमान से जानना नहीं चाहता; आप कहो कि वस्तु को हटा देने से पश्चात् शेप रहा हुआ अनुमान नहीं है प्रत्यक्ष है तो यह शरीर को कोई भी शरीरधारी हटा नहीं सकता और जब शरीर हटता है तब बोध करने वाला नहीं होता। इससे शरीर को हटा कर शेप रहा हुआ का बोध मैं कर नहीं सकता; आप कहो कि शरीर का केवल भाव ही हटाना है, शरीर को हटाना नहीं है तो शरीर के भाव हटाने से जो बोध होगा वह प्रत्यक्ष नहीं होगा, मैं प्रत्यक्ष बोध को चाहता हूँ यदि ऐसे प्रत्यक्ष बोध हो नहीं सकता है तो जिस युक्ति द्वारा प्रत्यक्ष बोध हो सकता हो उसके द्वारा प्रत्यक्ष बोध होने का उपदेश दीजिये।

घट द्रष्टा घटाद्भिन्नः
सर्वथा न घटो यथा।
देह द्रष्टा तथा देहो
नाहमित्यवधारय ॥ १५ ॥

अर्थः—(गुरुः—) जैसे घट को देखने वाला घट से भिन्न ही होता है, किसी प्रकार वह घट रूप नहीं होता; तैसे देह को देखने वाला (आत्मा) मैं देह से भिन्न हूं किसी प्रकार से देह नहीं हूँ ऐसा तू निश्चय कर।

विवेचन।

गुरु कहते हैं कि लौकिक पदार्थका प्रत्यक्ष इन्द्रिय द्वारा होता है आत्मा अलौकिक और अपना स्वरूप होने से इन्द्रियों का अविपय है इसीसे इसका प्रत्यक्ष

इन्द्रिय से नहीं होता। इसका प्रत्यक्ष दर्शन करने में हेतु रूप अनेक युक्ति लगाई जाती है इस प्रकार युक्ति के सहारे प्रत्यक्ष हो सकता है। इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने वाले पदार्थ में और आत्मा का प्रत्यक्ष होने में महान अन्तर है, जो इन्द्रिय से होने वाले प्रत्यक्ष के समान आत्म प्रत्यक्ष करने को चाहते हैं वे इस प्रकार कभी भी आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। जो नित्य प्रत्यक्ष-अपरोक्ष है, भ्रांति करके जो परोक्ष हो रहा है उस भ्रान्ति को निवृत्त करके ही प्रत्यक्ष है उसका प्रत्यक्ष हो सकता है और अन्य पदार्थों का तो अप्रत्यक्ष का प्रत्यक्ष करना होता है। पदार्थों का प्रत्यक्ष त्रिपुटि में होता है और आत्मा का प्रत्यक्ष त्रिपुटि का नाश करके होता है, ऐसी विलक्षणता-भिन्नता होने से आत्म प्रत्यक्ष करने में अनेक युक्ति से निश्चय करके चिंतवन रूप साधन से मदद मिलती है।

अब मैं तुझे दूसरे प्रकार से मैं देह से भिन्न हूं इस प्रकार निश्चय सहित चिंतवन करने को समझाता हूं। जो देखने की वस्तु होती है उस वस्तु से उसका देखने वाला अवश्य भिन्न होता है, जैसे घट एक वस्तु है और उसे देखने वाला तू है, तू इस घट से भिन्न सिद्ध होता है। घटके समान तेरा शरीर है ऐसा प्रथम सिद्ध कर चुके हैं। शरीर तुझे दीखता है, तू शरीर को देखने वाला है, शरीर दृश्य है तू शरीर का द्रष्टा है इससे शरीर से तू भिन्न है। मैं जो आत्म स्वरूप हूँ सो देह से भिन्न हूँ देह मैं नहीं हूं इस प्रकार का निश्चय कर।

और भी श्रवण कर तू देह को मेरी है ऐसा कहता है। व्यवहार में जितने पदार्थ मेरे हैं ऐसा कहा जाता है तब वे पदार्थ कहने वाले से भिन्न ही होते हैं। मैं और मेरेमें अन्तर है स्वयम्को मैं कहते हैं और उसके स्वाधीन के पदार्थ को मेरा करके कथन किया जाता है इससे मेरा करके कथन किया हुआ पदार्थ कभी मैं हूँ ऐसा नहीं हो सकता इससे भी तू शरीर नहीं है। देहाध्यास को निवृत्त करने के लिये शरीर मैं नहीं हूँ ऐसा वारम्वार चिंतवन कर। इस प्रकार चिंतवन करने से देहाध्यास रूप अज्ञान क्षीण होगा। यह अज्ञान ही देही जो आत्मा है उसके ऊपर आवरण करने वाला है उस आवरण के हटने से देही निवारण होगा।

एक साधु बहुत काल से तीर्थ यात्रा में घूमा करता था। जगन्नाथ की यात्रा के बाद वह बंगाल देश में जाने को चाहता था तब कई मनुष्यों के मुख से सुना कि बंगाल देश में जादू करने वाली स्त्रियां बहुत रहती हैं और जादू के बल से मनुष्य को तोता बना कर पिंजरे में बन्द कर रखती हैं। ऐसे वचन से उसे बहुत आश्चर्य होता रहा। एक समय वह विचार करने लगा कि यह कलियुग है जादू में ऐसा सामर्थ्य होना संभव नहीं है और यह सामर्थ्य अशुद्ध अन्तःकरण वाली डायनों में होना अशक्य मालूम देता है यदि कोई योगेश्वर में इस प्रकार का योग सामर्थ्य हो, तो हो सकता है ऐसे योगेश्वर का भी इस काल में दर्शन होना कठिन है। लोग कहते हैं इस प्रकार जादू वाली स्त्रियां और उनका जादू है या नहीं उसका प्रत्यक्ष तो वहीं जाकर ही होगा ऐसा विचार कर वह बंगाल देश में चला और खास करके जहां जादू करने वाली स्त्रियां रहती हैं ऐसा कामरू कमक्षा देश के सीमा पर पहुंच गया उस देश में जाने के लिये बहुत से कच्चे दिल के मनुष्य डरा करते थे साधु को भी कई लोगों ने वहां न जाने की सलाह दी, साधु दृढ़ हृदय का था इससे

कभी किंचित् डरता हुआ कभी दृढ़ होकर डर को निकालता हुआ वहां तक पहुँच गया और एक जलाशय के पास पेड़ के नीचे थोड़ा समय आराम लेने के लिये बैठ गया। चाहे कैसी भी कोई योवन मद से छकी हुई सुन्दरी हो कितने प्रकार से हाव भाव करके लुभाने वाली हो उसके मोह को किंचित् भी अन्तःकरण में प्रवेश न होने देने का निश्चय सहित वह था इसीसे किसी का जादू उसके ऊपर चलनेका संभव न था। जहां किंचित् भी अन्तःकरण शिथिल होता है वहाँ जादूके सूक्ष्म किरणोंका प्रवेश हो जाता है साधु निःशंक दृढ़ था एक मनुष्य और एक स्त्री को उसने सामने से आते हुए देखा और पास के दूसरे पेड़ के नीचे दोनों बैठ गये। स्त्री साधु भेप में परदेशी मनुष्य को देख कर प्रसन्न हो रही थी और शोच रही थी की युक्ति करके उसको भी मैं अपने जाल में फँसा लूंगी। वह स्त्री बहुत सुंदर थी और युवा अवस्था के आरंभ की आयु वाली और वस्त्राभूषण से सजी हुई थी वह साधु को तिरछी दृष्टि से नेत्र कटाक्ष मारती हुई देखने लगी साधु तुरन्त चेत गया यह जादू करने वाली दीखती है, मुझे फँसाने को चाहती है ऐसा विचार करके और अपना निश्चय का स्मरण करते हुए उसने अपने मुख को घुमा दिया। उस स्त्री ने देखा कि यह पुरुष मेरे सामने देखता ही नहीं है तब वह मधुर स्वर से गाने लगी। मोह को पैदा करने वाले उसके गाने का साधु के ऊपर कोई प्रभाव न हुआ साधु ने अपने दोनों कानों में अंगुलियां डाल दीं। उस स्त्री ने देखा कि मेरी कोई भी चेष्टा के ऊपर यह मनुष्य ध्यान नहीं देता है फिर उसने गाने के साथ नाचने का भी आरंभ कर दिया। उसने देखा मेरी कोई भी असर साधु पर नहीं होती है तब उसने अपने साथ आये हुए मनुष्य को साधु के पास भेजा। उस मनुष्य ने साधु के पास जाकर सुन्दरी ने साधु को लुभाने के जो जो वचन कहे थे सब कह सुनाये। मनुष्य के कहे हुए वचनों को साधु ने माना नहीं वह जादू करने वाली स्त्री को जान गया था उसने अपनी शुद्ध दृष्टि मनुष्य के ऊपर डाली और बोला "तू इस डायन के जाल में क्यों फँसा है?" मनुष्य ने कहा "मैं एक मुसाफिर हूँ यहां आते ही उसने मुझे मोह में पटक डाला है अब मुझे पिंजरे में तोता बना कर रखती है, आप मुझे देखते हो कि मैं तोता बन कर पिंजरे में बन्द हूँ।" साधु ने कहा "तू तोता कहां है? तू मनुष्य है मुझे प्रत्यक्ष मनुष्य दीख रहा है तू पिंजरे में बन्द भी नहीं है" मनुष्य बोला "महाराज आप मुझे भले मनुष्य कहो मैं तोता हो गया हूँ, आपके पास तोता रूप में आया हूँ और पिंजरे में बन्द हूँ मैं बाहर निकल नहीं सकता, यहां बहुत कष्ट पा रहा हूँ यहां से उड़ जाने को चाहता हूँ परन्तु अब मुझमें उड़ने की सामर्थ नहीं है।

सुंदरी ने देखा कि साधु मेरी बात को मानता नहीं है और मेरे बनाये हुए गुलाम को बहका रहा है ऐसा विचार मनुष्य को अपने पास बुला लिया वह कांपता हुआ साधु के पास से हटकर सुंदरी के पास आगया। स्त्री मनुष्य सहित अपनी दाल न गलती देख कर वहां से चल दी।

साधु ने विचारा यह मनुष्य है तो भी उसे 'तोता हो गया हूँ' ऐसा भ्रम हो गया है। लोग कहते हैं कि जादू करने वाली स्त्रियां तोता बना कर पिंजरे में बन्द कर रखती हैं ये सब बात झूँठ है मनुष्य की बुद्धि ही पलट जाती है वह मनुष्य ही रहते हुए अपने को तोता होकर पिंजरे में बन्द हुआ मानता है ऐसे मोहासक्त का यहां से मुक्त होना कठिन है।

अज्ञानी जीव का यह ही हाल है वास्तविक तत्त्व ही है, शरीर न होते हुए माया से शरीर की प्रतीति और बन्धन मालूम होता है और यह शरीर 'मैं हूं' ऐसा समझ कर अनेक प्रकार के कष्ट उठाता रहता है यदि शरीर के भाव को हटा दे तो स्वस्वरूप का बोध होकर कृतार्थ हो सकता है।

अपूर्ण।

महोपनिषद्।

(गतांक से आगे)

अन्तःकरण में रहे हुए भावनामय पदार्थों के राग को छोड़कर तू जैसा है वैसा हो, लीला पूर्वक इस जगत् में विहार कर ॥१॥ मैं सर्वत्र अकर्ता हूं, इस दृढ़ भावना से परम अमृत नामक यह समता ही शेष रहती है ॥२॥ खेद हर्ष विलास आदि में 'मैं कर्ता हूं' इस प्रकार का भाव नष्ट होने पर समता ही शेष रहती है ॥३॥ सब भावों में सम रहना यह जो सत्य परब्रह्म परायण स्थिति है, उसमें चित्त अवस्थित रहे तो फिर जन्म नहीं होता ॥४॥ अथवा वही सब कर्ता है या वह कुछ भी नहीं करता आदि भावों को छोड़कर, हे मुने, मनका नाश करते हुए तू जैसा हो वैसा ही भले रह उसीमें स्थिर होजा ॥५॥ अंधेरे और उजियाले के ज्ञान रूप मनको, जिससे छोड़ा जाता है उसे भी छोड़कर तू शेष समाधान रूप स्थिर होजा ॥६॥ वासना को बसाने वाले और प्राण को चलाने वाले मन को समूल और पूर्ण रूप से त्यागकर आकाशके समान बुद्धि वाला होजा ॥७॥ हृदय से सब वासनाओं को निकाल देकर जो निश्चिन्त होजाता है वह मुक्त है, परमेश्वर है ॥८॥ देखना था सो देख लिया, भ्रान्ति में दसों दिशाएं भटक लिया। योग युक्त रहने वाले ज्ञानी को संसार गाय के खुरकी आकृति के समान यानी झट लांघ जाया जाय ऐसा है ॥९॥ देह के भीतर और बाहर, ऊपर और नीचे सब दिशा में, यहां वहां सब स्थान पर आत्मा ही आत्मा है। आत्मा रहित जगत् है ही नहीं ॥१०॥ जहां आत्मा नहीं है ऐसी कोई वस्तु नहीं है और जो आत्मामय नहीं है। सब जगह सत् चित् ही भरा हुआ है, फिर मैं और किसकी इच्छा करूं ? ॥११॥ सब कुछ ब्रह्म है, निश्चय ही वही सब तरफ फैला हुआ आत्मा है; मैं अन्य हूं और यह अन्य है, हे निष्पाप, इस भ्रान्ति को छोड़ दे ॥१२॥ नित्य, व्यापक और घन ब्रह्म में कल्पित पदार्थ उत्पन्न नहीं होते; (इसलिये) न शोक है न मोह है, न जरा है न जन्म ॥१३॥ जो है वही है; इसलिये सर्वदा ताप रहित रह सर्वदा जैसा प्राप्त हो वैसा अनुभव कर और किसी की इच्छा मत कर ॥१४॥ ग्रहण त्याग का त्याग करके सर्वदा दुःख रहित होजा। जैसे उत्तम वेणु में मोती होजाते हैं; जिसमें जन्म और मरणकी प्राप्ति होती है उसीमें त्वरित, हेमहामते विद्या का प्रादुर्भाव होजाता है, ऐसा वैराग्य शील पुरुषों ने अपने अनुभव से प्रतिपादित किया है ॥१५-१६॥

द्रष्टा और दृश्य के ऐक्य से जो अनुभव सिद्ध आनन्द का निश्चय होता है उस रूप अपने आत्म तत्त्व के निष्पंद की हम उपासना करते हैं ॥१७॥ द्रष्टा, दर्शन और दृश्य, इनको वासना सहित त्याग कर जिसके दर्शनानुभव का आभास मात्र होता है, ऐसे आत्मा की हम उपासना करते हैं ॥१८॥ है और नहीं है, इन दोनों पक्षों के बीच में अवस्थित और प्रकाश का भी प्रकाशन करने वाले आत्म तत्त्व की

हम उपासना करते हैं ॥१६॥ हृदय गुहा में अवस्थित परमात्मा को छोड़कर जो अन्य देव को भजते हैं वे याने रत्न की इच्छा करते हुए हाथ के कौस्तुभ का त्याग करते हैं ॥२०॥ जैसे इन्द्र पर्वतों को वज्र से नष्ट कर देता है इसी प्रकार जैसे २ इन्द्रियों के शत्रु उठते जांय विवेक रूपी दंड से उनको उसी समय नष्ट कर देते रहना चाहिये ॥२१॥ संसार रूपी रात्रि के अमंगल स्वप्न में प्राप्त हुए देह रूपी मिथ्या भ्रम में सब ही अपवित्र है और उसीसे संसार का भ्रम दृग्गोचर होता है ॥२२॥ बाल्य अवस्था में अज्ञान से पीड़ित होता है, युवावस्था में स्त्री से कष्ट उठाता है शेष अवस्था में स्त्री की चिन्ता से दुःखी होता है, ऐसा नीच पुरुष कर ही क्या सकता है ? ॥२३॥ सत् के सिर पर असत्, रमणीयता के सिर पर कुरूपता और सुख के सिर पर दुःख है; फिर मैं किस एक का आश्रय लूं ? ॥२४॥ जिनके निमिष और उन्मेष से जगत् के उत्पत्ति और प्रलय होते हैं, ऐसे पुरुष भी चल देते हैं; फिर मेरे जैसे की गिनती ही क्या है ? ॥२५॥ संसार ही दुःख की सीमा है ऐसा कहते हैं फिर इसमें गिर कर सुख किस प्रकार प्राप्त हो ? ॥२६॥ मैं अब चेत होगया, सावधान होगया ! यह मन ही आत्मा को चुराने वाला दुष्ट चोर है। मैं इसको नष्ट करूंगा, क्योंकि इसने मुझे चुरा लिया ॥२७॥ हेय में दुःख मत कर और उपादेय में राग न रख; हेय और उपादेय के भाव छोड़कर शेष रहे (निर्द्वंद्व) भाव में स्थिर होजा ॥२८॥ निराशा, निर्भयता, नित्यता, समता, बुद्धिमत्ता, निरिच्छता, निष्क्रियता, सौम्यता, निर्विकल्पता, ॥२९॥ धैर्य, मैत्री, मानसिक संतोष, आचरण में और वाणी में नम्रता, हेय और उपादेय के भाव का त्याग और वासनाराहित्य, ये गुण ज्ञानी में रहते हैं ॥३०॥ तृष्णा का अंगीकार रूपी चांडाली ने संसार सागर में चिन्ता के तंतु से बुना हुआ वासना का जाल बिछाया है ॥३१॥ जिस प्रकार प्रबल वायु मेघ जालको नष्ट कर देता है उसी प्रकार तू बुद्धि रूप तीक्ष्ण शलाका से इसको काट डाल और व्यापक पद में टिक जा ॥३२॥ जैसे कुल्हाड़ी से वृक्ष काटा जाता है वैसे ही मन से मनको काट कर तत्क्षण पावन पदको प्राप्त होजा और वहीं स्थिर रह ॥३३॥ खड़े होकर, जाते, सोते, जागते, रहते, उठते, गिरते; सब अवस्थाओं में यह सब अत्यंत असत् है ऐसा निश्चय रख कर इसकी आस्था छोड़ दे ॥३४॥ यदि तू दृश्य का आश्रय करेगा तो तू बन्धन वाला सत् चित् होगा और यदि तू दृश्य को छोड़ देगा तब तू मोक्ष वाला चित्त होगा ॥३५॥ जगत् के भीतर आत्मा की द्रष्टा दृश्य की दशा में 'मैं नहीं हूं' और 'यह भी नहीं है' इस प्रकार ध्यान रख कर तू अचल रह ॥३६॥ स्वाद लेने वाला और स्वाद का विषय इनको छोड़कर इनके बीच में रहे हुए केवल ज्ञान स्वरूप अपने आत्मा का ही ध्यान किया कर ॥३७॥ केवल ज्ञानका ध्यान करके आत्म रूप होजा; निरालंब का अवलंबन करते हुए बीच में स्थिर होजाया कर ॥३८॥ रस्सी से बंधे हुए छूट सकते हैं तृष्णा के बंधे हुए नहीं छूट सकते, इसलिये, हे निदाघ, सब संकल्पों के त्याग द्वारा तृष्णा का त्यागकर ॥३९॥ इस स्वाभाविक अहंभाव मय अमंगल तृष्णा को 'मैं नहीं हूं' इस भाव रूप शस्त्र से काट कर सब भूत पदार्थों के भय से रहित हुआ इस विशाल संसार के अन्त के भूमिको यानी मोक्षावस्था को प्राप्त होजा ॥४०॥ मैं इन पदार्थों का हूं और ये मेरा जीवन है, इनके बिना मैं नहीं हूं, न मेरे बिना ये भी हैं ॥४१॥ इस प्रकार आन्तर निश्चय को छोड़कर, मैं पदार्थों का नहीं हूँ न पदार्थ मेरे,

इस प्रकार विचार करके निश्चय करने पर ॥४२॥ भीतर बुद्धि को प्रशान्त रखते हुए लीला पूर्वक कर्म को करते रहना, इस प्रकार का जो वासना त्याग है, हे ब्रह्मन्, वही आदर्श माना गया है ॥४३॥ वासना क्षय करने पर सम बुद्धि में स्थित होकर निर्मम पुरुष देह त्यागता है यानी आ मरण वैसा ही रहता है इस प्रकार आ मरण समभाव रखने को वासना क्षय जानो ॥४४॥ अहंकार मय वासना को लीला मात्र से छोड़कर जो ध्येय रहित रहता है उसको जीवन्मुक्त कहते हैं ॥४५॥ वासना का निर्मूल होना और भेद ज्ञानका समूल त्याग इसीको त्याग कहते हैं और जिसने ऐसा किया है उस ब्राह्मण को मुक्त ही जान ॥४६॥ ये दोनों ब्रह्म रूप होगये हैं, ये दोनों दुःख से विमुक्त हुए हैं। काल वश आई हुई आपत्ति में और सुख दुःख में वे रत नहीं होते ॥४७॥ हे मुनीश्वर, वे ही संन्यासी हैं योगी और दमन शील हैं। जिसकी अन्तर्मुख दृष्टि में किसी की इच्छा नहीं है किसीकी अनिच्छा नहीं है ॥४८॥ जो सोये हुए के समान व्यवहार करता है उसको जीवन्मुक्त कहते हैं। हर्ष, शोक, भय, क्रोध, काम, कृपणता आदि के भाव से ॥४९॥ जो हर्ष शोक को प्राप्त नहीं होता, और जो इन्द्रियों के विषयों (के सुख दुःख) का अनुभव नहीं करता (उसको जीवन्मुक्त कहते हैं)। बाह्य विषयों की वासना से उत्पन्न हुई तृष्णा बद्ध तृष्णा कही जाती है ॥५०॥ और सब बाह्य विषयों की वासना से रहित तृष्णा मुक्त तृष्णा कही जाती है। यह मेरा हो इस प्रकार की प्रार्थना से युक्त इच्छा को ॥५१॥ दुःख जन्म और भय को देने वाली तीक्ष्ण शृंखला समझ सत् या असत् सब भावों में ऐसी इस इच्छा का सर्वदा ॥५२॥ त्याग करने से वह महामना परम श्रेष्ठ पद को प्राप्त होता है। सुख दुःख मयी बंध की तथा मोक्ष की आस्था को ॥५३॥ तथा सत् और असत् की आस्था का त्याग कर प्रशान्त महासागर के समान बना रह; हे साधो, पुरुष के चार प्रकार के निश्चय होते हैं ॥५४॥ माता पिता से उत्पन्न हुआ, सिर से लेकर पैर तक का देह मैं हूं यह प्रथम प्रकार का निश्चय है। हे ब्रह्मन्, बंध के दुःखों को देखकर ॥५५॥ मैं इन सब भावों से परे हूं, बालाग्र से भी मैं सूक्ष्म हूं ऐसा निश्चय सत्पुरुषों में उत्पन्न होता है, यह मोक्ष का हेतु है ॥५६॥ जगत् के सब पदार्थ रूप सब कुछ मैं ही अक्षय आत्मा हूं यह तीसरा निश्चय भी, हे ब्रह्मन्, मोक्ष का हेतु कहा जाता है ॥५७॥ मैं और यह जगत् सब सर्वदा आकाश के समान शून्य और सम है, इस प्रकार का यह चौथा निश्चय भी मोक्ष देने वाला है ॥५८॥ इनमें से पहिले की तृष्णा, बंध योग्य कही जाती है और शेष रहे तीनों की तृष्णा शुद्ध है इसलिये वे शुद्ध हैं और जीवन्मुक्त का आनन्द भोगते हैं ॥५९॥ सब कुछ मैं ही हूं यह निश्चय, हे महामते, ग्रहण करने वाले की मति में फिर कभी दुःख नहीं होता ॥६०॥ उसीको शून्य, प्रकृति, माया, ब्रह्म विज्ञान, शिव, पुरुष, ईशान तथा नित्य आत्मा कहते हैं ॥६१॥ द्वैत और अद्वैत से उत्पन्न हुए जगत् की उत्पत्ति रूप लीला से परमात्मा की अद्वैत शक्ति ही प्रकट होती है ॥६२॥ सब से परे रहे हुए परब्रह्म पद का अवलम्बन करने वाला, परिपूर्ण, एक चिन्मय और जो न दुःखी हो न सुखी और संतुष्ट हो, ऐसा पुरुष संसार में नहीं डूबता ॥६३॥ शत्रु मित्र में समान दृष्टि रखने वाला, प्राप्त कर्म को करने वाला, इच्छा और अनिच्छा से रहित ऐसा पुरुष न शोक करता है न किसी की कामना करता है ॥६४॥ जो सबको प्रिय लगे ऐसा ही बोलता है, कोई कुछ पूछे

तो उसको नम्रता से उत्तर देता है जो प्राणियों के भावको जानता है ऐसा पुरुष दुःखी नहीं होता ॥६५॥ विषय ध्यान के त्याग की पूर्वावस्था की बुद्धि को त्यागकर जीवन्मुक्त भाव से शान्त होकर विचरण कर ॥६६॥ भीतर से सब आशा, राग और वासना सबका त्यागकर बाहर से सब व्यवहार ठीक ठीक करते हुए इस लोक में शोक रहित होकर रहा कर ॥६७॥ बाहर से कृत्रिम क्रिया करते हुए भीतर से निष्क्रिय बना रह। इस प्रकार बाहर से कर्ता और भीतर से अकर्ता बनकर शुद्ध बुद्धि से इस संसार में विचरता रह ॥६८॥ अहंकार का त्याग करके आकाश के समान प्रशान्त बुद्धि से विराजने वाला, जगत् के संस्कार रूप कलंक को न ग्रहण करते हुए शुद्ध बुद्धि से संसार में विचरता रह ॥६९॥ उदार, और मृदु आचरण वाला, सब आचारों का अनुकरण करने वाला हो परन्तु आन्तर में संग का त्याग बनाय रख और बाहर की क्रिया करता रह ॥७०॥ भीतर से वैराग्य रखते हुए बाहर से आशाएं बांधता रह। यह बंधु है और यह नहीं है यह विचार क्षुद्र बुद्धि का है, ॥७१॥ उदार आचरण वालों का तो सब विश्व ही कुटुम्ब है। भाव अभाव रहित जरा मरण रहित ज्ञान और राग रहित ऐसे परब्रह्म पदका आश्रय कर। यह शुद्ध, निष्काम, और निर्दोष ब्राह्मी स्थिति है ॥७३॥ इसको धारण करने वाला कठिन काल में भी मोह को प्राप्त नहीं होता। वैराग्य से, शास्त्र के उपदेश से और महानता आदि गुणों का अवलंबन करके ॥७४॥ जो संकल्प की निवृत्ति के लिये समर्थ है, ऐसे मनको उच्च भावको प्राप्त कराना चाहिये। यह मन आशा के पीछे चला करता है और वैराग्यसे पूर्णत्व प्राप्त करता है ॥७५॥ शरद् ऋतु में तालाब का स्वच्छ जल जैसे लाल होता है, वैसे यह आशा से मलिन होजाता है। वारम्वार भोग करने से नीरस हुए उन व्यापारों को पुनः पुनः ॥७६॥ प्रतिदिन करते रहते बुद्धिमान मनुष्य को लज्जा क्यों नहीं आती ? चित् को विषयों का भाव होना ही बंध है और उससे मुक्त होना ही मुक्ति है ॥७७॥ दृश्य विषयों से रहित चित् ही आत्मा है, यही सब सिद्धांतों का सार है। इस निश्चय को प्राप्त होकर जैसा चाहे वैसे दृश्य को ग्रहण कर ॥७८॥ तू आप ही आप अपने आत्माके पदको प्राप्त होगा। मैं चित् हूं, ये लोक चित् हैं ये दिशायें तथा ये प्रजा चित् ही हैं ॥७९॥ दृश्य दर्शन से विमुक्त, केवल शुद्ध स्वरूप, नित्य प्रकाशक, आभास रहित चैतन्य स्वरूप, द्रष्टा, साक्षी, ॥८०॥ विषय रहित, चिद्रूप, पूर्ण ज्योति स्वरूप, जिसके लिये जानने का कुछ भी बाकी नहीं है, ऐसा मैं केवल ज्ञान स्वरूप और महान् हूं ॥८१॥ सब संकल्पों का निवारण करके और सब इच्छाओं का त्याग करके ऐसे निर्विकल्प पदको प्राप्त होकर हे मुनीश्वर, स्वस्थ होजा ॥८२॥ इति।

जो ब्राह्मण इस महोपनिषत् को नित्य पढ़ता है वह अश्रोत्रिय हो तो श्रोत्रिय (विद्वान्) बन जाता है, अनुपनीत यानी उपनयन संस्कार हीन हो तो उपनीत—उपनयन संस्कार युक्त होजाता है। वह अग्निपूत होजाता है यानी अग्नि होत्र करने से जो शुद्धि होती है उस शुद्धिको प्राप्त होता है, इसी प्रकार वह वायु पूत, सोम पूत, सत्य पूत; और सर्व पूत होजाता है। उसको सब देव जानते हैं। उसको सब तीर्थों में स्नान करने का फल मिलता है, सब देव उसका ध्यान करते हैं, सब यज्ञों में उसका यजन होता है। साठ हजार गायत्री मंत्र जापका उसे फल मिलता है। हजार बार इतिहास पुराणों के पाठका फल उसे प्राप्त होता है। एक अयुत प्रणव जप का

फल इसको मिलता है। देखने ही से पुरुषों की पंक्तियों को पावन करता है। उसकी चौदह पीढ़ियां पवित्र होजाती हैं, ऐसा भगवान् हिरण्यगर्भ ने कहा है। इस उपनिषत् के जप से अमृतत्व की प्राप्ति होती है।

॥ इति छठा अध्याय महोपनिषत् समाप्त ॥

ब्रह्म सूत्र भाषा दीपिका।

(गतांक से आगे)

इससे विदित होता है कि लौकिक पुरुष को भी सम्यक् दर्शन सार्थक होता है फिर विषय शून्य अपने से अन्य और किसी वस्तु को न देखने वाले नित्य केवल चैतन्य स्वरूप आत्मा को वह सार्थक हो जाय इसमें कहना ही क्या है। इसलिये तत्त्व ज्ञान निरर्थक होगा ऐसा कहने का प्रसंग नहीं आता।

सूत्र में "प्रकाश आदि के समान" कहा है, वह दृष्टांतके लिये कहा है। जैसे आकाशको व्यापनेवाला चन्द्र सूर्य का प्रकाश उंगली आदि की उपाधि के संबंध से, उपाधि के सीधे टेढ़े पन से वह भी टेढ़ा सीधा हुआ सा भासता है परंतु वास्तव में टेढ़ा सीधा नहीं होता; अथवा, घट आदि के हिलने पर उसका आकाश भी चलायमान प्रतीत होता है परन्तु वास्तव में वह चलता नहीं; अथवा जैसे जल से भरा हुआ पात्र आदि हिलने पर उसमें पड़ा हुआ सूर्य का प्रतिबिंब हिल जाय, तो भी, जिसका वह प्रतिबिंब है ऐसा सूर्य नहीं हिलता; वैसे ही अज्ञान से उत्पन्न हुआ और बुद्धि आदि की उपाधियों से युक्त ऐसा जीव नामक ईश्वर का अंश दुःखी होने पर भी उस अंश से युक्त ऐसा ईश्वर दुःखी नहीं होता। यही नहीं, जीव को भी जो दुःख की प्राप्ति होती है वह भी अज्ञान ही से होती है, यह पहिले ही कह आये हैं। इस बात के अनुसार ही "तत्त्वमसि" [छां० ६।८।७] (वह तू है), इत्यादि वेदान्त के महावाक्य अज्ञान से प्राप्त हुआ जीव भाव नष्ट होने पर वह जीव ब्रह्म ही होता है ऐसा प्रतिपादन करते हैं। इसलिये जीव के दुःखों से परमात्मा को दुःख प्राप्ति का प्रसंग प्राप्त नहीं होता ॥४६॥

स्मरन्तिच ॥२।३।४७॥

अन्वय और अन्वयार्थः—च और **स्मरन्ति** स्मृतियों में भी [यही] कहा है।

टीका:—व्यास आदि ने अपने स्मृति ग्रंथों में यही कहा है कि जीव के दुःखों से ईश्वर दुःखी नहीं होता। "तत्र यः परमात्मा स नित्यो निर्गुणः स्मृतः। न लिप्यते फलैश्चापि पद्म पत्रमिवाम्भसा॥ कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्ष बंधैः स युज्यते। स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुनः॥ (उनमें जो परमात्मा है वह नित्य और निर्गुण है। जैसे कमल का पत्ता पानी से लेपायमान नहीं होता वैसे. वह कर्मफलों से लेपायमान नहीं होता। दूसरा कर्म स्वरूप है और वह मोक्ष और बंध से युक्त है और वह सतरा पदार्थों के समुदाय से भी युक्त है)।

सूत्र का 'च' शब्द सूचित करता है कि श्रुति में भी ऐसा ही कहा है" यह अध्याहृत समझना चाहिये जैसे 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्यो अभिचाकशीति' [श्वे० ४।६] (उनमें से एक मधुर फल

खाता है और दूसरा कुछ भी न खाते हुए केवल देखता रहता है), 'एकस्तथा सर्वं भूतान्तरात्मा न लिप्यते लोक दुःखे न बाह्यः' [कठ० ५।११] (इसी प्रकार सब भूतों का अन्तरात्मा एक है, वह बाहर के सुख दुःखों से लेपायमान नहीं होता) ।

पूर्व पक्षः—यदि सब भूतों का अंतरात्मा एक ही है तो, लोगों में प्रचलित और वेदों में कथन किये हुए विधि निषेध किस प्रकार बन सकेंगे ? जीव ईश्वर का अंश है यह पहिले ही कह चुके हैं, तब जीव ईश्वर का अंश होने से केवल जीव के लिये पृथक् रूप से विधि निषेध बन सकता है इसमें पूछना ही क्या है, ऐसा यदि कहो तो कहते हैं, ऐसा नहीं है; क्योंकि, जीव और ईश्वर अभिन्न है ऐसा प्रतिपादन करने वाली श्रुतियां जीव ईश्वरका अंश नहीं है यही प्रतिपादन करती हैं जैसे, 'तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत् [तै० २।६।१] (उसको उत्पन्न करके उसीमें उसने प्रवेश किया), 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' [बृ० ३।७।२३] (इसके अतिरिक्त और कोई द्रष्टा नहीं है), 'मृत्यो सः मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' [बृ० ४।४।१९] (जो यहां नानात्व देखता है वह बारम्बार जन्म मरणको प्राप्त होता है), 'तत्त्वमसि' [छां० ६।८।७] (वह तू है), 'अहं ब्रह्माऽस्मि' [बृ० १।४।१०] (मैं ब्रह्म हूं) इत्यादि ।

जीव और ईश्वर का भेद है और अभेद भी है दोनों बातें श्रुति में प्राप्त होने से जीव ईश्वर का अंश है ऐसा कहा है; परन्तु यह कथन तब ही ठीक होगा जब श्रुति का अभिप्राय भेद और अभेद दोनों का प्रतिपादन करने का हो, परन्तु वास्तव में तो श्रुति का अभिप्राय अभेद का प्रतिपादन करने ही का है; क्योंकि, जीव ब्रह्म है ऐसा ज्ञान होने ही से पुरुषार्थ की सिद्धि होती है। श्रुति में भेद का जो कथन है वह स्वाभाविक दीखने वाले भेद का ही वर्णन है। क्योंकि, ब्रह्म निरवयव होने से जीवात्मा उसका मुख्य अंश हो यह नहीं बन सकता यह पूर्व कह चुके हैं। इसलिये एक परमात्मा जो सब भूतों का अंतरात्मा है वही जीव रूप से अवस्थित है यही सिद्ध होता है, तो इस अवस्था में विधि निषेध किस प्रकार युक्ति युक्त होगा सो कहना होगा ॥ ४७ ॥

इसका उत्तर देते हैं:—

अनुज्ञापरिहारौ देह संबंधा-ज्ज्योतिरादिवत् ॥२।३।४८॥

अन्वय और अन्वयार्थः—अनुज्ञा-परिहारौ विधि निषेध **देहसंबंधात्** देह के संबंध [से होते हैं] **ज्योतिरादिवत्** जैसे ज्योति आदि में होता है।

'ऋतौ भार्यामुपेयात्' (ऋतु काल में भार्या के साथ सहगमन करे) यह विधि है; 'गुर्वङ्गनां नोपगच्छेत्' (गुरु की स्त्री से संयोग नहीं करना चाहिये) यह निषेध है। वैसे ही, अग्निषोमीयं पशुं संज्ञपयेत्' (अग्नि और सोम देवता के लिये हिंसा करे) यह विधि है और "न हिंस्यात्सर्वभूतानि" (किसी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिये) यह निषेध है। लोक व्यवहार में भी मित्र को सहायता करनी चाहिये यह विधि है और "शत्रु को नष्ट करना चाहिये" यह निषेध है। इस प्रकार के विधि निषेध आत्मा के एक होते हुए भी देह के सम्बन्ध से बन सकते हैं। देह के साथ जो संबंध होता है उसको देह संबंध

कहते हैं ? देह सम्बन्ध से और क्या अभिप्राय है ? 'शरीर आदि संघात ही मैं हूँ' इस प्रकार जो विपरीत ज्ञान होता है, वही देह सम्बन्ध है। मैं जाता हूँ, मैं आता हूं, मैं अंधा या आंखवाला हूँ, मैंमूर्ख या पण्डित हूँ, इस प्रकार का विपरीत ज्ञान प्राणिमात्र में दिखाई देता है। इस विपरीत ज्ञान का निवारण तत्त्व ज्ञान के व्यतिरिक्त अन्य किसी से भी नहीं हो सकता तत्त्वज्ञान के पूर्व सब प्राणी इस भ्रांति से युक्त रहते हैं। इस प्रकार आत्मा एक ही है ऐसा मानें तो भी अविद्या से उत्पन्न हुए शरीर आदि उपाधि के सम्बंध से भेद की प्राप्ति होने से विधि निषेध बन सकते हैं।

यदि कहो कि तत्त्वज्ञान युक्त मनुष्य को विधि निषेध निरर्थक ही हो जायँगे तो वह ठीक नहीं है। क्योंकि ज्ञानी कृतार्थ हुआ होने से वह विधि निषेध के उपदेश का भाजन नहीं बन सकता। जो हेय और उपादेय के भाव से युक्त हो, वही उपदेश के योग्य होता है परन्तु जो आत्मा के अतिरिक्त और हेय और उपादेय ऐसी वस्तु देखता ही नहीं उसको उपदेश कैसे बन सकता है ? आत्मा आत्म प्राप्ति के उपदेश के योग्य है; ऐसा कहना भी युक्त नहीं है। आत्मा शरीर से भिन्न है ऐसे जानने वाला ही उपदेश के योग्य होता है ऐसा यदि कहो तो वह ठीक नहीं है; क्योंकि देहादि संघात में अहंभाव होने ही से वह विधि निषेध के उपदेश के योग्य बनता है। आत्मा शरीर से भिन्न है ऐसा जानने वाला मनुष्य ही विधि निषेध के उपदेश के पात्र है, यह जोकि सत्य है तो भी उसमें भी, 'जैसे आकाश घटादि से संबद्ध नहीं है वैसा मैं भी शरीरादि से संबद्ध नहीं हूँ'; ऐसा जिसको ज्ञान नहीं है, उसीको 'मैं उपदेश के योग्य हूँ' यह अभिमान उत्पन्न होता है। 'मेरा शरीरादि से कोई सम्बन्ध नहीं है' ऐसे समझने वाला कोई भी मनुष्य (जैसे सुषुप्ति अवस्था में) उपदेश के पात्र है ऐसा देखने में नहीं आता, फिर आत्मा का एकता से बोध करने वाला ज्ञानी किस प्रकार उपदेश का पात्र बनेगा।

तत्त्वज्ञानी उपदेश के पात्र न होने से वे स्वेच्छा-चारी बनेंगे यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि सर्वत्र अभिमान ही प्रवृत्ति का हेतु होता है और ज्ञानियों में अभिमान किंचित् भी नहीं होता। इसलिये, विधि निषेध देह के सम्बन्ध ही से प्रवृत्त होते हैं यही सिद्ध हुआ।

ज्योति आदि उदाहरणों से यह बात समझ सकते हैं। ज्योति जैसे सर्वत्र एक ही है, तो भी मुर्दे जलाने वाले अग्नि का लोग त्याग करते हैं, अन्य अग्नि का त्याग नहीं करते; जैसे सूर्य का प्रकाश सर्वत्र एक ही होता है, तो भी अपवित्र स्थान में पड़े हुए प्रकाश का त्याग किया जाता है और पवित्र स्थान पर उसका कोई त्याग नहीं करता; जैसे गोमूत्र और गोबर पवित्र मान कर ग्रहण किया जाता है परन्तु वही पदार्थ अन्य पशु के हों तो कोई नहीं लेता; वैसे ही यह समझना चाहिये ॥४८॥

असंततेश्चाव्यतिकरः ॥२।३।४९॥

अन्वय और अन्वयार्थः—च परन्तु **असंततेः** [सब शरीरों के साथ जीव का] संबंध न होने से **अव्यतिकरः** [कर्म और फल का संकर नहीं होता।

टीका—शंका:—आत्मा के एक होते हुए भी उस भिन्न भिन्न देहों के उपाधिसे उसको विधि निषेध प्राप्त भले हों, परन्तु आत्मा एक मानने से जीव का कर्म और फल से जो सम्बन्ध है उसमें व्यवस्था नहीं रहेगी, क्योंकि सब शरीरों का स्वामी तो एक ही है, ऐसा कोई कहे तो:—

समाधानः—वह ठीक नहीं है; क्योंकि, जीव व्यापक नहीं है। कर्ता भोक्तारूप जीवका सब शरीरों से एक साथ संबद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि जीवत्व उपाधि के अधीन है यह पहिले ही कह चुके हैं। उपाधि व्यापक नहीं है इसलिये जीव भी व्यापक नहीं है। इसलिये कर्म और कर्मफल का संकर नहीं होता ॥४९॥

आभास एव च ॥२।३।५०॥

अन्वय और अन्वयार्थः—च और [जीव परमात्मा का] **आभासः** आभास **एवं** ही है [इसलिये कर्मफल का संकर नहीं होता]।

टीका:—जल में पड़े हुए सूर्य के प्रतिबिंब के समान जीव परमात्मा का प्रतिबिंब है ऐसा समझना चाहिये। वह साचात् परमात्मा नहीं है न उससे भिन्न ऐसी कोई अन्य वस्तु भी है। इसलिये जैसे एक जल में पड़े हुए प्रतिबिंब के कंपित होजाने से अन्य जलों में पड़े हुए प्रतिबिंब कंपित नहीं होते; वैसे ही एक जीव का कर्म से या कर्मफल से सम्बंध हो जाय तो भी उनका अन्य जीवों से सम्बंध नहीं होता। इस प्रकार कर्म और फलों का किंचित् भी संकर नहीं होता। अपरंच, प्रतिबिंब अज्ञान से भासता है इसलिये उस प्रतिबिंब पर आधार रखने वाला यह संसार भी अज्ञान ही से भासता है ऐसा कहना पड़ेगा। अज्ञान का निरास होने पर परमार्थ दृष्टि से जीव ब्रह्म स्वरूप है ऐसा जो श्रुति में उपदेश मिलता है वह युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

परन्तु जिनके मत में आत्मा अनेक हैं और वे सर्वव्यापक हैं उनके मत में ही यह अव्यवस्था प्राप्त होती है। कैसे २ संकर प्राप्त होती हैं सुनो—

आत्मा अनेक, सर्व व्यापक, केवल चैतन्यस्वरूप निर्गुण और निरतिशय हैं। उस आत्मा के लिये उपयोगी और सब आत्माओं का साधारण ऐसा 'प्रधान' नामक पदार्थ है। इस प्रधान ही से आत्मा को भोग और मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह सांख्यों का मत है।

आत्मा अनेक सर्व व्यापक, घट भींत आदि के समान द्रव्यरूप और स्वयं अचेतन है। अत्यन्त सूक्ष्म और अचेतन ऐसे अन्तःकरण उस आत्मा के साधन हैं। इनमें से आत्मरूपी द्रव्य का अन्तः-करणरूप द्रव्य से संयोग होजाने से उन उन आत्माओं में इच्छा आदि नौ विशेष गुणों की उत्पत्ति होती है और उन गुणों का सब आत्माओं में संकर न होते हुए वे प्रत्येक आत्मा में समवाय सम्बंध से रहते हैं, यही संसार है। और आत्मा के नौ गुणों के उत्पत्ति का अत्यन्त अभाव हो जाय वही मोक्ष है। यह वैशेषिकों का मत है।

सांख्यों के मत में सब आत्मा चैतन्य स्वरूप होने से और प्रधान का सामीप्य आदि बातें सबको साधारण होने से एक आत्मा का सुख दुःख से सम्बन्ध होजाने से सब आत्माओं से सुख दुःख का सम्बन्ध प्राप्त होता है।

अपूर्ण।

वेदान्त दीपिका

इस ग्रन्थ में जिज्ञासु को स्वाभाविकता से होने वाले प्रश्नों का अत्यन्त मार्मिकता से समाधान किया गया हैं। वेदान्त विषय के चौबीस प्रश्न ये हैं:—

१—एक ब्रह्म के सिवाय और कुछ नहीं है; तब संसार क्या है? ब्रह्म चैतन्य और जगत् जड़ है इसलिये जड़ जगत् चैतन्य ब्रह्ममें से नहीं होसक्ता। २—जीव क्या चीज़ है? चैतन्य हो तो चैतन्य असंग है इसलिये कर्ता भोक्ता नहीं हो सकता और जड़ हो तो क्रिया नहीं कर सकता। ३—अज्ञान और ज्ञान किसको होता है? ४—जगत् प्रत्यक्ष है और तुम एक ब्रह्मको और बताते हो तब जगत् और ब्रह्म दो होने से द्वैत हुआ। अद्वैत कैसे है? ५—पाप, पुण्य, स्वर्ग, नरक और मोक्ष क्या चीज है? कर्म कहां रहते हैं? ६—माया अनादि मानते हो तो अनादि का नाश कभी नहीं होता इसलिये माया कभी नहीं छूटेगी और जीवका कभी मोक्ष न होगा, फिर मोक्ष क्या? ७—असंग होकर ब्रह्म सृष्टि का कर्ता कैसे है? एक ही सब व्यवहार का हेतु है तो सब एक समान क्यों नहीं होते? ८—पुनर्जन्म का शास्त्र वाक्य के सिवाय क्या सबूत है? पुनर्जन्म होता है तो याद क्यों नहीं रहता? ९—पूर्वजन्म में किये हुये कर्मों का फल इस जन्ममें भोगा जाता है, पाप कर्म का फल दुःख भोग होता है, पूर्वजन्म की याद नहीं, किये हुये कर्मों की खबर नहीं, पाप जाने बिना पाप का फल भोगना यह अन्याय क्यों है? १०—एक शरीर से किये हुये शुभ अशुभ कर्मों का फल दूसरे शरीर से भोगना यह अन्याय क्यों? ११—आत्मा शुद्ध है तो सब बातों को क्यों नहीं जानता? १२—प्रारब्ध का ही भोग होता है तो शास्त्र और गुरु उपदेश व्यर्थ है, प्रारब्ध से परतंत्र हुआ मनुष्य क्या कर सकता है? १३—जीव मरने के समय किस प्रकार जाता है? १४—मोक्ष सुखका किसी ने प्रत्यक्ष नहीं किया है, बिना जाने किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा नहीं होती तो मोक्षकी इच्छा कौन करेगा? १५—प्रत्यक्ष दीखने वाले संसार को तुम असत्य बताते हो और न दीखने वाले आत्मा को सत्य बताते हो, यह कैसे समझ में आवे? १६—आत्मा सामान्य प्रकाश करने वाला है तो प्रकाश करने वाले दीपक के समान जड़ हुआ! सामान्य में विशेषता नहीं और विशेषता बिना चैतन्यता कहां! शरीर पैदा होता है उसमें जीवके प्रवेश होने का क्या प्रमाण है? १७—मरने के बाद सब जल कर खाक होगया, कुछ न रहा फिर जन्म किसका होगा? १८—मैं कौन हूँ किसके सहारे टिका हूँ? जाग्रतादि अवस्था क्या है? किस की है? और अवस्थाओं का फल क्या है? भावना अनुसार फल होता है तो हम राजा होने की भावना करने से राजा क्यों नहीं होजाते? १९—लोभ, क्रोध, मोह आदिकों को दुःख देने वाला जानकर भी जीव क्यों नहीं त्यागता? सब संसार और संसार के पदार्थ ईश्वर रचित हैं तो लोभ, क्रोध, मोहादिक भी ईश्वर रचित हैं, उनको जीव कैसे हटा सकता है? २०—मात्र ज्ञान ही सत्य है तो कर्म, उपासना, भक्ति आदिका विधान बताने वाले सब शास्त्र किस अर्थ हैं? २१—जीवको संसार में विशेष कर दुःख ही दुःख होता है तो जीवों को दुःख देने के लिये ऐसी दुनियां ईश्वर ने क्यों रची? २२—आत्मा शुद्ध स्वरूप है तो अशुद्ध स्वरूप वाला जीव किस प्रकार हुआ? अशुद्ध किसने किया? जड़ माया चेतन आत्मा को अशुद्ध नहीं कर सकती, स्वयं अशुद्ध हो नहीं सकता और दूसरा अशुद्ध करने वाला है नहीं। २३—ज्ञान और अज्ञान ईश्वरकृत हैं। ईश्वर ने किसी को ज्ञानी और किसी को अज्ञानी बनाया तो ईश्वर पक्षपाती हुआ, ऐसा क्यों? २४—बिना कर्म कोई शरीरधारी नहीं रह सकता, कर्म फल दिये बिना नहीं रहता, ज्ञानी भी कर्म करता है तो कर्म का फल भोगने के लिये उसको भी जन्म धारण करना पड़ेगा। जन्म धारण करके कर्म करेगा तो ज्ञानी जन्म रहित कैसे हो सकता है?

प्रत्येक प्रश्नको प्रथम युक्तिपूर्वक समझा कर उसको अधिक दृढ़ करने के लिये प्रसंगानुसार दृष्टांत देकर ग्रन्थ अत्यन्त रोचक बनाया गया है। मूल्य रु० १॥) डाकखर्चा अलग।

वेदान्त केसरी बेलनगंज—आगरा।

REGD. NO. A. 1821

वेदान्त केसरी की छपी हुई पुस्तकें।

वेदान्त केसरी मासिक पत्र—नवाँ साल चालू है वार्षिक मूल्य ३) वर्ष के मध्य में ग्राहक होने वालों को वर्ष के आरंभ से सब अंक लेने होंगे मई मास से वर्ष आरंभ होता है नमूने की कापी मुफ्त नहीं मिलती। एक प्रति का मूल्य पाँच आना। पिछले आठों साल की जिल्द (प्रत्येक बारह अङ्कों की) तय्यार हैं, थोड़ी कापियां शेष रही हैं। श्रीमच्छङ्कराचार्य्यके अद्वैत सिद्धान्तके अनुसार सम्पूर्ण वेदान्त की प्रक्रिया आगई है।

अधिकारी के लक्षण, गुरु-शिष्य लक्षण, पंचकोष विवेक, जगत्, जीव, ईश्वर, ब्रह्म, माया, अविद्या, ज्ञान, अज्ञान, आसक्ति, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, महावाक्य, जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति; छोटे छोटे उपनिषद्, स्तोत्र आदि अनेक लेख आये हैं, जो बोलचालकी बहुत ही सीधी भाषामें युक्ति और दृष्टांतपूर्वक समझाये गये हैं। बहुत ही रोचक होने से पढ़ने को लेनेके बाद पुस्तक छोड़ने को चित्त नहीं चाहता। सामान्य भाषा जानने वाले भी बारम्बार पढ़ने से आत्मबोध प्राप्त कर सकते हैं। प्रत्येक पुस्तक का मूल्य ३) सम्पूर्ण सेट यानी आठों पुस्तक का मूल्य २४)

उपासना—इसमें साकार, सगुण, निर्गुण, कार्य ब्रह्म तथा कारण ब्रह्म आदि कई प्रकार की उपासना को भिन्न २ प्रकार से समझाया है। उपासना की स्थिरता ही से मन एकाग्र होकर आत्म साक्षात्कार होता है। मूल्य ॥)

चर्पट पंजरिका—"भज गोविंदं भज गोविंदं" पद्य का विवेचन सहित भाषानुवाद है। अनेक दृष्टांतों से रोचक है। सम श्लोकी पद्य भी है। मूल्य ।)

कौशल्य गीतावली भाग १—२—वेदान्त केसरी में आई हुई कविताओं का संग्रह। कविता रोचक सरल और ज्ञान के संस्कारों को प्रदीप्त करने वाली तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन रूप है। प्रत्येक भाग का मूल्य ।≠)

वेदान्त स्तोत्र संग्रह—श्रीमच्छङ्कराचार्य्य आदि के प्रतिभाशाली वेदान्त के मुख्य २ चुने हुए २१ स्तोत्रों का संग्रह किया गया है और प्रत्येक स्तोत्र का अर्थ भी सरल भाषा में दिया गया है, जो थोड़े पढ़े हुए मुमुक्षुओं को भी नित्य पाठ और श्रवण में अति उपयोगी हैं। कई संन्यासियों ने भी इसे बहुत पसंद किया है। मूल्य प्रति पुस्तक ॥) सब पुस्तकों का डाक खर्च ग्राहकों को देना होगा।

व्यवस्थापक—वेदान्त केसरी, बेलनगंज—आगरा।

केसरी प्रेस, बेलनगंज आगरा में सूरजभान गुप्त द्वारा मुद्रित और प्रकाशित।

REGD. NO. A. 1821

ॐ

वेदान्त केसरी

मासिक पत्र

पुस्तक ६ } माघ सं० १९८७ फरवरी १९३१ { अंक १०

श्लोक—तावद्गर्जन्तिशास्त्राणि जम्बुका विपिनेयथा
न गर्जति महाशक्तिर्यावद्वेदान्त केसरी ॥

अर्थ—जब तक महाबलवान सिंह गर्जना नहीं करता तब तक वन में श्याल खूब गर्जना करते हैं। इसी प्रकार जब तक वेदान्त सिद्धान्त की गर्जना नहीं होती तभी तक अन्य लौकिक शास्त्रों की गर्जना हुआ करती है।



सम्पादक—
ब्रह्मचारी विष्णु,
बेलनगंज-आगरा।

वार्षिक मूल्य ३) एक प्रति का मूल्य ।=)

विषयानुक्रमणिका ।

वेदान्त केसरी के नियम ।

(१) यह पत्र प्रत्येक अंग्रेजी महीने के आदि में निकलता है ।

(२) वेदान्त विषय का विवेचन करना इसका मुख्य प्रयोजन है ।

(३) वार्षिक मूल्य ३) अग्रिम लिया जाता है । बिना मूल्य पत्र किसी को नहीं भेजा जाता है ।

(४) एक अङ्क का मूल्य ।–) नमूने का अङ्क पांच आने के टिकट आने पर भेजा जाता है ।

(५) जिन ग्राहकों के पास पत्र न पहुँचे उनको १५ तारीख तक सूचना देनी चाहिये ।

(६) एक वर्ष से कम के ग्राहक नहीं किये जाते । मध्य में ग्राहक होने वालों को चालू साल के आरम्भ से सब अङ्क लेने होंगे ।

(७) चिट्ठी लिखते समय प्रत्येक ग्राहक को अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखना चाहिये ।

वेदान्त केसरी

पुस्तक ९ } माघ सं० १९८७ फरवरी १९३१ { अङ्क १०

उद्धार।

इन्द्रवज्रा छन्द ।

(१)
भूला स्वयं को जग सत्य भासा।
लागीं महा व्याधि क्षुधा पिपासा ॥
कामांध जो दीन दुखी हुआ हो।
उद्धार कैसे उस जीव का हो ॥

(२)
अज्ञान दारू जिसको चढ़ी हो ।
कैसे उसे जांच भली बुरी हो ॥
जो भ्रांत होवे नहिं भ्रांति जाने ।
उद्धार कैसा बिन सीख माने ॥

(३)
हो कीट विष्ठा मल में रहे है।
ना बाग का वास रुचे उसे है ॥
जो रोग में ही रत मानता हो ।
उद्धार कैसे उस मूढ़ का हो ॥

(४)
जो आज खाया फिर कल खाया।
जिव्हा जलाई मुख भी जलाया ॥
तो भी उसी में मन दौड़ता हो ।
उद्धार कैसे उस मूर्ख का हो ॥

(५)
जन्मे मरे ऊर्ध्व चढ़े गिरे है ।
नाली नलों से गिरता फिरे है ॥
जो चक्र पे मूढ़ चढ़ा हुआ हो।
उद्धार कैसे उसका भला हो ॥

(६)
ना पूर्व का पुण्य जगे जहां लौं ।
संसार निस्सार न हो तहां लौं ॥
संसार के भोग न रोग भासें ।
उद्धार होवे तब लौं कहां से ॥

(७)
आदेश आता गुरु शास्त्र से है।
अज्ञान जाता पुरुषार्थ से है ॥
विश्वास होवे गुरु शास्त्र माहीं ।
उद्धार में है फिर देर नाहीं ॥

(८)
विश्वेश औ सद्गुरु की कृपा हो।
अभ्यास वैराग्य प्रपूर्णता हो ॥
ज्यों देह के बोध स्वरूप का हो ।
उद्धार त्यों ही इस जीव का हो ॥

मनन।

ओहो ! आश्चर्य है ! महान् आश्चर्य है समझ काम नहीं देती, कुछ समझ में नहीं आता ! सत्य क्या है यह निर्णय नहीं होता ! कभी कभी जाग जाता हूँ, कभी स्वप्न देखने लगता हूँ, कभी नींद में पड़ जाता हूं—सो जाता हूँ ! तब जाग्रत सत्य है, स्वप्न सत्य है, अथवा सुषुप्ति सत्य है। जब जाग्रत होता हूँ, तो कानों से रोचक भयानक शब्द सुनने लगता हूँ, त्वचा से कोमल कठिन, शीतोष्ण स्पर्श छूने लगता हूँ, नेत्रों से सुन्दर असुन्दर रूप देखने लगता हूं, जिह्वा से षट् रस का स्वाद लेने लगता हूं, और नासिका से सुगंध दुर्गंध सूंघने लगता हूँ, ! जैसे जाग्रत में ज्ञानेन्द्रियों से विचित्र प्रकार के ज्ञान करता हूँ, इसी प्रकार कर्मेन्द्रियों से अनेक क्रियायें करता हूँ, मुख से बोलता हूं, हाथों से ग्रहण करता हूँ, पैरों से चलता हूँ, उपस्थ से आनंद लेता हूँ, और पायु से विसर्जन करता हूँ ! जाग्रत में जैसे बाहर की इन्द्रियों का उपयोग करता हूं, इसी प्रकार भीतर की इन्द्रियों का भी प्रयोग करता हूँ,—मन से संकल्प विकल्प करता हूं, बुद्धि से निश्चय करता हूं, चित्त से स्मरण करता हूँ, अहंकार से अभिमान करता हूं, यह सब जगत का व्यापार है, स्वप्न में भी यह ही व्यापार है, भेद इतना है कि वहां पर न होते हुये भी पर्वत, नदी आदि पदार्थ दीखते हैं जाग्रत की इन्द्रियां भी स्वप्न में नहीं होती अन्य ही होती हैं और मन भी जाग्रत का नहीं होता जाग्रत की अपेक्षा से विशेष अज्ञान में दबा हुआ होता है। सुषुप्ति में तो मन रहता ही नहीं है, अज्ञान स्वरूप ही हो जाता है इसलिये सुषुप्ति में बेखबरी होती है यानी अपनी पराई किसी की खबर नहीं होती ! तब जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में से कौनसी अवस्था सत्य है ? सत्य उसको कहते हैं जिसका तीनों काल में बाध न हो इन तीनों अवस्थाओं का तो बाध हो जाता है क्योंकि तीनों परस्पर व्यभिचारी हैं, जाग्रत अवस्था में स्वप्न और सुषुप्ति नहीं होती, स्वप्न अवस्था में जाग्रत और सुषुप्ति नहीं रहती, सुषुप्ति अवस्था में जाग्रत और स्वप्न दोनों भाग जाती हैं और समाधि अवस्था में तो जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति तीनों का ही कहीं पता नहीं चलता इसलिये व्यभिचारिणी होने से तीनों ही मिथ्या हैं। ये तीनों अवस्थायें तीनों शरीरों की हैं। जाग्रत अवस्था स्थूल शरीर की है, स्वप्न अवस्था सूक्ष्म शरीरकी, सुषुप्ति अवस्था कारण शरीर की है। ये तीनों शरीर जड़ होने से नाशवान् हैं। इसलिये नित्य नहीं हैं, नित्य नहीं होने से सत्य नहीं हैं। ये तीनों शरीर मिल कर कार्य करते हैं। जो पदार्थ मिल कर कार्य करते हैं। वे जड़ होते हैं जैसे ईंट, पत्थर, चूना, मिट्टी मिला कर मकान बनाते हैं, इसलिये जड़ हैं। इसी प्रकार तीनों शरीर मिल कर कार्य करने से जड़ हैं। जड़ होने से नित्य नहीं हैं और नित्य न होने से सत्य नहीं हैं। तीनों शरीर परस्पर एक दूसरेको जानते भी नहीं हैं। इसलिये भी जड़ हैं। और जड़ होने से सत्य नहीं हैं। यहांतक यह बात सिद्ध हुई कि व्यष्टि शरीर सत्य नहीं है, अब समष्टि ब्रह्मांड मिथ्या है अथवा सत्य है, यह विचार करना चाहिये। वेद वेत्ताओं का कथन तो इस प्रकार है:—

जैसे स्वप्न में देखे हुये पदार्थ मिथ्या होते हैं। इसी प्रकार जगत भ्रांतिमय है, परमार्थ रूप नहीं है इसलिये जो कुछ दिखाई देता है, वह सब ब्रह्ममय

है, ऐसी भावना करनी चाहिये, जैसे स्वप्न काल में स्वप्न मिथ्या प्रतीत नहीं होता किन्तु सत्य प्रतीत होता है और स्वप्न के अन्त में स्वप्न मिथ्या हो जाता है इसी प्रकार जब तक अपने स्वरूप का अज्ञान है, तब तक जगत् मिथ्या प्रतीत नहीं होता किन्तु सत्य प्रतीत होता है और अज्ञान के निवृत्त होने पर सर्व विश्व मिथ्या प्रतीत होने लगता है। अज्ञान के प्रभाव से मिथ्यात्वमें भी सत्यता भासती है अभ्यास से असत्य में भी सत्य बुद्धि दृढ़ होजाती है। अभ्यास से असंग अक्रिय आत्मा अपने को कर्ता भोक्ता मानता है। जब अभ्याससे असत्यमें भी सत्य बुद्धि हो जाती है तो सत्य में सत्य बुद्धि अभ्यास से क्यों नहीं हो जायगी? अवश्य हो जायगी इसलिये विरुद्ध संस्कारों के योग से जगत् की सत्यता को त्यागना चाहिये और जहां २ मन जाय वहां २ शिव को ही भजना चाहिये शिव ही सत्य है। श्री स्वच्छन्दमें कहा है कि जहां २ मन जाय वहां २ ज्ञेय—ब्रह्मास्मि का ही चिन्तन करे क्योंकि जब सर्व शिव मय है, तो शिव को छोड़ कर मन कहां जायगा? कहीं भी नहीं जायगा।

सत्य और मिथ्या का निर्णय करने के लिये ब्रह्मवेत्ता यह युक्ति बतलाते हैं कि जब अधिकारी अश्व को देखे तो अश्व में अश्व की भावना न करे किन्तु उस में परम पूर्ण दीप्यमान चेतन समुद्र देखे, अश्व रूप को भूल जाय और अश्व नाम को भूल जाय क्योंकि नाम और रूप दोनों असत्य हैं, श्रेयाभिलाषी पुरुष मिथ्या नाम और रूप का सर्वदा ही त्याग करे जब नाम और रूप असत्य हैं, तो सत्य क्या है इसका समाधान तत्त्ववेत्ता इस प्रकार करते हैं—सत् चित तथा आनन्द नाम और रूप ये पाचों प्रत्येक द्रव्यमें व्यभिचार रहित सर्वदा ही भासते हैं। उन पाचों में से आदि के तीनों तो सर्व द्रव्यों में समान रूप से स्थित हैं और प्रत्येक द्रव्य में नाम और रूप भिन्न २ हो जाते हैं, जो बुद्धिमान पुरुष इस प्रकार विचार दृष्टि से विश्व को देखता है उस धीमान को सच्चिदानन्द अखंड एक रस परिपूर्ण दिखाई देते हैं और अखंड सच्चिदानन्द में नाम और रूप घूमते हुये दिखाई देते हैं। धी यानी बुद्धि के गुण विद्वानों ने इस प्रकार बतलाये हैं—शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, ऊहापोह का अर्थ, विज्ञान और तत्त्व ज्ञान ये बुद्धि के गुण हैं।

सच्चिदानन्द तीन नहीं है एक ही तत्त्व है, सम रस रूप से वर्तता है इस सम रस सच्चिदानन्द तत्त्व में नाम और रूप दिन रात घूमते ही रहते हैं, कभी स्थिर नहीं रहते। सच्चिदानन्द गंभीरसे भी अति गंभीर पार हीन चिदर्णव यानी चेतन समुद्र है इस चेतन समुद्रमें नाम रूप तरंगें निरंतर नृत्य ही किया करती हैं, कभी चुप चाप नहीं बैठतीं यह सच्चिदानन्द आकाश रूप है अनन्त है अपरिछिन्न है ज्योतिमय है चेतन है इस सच्चिदानन्द रूप आकाश में नाम रूप पक्षी दशों दिशाओं में सर्वदा उड़ते ही रहते हैं। यह सच्चिदानन्द अचल है निर्विकार है, सनातन है, और नाम रूप चल है विकारी है और क्षर यानी नाशवान् है। यह बात निस्संदेह ठीक ही है कि जो अचल निर्विकार और सनातन होता है वह ही सत्य होता है और जो द्रव्य चल विकार वाला और नश्वर होता है वह मिथ्या ही होता है। निष्कल यानी कला रहित, निरंजन यानी माया रहित सच्चिदानन्द ही सत्य है नाम रूप मिथ्या हैं, यह विद्वानों का निर्णय है इसलिये मिथ्या नाम रूप को मुमुक्षु त्यागना चाहिये और सच्चिदानन्द का चिंतन करना चाहिये। रूपों से और नामों से यत्न पूर्वक चित्त का उद्धार करना चाहिये रूप में और नाम में मनको कभी लगाना उचित नहीं है।

उपरोक्त विचार करके एक प्राज्ञ इस प्रकार चिंतवन करने लगा—मैं एक ही हूं, मैं ही एक सत्य हूँ, चिन्मय स्वरूप हूँ मेरे सिवाय कहीं भी किसी काल में भी कोई कुछ भी नहीं है, मैं ही प्रज्ञान हूँ, अनन्त हूं, परब्रह्म हूं, नित्य पवित्र हूं, अत्यंत निर्मल हूं, संग हीन हूँ, रज हीन हूं, सर्व हीन हूँ, सदा सम हूं, निर्लेप हूँ, निराकार हूं, निर्विकार हूं, जगत् आदि से रहित हूं, नाम रूपसे हीन हूं और पृथिवी आदि पांचों भूतों से विहीन हूं ! चर्म रक्त मांस मेद अस्थि और वीर्य सात धातुओं से बना हुआ वात पित्त और श्लेष्म का विकार मल मूत्र आदि अपवित्र पदार्थों से युक्त देह मैं नहीं हूँ, श्रोत्रादि पांच ज्ञानेन्द्रियां और वागादि पांच कर्मेन्द्रियां मैं नहीं हूँ, संकल्प विकल्प रूप मनमैं नहीं हूँ, निश्चय करने वाली बुद्धि मैं नहीं हूँ, प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान रूप पांच प्राण मैं नहीं हूं मैं अहंकार नहीं हूं, किन्तु अव्यय हूँ, चिदानन्द हूँ, सत्ता मात्र हूं और अनामय यानी रोग रहित हूं ! ऊर्ध्व मुझ में नहीं है अधः मुझ में नहीं है, मध्य मुझ में नहीं है ऊर्ध्व अधः और मध्य से मैं रहित हूं, अकल्मप हूं यानी पाप से रहित हूँ, सर्व शून्य हूं और तीनों गुणों से अतीत हूं, अच्युत हूं, यानी अपने स्थान से मैं कभी विचलित नहीं होता, सर्व दोषोंसे रहित हूं, प्रशान्त हूं, निर्भय हूं, निष्कलंक हूं और अलक्षण हूँ यानी मेरा कोई लिङ्ग नहीं है ! मैं अप्रतर्क्य हूँ यानी तर्कमें नहीं आता, मैं अविज्ञेय हूँ यानी किसी के जानने में नहीं आता, मैं मन वाणीका अविषय हूँ यानी मन वाणी मुझे कह और जान नहीं सके ! मैं शुद्ध हूं बुद्ध हूं अनिर्देश्य हूं यानी कथन करनेमें नहीं आता, चिन्मय हूं, स्वयं प्रभा हूं, तृप्ति रूप हूं, चिदानन्द हूं, और द्वैत के भान से रहित हूं !

एक वस्तु अनेक कभी नहीं होसकी, एक वस्तु तो एक ही रहेगी, इसलिये एक अखंड मैं ही हूँ, मेरे सिवाय अन्य कुछ नहीं है। जो कुछ देखने में आता है, जो कुछ सुनने में आता है, और जो कुछ स्मरण करने में आता है, मुझ से अतिरिक्त नहीं होसक्ता, इसलिये सब मैं ही हूँ, मुझ से अन्य कुछ नहीं है। जिसको वेदवेत्ता नित्य कहते हैं, शुद्ध कहते हैं, विमुक्त, अखंड आनन्द स्वरूप, अव्यय, सत्य, ज्ञान, अनन्त और परब्रह्म कहते हैं, वह मैं ही हूँ ! मैं आनन्द रूप हूँ, अखंड बोध स्वरूप हूँ, पर से पर हूँ और घन चित्प्रकाश स्वरूप हूँ। जैसे मेघ आकाश को स्पर्श नहीं करते, इसी प्रकार संसार के दुःख मुझ असंग आत्मा को स्पर्श नहीं करते ! दुःख का लेश मुझ में नहीं है, इसलिये मैं सुख रूप हूँ, असत् का कहीं भी पता नहीं है, इसलिये मैं सत्य हूँ, जड़ कहीं भी नहीं है, इस-लिये मैं चिद्रूप हूँ, खंड नहीं हो सके, इसलिये मैं अखंड हूँ ! न मेरा जन्म है, न मेरा मरण है, जाना आना भी मुझ में नहीं है, न मुझ में मल है न वेदना है, मैं चिन्मय हूँ, ऐसा मुझे स्पष्ट भासता है।

जिस पदको तत्त्वदर्शी सत्य, चिद्घन, अखंड, अव्यय, सर्व दृश्य से रहित, निरामय, विमल, अद्वितीय सदा शिव कहते हैं, वह पद मैं ही हूँ ! जन्म मृत्यु से रहित, सुख दुःख से वर्जित, जाति, नीति, कुल, गोत्र से दूर हूँ, जिस चेतन का यह जगत् विवर्त है, जो चेतन इस जगत् का कारण है, वह चेतन मैं ही हूं ! मैं पूर्ण हूँ, अव्यय हूँ, अखंड ज्योति हूँ, विश्व के भेद से रहित हूँ, अद्वितीय हूँ, परम सम्वित हूँ, निरंश हूँ, मेरा किसी काल में बाध नहीं होता, क्योंकि मैं तीनों कालों में एक रूप से ही विद्यमान रहता हूँ ! सुषुप्ति में जो सर्व

सुखों से पर है और निरुपाधिक नित्य है, वह सुख और आनन्द मेरा ही है। जैसे सूर्य में रात्रि का कहीं पता नहीं है, इसी प्रकार मेरे स्वरूप में अज्ञान का कहीं नाम तक नहीं है। जिस विश्व कर्ता हरि के चरण स्मरण और पूजन से जन्तु भव बन्धन से छूट जाता है, वह विश्वकर्ता हरि मेरा आत्मा ही है। जैसे लोभी धन की इच्छा से धनी की स्तुति करता है, इसी प्रकार यदि जीव विश्वकर्ता अपने आत्मा का सेवन करे, तो बंधन से क्यों न मुक्त होजाय ? अवश्य ही मुक्त होजाय। जैसे आदित्य की संनिधि में सब लोग स्वयं ही चेष्टा करते हैं, इसी प्रकार मेरी संनिधि में समस्त जगत् चेष्टा करता है। जैसे अज्ञान से सीपी में चांदी कल्प ली जाती है, इसी प्रकार महदादि मायामय जगत् मुझ केवल में कल्पित है। चंडाल की देह में, श्वानादि पशुओं में, वृक्षादि स्थावरों में, ब्राह्मणों और दूसरों की देह में मैं तारतम्य से स्थित नहीं हूँ किन्तु सब में सम ही स्थित हूँ। जैसे दिशा भ्रम दूर होजाने पर भी दिशा पूर्व के समान भासती है, इसी प्रकार अज्ञान के नष्ट होजाने पर जगत् मुझ में भासता है परन्तु परमार्थ से वह मुझ में है नहीं।

मैं देह नहीं हूँ, न मैं इन्द्रियां हूं, मन, बुद्धि, अहंकार भी मैं नहीं हूं, न चित्त हूं, न माया हूं, न पंच भूत हूं और न जगत् हूँ, न मैं कर्ता हूं, न भोक्ता हूँ, भोग कराने वाला भी मैं नहीं हूँ, किन्तु सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ! जल के चलने से जैसे सूर्य में चंचलता भासती है, इसी प्रकार अहंकार के संबंध से मुझ आत्मा में संसार भासता है, परमार्थ से मुझ में संसार नहीं है! संसार का कारण चित्त है, इसलिये प्रयत्न पूर्वक चित्तको शोधना चाहिये चित्त का मर जाना ही चित्त का महान् उदय है, मूढ़ पुरुषों को चित्त का जीवित रहना ही अपना जीना भासता है, विद्वानों को चित्त का मरण ही कल्याण रूप है। बड़े २ ऐश्वर्य वाले महीपाल हो २ कर चल दिये, बड़े २ साहूकार अपना धन यहां ही छोड़कर चल बसे, बड़े २ वक्ता ब्राह्मण व्याख्यान दे २ कर न मालूम कहां चले गये! करोड़ों ब्राह्मण, राजा, सेठ नष्ट होगये, इससे सिद्ध होता है कि देहाभिमानी विद्वान् होकर भी असुर ही हैं। केवल तत्त्वदर्शी ही वास्तविक विद्वान् हैं। उत्पन्न होने वाले रागादि जब विवेक रूप अग्नि से जलकर भस्म होजाते हैं, फिर उत्पन्न नहीं होते। जो अधिकारी विवेक रूप अग्नि से रागादि को जला डालता है, वह ही विद्वान् है और वह ही सुखी है, अन्य सब दुःखी हैं, जैसे पुरुष पराये दोष देखने में निपुण होता है, इसी प्रकार जो कोई अपने आत्मा के देखने में निपुण हो, तो बंधन से क्यों न छूट जाय ? अवश्य छूट जाय। अनात्मज्ञ बद्ध पुरुष ही सिद्धियों की वांछा करता है, आत्म ज्ञानी सिद्धियां नहीं चाहता, मुझे अपने आत्मा में ही रत होना चाहिये, नश्वर तुच्छ सिद्धियों में मुझे फंसना योग्य नहीं है।

मैं ही सुख रूप हूं, मेरे सिवाय जो कुछ है, कुछ भी सुख रूप नहीं है, मैं स्वतः ही प्रिय हूं, जो कुछ प्रेय है, मेरे लिये ही है, अपने लिये कुछ भी प्रेय नहीं है, मैं परम प्रेमास्पद हूँ क्योंकि मेरी सर्वदा यह ही इच्छा होती है कि मैं सदा ही रहूँ, मैं न होऊँ ऐसी कभी मेरी इच्छा नहीं होती, इस विश्व का द्रष्टा—अखंड द्रष्टा जो विष्णु है, वह मैं ही हूँ। मैं प्रकाश नहीं हूं, ऐसा जो कथन है, वह प्रकाश का ही दृष्टांत है क्योंकि स्व प्रकाश मुझ आत्मा को अप्रकाश स्पर्श ही कैसे कर सक्ता है ? नहीं कर सक्ता। स्वयं प्रकाश, निराधार को जो निश्चय रूप

से जानते हैं, वे ही विज्ञान संपन्न हैं, यह मेरा निश्चित मत है, स्वयं पूर्ण आत्मा के सिवाय जगत के जीव ईश्वर आदि हैं ही नहीं, माया भी नहीं है, मैं ही उन सब से विलक्षण हूँ! धर्मादि लक्षण वाले कर्म अज्ञान अन्धतम रूप हैं, स्वयं प्रकाश मुझ आत्मा को वे कैसे स्पर्श कर सक्ते हैं? नहीं कर सक्ते। वर्णाश्रम से रहित सर्वका साक्षी ब्रह्म है। ब्रह्म को आत्मा रूपसे देखने वाला मैं भी स्वयं ब्रह्म ही हूँ, अज्ञानी के लिये जगत् दुःखमय है और ज्ञानी के लिये विश्व आनन्दमय है, अन्धों के लिये विश्व अंधा है और नेत्र वालों के लिये जगत् प्रकाश वाला है। मैं अनन्त हूँ, सच्चिदानन्द रूप हूं, अद्वितीय भाव से स्थित हूँ, ऐसे निर्द्वन्द्व मुझ आत्मा में बंधन कहां और मोक्ष कहां? मैं सर्व भूतों के भीतर स्थित हूँ, नित्य मुक्त हूँ, चिदात्मा हूँ, प्रत्यक् चैतन्य रूप हूँ, ऐसे सर्व-व्यापी मुझको नमस्कार है, नमस्कार है! तू मैं हूं, मैं तू है, मैं तू दोनों चिदात्मा हैं, ऐसे तुझ और मुझ को नमस्कार है, नमस्कार है! मुझ परेश के लिये नमस्कार है, मुझ शिवके लिये नमस्कार है! क्या मैं करूं? कहां मैं जाऊँ? क्या मैं ग्रहण करूं? क्या त्याग करूँ?

न मुझे शस्त्र काट सक्ते हैं, न अग्नि जला सक्ती है, न जल गला सक्ता है और न वायु सुखा सक्ता है, मैं नित्य हूं, सर्वगत हूँ, स्थाणु हूं और सनातन हूँ। मैं अव्यक्त हूं, अचिंत्य हूं और अविकारी हूँ, न मुझ में शोक है, न मोह है। भाव यह है कि मैं अस्ति, भाति, प्रिय रूप से सर्वत्र व्यापक हूँ, इसलिये नित्य हूँ, नित्य और सर्वव्यापी होने से मैं स्थाणु हूँ, और इसीलिये मैं सनातन हूँ। इन्द्रियों से मैं देखने में नहीं आता, इसलिये अव्यक्त हूं, मन से मैं जाना नहीं जाता, इसलिये अचिंत्य हूँ, मैं क्रिया रहित हूँ, इस-लिये अविकारी हूँ। अविकारी होने से ही मुझ में शोक मोह भी नहीं है। सारांश यह है कि मैं कूटस्थ नित्य हूं, सर्व उपाधियों से रहित हूँ, इसलिये जन्म मरण, आधि व्याधि रूप संसार मुझ में नहीं है, मैं तो सर्वदा असंसारी शुद्ध बुद्ध और मुक्त हूँ।

इस प्रकार मनन करके मुमुक्षु निदिध्यासन के परिपाक से असंभावना और विपरीत भावना से रहित होकर आत्मानुसंधान करता हुआ वसुधा को पावन करता हुआ आनन्द से विचरने लगा। इत्यति शोभनम्।

—सकल चराचरानुचर भोला।

निर्विकल्प ब्रह्म।

एक सत संगी एक सन्त के पास जाकर प्रणाम कर बैठ गया उस समय सन्तजी प्रवचन कर रहे थे, सत संगी सुनता रहा। कथा समाप्त हो जाने पर और श्रोताओं के चले जाने पर वह बैठा रहा और सन्तजी को अपने अभिमुख देखकर आज्ञा पाकर प्रार्थना पूर्वक जिज्ञासु बुद्धि से प्रश्न करने लगा।

सत संगीः—श्री महाराज, आप कहते हैं कि अन्य पदार्थों से केवल हट जाने पर ही उस पर चैतन्य का अनुभव होने लगता है, तो फिर नींद में तो मन वैसा हटा हुआ रहता है। नींद में उसका आप ही आप अनुभव होना चाहिये, फिर दूसरे उपाय करने की क्या आवश्यकता है? मनुष्य नींद लेकर ही कृतार्थ हो सकता है।

सन्तः—इस उलटे प्रश्न को सुन कर हंसे और कहने लगे। हे भावुक, तू शांत चित्त होकर श्रवण

कर। नींद में मन नहीं रहता, यह बात सच है, परन्तु उस समय मन का मनपन तम से ग्रसित रहता है फिर वह उस स्वरूप को कैसे व्यक्त करेगा? कभी नहीं कर सकता। दर्पण पर काजल पोत देने पर अन्य पदार्थों के हटा देने से भी उसमें आकाश दिखाई नहीं पड़ता; इसी प्रकार निद्रा में लिप्त हो जाने पर बाहर से हटा हुआ मन चैतन्य का अनुभव नहीं करता। स्वरूप दर्शन केवल निःसंकल्प मन से ही हो सकता है, इसके बिना चैतन्य भासित नहीं होता। हाल के उत्पन्न होने वाले बच्चे को स्वस्वरूप भासमान नहीं होता, इसका कारण मन रूपी पट पर तम का लेप ही है। जैसे काजल पोते हुए दर्पण पर काजल का प्रतिबिम्ब पड़ा रहता है वह किसी को दिखाई नहीं पड़ता परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि वह नहीं है। इसी प्रकार सुषुप्ति में मन के निद्रा ग्रस्त होने पर वस्तुतः उसकी निवृत्ति नहीं होती परन्तु वहां वह चैतन्य को व्यक्त नहीं कर सकता। जाग्रत होते ही निद्रा का स्मरण होता है, इसके सिवाय उस अवस्था में अज्ञान का भी अनुभव होता है इस विषय को एकाग्र चित्त होकर विस्तार पूर्वक श्रवण कर:—मन की दो स्थितियां हैं १ प्रकाशावस्था, २ विमर्शावस्था। जब मन बाह्य पदार्थों से विश्रांति लेता है अर्थात् संकल्प रहित रहता है तब प्रकाशावस्था है और जब उनके संबंध में संकल्प होते रहते हैं तब विमर्शावस्था होती है। प्रकाश अवस्था में पदार्थों का कुछ भी भेद नहीं मालूम होता, इस समय मन निर्विकल्प स्थिति में रहता है। विमर्श अवस्था में पदार्थों का विमर्श अथवा विचार होते रहते हैं, इस समय मन की सविकल्प स्थिति होती है। 'यह अमुक है' ऐसा भेद उत्पन्न न होने पर चित् पदार्थ का दर्शन रूपी प्रकाश निर्विकल्पक रहता है, इसी अवस्था के आधार पर प्रगट होने वाला 'यह अमुक है' ऐसा भेदात्मक विमर्श सविकल्पक रहता है। विमर्श दो प्रकार का है, एक अभिनव आभास और दूसरा स्मृति रूप। पहिले का स्वरूप नये नये अनुभवों में पाया जाता है, दूसरा पूर्व अनुसंधानात्मक होता है, इसका स्वरूप वह आकार है जो पूर्व संस्कार वश मन में उत्पन्न होता है। इस तरह से मन सर्वत्र इन दो शक्तियों से युक्त रहता है। निद्राकाल में जो निर्विकल्प ज्ञान रहता है वह सुषुप्ति अवस्था में निर्विकल्पता अतिशय कूट कूट कर भरी रहती है इसीलिये उसे मूढ़ दशा कहते हैं। जागृति में अनेक सविकल्प भान होते हैं अतएव इसे अमूढ़ दशा कहते हैं। इसी कारण से विद्वानों ने निश्चय किया है कि यद्यपि दीपक में पूर्ण प्रकाश भरा रहता है तथापि उसमें विमर्श न होने के कारण अर्थात् उसमें ज्ञान न होने के कारण वह मूढ़ दशा में है। शुद्ध चैतन्य से अन्य सबसे पहिले प्रगट होने वाला बाह्य भास अव्यक्त तत्त्व अथवा महाशून्य निद्रा का स्वरूप है 'कुछ भी नहीं है' ऐसी सर्व सामान्य भावना दृश्य भास का अभाव ही सुषुप्ति और निर्विकल्पता है। जाग्रत अवस्था में पदार्थों का दर्शन होते समय भी उस समय के लिये मन निर्विकल्प अवस्था में रहता है, परन्तु दूसरे ही क्षण विकल्प प्रगट होने के कारण वह अवस्था नष्ट हो जाती है। विवेकी पुरुष कहते हैं कि सुषुप्ति अवस्था में अव्यक्त शक्ति की निर्विकल्पता की दृढ़ता के कारण 'मन विलीन होता है' नहीं तो पदार्थ को देखते रहने पर भी मन उस समय के लिये लीन ही रहता है।

हे श्रेयोत्सुक, मैं तुझे अपने अनुभव का रहस्य बतलाताहूं, यहां अत्यंत सूक्ष्म विचार करने वाले पंडित भी मूढ़ होजाते हैं। १ निर्विकल्प समाधि

२ सुषुप्ति ३ पदार्थ दर्शन तीनों निर्विकल्प दृष्टि से एक ही प्रकार में शामिल हैं। एक पदार्थ को छोड़कर दूसरे पर जाते समय मन यद्यपि गति दशा में रहता है तथापि एक ही पदार्थ में लगे रहने के कारण वह विकल्प रहित हो होता है अतएव संसार में दिखाई पड़ने वाले ये तीन भेद स्वरूपतः न होकर भास्य के भेद के कारण हुए हैं समाधि में केवल चैतन्य भासित होता है, सुषुप्ति में अव्यक्त का अनुभव होता है और पदार्थ दर्शन काल में मर्यादित आकार का ज्ञान होता है। तात्पर्य यह है कि भास्य ही तीन प्रकार का हो गया है। परन्तु यह भेद होने पर भी ज्ञान—केवल ज्ञान अथवा शुद्ध चैतन्य स्वयं निर्विकल्प ही है। इसीलिये उसे 'प्रकाश निघिड़' कहते हैं इसका अर्थ निर्विकल्पता से पूर्ण व्याप्त है। इसमें समाधि और सुषुप्ति स्थितियों का अधिक समय भासित होने के कारण सब लोगों को इनका स्पष्ट ज्ञान हो सकता है परन्तु पदार्थ दर्शन के बिलकुल क्षणिक होने के कारण सबको वह स्पष्ट नहीं मालूम होता। यदि समाधि और सुषुप्ति की स्थितियां ऐसी ही क्षणिक होतीं तो ये भी नहीं पहिचानी जातीं। यदि सुषुप्ति क्षणिक हो तो सूक्ष्म दृष्टि वाले पुरुष दीर्घ सुषुप्ति के अनुभव के आधार पर उसे जान सकते हैं, परन्तु पहिचान न रहने कारण लोग सूक्ष्म समाधि को नहीं जान सकते हैं। व्यवहार दशा में भी सब प्राणियों को अल्प कालिक समाधि अवश्य प्राप्त होती है, परन्तु परिचय न होने के कारण लोगों को वह मालूम नहीं होती। जाग्रत अवस्था में जो विमर्श शून्य संकल्प शून्य अवस्था आजाती है उसे समाधि कहते हैं विमर्श का जो नाश है वही समाधि है। इसलिये सुषुप्ति अवस्था में और पदार्थ दर्शन अवस्था में भी समाधि की स्थिति रहती है परन्तु इसे मुख्य समाधि नहीं कह सकते क्योंकि भेद का अनुभव कराने वाले विमर्श के संस्कार गर्भ में रहते हैं और इस अवस्था के अनंतर संस्कार रूपसे उदय होते हैं। जाग्रति में होने वाला पदार्थ का भान भी अविमर्श स्वरूप अर्थात् निःसंकल्प रूप हो रहता है। तू इसे और भी अधिक स्पष्ट रीत से समझले। बिलकुल पहिले ही "कुछ भी नहीं है" के रूप में प्रगट होने वाला अव्यक्त तत्त्व जिसका सामान्य स्वरूप है उसका भान अत्यंत अभाव रूप नास्तिता ही है। चैतन्य की जो यह जड़ शक्ति है वही सुषुप्ति अवस्था है। सुषुप्ति में "कुछ भी नहीं है" की जो स्थिति भासमान होती है उसके कारण सुषुप्ति में निर्विकल्प ज्ञान रहने पर भी वह जड़ सिद्धि होती है परन्तु समाधि में भासमान होने वाला चैतन्य ब्रह्म स्वरूप है। वह तत्त्व देशकाल की समस्त मर्यादा से रहित और "कुछ भी नहीं है" के भास का भी नाश करने वाला सर्वथा अस्ति स्वरूप है।

सारांश यह है कि शरीर की जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्था में मन तीन प्रकार का रहता है, जाग्रत में स्थूल वृत्ति वाला, स्वप्न में सूक्ष्म संस्कार वृत्ति वाला और सुषुप्ति में कारण रूप संस्कार में रहकर स्थूल सूक्ष्म वृत्तियों का अभाव वाला होता है और समाधि में तो लौकिक वृत्तियों से रहित ब्रह्माकार होता है।

हे सौम्य, अब बतला फिर निद्रा ही को ब्रह्म कैसे कह सकते हैं? तेरे कथनानुसार केवल नींद लेकर मनुष्य कृतार्थ हो नहीं सकता।

—स्वामी आत्मानन्द।

चित्त के परिणाम ।

शंकाः—दूसरे पाद के १५ वें सूत्र में यह प्रतिपादन किया है कि गुणों का स्वभाव चंचल है, चंचल स्वभाव वाले होने से गुण प्रतिक्षण परिणाम को प्राप्त होते रहते हैं इसलिये निरोध समाधि काल में यानी निर्बीज समाधि में जो चित्त है, उसका भी अवश्य ही प्रतिक्षण परिणाम होता होगा क्योंकि बिना परिणाम के चित्त का स्थिर होना क्षण भी संभव नहीं है इसलिये यह बताना चाहिये कि निर्बीज—असंप्रज्ञात समाधि में चित्त का कैसा परिणाम होता है !

इस शंका का समाधान करने के लिये भगवान् सूत्रकार कहते हैं:—"व्युत्थान निरोध संस्कारयोरभिभव प्रादुर्भावौ निरोध क्षण चित्तान्वयो निरोध परिणामः॥९॥" अर्थः—'व्युत्थान निरोध संस्कारयोः' क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त भूमि नामका जो व्युत्थान है और ज्ञानप्रसाद नामका जो परवैराग्य रूप निरोध है, उन दोनों के संस्कारोंका जो "अभिभव प्रादुर्भावौ" तिरोभाव और आविर्भाव यानी व्युत्थान संस्कारों का तिरस्कार और निरोध संस्कारों का प्रादुर्भाव, इन दोनों संस्कारोंके साथ, "निरोध क्षण चित्तान्वयः" निरोध के क्षणमें होने वाला जो चित्त का संबंध है, वह निरोध परिणाम कहलाता है, अर्थात् निरोध समाधि कालमें व्युत्थान जन्य संस्कारोंकी अतीतावस्था होती है और परवैराग्य रूप निरोध के संस्कारों की वर्तमान अवस्था होती है इन दोनों अवस्थाओं के संस्कारों का आशय रूप जो धर्मी चित्त है वह दोनों अवस्थाओं में अनुगत होता है यानी प्रतिक्षण चित्तके व्युत्थान का नाश और संस्कारों का जो आधान—निवास है, वह ही निरोध काल में चित्त का परिणाम है।

भाव यह है कि क्षण २ में चित्त के व्युत्थान संस्कार निकलते रहते हैं और निरोध संस्कार प्रवेश होते रहते हैं। क्षण २ में व्युत्थान संस्कारों का निकलना और निरोध संस्कार का प्रवेश होना, यह ही असंप्रज्ञात काल में चित्त का परिणाम है।

शंकाः—कारण के नाश से कार्य का नाश हो जाता है यह बात सब को मान्य है इसीलिये अविद्या रूप कारण के नाश से अविद्या के कार्य रागादि आप ही निवृत्त हो जाते हैं। इसी प्रकार जब व्युत्थान वृत्ति का निरोध हो गया तो उस वृत्ति से उत्पन्न हुये संस्कारों का भी आप ही निरोध हो जायगा फिर व्युत्थान संस्कारों का नाश करने के लिये निरोध संस्कार की क्या आवश्यकता है।

समाधानः—कुछ यह नियम नहीं है कि कारण मात्र की निवृत्ति से ही कार्यकी निवृत्ति होजाती हो। किन्तु यह नियम है कि उपादान कारण की निवृत्ति से कार्य की निवृत्ति होती है। व्युत्थान संस्कारों का उपादान कारण चित्त है; जब तक उपादान कारण रूप चित्त विद्यमान है तब तक व्युत्थान संस्कारों की स्वतः ही निवृत्ति नहीं हो सक्ती, इसीलिये वृत्ति के नाश होने पर भी बहुत काल पीछे संस्कारों द्वारा पदार्थों का स्मरण लोक में देखने में आता है। और वृत्ति तो संस्कारों की निमित्त कारण है इस लिये वृत्ति के नाश होने से संस्कारों का नाश नहीं हो सक्ता। लोक में भी कुलाल रूप निमित्त कारण के नाश से घट रूप कार्य का नाश नहीं होता किंतु उपादान कारण रूप कपाल के नाश से ही घट देखने में आता है और अविद्या तो राग आदि का उपादान कारण है इसलिए अविद्याके नाशसे राग आदिका नाश समीचीन है। इसी अभिप्राय से भाष्यकारों ने यहां

यह कहा है:—"व्युत्थानसंस्काराश्चित्तधर्मा न ते प्रत्ययात्मका इति प्रत्यय निरोधे न निरुद्धाः" अर्थात् व्युत्थान संस्कार चित्त का धर्म है वृत्ति का धर्म नहीं है इसलिये वृत्ति निरोध होने पर भी संस्कारों का निरोध नहीं हो सक्ता क्योंकि उपादान कारण चित्त विद्यमान है इसलिये व्युत्थान संस्कारों के अभाव के लिये निरोध संस्कारों की वृद्धि करनी चाहिये, जिस से चित्त संस्कार शेष हो जाय।

ऊपर के कथन का सारांश यह है कि व्युत्थान संस्कार समाधि के विरोधी हैं उनका निरोध करने को योगी प्रयत्न करता है योगी के प्रयत्न करने से प्रति दिन और प्रतिक्षण व्युत्थान संस्कार दबते जाते हैं यानी क्षीण होते जाते हैं और व्युत्थान संस्कारों के विरोधी निरोध संस्कार उत्पन्न होते हैं। ऐसा होने से एक २ क्षण में चित्त निरोध को प्राप्त होता है। इस प्रकार चित्त का निरोध रूप परिणाम निर्बीज समाधि है।

अब निरोध संस्कार का फल रूप परिणाम भगवान् सूत्रकार इस सूत्र से कहते हैं:—'तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १०" ॥ अर्थः—'संस्कारात्' निरोध संस्कार से 'तस्य' उस चित्त की 'प्रशान्त वाहिता' निर्मल निरोध संस्कार धारा को परंपरा रूप स्थिति होती है। अर्थात् निरोध संस्कारोंके अभ्यास से चित्त की स्थिति प्रशान्त वाहिता—शान्ति प्रवाह रूप हो जाती है। प्रशान्त वाहिता का यह लक्षण भाष्यकारों ने कहा है। व्युत्थान संस्कार रूप मलसे रहित निरोध संस्कार की उत्तरोत्तर अविच्छिन्न—न टूटने वाली जो परम्परा है, उसका नाम प्रशान्त वाहिता है। जिस प्रकार घृत आदि आहुति डालने से अग्नि उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होकर प्रज्वलित होजाती है, घृत आदि के क्षय होने पर प्रथम क्षण में कुछ शान्त होती है और धीरे २ उत्तरोत्तर क्षणमें शान्ति बढ़ती जाती हैं; इसी प्रकार निरुद्ध चित्त की उत्तरोत्तर क्षण में शान्ति अधिक होती जाती है और पूर्व २ की शान्तिसे उत्पन्न हुये संस्कार उत्तरोत्तर शांति के कारण होते हैं इसलिये प्रशान्त वाहिता रूप स्थिति के लिये निरोध संस्कारों का ऐसा अभ्यास करना चाहिये कि निरोध संस्कारों में इतना सामर्थ्य आजाय, कि वे व्युथान संस्कारोंका तिरस्कार कर दें यदि ऐसा न होगा तो निरोध संस्कारों के मन्द होने से व्युत्थान संस्कार ही निरोध संस्कारों का तिरस्कार कर देंगे।

एक मल्ल दंगल में दूसरे मल्ल से हार गया उसने घर पर जाकर जितेन्द्रिय हो कर पुष्टिकारक भोजनों का सेवन करते हुये एक साल तक अखाड़े में कुश्ती लड़ने का फिर अभ्यास किया और फिर उसी मल्ल से कुश्ती बदी। दैवयोग से फिर भी उसे पछाड़ न सका किंतु आप ही पछड़ गया एक साल तक उसने फिर अभ्यास किया और फिर कुश्ती बदी; फिर भी हार गया इस प्रकार ९ वर्ष तक करता रहा और हारता रहा। अंत में दसवें साल फिर अभ्यास किया और अब की बार उसने अपने प्रतिद्वन्द्वी को जीत लिया। जैसे यह मल्ल जब तक अपने साथीका पराभव न कर सका तब तक बराबर प्रयत्न करता रहा; इसी प्रकार जब तक व्युत्थान संस्कारों का पराभव न हो तब तक योगी को निरंतर अभ्यास में लगे रहना चाहिये। किसी का परिश्रम व्यर्थ नहीं जाता इसलिये जब तक सिद्धि प्राप्त न हो, तब तक बराबर उत्साह पूर्वक प्रयत्न करते रहना ही चाहिये और अंत में कार्य पूरा करके ही छोड़ना चाहिये यह विद्वानों का उपदेश है।

यहां तक असंप्रज्ञात काल में होने वाले निरोध परिणाम का स्वरूप और फल कह कर अब संप्रज्ञात में होने वाले समाधि परिणाम को इस सूत्र से कथन करते हैं:—"सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधि परिणामः" ॥ ११ ॥ अर्थः—'चित्तस्य' चित्त की 'सर्वार्थता—एकाग्रतयोः' विक्षिप्तता और एकाग्रता का जो 'क्षय—उदयौ' नाश और उदय है, वह समाधि परिणाम कहा जाता है। अर्थात् अनेक विषयोंमें क्षण २ चित्त जाता रहता है क्षण २ में चित्त का विषयों में जाना यह सर्वार्थता रूप चित्त का धर्म है। और किसी एक ही आलम्बन में निश्चल वृत्ति प्रवाह से चित्त का स्थिर हो जाना, यह एकाग्रता रूप चित्त का धर्म है; इन दोनो धर्मों में से सर्वार्थता रूप चित्त के धर्म का क्षय हो जाना और एकाग्रता रूप चित्त के धर्म का उदय हो आना इसका नाम समाधि परिणाम है। यहां पर भी पूर्वके समान ऐसा समझना चाहिये कि विक्षिप्तता रूप चित्त के धर्म का तिरोभाव—क्षय होता है और एकाग्रता रूप चित्त के धर्म का आविर्भाव—उदय होता है और चित्त रूप धर्मी दोनों कालों में अनुगत—मौजूद रहता है।

निरोध परिणाम से समाधि परिणाम में यह भेद है कि निरोध परिणाम में व्युत्थान संस्कारोंका अभिभव—दब जाना होता है और निरोध संस्कारों का आविर्भाव—उदय होता है और समाधि परिणाम में संस्कारों का उत्पन्न करने वाला जो व्युत्थान है उसका क्षय होता है और एकाग्रता रूप धर्मका आविर्भाव होता है। भाव यह है कि संप्रज्ञात समाधि प्रथम होती है और पीछे असंप्रज्ञात होती है। प्रथम संप्रज्ञात में व्युत्थान संस्कारों का क्षय और एकाग्रता का उदय किया जाता है और फिर असंप्रज्ञात में निरोध संस्कारों के आविर्भाव से व्युत्थान संस्कारों का भी तिरोभाव—क्षय किया जाता है।

सारांश सूत्रका यह है कि रजोगुण से चलायमान हुआ चित्त क्रम २ से सब पदार्थों का ग्रहण करता है, उस रजोगुण के निरोध करने के लिये योगी यत्न करता है। योगी के यत्न करने से दिन प्रतिदिन सर्वार्थता क्षय होती है और एकाग्रता उदय होती है। इस प्रकार के चित्त के परिणाम को समाधि कहते हैं।

अब इसी संप्रज्ञात की दृढ़ अवस्था रूप एकाग्रता परिणाम का लक्षण कहते हैं:—"ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्य प्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता परिणामः ॥ १२ ॥" अर्थः—'ततः' विक्षिप्तता रूप धर्म के क्षय होने से 'पुनः'—पीछे जो 'शान्त-उदितौ' अतीत यानी बीता हुआ और वर्तमान यानी मौजूद दोनों का 'तुल्य प्रत्ययौ'—प्रत्यय वृत्ति तुल्य होजाना, इसका नाम एकाग्रता परिणाम है यानी समाधि कालमें सर्वदा एकाग्रता का प्रवाह हो जाना ही समाधि परिणाम है।

भाव यह है कि संप्रज्ञात समाधि के प्रथम क्षण में व्युत्थान वृत्ति उत्पन्न होकर शान्त होती है और दूसरे क्षण में एकाग्रता रूप वृत्ति उदय होती है। इस प्रकार संप्रज्ञात में पहिली और पिछली वृत्ति विलक्षण होती है क्योंकि पहिली वृत्ति शान्त होती है, वह विक्षेप रूप है और पिछली वृत्ति जो उदय होती है, वह निरोध रूप है। यह ही चित्त का परिणाम पूर्व सूत्र में समाधि परिणाम के नाम से कहा गया है और जब दृढ़ अभ्यास के बल से विक्षेप का अत्यंत अभाव हो जाता है तो निरंतर प्रतिक्षण निरोध रूप वृत्ति ही होती है। यानी प्रथम क्षणमें उत्पन्न हुई वृत्ति भी निरोध रूप होती है और दूसरे क्षण में शान्त हुई वृत्ति भी निरोध रूप होती है और तीसरे क्षण में

जो वृत्ति उदय होती है वह भी निरोध रूप होती है। इस प्रकार दोनों वृत्तियां तुल्य ही होती हैं, विलक्षण नहीं होतीं। इसीका नाम एकाग्रता परिणाम है। परंतु यह एकाग्रता परिणाम भी तभी तक रहता है जब तक योगी समाधि में स्थित होता है। जब समाधि से योगी का उत्थान होता है तब विक्षेप वृत्ति भी उदय हो आती है इसलिये उत्थान काल के विक्षेप की निवृत्ति के लिये योगी को असंप्रज्ञात का अनुष्ठान करना चाहिये संप्रज्ञात की प्राप्ति से ही अपने को कृत कृत्य न मान लेना चाहिये।

संक्षेप में ध्यान संप्रज्ञात समाधि और असंप्रज्ञात समाधि का स्वरूप क्रम से यह है:—कर्ता करण के अनुसंधान सहित जो वृत्ति उत्पन्न होती है वह ध्यान है ध्यान के प्रकर्ष अभ्यास से कर्ता करण के अनुसंधान रहित ध्येय मात्र को विषय करने वाली समाधि है। अपर वैराग्य पूर्वक आदर सहित निरंतर दीर्घ काल तक समाधि करने से चित्त में से रज और तम निकल जाते हैं और लेश सुख प्रकाश मय सत्त्व के बढ़ जाने से बुद्धि निर्मल हो जाती है निर्मल बुद्धि होने से ध्येय मात्र विषयक बुद्धि की वृत्ति देर तक रहने लगती है तब संप्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है पश्चात् पर वैराग्य पूर्वक निरोध का प्रयत्न करने से ध्येय मात्र विषयक बुद्धि के निरोध हो जाने पर सर्व वृत्तियोंके निरोध होजाने से निर्विषयक निर्बीज समाधि होती है। यह ही बात इस श्लोकसे कही है "मनसो वृत्ति शून्यस्य ब्रह्माकार तया स्थितिः। यासंप्रज्ञात नामासौ समाधिरभिधीयते ॥" अर्थ:—जब मन वृत्ति से शून्य—रहित होजाय और ब्रह्माकार रूप से मन को स्थिति हो, वह मन की स्थिति असंप्रज्ञात—निर्बीज नाम की समाधि कहलाती है। इस समाधिके प्राप्त होने पर फिर व्युत्थान न होने से चित्त नष्ट हो जाता है और कूटस्थ, नित्य अनन्त शुद्ध चिति शक्ति अपनी महिमा में निरंतर निर्विघ्न स्थित होती है। इत्यति शोभनम्।

—सकल चराचरानुचर भोला।

अद्भुत स्वप्न।

एक समय नारद जी ब्रह्मा जी के पास गये उस समय ब्रह्माजी अपनी सभामें बैठे हुए सभासदों को यह उपदेश कर रहे थे जिसका अस्तित्व मालूम होता है वह शुद्ध चैतन्य है जो सर्वाश्रय भूत होता है वही नित्य होता है और जो नित्य होता है वही सत्य होता है इसलिये यह नानात्व मिथ्या है, स्वप्न है, अध्यस्त है और चेतन ही सत्य है क्योंकि इस नानात्व का अधिष्ठान है, आधार है। अध्यस्त की सत्ता अधिष्ठान से अतिरिक्त हो नहीं सकती या यों कहिये कि अध्यस्त अधिष्ठान रूप ही है; जैसे स्वप्न का नानात्व स्वप्न द्रष्टा से भिन्न नहीं है तैसे ही मेरी निर्माण की हुई सृष्टि भी चेतन स्वरूप ही है दूसरी कुछ नहीं है।

नारदजीः— हे भगवन्, संसार के तात्त्विक स्वरूप इस वर्णन को सुनकर मेरे मन में अतिसंदेह हो गया है। मैंने आपका संसार संबंधी विचार सुना वह ठीक है, उसमें कुछ दोष नहीं दिखाई देता। परन्तु यह संसार सच्चा सरीखा कैसे मालूम होता है? दूसरे बुद्धिमान् पुरुषों ने उसे सच्चा कैसे बत-

लाया है ? मैंने आपसे सुना कि संसार सत्य नहीं है। तथापि मुझे सच्चा सा किस कारण से मालूम होता है ! हे कृपानाथ मेरा संशय दूर कीजिये।

ब्रह्माजी:—हे प्रिय वत्स, सुनः—मैं इस संसार भ्रमका कारण बतलाता हूँ यह बड़ा पुरातन है। सत् को न जान असत्‌को सत् समझ लेना और उसीकी दृढ़ भावना कर लेना इस भ्रम का मूल है। देखो, जीव अपने शुद्ध स्वरूप को भूल कर शरीर को ही मैं कहने लगता है। परन्तु यथार्थ में देखने से कहां मांस, रक्त और हड्डी और कहां अत्यंत निर्मल चिदात्मा। परन्तु केवल दृढ़ भावना करनेके कारण ही आत्मा शरीर रूप हो जाता है ! यहां तक होता है कि आत्म को केवल चैतन्य रूप मानने पर भी बारंबार शरीर भ्रम होता है; इसी प्रकार केवल दृढ़ भावना के कारण संसार सत्य मालूम होता है जब इसके विपरीत संसार के मिथ्या होने की भावना की जाती है तब यह भ्रम निवृत्त होता है। जो जैसी भावना करता है उसे संसार वैसा ही मालूम होता है। मैं तुझे इस विषय में एक कथा सुनाता हूं।

मृत्यु लोकके बंगाल देशमें सुन्दरपुर नामक एक बड़ा शहर था। प्राचीन कालमें वहां सुषेण नाम का एक प्रख्यात राज था वह बड़ा बुद्धिमान् था, महासेन नामका उसका एक छोटा भाई था राजा सुषेणने एकबार अश्व मेघ यज्ञ किया। उस समय उसने उस यज्ञ के लिये जो घोड़ा छोड़ा था उसकी रक्षा के लिये उसका पराक्रमी पुत्र सेना सहित घोड़े के साथ था मार्ग में घोड़े के रोकने के लिये जो जो आये; उन्हें उस बलवान राजपुत्र ने अपने पराक्रम से हरा दिया। वह आगे बढ़ता हुआ इरावती के किनारे आया। वहां उसे तपोनिध राजर्षि तंगण दिखाई पड़े उसने अभिमान वश इनकी परवा न की, इनसे भेंट किये बिना आगे बढ़ने लगा। जब तंगण के लड़के ने देखा कि मेरे पिता का अपमान हुआ है तब उसे क्रोध आ गया। उसने घोड़े को छीन लिया और राज पुत्र की कड़ी निर्भर्त्सना की।

राजपुत्र ने चारों ओर से उस पर कठोर आक्रमण किया परन्तु उसके देखते देखते तंगण पुत्र घोड़े को साथ लेकर टेकड़ी की एक गुफा में घुस गया। राजकुमार ने 'क्रोध के आवेश में आकर शस्त्रों की ऐसी वर्षा की कि वह पहाड़ी नष्ट भ्रष्ट हो गई। पहाड़ी के नष्ट हो जाने पर वह तंगण सुत बड़ी सेना के साथ बाहर निकला और राजकुमार से युद्ध करने लगा। राजपुत्र की अधिकांश सेना मारी गई और वह पराजित हुआ। उसे बांध कर मुनिपुत्र गुफा में ले चला गया।

सेना के बचे हुए लोगों ने राजा सुषेण के पास जाकर सब हाल सुनाया। राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने तुरन्त अपने भाई से कहा 'वत्स, तुम तंगण मुनिके आश्रममें जाओ। तपस्वियों में बड़ा सामर्थ्य होता है। मुनिको प्रसन्न कर घोड़े और लड़केको लेकर जल्दी वापिस आओ। यह बसंत काल यज्ञ कार्य के लिये उचित है, यह इसी प्रकार न बीत जावे, तपस्वियों के सामने घमंड करने से काम नहीं चलेगा। क्रुद्ध होने पर वह एक क्षण में संसार को भस्म कर देंगे। उन्हें प्रसन्न कर अपना कार्य कर लेना।'

राजा की आज्ञा पाकर महासेन तंगण मुनि के आश्रम में पहुंचा। मुनि समाधिस्थ थे उनका शरीर लकड़ी सा हो गया था। मन और सब इन्द्रियां शांत थीं। उनका अहं भाव निर्विकल्प दशा के अपार समुद्र में लीन हो गया था। उन्हें देखते ही महासेन ने आदर पूर्वक साष्टांग प्रणाम

किया और हाथ जोड़ कर स्तुति करके वह उस मुनीश्वर को प्रसन्न करने लगा। स्तुति करते २ तीन दिन बीत गये। पिताकी स्तुतिसे प्रसन्न उसका लड़का बाहर आया और महासेन से कहने लगा 'राजा तेरी स्तुति से मुझे बड़ा संतोष हुआ है। अपना मनोरथ बतला, मैं तुरंत पूरा करूँगा मैं इस महा मुनि का पुत्र हूँ। अभी मेरे पिता के बोलने का समय नहीं आया है। इनका अंतःकरण समाधि में लीन है और ये बारह वर्ष में समाधि से उठेंगे। पांच वर्ष हो चुके हैं सात वर्ष और शेष हैं। इन्होंने इन सब बातोंका पहिले से निश्चय कर रखा है हम लोगोंसे तुझे क्या चाहिये? बतला, मैं पूरा करूंगा। तू यह मत समझ कि मैं छोटा लड़का हूं। मैं अपने पिता की बराबरी का तपस्वी हूँ संसार में तपस्वी पुरुषों के लिये कुछ भी असंभव नहीं है।'

इस गंभीर वाक्य को सुन कर महासेन ने मुनिकुमार को प्रणाम किया। वह कहने लगा 'हे मुनिपुत्र मेरी तो यही इच्छा है कि तुम्हारे पिता समाधि से जाग्रत हो जावें और मेरी बातचीत हो। यदि आपको सचमुच कृपा करनी हो तो मेरी इच्छा पूर्ण कर दीजिये। राजा के इस वचन को सुन कर मुनिपुत्र कहने लगा 'राजा तेरी इच्छा का पूर्ण होना कठिन है; परन्तु मैंने तेरा मनोरथ पूर्ण कर देने का विश्वास दिया है अतएव मैं इन्कार नहीं कर सकता। तू थोड़ी देर ठहर और योग मार्ग के मेरे अद्भुत सामर्थ्य को देख, मेरे पिता अभी परम पावन पद में विश्रांति ले रहे हैं। इन्हें बाह्य प्रयत्नों से कोई जाग्रत नहीं कर सकता। मैं सूक्ष्म योग मार्ग से जाकर इन्हें सावधान करता हूँ, देख!'

ऐसा कहकर उसने वहां आसन जमाया और इन्द्रियों का पूर्णतया निरोध किया। प्राणवायु का संयोग करके वह मुख्य प्राण के द्वारा बाहर आया और अपने पिता के शरीर में घुस गया। अनंतर अपने पिता के तल्लीन मनको सावधान कर वह तुरन्त अपने शरीर में वापिस आगया, इतने में वह मुनि जाग्रत हो गये। सामने राजा बड़ी नम्रता से स्तुति कर रहा है, उसे योग दृष्टि से राजा का मनोरथ ज्ञात होगया। उसकी स्तुति से संतुष्ट होकर मुनिराज अपने पुत्र से कहने लगे 'बच्चा, ऐसा फिर मत करना, क्रोध तप का घातक है। जब राजा प्रजा की रक्षा करता है, सुव्यवस्था रखता है, तभी तपस्या निर्विघ्नता से सिद्ध हो सकती है। इसलिये राजा के कार्य में विघ्न डालना अयोग्य है। यह दैत्यों का स्वभाव है, मुनियों का धर्म नहीं है। अतएव राग द्वेष छोड़कर घोड़े और राजपुत्र को इन्हें शीघ्र दे दो। इन्हें शीघ्र जाने दो, नहीं तो यज्ञ का समय बीत जावेगा।'

पिता के वचन को सुनने से मुनिपुत्र का क्रोध शांत होगया गुफा में जाकर उसने तुरन्त घोड़े और राजपुत्र को लाकर प्रीतिपूर्वक महासेन को सौंप दिये। महासेन ने इन दोनों को घर की ओर रवाना कर दिया। तदनंतर वह आश्चर्य भाव से मुनि को प्रणाम कर कहने लगा 'भगवन्! पहाड़ के इस गर्भ में मेरा भतीजा और घोड़ा अब तक कैसे रहा? मैं इस बात को समझ लेना चाहता हूं। कृपया मुझे बतला दीजिये।'

इस प्रकार पूछे जाने पर तंगण मुनि कहने लगे 'राजा, सुन! पहिले मैं राजा था। अनेक वर्षों तक मैंने एक विस्तृत राज्य चलाया है। मुझे एक समय तुर्यात्मक ईश्वर चित्स्वरूप का ज्ञान हो गया, अतएव मुझे सब लोक व्यवहार तुच्छ मालूम होने लगा। मैंने राज्य को लड़कों के आधीन कर इस वन

का आश्रय लिया, मेरी स्त्री भी साथ में आगई। तब से तपस्या करते २ अर्बुद संवत्सर बीत गये, मेरी सेवा करके मेरी स्त्री भी पूर्ण स्थिति में पहुंच गई। आगे चलकर एक समय भविष्य कालीन नियतिके अचिन्त्य प्रभावके कारण मेरी स्त्री को समाधि अवस्थामें ही अचानक कामेच्छा उत्पन्न होगई। कामातुर होकर मेरेपास आई, मुझसे संभोग होनेपर उसके गर्भ रहगया। समय पाकर उसके गर्भसे यह लड़का हुआ। लड़केके उत्पन्न होते ही उसने इसे मेरी गोद में रख दिया, अन्त में उसने प्राण त्याग कर दिया। ये सब बातें मेरी समाधि अवस्था में हुईं, जब मैंने देखा कि बालक मेरी गोद पर बैठा है और स्त्री परम पद में लीन होगई तब मुझे लड़के पर दया आई।

मैंने इसका पोषण किया। एक बार प्रसंग वश जब लड़के ने सुना कि मेरे पिताजी ने राज्य भी चलाया है, तब इसे भी राज्य चलाने की इच्छा हुई। इसने मुझसे प्रार्थना की तदनंतर मेरे उपदेश से इसने उत्कृष्ट योग की सिद्धि प्राप्त की। अब इसने केवल भावना के बल से इस पहाड़ी में एक जगत निर्माण कर लिया है और वहां सब प्रदेशों का राज्य करता है, उसी राज्य में इसने घोड़े और राजकुमार को बंधन में रखा था।'

इस भाषण को सुनकर महासेन कहने लगा, 'यह बड़ा आश्चर्य है। भगवन् मेरी इच्छा उस स्थान को देखने की है, कृपा कर दिखला दीजिये।' इस प्रार्थना को सुनकर मुनि ने अपने पुत्र से कहा कि राजा को अपना राज्य विस्तार दिखला दो। इतना कहकर मुनि तो समाधि मग्न हो गये और उनका लड़का राजाको लेकर पहाड़ी के पास गया। वह स्वयं भीतर जाने लगा परन्तु राजा से भीतर जाते न बन पड़ा, उसने मुनि पुत्र को पुकारा। मुनि पुत्र भीतर से बुलाने लगा, परन्तु जब उसने देखा कि राजा को भीतर आते नहीं बनता तब स्वयं बाहर आकर कहने लगा 'राजा सच है तू योगाभ्यासी नहीं है अतएव तेरे लिये भीतर घुस सकना असंभव है। योगज्ञान के बिना यह पहाड़ी प्रत्येक के लिये घनरूप ही है। परन्तु मुझे तो पिता की आज्ञा पालन करना है, अतएव तुझे भीतर ले जाना पड़ेगा। तू अपने शरीर को इस घास के समूह में रख दे और केवल लिंग देह धारण कर मेरे साथ भीतर चल।' इसे सुनकर राजा कहने लगा, 'मुनिपुत्र देह से बाहर निकलने का मुझमें सामर्थ्य नहीं है, शरीर का त्याग कैसे हो सकता है? शरीर को अलग रख देना क्या मरना नहीं है।'

मुनि पुत्र हंसते हुए कहने लगा, अरे तुमको योग का ज्ञान नहीं है। अस्तु: तुम आंखें बंद करो उसके आंखें बंद करने पर योग शक्ति से वह उस राजा के शरीर में घुस गया। उसके लिंग शरीर को बाहर निकाल कर उसके स्थूल को उसने गड्ढे में रख दिया। उस लिंग शरीरके साथ उसने उस गुफामें प्रवेश किया। इस समय राजा सावधान न था, मुनि पुत्र ने तुरंत एक दूसरा शरीर बनाया और उसे उसमें प्रविष्ट कर जाग्रत किया। जागने पर उसने देखा कि मुनि पुत्र उसे लेकर आकाश में तेजी से चला जा रहा है आस पास और ऊपर नीचे मर्यादा रहित भयंकर आकाश को फैला हुआ देख कर वह डर से कहने लगा "हे मुनि पुत्र! मुझे यहां छोड़ मत देना, नहीं तो गिरकर मैं चकना चूर हो जाऊँगा।"

राजा को घबड़ाया हुआ देख कर मुनि पुत्र मुसकुरा कर कहने लगा "राजा डरोमत, मैं तुम्हे नहीं छोड़ूंगा धीरज रख और गुफा में मेरे निर्माण

किये हुए इस सारे प्रदेश को देख" राजा को धीरज हुआ और वह देखने लगा। उसे दूरका आकाश विकट अंधकार से ग्रसित दिखाई पड़ा वहां नक्षत्र विराजमान थे। वहां से आगे जाते जाते उसे चन्द्र मंडल मिला वहां ठंडसे वह अकड़ गया। परन्तु मुनि पुत्रने उसकी रक्षा की। आगे सूर्य मंडल मिला, उस की उष्णता से वह जलने लगा। फिर भी योग सामर्थ्य से मुनि पुत्र ने शीतलता प्रदान की, कुछ समय में वे दोनों मेघ शिखर पर उतरे। राजा वहां सब बातें देखने लगा। दूरकी वस्तुयें देखने के लिये मुनि पुत्र ने उसे सूक्ष्म और व्यापक दृष्टि देदी थी। इस की सहायता से लोकालोक पर्वत की फैली हुई पंक्ति को उसने देखा। उसके आगे घोर अंधकार था फिर सुवर्ण की भूमि थी। अनेक समुद्र नदियां और पर्वतों से भरे हुए सप्तद्वीप सब भुवन, इन्द्रादि देवता, दैत्य, मनुष्य, राक्षस, यक्ष, किन्नर आदि सब उस राजाको दिखाई पड़े। वहां सत्य लोक, वैकुंठ, कैलाश आदि स्थान भी थे मुनि पुत्र स्वयं विष्णु और ब्रह्मदेव का रूप धारण कर तीन पृथक् पृथक् नाम रूपों से वहां निवास करता था। वहां राजा ने मुनि पुत्रको सार्वभौम शासन करते हुए देखा।

मुनि पुत्र के इस अद्भुत योग सामर्थ्य को देख कर राजा अचंभित हो गया फिर मुनि पुत्र उससे कहने लगा "महासेन, क्या तुम्हें मालूम है कि इस नूतन स्थान को देखते देखते कितने वर्ष बीत चुके हैं! यहां अभी एक ही दिन हुआ है परन्तु बारह अर्बुद वर्ष व्यतीत हो चुके हैं! चलो अब अपने भू प्रदेश में चलें जहां मेरे पिता हैं वहां जाकर देखें ऐसा कह कर और राजा को साथ लेकर मुनि पुत्र ने वहां से आकाश में उड़ान मारी और दोनों पहिले की तरह बाहर आगये।

गुफा से बाहर निकलते समय राजा को निद्रित कर और उसके लिंग शरीर को साथ लेकर मुनि पुत्र बाहर आया और उसने उसके सूक्ष्म स्वरूप को पूर्व शरीर में प्रविष्ट करा दिया, फिर वह साव-धान कर दिया। जाग्रत होने पर महासेन को बाह्य भू प्रदेश, वहां की भूमि, झाड़, मनुष्य, नदी, तालाव इत्यादि सब बातें बिलकुल नई दिखाई पड़ीं। वह आश्चर्य के साथ मुनि पुत्रसे कहने लगा, "महात्मन्! आपने मुझे यह कौनसा प्रदेश दिखलाया है? पहिले देखा था, उससे तो यह भिन्न है, यह क्या चम-त्कार है?"

मुनि पुत्र कहने लगा, राजन् यह वही प्रदेश है जहां हम पहिले रहते थे। दीर्घकाल व्यतीत होजाने के कारण इसका स्वरूप बदल गया है। पहाड़ी गुफा के प्रदेश में जब आपने एक दिन बिताया तब यहां बारह अर्बुद वर्ष बीत गये। यहांकी आचरण पद्धति और भाषा में परिवर्तन होगया है। समय की गति से लोक स्थिति ऐसी ही बदलती रहती है। मैंने तो इन बातों को कई बार देखा है। देखो, मेरे सामर्थ्य-वान् पिता यहां समाधि लगाये बैठे हैं। तूने पहिले इसी स्थानमें मेरे पिताकी स्तुतिकी थी। देखो यह वही पहाड़ी है, मैंने तुझे अपनी भिन्न सृष्टि इसीमें दिख-लाई है। इस समय तेरे भाई के वंश में हजारों पीढ़ियां होगई हैं। बंगाल में जो तुम्हारा सुन्दरनगर था वहां आज कल जानवरों से भरा हुआ जंगल है। तुम्हारे भाई के वंश में आज कल वीरबाहु राजा है। वह मालव देश में छिप्रा नदी के किनारे विशाल नामक नगर में राज्य कर रहा है। तेरे वंश सुशर्मा नामक एक राजा द्रविड़ में राज्य कर रहा है, ताम्र नदी के किनारे वर्धन नामक नगर उसकी राजधानी है। इस तरह से संसार की स्थिति में सदैव परिवर्तन

होता है। थोड़े ही समय में यह नूतन जगत निर्मित हो गया है।

भविष्य में भी इसी तरह से कुछ समय बीत जाने पर यह पर्वत, नदियां, तालाव, भू मंडल सब बदल जांयगे; संसार का यही नियम है। काल गति के कारण पर्वतों के स्थान में समुद्र और समुद्रों के स्थान में पर्वत उत्पन्न हो जाते हैं। शुष्क और निर्जल प्रदेश पानी से भर जाते हैं, पत्थर के समान कठोर भूमि अतिशय उपजाऊ बन जाती है और उपजाऊ जमीन वीरान हो जाती है, रत्न पत्थर बन जाते हैं और कंकर रत्न हो जाते हैं, खारा पानीमीठा और मीठा खारा होजाता है, कहीं मनुष्योंकी आबादी कहीं पशुओंकी संख्या और कहीं कृमि कीट आदिकों का समूह बढ़ जाता है। इसी तरह से समय पाकर इस संसार पर भिन्न भिन्न परिणाम होते हैं। इसलिये तू इस बात को ठीक ठीक याद रख कि हमारे पहिले के प्रदेश का ही यह स्वरूप बन गया है।

मुनि पुत्र के इस भाषण को सुन कर राजा महासेन को मूर्छा आई और वह जमीन पर गिर पड़ा, धीरज देने पर सचेत हुआ सचेत होते ही अतिशय दुखित होकर वह दीन मनुष्य की भांति विलाप करने लगा। अपने भाई उसके लड़के, अपने स्त्री पुत्र आदिका स्मरण करके वह शोक में डूब गया। उसे मोह शोक करते देख कर मुनि पुत्र समझाने लगा "राजा तू बुद्धिमान् है फिर तू किसके लिये और क्या समझ कर रोता है! उत्तम पुरुष निष्फल कर्म नहीं करते। जो फल का विचार किये विना कुछ उद्योग आरम्भ करता है वह मूर्ख कहलाता है। अतएव तू मुझे यह बतला कि तू किसके लिये शोक करता है?"

इस प्रश्न को सुन कर महासेन बड़े दुःख के साथ कहने लगा "मुने क्या तुम्हें मेरे शोक का कारण नहीं दीखता! सर्वस्व डूब जाने पर तुम कारण पूछ रहे हो किसी एकाध रिस्तेदार के वियोग होजाने पर मनुष्य को दुःख होता है और तुम मेरा सर्वस्व नाश होजाने पर भी कारण पूछते हो। तुम्हें क्या कहूँ!"

मुनि पुत्र को हंसी आगई; वह कहने लगा:—राजन्, क्या यह तेरा कुल धर्म ही है! मैं तो नहीं जानता। यदि ऐसा हो तो शोक करना ठीक ही है नहीं तो बड़ा अनर्थ हो जायगा। क्या तेरी यह समझ है कि जो कुछ चला गया है वह शोक करने से फिर मिल जायगा! धीरज रख कर विचार कर कि दुःख करने से अब क्या लाभ है। यदि तू यह समझ कर शोक करता हो कि मेरे स्वजन नष्ट हो गये हैं तो तेरे पूर्वज आदि तो कब के मर चुके हैं उनके बदले तुझे सदैव शोक करते रहना चाहिये था। परन्तु कैसी बात है कि इस समय के पहिले तू शोक नहीं करता था। यह भी बतला कि वे किस के भाई थे! क्या तेरे भाई थे? उनसे तेरी बन्धुता कैसे हुई! यदि तू कहे कि उनके और मेरे मा बाप एक ही थे तो माता पिता की विष्ठा में जो कीड़े रहते हैं वे भी देह संबंधी रहते हैं! तो फिर क्या वे तेरे भाई नहीं थे! तू उनके लिये शोक क्यों नहीं करता!

हे राजन्, पहिले तू इस बात का विचार कर कि तू स्वयं यथार्थ में कौन है और जिन्हें नष्ट समझ कर तू शोक कर रहा है वे कौन हैं? क्या तू शरीर है अथवा उससे भिन्न है! शरीर जड़ पदार्थों का समुदाय है, सब समुदाय के अथवा उसके किसी अंग के नाश को ही नाश कहते हैं फिर देह के

अंशों का नाश तो प्रत्येक क्षण में ही हो रहा है। मल, मूत्र, कफ, नख बाल आदि का लगातार नाश हो रहा है अतएव तुझे हमेशा रोते ही रहना चाहिये यदि शरीर के सर्वांश को ही नाश कहें और इसलिये दुःख करें तो सर्वांश शरीर का नाश कभी भी नहीं होता। यह सच है कि तेरे भाइयों के शरीरों में का अंश पृथ्वी आदि पदार्थों के रूप में है। यदि कहा जावे कि उनका भी नाश हो जाता है तो अंत में आकाश अविनाशी शुद्ध रह ही जाता है; परन्तु इन बातों को छोड़ दे। मुख्य बात यह है कि तू देह नहीं है यानी देही है। क्योंकि तू जैसे "यह मेरा कपड़ा है" कहता है वैसे ही "यह मेरा शरीर है" कहता है, फिर बतला कि तू देह कैसे हो सकता है! जब तू अपने ही देहसे भिन्न है तब दूसरों के देहों से तेरा क्या संबंध है! जैसे तेरे भाइयों के कपड़ों से तेरा थोड़ा भी संबंध नहीं है वैसे ही उनकी देह से भी नहीं है। जैसे वस्त्र हैं वैसा ही शरीर है। फिर उनके शरीर के नष्ट हो जाने पर तुझे शोक क्यों होना चाहिये! मेरा शरीर, मेरा प्राण, मेरा मन इत्यादि कहने वाला तू स्वयं किस स्वरूप का है?"

मुनि पुत्र की इन बातों को सुनकर महासेन कुछ देर तक विचार करने लगा। परन्तु इन प्रश्नों का उत्तर न मिलने के कारण अंत में वह दीनता से कहने लगा "भगवन्, यह मुझे बिलकुल नहीं मालूम होता कि मैं कौन हूँ। सचमुच मैं शोक कर रहा हूँ परन्तु मुझे उसका कारण नहीं मालूम होता। मैं अज्ञानी हूं, आपकी शरण में हूँ अतएव बतलाइये कि इसमें गूढ़ बात क्या है। किसी नातेदार के मरने पर सभी मनुष्य शोक करते हैं वे स्वयं कौन हैं अथवा दूसरे कौन हैं? इस बातको नहीं जानते परन्तु केवल शोक किया करते हैं। भगवान् मैं आपका शिष्य हूँ, मुझे इन बातों को स्पष्ट रीति से समझा दीजिये।"

इसे सुन कर मुनि पुत्र कहने लगा "हे राजन्, सुनः—माया के कारण सब लोग मूढ़ हो गये हैं। वे अपने स्वरूप को पहिचाने बिना व्यर्थ शोक किया करते हैं जब तक मनुष्य अपने स्वरूप को नहीं जानता तब तक वह दुःख पाता है परन्तु उसे जान लेने पर वह कभी दुःखी हो नहीं सकता। लोग नींद में मोह वश होकर और अपने को भूल कर जैसे दुःखी होते हैं अथवा कोई इन्द्र जाल विद्या के बनाये हुए सांप के भय से डरते हैं उसी प्रकार माया से पागल होकर मनुष्य दुःख पाते हैं। परन्तु स्वप्न से जाग्रत होने पर अथवा इन्द्रजाल विद्या का स्वरूप समझ लेने पर जैसे वह नहीं डरता और दूसरे डरने वालों को देख कर उलटा वह हंसता है; उसी प्रकार आत्म स्वरूप को जानने वाले मनुष्य इस माया से छूट कर दुःख रहित हो जाते हैं और तेरे सरीखे माया से मोहित पागलों को देख कर हंसते है इसलिये आत्म स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर, तू इस दुस्तर मायासे पार हो और विवेक के बल से इस मोह जनित शोक को दूर कर।"

यह सुन कर महासेन कहने लगा "आपका दृष्टांत युक्त नहीं होता क्योंकि स्वप्न और इन्द्र जाल की बातें केवल मिथ्या होती हैं। परन्तु जाग्रत अवस्था के अनुभव में आने वाला यह संसार सत्य है सब बातें प्रत्यक्ष हुआ करती हैं इसका कभी भी लोप नहीं होता, यह स्थिर है, फिर यह स्वप्न की तरह कैसे हो सकता है?"

उत्तर में वह बुद्धिमान् मुनि पुत्र कहने लगा 'तू कहता है कि दृष्टांत युक्त नहीं होता। यह तुझे एक

दूसरा मोह उत्पन्न होगया है। जैसे किसी को स्वप्न रूपी एक भ्रम होकर रस्सीमें सांप दीखने का और भी दूसरा भ्रम हो जाता है वैसा ही तेरा हाल है। स्वप्न के वृक्ष आदि स्वप्न के समय क्या प्रत्यक्ष कार्य नहीं करते ! क्या वे राह चलने वालों को तापके कष्टसे नहीं बचाते ! क्या वे स्वप्नमें पुरुषोंको फल आदि देकर संतोष नहीं करते ? क्या स्वप्न सृष्टि कभी स्वप्न में झूठी मालूम होती है, क्या कभी मालूम होता है कि वह स्थिर नहीं है यानी क्षणिक है ! यदि तुम यह कहना चाहो कि "जाग्रत होते ही वह सब झूँठी हो जाती है" तो क्या यह सब जाग्रत प्रपंच भी निद्रा काल में नष्ट नहीं होता ? यदि फिर भी यह कहना चाहो कि "वह दूसरे दिन फिर भी अनुभव में आता है इसलिये नष्ट नहीं होता"। तो क्या स्वप्न के विषय भी दूसरे दिन अनुभव में नहीं आते यदि यह कहो कि "वे फिर अनुभव में नहीं आते" तो वही पदार्थ जाग्रत के भी अनुभव में कब आते हैं ? दूसरा नया ही मालूम होता है यदि तू यह भेद बतलावे कि पदार्थों के नूतन मालूम होने पर भी पृथ्वी आदि वही मालूम होती है तो स्वप्न में भी उन्हीं पुत्र कलत्र आदि का अनुभव फिर होता ही है। तू सूक्ष्म विचार करके देख; यदि उस अनुभव को झूँठा कहेगा तो जाग्रत के अनुभव को भी झूँठा क्यों नहीं कहना चाहिये ? जाग्रत अवस्था में देह, वृक्ष, नदी, दीपक आदि जो पदार्थ भासित होते हैं वे प्रतिक्षण भिन्न होते है। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि बिलकुल वे ही ज्यों के त्यों अनुभव में आते हैं ! पर्वत सरीखे पदार्थ का भी स्वरूप दूसरे क्षण में ज्यों का त्यों नहीं रहता। वह झरने नाले आदि से बदलता है। इसी तरह से समुद्र और भूमंडल प्रतिक्षण बदल रहा है फिर तू यह कैसे कहता है कि वे ज्यों के त्यों फिर भी अनुभव में आते हैं।

हे राजन्, अब मैं इसका अधिक स्पष्टीकरण करता हूँ थोड़ी सूक्ष्म बुद्धि से देख। केवल विशिष्ट समय में पदार्थों का अनुभव स्वप्न और जाग्रत में समान रूप से होता है। सब देशों में सब समय किसी पदार्थ का अनुभव हो सकना अत्यंत दुर्लभ है। ये दोनों बातें नहीं हो सकतीं। यदि यह कहो कि पदार्थों का अनुभव पदार्थ रूप से नहीं कारण रूप से होता है तो कारण पृथ्वी आदि पंच भूत ही है, इनका अनुभव तो स्वप्न में भी होता है फिर अन्तर क्या है ? यदि यह कहो कि "स्वप्नकी व्यर्थता जाग्रत में होती है परन्तु जाग्रत की व्यर्थता कभी मालूम नहीं होती" तो अब विचार करो व्यर्थता किसे कहते हैं। पदार्थों का भास न होना ही उनकी व्यर्थता है। यह अनुभव की बात है कि नींद में यानी सुषुप्ति में तो सारे संसार का भास नहीं होता फिर कैसे कहा जा सकता है कि जाग्रत की व्यर्थता नहीं होती। अब यदि यह कहो कि पदार्थों का भास न होना व्यर्थता नहीं है किन्तु यह जानना कि पदार्थ मिथ्या हैं उनकी व्यर्थता है।

यदि ऐसा कहे तो तेरे समान भ्रांत लोगों में ऐसा जानने की शुद्ध दृष्टि कहां है ? वह दृष्टि उन लोगों के पास रहती है जिन लोगों ने ज्ञेय वस्तु को पूरा पूरा ज्ञात कर लिया है इसलिये तेरा एक भी आक्षेप विचार के सामने नहीं ठहरता। इसलिये मैं कहता हूं कि यह सब दृश्य स्वप्न की सृष्टि के समान है जाग्रत की तरह स्वप्न में भी दीर्घ काल का अनुभव होता है अर्थात् स्वप्न सृष्टि भी बाधित न होने वाली, समस्त व्यवहार करने वाली और स्थिर होने के कारण जाग्रत के बिलकुल समान है।

जाग्रत अवस्था में हमें मालूम होता है कि हम जाग रहे हैं स्वप्न स्थिति में भी वैसा ही मालूम होता

है फिर स्वप्न और जाग्रत में अंतर कहां है ? और तू स्वप्न के रिश्तेदारों के लिये शोक क्यों नहीं करता ! यह संसार केवल भावना सामर्थ्य के कारण सच्चा मालूम पड़ता है। शून्य की भावना करने से सब कुछ शून्य अर्थात् खुला आकाश हो जावेगा। यदि दृढ़ निश्चय से यह भावना की जावे कि यह सब मिथ्या है तो सर्वत्र इसी आत्म भावका अनुभव हुआ करेगा। कारण प्रत्यक्ष है तुझे मेरा राज्य इसी गुफा में दिखलाई पड़ा था। यदि इच्छा हो तो चल इस पहाड़ी के चारों ओर फिर भी चक्कर लगावें।

यह कह मुनि पुत्र महासेन के साथ चला दोनों ने पहाड़ी की प्रदक्षिणा की। वापिस आने पर वह बुद्धिमान् मुनि पुत्र महासेन से फिर कहने लगाः— "हे राजन्, पहाड़ी देखी केवल तीन चार मील परिध की है इसी के भीतर तू ने अभी बड़ा विस्तृत प्रदेश देखा था फिर यह जाग्रत है कि स्वप्न ! बोल, यह सत्य है कि मिथ्या ! पहाड़ी में तूने एक दिन व्यतीत किया है तब तक यहां बारह वर्ष बीत चुके तो फिर सच और झूंठ का निर्णय तू ही कर। जैसे दो भिन्न २ स्वप्न हों वैसी ही बात यह भी है इसलिये ध्यान में रख कि इस संसार में भावना ही सार है भावना को छोड़ देने पर यह संसार एक क्षण में लय हो जावेगा। इस संसार को स्वप्न समझ कर शोक का त्याग कर। इस स्वप्न चित्र का आधार दर्पण सरीखा सचित् रूप केवल आत्मा है इस बात को समझ कर एक बार अपने अंतःकरण को परमानंद से भर जाने दे।"

राजा महासेन को मुनि पुत्र के संभाषण का हृदय में असर हो गया और इस अशुभ दुःखागार संसार से वैराग्य को प्राप्त हो साधन संपन्न हो परम पद को प्राप्त हुआ।

ब्रह्माजीः—हे प्रिय वत्स नारद, तू भी उपरोक्त दृष्टांत द्वारा अच्छे प्रकार मनन कर यह निश्चय कर कि संसार स्वप्न मात्र ही है और चिद्रूप आत्मा ही सर्वका आधार और अधिष्ठान है।

प्रिय पाठको ! यह संसार चेतन से प्रथक् कोई सत्ता नहीं रखता जैसे स्वप्न दृश्य स्वप्न द्रष्टा से पृथक् नहीं होता; ऐसा शास्त्र गुरु द्वारा संसार भ्रम को स्वप्नवत् जान आत्म स्वरूप में स्थित हो यही परम सुख रूप भूमा है।

—स्वामी आत्मानंद।

वाक्य वृत्तिः।

(गतांक से आगे)

एवमिन्द्रिय दृङ् नाह-
मिन्द्रियाणीति निश्चिनु ।
मनो बुद्धिस्तथा प्राणो
नाहमित्यवधारय ॥ १६॥

अर्थः—इस प्रकार इन्द्रियां दृश्य होने से इन्द्रियां भी मैं नहीं हूं; तैसे मन बुद्धि और प्राण नहीं हूँ ऐसा तू निश्चय कर।

विवेचन ।

स्थूल शरीर मैं नहीं हूं ऐसा समझाकर अब सूक्ष्म शरीर भी मैं नहीं हूँ ऐसा समझाते हैं। स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म है और जिस

प्रकार स्थूल शरीर देखने में आता है ऐसा सूक्ष्म शरीर स्थूल रूप से देखने का विषय नहीं है तो भी पंच भूतात्मक होने से दृश्य ही है। सूक्ष्म शरीर रूप अथवा उसमें रही हुई इन्द्रियां मैं हूं ऐसी भ्रान्ति होती है उसको भी निवृत्त करना चाहिये। बहुत मोटी बुद्धि वाले पुरुष स्थूल शरीर को मैं कहते हैं-मानते हैं और जो अपने को चतुर सूक्ष्म बुद्धि वाले मानने वाले चैतन्य के समान दीखती इन्द्रियों को मैं मान लेते हैं परन्तु इन्द्रियां किसी प्रकार मैं नहीं हैं। पांचों कर्मेन्द्रिय तो क्रिया वाली होने से जड़ हैं और ज्ञानेन्द्रिय में ज्ञान करने की सामर्थ होने से चेतन हों ऐसी भ्रान्ति हो सकती है। मेरी दृष्टि मंद है, मेरी दृष्टि सूक्ष्म है आदि इन्द्रिय और उसके बोध को मैं करता हूँ इससे मैं उसे जानने वाला हूँ और यह जानने का विषय है; जानने का विषय होने से वह दृश्य है और मैं जानने वाला उसका द्रष्टा हूँ इससे निश्चय होता है कि इन्द्रियां मैं नहीं हूं, इन्द्रियां मेरी हैं, मैं इन्द्रियों से काम लेता हूं, मैं इन्द्रियों का मालिक हूँ इससे मैं उनसे विलक्षण हूं।

शंका:—मैं देखता हूँ, मैं सूँघता हूं, मैं खाता हूँ ऐसा कहते हैं इससे देखने वाला सूंघने वाला और खाने वाला मैं ही होता हूँ। नेत्रादि इन्द्रियों से भिन्न मैं किस प्रकार हूं? मेरी आँख देखती है, मेरी नाक सूंघती है, मेरा मुख खाता है इस प्रकार कहना ठीक नहीं है।

समाधान:—तैने जैसा कथन किया है वह अज्ञान से होता है, जिसे इन्द्रियों से अपनी भिन्नता का ज्ञान नहीं है वे सामान्यता से तेरे कहने के अनुसार मानते हैं ऐसा कहने से भी इन्द्रियां आत्मा है ऐसा सिद्ध नहीं होता। इन्द्रियां भिन्न हैं इस प्रकार भी कथन होता है जैसे किसी की आंख दुःखती है तब वह ऐसा कहता है कि मेरी आंख दुःखती है, मैं दुःखता हूँ ऐसा नहीं कहता। नाक से दुर्गंध जानी नहीं जाती, मुख कडुआ हुआ है आदि कहता है। इन्द्रियां करण हैं, करण कार्य करने के औजार को कहते हैं करण कर्त्ता या द्रष्टा नहीं हो सकता, वसूला करण ही रहता है, वसूला चलाने वाला बढ़ई वसूला नहीं है इस प्रकार इन्द्रियां करण जड़ और अनात्म होने से आत्मा कभी भी नहीं हैं न हो सकती हैं।

करण रूप से इन्द्रियां दो प्रकार की हैं बाह्य करण और आन्तर करण रूप। शब्द स्पर्श रूप रस और गंध को ग्रहण करने वाली इन्द्रियां कान त्वचा नेत्र जिह्वा और नासिका हैं, वे बाहर से कार्य करने वाली होने से बाह्य करण हैं और अन्तःकरण आन्तर इन्द्रिय है, वह चार वृत्ति से युक्त यानी मन बुद्धि चित्त और अहंकार रूप है। मन संकल्प विकल्प स्वरूप है, संकल्प विकल्प जो करता है वह मन है इससे मन मैं नहीं हूं। निश्चयात्मक बुद्धि है, जो निश्चय करने वाली वृत्ति है वह बुद्धि कहलाती है इससे बुद्धि मैं नहीं हूं अनेक भावाभाव और पदार्थ का चिंतवन करने वाली वृत्ति चित्त कहलाता है इससे चित्त भी मैं नहीं हूँ और शरीरादिक के साथ में मैं हूँ ऐसा अहंकार को करने वाला अहंकार है वह भी मैं नहीं हूँ। मैं तो शुद्ध सबको सत्ता स्फूर्ति देने वाला और सबका साक्षी हूँ ये सब दोनों आन्तर बाह्य करण और उनके विषय सब दृश्य हैं मैं सब से विलक्षण सबका साक्षी हूँ।

शंका:—मन बुद्धि आदि भी आन्तर इन्द्रियां हैं और विषय उनके दृश्य हैं, वे द्रष्टा हैं तब उनको

आप दृश्य क्यों कहते हो ? विषय जड़ है और उसे ग्रहण करने वाली इन्द्रियां चेतन हैं इससे जड़ विषय को देखने वाली ग्रहण करने वाली इन्द्रियां द्रष्टा हैं।

समाधानः—मन बुद्धि आदि आन्तर और बाहर की इन्द्रियां विषयों की द्रष्टा हैं ऐसा तू अज्ञान से कहता है, देखने वाली होने से द्रष्टा हैं ऐसा भ्रान्ति से मालूम होता है उनमें दीखता हुआ द्रष्टापना आपेक्षिक है। जो द्रष्टा एक का द्रष्टा और अन्य का स्वयम् दृश्य बनता है वह आपेक्षिक द्रष्टा होता है वास्तविक द्रष्टा नहीं होता। मन इन्द्रियों का द्रष्टा होता है परन्तु वह बुद्धि का दृश्य बन जाता है, बुद्धि मन का द्रष्टा बनकर भी आत्मा का दृश्य बन जाती है इसीसे ऐसा द्रष्टा दृश्य ही होता है, वास्तविक द्रष्टा देश काल वस्तु आदि में भी अविच्छिन्न द्रष्टा ही रहता है वह कभी भी किसी का दृश्य नहीं होता उसके सिवाय सब द्रष्टा दृश्य ही हैं। मन बुद्धि चित्त और अहंकार सूक्ष्म शरीर रूप अविद्या का कार्य होने से दृश्य ही हैं।

श्वासोश्वास की क्रिया रूप प्राण भी आत्मा नहीं है क्योंकि यह स्वयम् जड़ है अपने और दूसरों का ज्ञान उसे नहीं है वह वायु का विकार रूप है, पञ्च भूत के रजोगुण अंश से उसकी उत्पत्ति है इससे अनात्मा है। इस प्रकार हे शिष्य, प्राण भी मैं नहीं हूँ ऐसा तू निश्चय कर।

शङ्काः—एक समय जब इन्द्रियां अपने में बड़ा कौन है उसका निर्णय न होने से लड़ पड़ी थीं तब सबने प्रजापति के पास जाकर निर्णय कराया था वहां सब से बड़ा प्राण ही हुआ है। प्राण ही से सब इन्द्रियां अपने २ व्यवहार में समर्थ होती हैं, प्राण ही सब को सहाय भूत सब का आधार है ऐसा प्राण आत्मा क्यों नहीं ?

समाधानः—इन्द्रियों को कार्य करने में प्राण से सामर्थ मिलता है, प्राण रहित इन्द्रियां अपने कार्य करने में असमर्थ होती हैं यह ठीक है तो भी प्राण आत्मा नहीं है, प्राण समष्टि हिरण्य गर्भका अविद्यासे हुआ व्यष्टि स्वरूप है यह आत्मा किस प्रकार हो ? आत्मा तो हिरण्य गर्भ का भी आत्मा है। पृथक् चेष्टा का हेतु प्राण आत्मा नहीं है यह अज्ञान से पृथक् दीखता हुआ एक वायु का टुकड़ा है इससे प्राण मैं नहीं हूँ ऐसा तू दृढ़ निश्चय कर।

संघातोऽपि तथा नाह-
मिति दृश्य विलक्षणम्।
द्रष्टारमनुमानेन
निपुणं संप्रधारय ॥१६॥

अर्थः—तैसे मैं दृश्य से विलक्षण द्रष्टा होने से संघात भी नहीं हूं इस प्रकार अनुमान से विवेक दृष्टि द्वारा निश्चय कर।

विवेचन।

शिष्य कहता है कि आपने समझाया इस प्रकार देह इन्द्रियां आदिक मैं आत्मा नहीं हूँ तो शरीर इन्द्रिय और प्राणादिक का समुदाय रूप आत्मा मैं होऊँगा। तब गुरु कहते हैं कि संघात रूप भी तू आत्मा नहीं है, जैसे भिन्न २ इन्द्रिय पञ्च भूत का कार्य हैं इस प्रकार सब का समुदाय भी पञ्च भूत का कार्य है, ये सब पञ्च भूत से भिन्न नहीं हैं। जैसे एक घड़ा मिट्टी का है ऐसे अनेक घड़े का समुदाय

भी मिट्टी है। समुदाय मिट्टी से भिन्न नहीं है; इसी प्रकार देह इन्द्रियां का समुदाय भी घट के समुदाय के समान समझ; ये सब अनात्म हैं अनात्मा कभी आत्मा नहीं हो सकता।

शङ्काः—आप जैसे कहते हैं वैसा भिन्न २ पदार्थ के समान समुदाय नहीं होता एक ही प्रकार के अनेक पदार्थों के समुदाय में सामर्थ्य बढ़ता है, तब बढ़ा हुआ सामर्थ्य जिसमें है वह समुदाय आत्मा क्यों नहीं। सन के तन्तु से कोई मनुष्य हाथी को बांध नहीं सकता उसके समुदाय रूप रस्सा से हाथी बांधा जाता है। जैसे भिन्न २ औषधि में मादकता नहीं होती वे जब एकत्र होकर एक रूप में आती हैं तब मादक बन जाती हैं, इस प्रकार देह इन्द्रियां प्राणादि भिन्न हों तब अनात्म भले ही हों सब के समुदाय में चैतन्यता होकर आत्मा हो सकता है।

समाधानः—सन के तन्तु में जो ताकत है वह ही अनेक तन्तु के समुदाय रूप रस्सा में अधिकता को प्राप्त हो जाती है वह नयी उत्पन्न नहीं होती। इसी प्रकार औषधियों में से खिंचे हुए शराब में जो मादकता है वह भी नयी उत्पन्न हुई नहीं है प्रथम ही औषधि में सूक्ष्म भाव से छिपी हुई थी वह समुदाय में विशेष क्रिया से प्रगट होती है। देह इन्द्रियां आदि अनात्म ही हैं उसमें आत्मत्व किञ्चित् भी नहीं है तब उनमें से आत्मा कैसे प्रगट होगा ? जो गौण है उसी का प्रगट होना संभव है आत्मा न्यूनाधिक से रहित अखंड है प्रथम थोड़ा हो और पीछे बढ़ जाय ऐसा नहीं है।

यहां यह अनुमान है कि देहादिक संघात अपने से भिन्न दृश्य होने से आत्मा नहीं है जो दृश्य होते हैं वे अपने से भिन्न अनात्म होते हैं जैसे घट; इस प्रकार संघात भी अनात्म है ऐसा विवेक दृष्टि से निश्चय कराते हैं।

शङ्काः—देह, इन्द्रियां, प्राण सबका संघात दृश्य है अनात्मा है ये तू नहीं है इस प्रकार आप समझाते हो और ऐसा निश्चय करने को कहते हो, परन्तु ये आत्मा मैं नहीं हूँ ऐसा निश्चय करने से क्या होगा ? मुझे आत्मा को जानना है आप आत्मा का विवेचन न करते हुए अनात्मा को क्यों समझाते हो ?

समाधानः—पारमार्थिक दशा में आत्म तत्त्व सिवाय अन्य कुछ नहीं है तो भी व्यवहार में आत्म अनात्म का विवेक करने लिये अनात्मा का समझना आवश्यक है, जब तक अनात्म का आत्म रूप से भाव हटे नहीं तब तक आत्मा का बोध नहीं होता। आत्म बोध में अनात्म में आत्म का भान होना ही आवरण है इससे अनात्मा को छोड़ने के लिये समझाया जाता है। विवेक से अनात्म भाव को हटाना और आत्म भाव को दृढ़ करना उपयोगी है इससे उनको समझने की आवश्यकता है। अनात्म को समझाया है अब आत्मा को समझाता हूँ।

जैसे किसी के शरीर में एक फोड़ा हुआ हो वह एक वैद्य से उसकी दवा करा रहा है वैद्य ने युक्ति से फोड़े को पकाया और उसे फोड़ कर पीब को निकाल कर फेंकने लगा तब दरदी कहने लगा कि मैं तुमसे फोड़े को ठीक कराने के लिए दवा करा रहा हूं तुमतो ठीक न करते हुए मेरे शरीर के हिस्से को बाहर निकाल कर फेंकते हो। जैसा उसका कहना है ऐसा तेरा कहना है अविद्या का पीब तेरे में पड़ गया है विवेक द्वारा उसको पका कर वैराग्य से हटाये बिना आत्म तत्त्व के बोध रूप

आरोग्यता की प्राप्ति नहीं हो सकती। जिस प्रकार वैद्य पीव को निकाल कर अंगूर आने के लिये दवा देता है; इसी प्रकार मैं तुझे अनात्म भाव से छुटा कर आत्म तत्त्व का निश्चय कराता हूँ। प्रथम तू अनात्म पदार्थ अथवा उनका समुदाय मैं आत्मा नहीं हूँ ऐसा निश्चय कर।

देहेन्द्रियादयो भावा
हानादि व्यापृति क्षमाः।
यस्य सन्निधि मात्रेण
सोऽहमित्यवधारय ॥ १८ ॥

अर्थः—जिसकी समीपता से देह इन्द्रिय आदि अपने अपने ग्रहण त्याग के व्यवहार में समर्थ होती हैं वह मैं हूं ऐसा निश्चय कर।

विवेचन।

अनात्मा को समझा कर निश्चय कराया कि मैं ये नहीं हूं। अब आत्मा का निश्चय कराते हैं; जो अनात्म पदार्थ होते हैं उनमें स्वयम् चेष्टा करने की सामर्थ्य नहीं होती और वह चेष्टा करते मालूम देते हैं तब उसमें चेष्टा का हेतु कोई अन्य ही होता है। यह हेतु कौन है आत्मा कहो तो बन नहीं सकता। आत्मा अनात्मा में मिल कर चेष्टा करता है ऐसा कहो यह ठीक नहीं है क्योंकि आत्मा वस्तुस्वरूप और अनात्मा अवस्तु इन दोनों का मेल होना असंभव है। ऐसा कहा जाय कि आत्मा की चेष्टा का भाव अज्ञान से इन्द्रियां आदि में होता है यह भी ठीक नहीं है क्योंकि आत्मा स्वयम् अकर्त्ता है उसमें चेष्टा है नहीं तब चेष्टा किस प्रकार हो, तब चेष्टा करने वाला कौन है? उसके उत्तर में कहते हैं कि चेष्टा बुद्धि आदिकी है। अहंकार बुद्धि और इन्द्रियां आदि जिसकी समीपता से अपने अपने विषयों को ग्रहण करने और छोड़ने को समर्थ होतीं हैं वह आत्मा है। आत्मा के समीपमें रही हुई इन्द्रियां आदि चेष्टा करती हैं जड़ ही चेष्टा करती हैं। समीपता से जड़ चेतन के समान हो कर चेष्टा करती हैं। जिसकी सन्निधि से बुद्धि आदि चेष्टा करती हैं वह आत्मा मैं हूँ ऐसा तू निश्चय कर।

शंकाः—आपने चेष्टा करने वाली बुद्धि को कहा परन्तु स्वरूप से जड़ बुद्धि चेष्टा किस प्रकार कर सकती है! आत्मा को अकर्ता और अविकारी कहते हो तब चेष्टा करने वाला कौन हुआ?

समाधानः—बुद्धि जड़ होने से चेष्टा नहीं कर सकती परन्तु आत्मा की संनिधि से चैतन्य वाली होकर चेष्टा कर सकती है। वस्तुतः सब चेष्टा अज्ञान की है और अज्ञान में प्रतीत होती है अज्ञान में ही बुद्धि और आत्मा की समीपता की सिद्धि है संनिधि आभास को प्राप्त हुई बुद्धि जड़ होते हुए चेष्टा करने में समर्थ होती है। अज्ञानीओं को अज्ञान निवृत्त करने के लिये समझाने की आभास वाद की प्रक्रिया है। आत्मा सर्वथा अकर्ता होने से बुद्धि से लेकर स्थूल शरीर पर्यंत सब व्यवहार अज्ञान में हैं कर्ता और भोक्ता की सिद्धि अज्ञान में ही होती है।

शंकाः—आत्मा की संनिधि बुद्धि इन्द्रियां आदि को न हो तो क्या वे चेष्टा नहीं कर सकतीं अपने अपने विषयों का ग्रहण त्याग नहीं कर सकतीं!

समाधानः—आत्मा की संनिधि न हो ऐसा काल बुद्धि इन्द्रियां आदि के लिये है नहीं आत्मा

सब का अपना आप है आत्मा से ही बुद्धि इन्द्रियां आदि की प्रवृत्ति होती है यह सब स्थान में भरा हुआ होने से सब के समीप ही है।

शंका:—आत्मा सब के ही समीप है तब बुद्धि और ज्ञानेन्द्रियां ही ज्ञान कार्य को करें और जो जड़ पदार्थ कहे जाते हैं वे चेष्टा क्यों नहीं करें, आत्मा उसके भी समीप में ही होता है।

समाधान:—अपना स्वरूप आत्मा होने से सब के आन्तर है, सब के समीप है परन्तु जहां २ सतोगुण की अधिकता होती है वहां २ निर्मलता के कारण से आत्मा के समीपता से चेष्टा की सिद्धि होती है। जड़ पदार्थ अज्ञान से घन आवृत्त है और तमोगुण की अधिकता से आत्मा के समीप होते हुए उसके प्रभाव से रहित होते हैं आत्मा का आभास जो चिदाभास कहा है वह उनके ऊपर स्पष्ट नहीं होता। व्यवहार का हेतु चिदाभास के अभाव से वे चेष्टा नहीं कर सकते।

आत्मा बोध स्वरूप है इसकी संनिधि से यानी उसके चेतन के आभास से बुद्धि व्यवहारिक पदार्थों का पृथक् बोध करने की सामर्थ्य वाली होती है। बोध स्वरूप में अविद्या की उपाधि से बुद्धि का आविर्भाव है। बुद्धि में से अविद्या का खोलिंग को निकाल दिया जाय तो बोध ही शेप रहता है।

शङ्का:—आत्मा की संनिधि में बुद्धि चेष्टा करती है ऐसा कहने से चेष्टा का विकार आत्मा में भी होगा ऐसा मालूम देता है; परन्तु श्रुतियां आत्मा को अविकारी कहती हैं तब यह विकार किस प्रकार समझना चाहिये।

समाधान:—यह विकार की सिद्धि अज्ञान में है, मैं तुझे दृष्टान्त देकर समझाऊँगा तब तेरी समझ में आ जायगा। प्रथम तू यह निश्चय कर कि बुद्धि स्वयम् चेष्टा करने को असमर्थ है सब कार्यों की सिद्धि आत्मा की समीपता से बुद्धि इन्द्रियां करती हैं इस प्रकार का तू निश्चय कर।

अनापन्न विकारः स-
न्नयस्कांत वदेव यः।
बुद्ध्यादिंश्चालयेत् प्रत्यक्
सोहमित्यवधारय ॥ १६ ॥

अर्थ:—जैसे चुंबक विकार को प्राप्त न हो कर लोहे को चलायमान करता है तैसे जो प्रत्यगात्मा निर्विकार रह कर बुद्धि आदि को चलाता है वह ही मैं हूँ ऐसा तू निश्चय कर।

विवेचन।

आत्मा के समीप रह कर बुद्धि चेष्टा करती है इससे आत्मा में विकार की प्राप्ति नहीं होती उसे दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि चुंबक पत्थर लोहे को चलित करता है अपनी तरफ खींचता है लोहे की कई प्रकार की चेष्टा चुंबक की संनिधि में होती है इस प्रकार चेष्टा होने में चुंबक किसी प्रकार भी विकार को प्राप्त नहीं होता. चुंबक की खेंचने की शक्ति में न्यूनता नहीं होती और उसके वजन और रूप रंग में भी किसी प्रकार का अन्तर नहीं होता। उसके सहारे दूसरे की चेष्टा होने में भी वह निर्विकार रहता है; इसी प्रकार आत्मा को समझ। आत्मा की संनिधि से बुद्धि चेष्टा करे अथवा न

जो बुद्धि आदि को अपनी संनिधि से अपने अपने कार्य में प्रेरित करता है वह आत्मा मैं हूँ ऐसा तू निश्चय कर।

आत्मा चिदाभास देते हुए भी विकार रहित है उसको दूसरे दृष्टान्त से समझाता हूँ—जिस प्रकार सूर्य के धूप की संनिधि में रखा हुआ आतशी शीशा से रुई आदि पदार्थ जल जाते हैं सूर्य की धूप ही आतशी शीशा में रह कर आतशी शीशे को जलाने के सामर्थ्य वाला बनाती है तो भी अपने में विकार को प्राप्त नहीं होती धूप जैसी की वैसी रहती है; इसी प्रकार आत्मा बुद्धि को चेष्टा कराने वाला होता है तो भी स्वयम् विकार रहित स्वस्वरूप में स्थित है उस आत्मा को तू अपना स्वरूप समझ।

एक रमणीक भूमि के मध्य में एक राजा का महालय था वहां के बगीचे में अनेक जात के छोटे बड़े वृक्ष और तरुलता आदिक थे अनेक वृक्ष होते हुए भी किसी वृक्षके ऊपर एक भी पत्ता नहीं था और किसी वृक्ष पर फल भी लगते नहीं थे अत्यंत शोभा देने वाले वृक्ष भी जैसे कोई मनुष्य किसी से लुटा गया हो इसके समान दीखते थे हरियाली किंचित भी नहीं थी। भारी पवन चलता था तब पवन के थपेडों से सूखे वृक्षों में से सांसां आवाज हुआ करती थी। माली लोग जल सिंचन आदि अधिक परिश्रम से करते थे तब भी बगीचा फैलता नहीं था।

वहां का रहने वाला राजा बगीचे को रमणीक बनाने का बहुत प्रयत्न कर चुका था परन्तु फल नहीं होता था और कई विद्वानों के मुख से सुन चुका था कि जब तक बगीचा हरा नहीं होगा तब तक तुझे पुत्र प्राप्ति भी नहीं होगी इस से राजा अत्यन्त दुःखी था आसपास की जमीन अत्यन्त सुन्दर और फल देती थी और राजमहल का उद्यान ही उजाड़ हो गया था राजा ने इसका बहुत प्रकार से कारण ढूंढ़ा परन्तु अभी तक कोई कारण समझ में आया नही था। राजा और राजा के उद्यान की इस प्रकार की स्थिति थी।

एक समय राजा के शहरमें एक महान् ज्योतिषी आ पहुँचा, राजाने बहुत सत्कार करके उसको अपने पास ठहराया और बगीचे की दुर्दशा को दिखलादी और अपुत्र होने का कथन भी किया। ज्योतिषी शास्त्र में निपुण था और उसपर उसके इष्टदेव की पूर्ण प्रसन्नता थी इससे इसका कहा हुआ भूत भविष्य और वर्तमान सचा ही पड़ता था। राजा ने कई बातें पूछ कर निश्चय करलिया कि ज्योतिषी जो जो कहता है सब ठीक ही होता है। बगीचा और पुत्र में अवश्य कोई सम्बन्ध है। जो बगीचा हरा होजाय तो मुझे पुत्र भी अवश्य होगा ऐसा उसका निश्चय होने से किसी भी प्रकारसे बगीचे को हरा बनाने को चाहता था इससे राजा ने ज्योतिषी से कहा:—'आप समर्थ हो मुझे अपुत्र को पुत्र वाला बनाइये इस बगीचा के दोष की निवृत्ति होतेही में भी हराभरा हो जाऊंगा। बगीचा हरा क्यों नहीं होता है उसका उपाय कीजिये।'

ज्योतिषी ने राजा के पास देवी का मंडल बना कर पूजन कराया और दूसरे दिन कहा कि "हे राजा, इस भूमि के ऊपर शाप है जब तक उसकी निवृत्ति नहीं होगी तब तक बगीचा हरा नहीं होसकता और तेरी धारणा भी सत्य है कि बगीच हरा होते ही तुझे पुत्र की भी प्राप्ति होगी। कई वर्षों के प्रथम इस महालय में राजा लोग रहते नहीं थे यहां जमा-

दार और माली ही रहते थे राज कुटुम्ब के मनुष्य कभी आते रहते थे स्थिर कोई रहता नहीं था; एक समय एक जमादार ने माली को बहुत तंग किया उसके घर के कई मनुष्यों को मरवा डाला और माली को जेलखाने भेजवा दिया। माली बहुत सीधा था उसके मुख में से यह शब्द निकल गया कि "जब तक मेरे वंशका कोई मनुष्य इस बगीचे में भली प्रकार रखा नहीं जायगा तब तक उजाड़ रहेगा और उसमें रहने वाला भी अपुत्र होगा। मेरा वंशज आकर बगीचे में प्रेम से जल सींचने लगेगा उसी समय बगीचा हरा हो जायगा और महालय में रहने वाले के भी पुत्र होगा; वह माली जेलखाने में मर गया उसका एक पुत्र जो प्रथम से ही परदेश में चला गया था वह बचा हुआ है उसकी उमर बहुत होगई है यहां से सात कोश की दूरी पर दरिद्रा नाम के ग्राम में रहता है उसे लाकर बगीचे में रखिये। शोभा उसका नाम है।"

राजा के मनुष्यों ने उस शोभा नाम के माली को ढूंढ़ निकाला उसका जो कुछ करजा था वह चुकाकर अधिक तनखा पर बगीचे में मालिओं का जमादार करके नोकर रखा। कुछ ही रोज में बगीचा हरा हो गया और राजकुमार भी हुआ।

शोभा माली के आते ही उसकी संनिधि में जिस प्रकार बगीचे के वृक्ष वृद्धि आदिक अपनी क्रिया करने लगे और उस मालीमें किसी प्रकार का विकार न हुआ ऐसे आत्मा की सत्ता से बुद्धि की चेष्टा होने में भी आत्मा को विकार नहीं होता। आत्मा की सत्ता से ही संपूर्ण पदार्थ अपने कार्य में और स्वभाव में स्थित हैं वह ही सब को सत्ता स्फूर्ति देने वाला है, सबका आधार है और आधेय के विकार से रहित है वह आत्मा तू है इस प्रकार का दृढ़ निश्चय कर।

अपूर्ण।

अज्ञानीका कर्म वास्तविक कर्म नहीं है।

हरिगीत छन्द।

(१)

छूटा हुआ जितना करे उतना न बँधुआ कर सके।
ज्ञानी करे जो कार्य अज्ञानी कभी क्या कर सके॥
बैठा रहे बेकार ज्ञानी दोप देना है वृथा।
तत्त्वज्ञ जैसा कर सके, नहिं अज्ञ कर सक्ता तथा॥

(२)

जकड़ा हुआ हो बेड़ियों में कैद में हो सड़ रहा।
कैसे उसे मालूम हो छूटा हुआ क्या कर रहा॥
ज्ञानी छुटा निर्द्वन्द्व है नहिं खिन्न नहिं उद्विग्न है।
निर्विघ्न करता कार्य सब पड़ता न कोई विघ्न है॥

(३)

आलस्य है अज्ञान में, आलस्य में नहिं कार्य हो।
होता तभी है कार्य जब उत्साह हो अरु धैर्य हो॥
कर्ता अकर्ता को गिने सो कार्य कैसे कर सके।
लाखों जिसे हों कामना सो धैर्य कैसे धर सके॥

(४)

सुख रूप में दुःख देखना, क्या है यही कर्मण्यता।
सचा समझना असत् को कितनी बड़ी है मूर्खता॥
विश्वेश की आ वाटिका में सैर करना छोड़ कर।
ढोने लगे जो भार सो है मूढ घोड़ा बैल खर॥

(५)

ज्ञानी यथोचित कर्म करि, सन्मार्ग में है चालता।
सब को चला शुभ मार्गमें भय शोक सब का टालता॥
तत्त्वज्ञ गुरु हैं जगत् का अपरोक्ष वह ही ईश है।
तत्त्वज्ञ प्यारा ईश का, प्यारा इसे जगदीश है॥

(६)

है अज्ञ बंधुआ आप बंधना अन्य को सिखलाय है।
भोगे स्वयं है दुःख, दुःख ही अन्य को भुगवाय है॥
ज्ञानी स्वयं दुःख से रहित, दुःख अन्य का हर लेय है।
कल्याण का रस्ता बना, सब को सुखी कर देय है॥

(७)

ज्ञानी करे या नहिं करे, फिर भी सदा करता रहे।
सुख शान्त पथ दिखलाय के दुख दर्द भय हरता रहे॥
अपरोक्ष या कि परोक्ष में करता रहे हित सर्वथा।
है प्राज्ञ जीवन अन्य हित रवि चन्द्र का जीवन यथा॥

(८)

ज्ञानी जहां पर वास करता देश सो अति धन्य है।
जिस पुरुष से हो संग उसका होय सो जग मन्य है॥
उपदेश उसका लेय जो, सो आप ज्ञानी होय है।
निष्काम हो निष्पाप हो अघ अन्य के भी धोय है॥

शरभोपनिषत्।

भगवान् पैप्पलाद ऋषि एकवार ब्रह्माजी से बोले 'हे भगवन्, ब्रह्मा विष्णु और रुद्र इन में से अधिक तर ध्यान करने योग्य कौन है सो आप ही हम से कह दीजिये'। पितामह ब्रह्मा ने उसको उत्तर दिया हे पैप्पलाद सुनो। जिसने बहुत ही पुण्य किये हों उसी को यह परमेश्वर प्राप्त होता है, जिसके अंग से मैं स्वयं उत्पन्न हुआ हूँ और जिसको विष्णु रुद्र तथा इतर कोई भी देवता मोह के कारण जान नहीं सकता॥१॥ जो सब का प्रभु है, श्रेष्ठ है पिता और महेश्वर है जो ब्रह्मा को धारण करता है जो सब वेदोंका निर्णय करता है और जो श्रेष्ठ और देवताओं का पिता और प्रभु है, मेरा तथा विष्णु का भी पिता है [उसको नमस्कार है] जो सब लोकों का संहार करता है वही एक सब से श्रेष्ठ और वरिष्ट है॥ २—३॥ जिस महा बलवान् महेश्वर ने शरभ का घोर रूप धारण करके लोकों का नाश करने वाले नृसिंह को मार दिया॥ ४॥ रुद्र जब विष्णु को दोनों पैर पकड़कर लेजाते थे तब पीछे २ सब देव आने लगे और कहने लगे, 'कृपा करके पुरुषोत्तम विष्णु का वध न कीजिये आप महान् हैं और आप ही की जय है' तब भगवान् रुद्र ने विष्णु को तीक्ष्ण नखों से विदारित किया। तब से चर्म को धारण करने वाला रुद्र महावीर तथा वीरभद्र नाम से प्रसिद्ध हुआ॥ ५—६॥ ऐसा रुद्र ही सबके लिये सब सिद्धियों के साधनार्थ पूजन करने योग्य है।

'जिसने ब्रह्मा का पांचवां मुख नष्ट कर दिया उस रुद्र को नमस्कार है॥ ७॥ जो ललाट से निकले हुए अग्नि से सब जगत को भस्म कर देता है और पुनः उत्पन्न करके पालन भी करता है और इस प्रकार अपना सामर्थ्य प्रकट करता है उस रुद्रको नमस्कार है॥८॥ जिसने बाएं पैरसे कालको मार डाला और धधकता हुआ विष जिसने पीलिया था, उस रुद्र को नमस्कार है॥ ९॥ जिसके बाएं चरण पर विष्णु ने अपनी आंख निकाल कर चढ़ा दी और इस पूजन से संतुष्ट हो कर जिसने विष्णु को चक्र दे दिया उस रुद्र को नमस्कार है॥ १०॥ दक्ष यज्ञ में सब देवों का पराजय करके जिस वीर ने विष्णु को नाग पाश से बांध डाला था उस रुद्र को नमस्कार है॥ ११॥ जिसके चंद्र सूर्य और अग्नि ऐसे तीन नेत्र हैं जिसने लीला मात्र से त्रिपुर को जलाया था और जिससे सब देव गण पशुता को (दीनता) को प्राप्त हुए और आप पशुपति बन गये उस रुद्र को नमस्कार है॥ १२॥ मत्स्य, कूर्म,

वराह, नृसिंह, वामन और आदि विष्णु को भी भ्रमित करके पीड़ा पहुंचाता है ऐसे कामदेव और यम को जिसने भस्म किया उस रुद्र को नमस्कार है ॥ १३ ॥ ' इस प्रकार नानाविध स्तुति करके देव लोगों ने नील कण्ठ महेश्वर से क्षमा मांगी। फिर परमेश्वर ने ताप त्रय तथा जन्म मृत्यु जरा और व्याधि, इनसे उत्पन्न होने वाले नाना प्रकारके दुःखों का संहार किया ॥ १४ ॥

इस प्रकार के मंत्रों से प्रार्थित होने पर उस आद्य भगवान् सब के आत्म रूप शंकर ने सब की रक्षा की ॥ १५ ॥ मन वाणी से अगोचर और स्तुति करने के योग्य ऐसे महेश्वर की स्तुति कर के श्री विष्णु जिसके चरण कमलों को प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं ॥ १६ ॥ भक्ति से नमस्कार करने वाले ऐसे विष्णु पर रुद्र प्रसन्न हुए।

जिसको न प्राप्त करके वाणी मन के साथ लौट जाती हैं ऐसे ब्रह्मानंद को जानने वाला कभी भी भय को प्राप्त नहीं होता ॥ १७ ॥ आत्मा अणु से भी अणु है और महान् से भी महान् है और वह सब प्राणियों के हृदय रूप गुफा में छुपा रहता है। उस द्रष्टा रूप महान् ईश्वर को शोक रहित पुरुष ईश्वरानुग्रह से देखता है ॥ १८ ॥ वसिष्ठ शुक और वामदेव तथा ब्रह्मा आदि देवता जिसका हृदय में ध्यान करते हैं और सनत् सुजान तथा सनातन आदि जिसकी स्तुति करते हैं वह भगवान् आदि देव महेश्वर हैं ॥ १६ ॥ महेश्वर सत्य नित्य और सर्वसाक्षी है। वह नित्य आनंद रूप निर्विकल्प और कथन करने योग्य नहीं है। भगवान् गिरीश की शक्तिकी किसी को कल्पना नहीं हो सकती अपने अज्ञान ही से हमने उसके स्थान आदि की कल्पना की है ॥ २० ॥ हे आचार शील, उसकी माया मेरे लिये तथा विष्णु के लिये भी अत्यंत मोह उत्पन्न करने वाली है। वह अत्यंत दुस्तर है तोभी उसके चरण कमलों के ध्यान से वह सहज पार की जा सकती है ॥ २१ ॥

सब जगत का कारण विष्णु है वह अपने अंश रूप जीवों के साथ मेरे ही अंश से उत्पन्न होकर समस्त विश्वकी रक्षा करता है ॥ २२ ॥ काल पाकर अन्य सब नष्ट हो जाता है इसलिये यह सब मिथ्या है उस सब ग्रास करने वाले शूलधारी, महादेव, महेश्वर और कृपा करने वाले ऐसे रुद्र को नमस्कार है ॥ २३ ॥ नाना विध सृष्टि में सब से पृथक् ऐसा विष्णु सब से महान् है वह तीनों लोकों को व्याप्त कर भूतों के आत्म रूप से सब भोग भोगते हुए भी अव्यय रहता है ॥ २४ ॥ चार आहुतियों से फिर चार आहुतियों से फिर पांच से और फिर दो आहुतियों से जिसके लिये हवन किया जाता है वह विष्णु मुझ पर प्रसन्न हो ॥ २५ ॥ अर्पण ब्रह्म है, हवि ब्रह्म है अग्नि और हवन करने वाला ब्रह्म है इसलिये यह ब्रह्म रूप से कर्म करने वाला पुरुष ब्रह्म ही को प्राप्त होता है ॥ २६ ॥ शर जीव हैं वे हरि रूप से जिसके अंग में रहते हैं यह शरभ, हे महामुने, मोक्ष देने वाला साक्षात् ब्रह्म ही है ॥ २७ ॥

जिसकी माया से ममतादि के कारण देवता गण मोह को प्राप्त हुए हैं उसके महिमा का अल्प अंश का वर्णन भी कौन कर सकेगा ॥ २८ ॥ पर से पर ब्रह्म है उसके पर से पर विष्णु है और उस के पर से भी पर ईश है इसलिये उसके बराबर अथवा अधिक कोई भी नहीं है ॥ २६ ॥ शिव ही एक और नित्य है और सब मिथ्या है इसलिये विष्णु आदि सब देवताओं को त्याग कर ॥ ३० ॥ सब संसार

से छुड़ाने वाले केवल एक शिव ही का ध्यान करना चाहिये। सब का संहार करने वाले उस महेश्वर को नमस्कार है।

यह पैप्पलाद ऋषि को प्राप्त हुआ महा शास्त्र रूप उपनिषत् जो नास्तिक, कृतघ्न, दुर्व्यवसायी, दुराचारी, दांभिक, निर्दय, शठ अथवा झूंठ बोलने वाला हो इसको अथवा जिसको जानते न हो उस को न देना चाहिये जो अच्छा काम करने वाला, भक्त, सदाचरण सुशील ॥ ३२—३३ ॥ गुरु भक्त शम दम युक्त और सीधा हो शिव भक्त हो वेदाज्ञा के अनुसार बुद्धि रखने वाला हो ॥ ३४ ॥ जो अपने में भक्ति रखता हो और कृतघ्न न हो इसी को यह देना चाहिये। अन्यथा किसी को न देकर हे द्विज श्रेष्ठ! इसकी रक्षा करनी चाहिये ॥ ३५ ॥ पैप्पलाद ऋषि को प्राप्त हुआ यह महा शास्त्र जो पढ़ता है और ब्राह्मणों को सुनाता है वह जन्म मरण से मुक्त होजाता है। जो जानता है वह अमृतत्व को प्राप्त होता है। वह पुनः गर्भ में आने से मुक्त हो जाता है उसके सुरा पान के दोष की निवृत्ति हो जाती है। सुवर्ण चोरी के दोष से वह निवृत्त हो जाता है ब्रह्म हत्या का पातक उसमें हो तो वह नष्ट हो जाता है गुरु की स्त्री से गमन किया हो तो उस दोष से भी उसकी निवृत्ति हो जाती है सर्व वेदों के अध्ययन का उसे फल मिलता है। सब देवों के ध्यान का उसे फल मिलता है वह सब महापातक और उप पातकों से रहित हो जाता है। इसलिये वह शिवजी के आश्रय को प्राप्त होता है और शिव को प्रिय होने से शिव सायुज्य को प्राप्त होता है उसका पुनरागमन नहीं होता, उसका पुनरागमन नहीं होता वह ब्रह्म ही हो जाता है इस प्रकार भगवान् ब्रह्मा बोले। ऐसा यह उपनिषत् है।

॥ इति शरभोपनिषत् ॥

ब्रह्म सूत्र भाषा दीपिका।

(गतांक से आगे)

शंका:—पुरुष के मोक्ष के लिये प्रधान की प्रवृत्ति होने से कर्मफल की व्यवस्था होगी अन्यथा प्रधान की प्रवृत्ति केवल अपना ऐश्वर्य दिखाने के लिये है ऐसा मानना पड़ेगा और फिर कभी भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी।

समाधान:—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि इष्ट हेतु की सिद्धि हो इतने ही पर कर्मफल की व्यवस्था कैसे बन सकेगी यह बात समझ में नहीं आती, परन्तु उसकी कोई उपपत्ति (कार्य कारण सम्बंध) बतलाई जाय तो समझ में आ सकती है। यदि उपपत्ति न बताई जा सके तो पुरुष के मोक्षरूप इष्ट हेतु की सिद्धि नहीं होगी। इतना ही नहीं परन्तु कर्मफल के व्यवस्था में कुछ भी हेतु न होने से उसमें अव्यवस्था हो जायगी।

वैशेषिकों के मत में भी जब एक आत्मा के साथ मन का संयोग होता है उस समय अन्य आत्माओं के साथ भी उसका सम्बंध अवश्य होगा; क्योंकि (संयोगके लिये) सामीप्य आदि हेतु सामान्य ही हैं और हेतु सामान्य होने से कार्य भी समान ही होंगे। इसलिये एक आत्मा के साथ सुख दुःख का सम्बंध प्राप्त होने से सब आत्माओं में समान सुख दुःख का संयोग होगा ॥५०॥

अदृष्ट से उसकी व्यवस्था नहीं हो सकेगी, यह सूत्रकार आगे कहते हैं—

अदृष्टानियमात् ॥२।३।५१॥

अन्वय और अन्वयार्थः—अदृष्टानियमात् अदृष्ट का कोई नियम न होने से [कर्म फल की उससे व्यवस्था नहीं बन सकती]।

टीकाः—आत्मा अनेक हैं, वे आकाश के समान सर्व व्यापक हैं और उनकी संनिधि प्रत्येक शरीर के लिये बाहर से और भीतर से समान है। ऐसी अवस्था में जीव शरीर मन वाणी से धर्म अधर्म रूप अदृष्ट संपादन करता है। (यह सांख्य और वैशेषिक दोनों का मत है।) अब सांख्यों के मत में वह अदृष्ट आत्मा में न रहकर प्रधान ही में रहता है और प्रधान सब आत्माओं को एक समान होने से प्रत्येक जीव को सुख दुःख के जो भिन्न २ भोग होते हैं उनकी व्यवस्था उस अदृष्ट से नहीं बन सकती। वैशेषिकों के मत में भी पहिले कहा है वैसे ही आत्मा और मन का संयोग सर्वत्र समान है इसलिये उसमें भी अमुक आत्मा का अमुक अदृष्ट है ऐसा नियम होने के लिये कोई भी कारण न होने से, अदृष्ट के लिये वही दोष यहां पर प्राप्त होता है ॥ ५१ ॥

शंकाः—'मैंने यह फल प्राप्त किया, इस का मैं परिहार करूंगा, प्रयत्नपूर्वक मैं ऐसा करूंगा, ऐसे विचार करने की प्रत्येक आत्मा की प्रवृत्ति होती है। इन विचार आदि से अदृष्ट और आत्मा के स्व स्वामी भाव संबंध का नियमन होगा।

यह कहना ठीक नहीं है यह सूत्रकार आगे कहते हैं:—

अभिसंध्यादिष्वपि चैवम् ॥२।३।५२॥

अन्वय और अन्वयार्थः—च और **अभिसंध्यादिषु** विचार आदि के संबंध में **अपि** भी **एवम्** ऐसा ही है [यानी वही दोष प्राप्त होता है]।

टीकाः—आत्मा और मन के संयोग से विचार आदि होते हैं यह संयोग सब आत्माओं के साथ समान होने से सब आत्माओं का सामीप्य आदि होते हुए ही ये विचार आदि किये जाते हैं इसलिये ये विचार आदि भी अदृष्ट की व्यवस्था के कारण हैं ऐसा नहीं कह सकते। अर्थात् पूर्व कथित दोष यहां भी प्राप्त होता है ॥५२॥

प्रदेशादितिचेन्नान्तर्भावात् ॥२।३।५३॥

अन्वय और अन्वयार्थः—प्रदेशात् [शरीर में स्थित आत्मा का प्रदेश होने से [कर्म फल की व्यवस्था बनेगी] **इति** ऐसा **चेत्** [यदि कहो] तो **अन्तर्भावात्** [सब आत्माओं का सब शरीरों में] अंतर्भाव होने से **न** [कर्मफल की] व्यवस्था बन नहीं सकेगी।

टीकाः—अब कोई कहे कि यद्यपि आत्मा सर्व व्यापक है तो भी उसका शरीर में रहे हुए मन से संयोग होता है और वह संयोग शरीर से मर्यादित हुए आत्माके प्रदेश ही में होता है इसलिये मर्यादित प्रदेश से विचार आदि की, सुख दुःख की और अदृष्ट की व्यवस्था बन जायगी तो वह ठीक नहीं

है; क्योंकि, उनका अंतर्भाव है। सब आत्मा एक से सर्व व्यापक होने से उन सबका सब शरीरों में अंतर्भाव होता है। इसलिये, शरीर से मर्यादित हुए आत्मा का एक प्रदेश है, ऐसा वैशेषिक नहीं मान सकते। और यदि आत्मा के इस प्रदेश की कल्पना कर भी ले तोभी आत्मा प्रदेश रहित होने से उसका प्रदेश भी काल्पनिक ही रहेगा और यह काल्पनिक प्रदेश सच्चे कार्य का नियमन नहीं कर सकेगा। शरीर भी सब आत्माओं के संनिध ही उत्पन्न होता है इसलिये इसी आत्मा का यह शरीर है अन्य का नहीं, ऐसा उस शरीर के संबंध में निश्चय नहीं हो सकता।

आत्मा के विशिष्ट प्रकार के प्रदेश होते हैं ऐसा मान लें तो भी समान सुख दुःख का उपभोग करने वाले दो आत्मा एक ही शरीर से उसका उपभोग कर सकेंगे; क्योंकि, दोनों आत्मा का अदृष्ट भी एक ही प्रदेश पर रह सकेगा। जैसे, देवदत्त ने जिस प्रदेशमें सुख दुःखका अनुभव किया उस प्रदेशसे देवदत्तका शरीर दूर होजाय और यज्ञदत्तका शरीर उस प्रदेश में आजाय तो उसको भी देवदत्तके समान ही सुख दुःखका अनुभव होता है ऐसा देखने में आता है। अब यदि देवदत्त और यज्ञदत्त इन दोनोंका अदृष्ट एक ही प्रदेश में नहीं रहता हो तो ऊपर लिखी हुई बात बनती नहीं।

अपरंच, आत्मा का प्रदेश होता है ऐसा मानने वालों के मत में स्वर्ग आदि का उपभोग भी नहीं बनेगा, क्योंकि ब्राह्मण आदि के शरीरों में अदृष्ट उत्पन्न होता है और स्वर्ग आदि का भोग अन्य प्रदेश ही में बन सकता है।

यदि आत्मा अनेक हैं तो वे सब सर्व व्यापक नहीं हो सकते, क्योंकि ऐसा कहीं दृष्टांत नहीं मिलता। जो बहुत है और सब एक ही स्थान में हों ऐसे कौन पदार्थ हैं कहो! यदि कहो कि रूप आदि पदार्थ ऐसे ही हैं, तो वह ठीक नहीं, क्योंकि रूप आदि भी धर्मी रूप से एक ही हैं और उनके लक्षणों में भिन्नता भी है। परन्तु बहुत आत्माओं के लक्षणों में भिन्नता नहीं है। अन्त्यविशेष से (यदि आत्मा भिन्न २ हैं तो उनको भिन्न २ रखने वाला कुछ विशिष्ट धर्म प्रत्येक आत्मामें होना चाहिये, इस कल्पित धर्म ही को अन्त्य विशेष कहते हैं) भेद बन सकता है ऐसा कहो तो वह ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा माने तो भेद की कल्पना से अन्त्य विशेष की सिद्धि और अन्त्य विशेष की कल्पना से भेद की सिद्धि इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष की प्राप्ति होती है। ब्रह्म प्रतिपादकों के मत में आकाश आदि पदार्थ भी सर्व व्यापक सिद्ध नहीं होते; क्योंकि आकाश आदि पदार्थ कार्य हैं ऐसा वे मानते हैं। अर्थात आत्मा एक है, यही मत सर्व दोष रहित है, ऐसा सिद्ध हुआ।

अपूर्ण।

॥ अध्याय २ पाद ३ समाप्त ॥

वेदान्त दीपिका

इस ग्रन्थ में जिज्ञासु को स्वाभाविकता से होने वाले प्रश्नों का अत्यन्त मार्मिकता से समाधान किया गया है। वेदान्त विषय के चौबीस प्रश्न ये हैं:-

१—एक ब्रह्म के सिवाय और कुछ नहीं है; तब संसार क्या है? ब्रह्म चैतन्य और जगत् जड़ है इसलिये जड़ जगत् चैतन्य ब्रह्ममें से नहीं होसका। २—जीव क्या चीज़ है? चैतन्य हो तो चैतन्य असंग है इसलिये कर्ता भोक्ता नहीं हो सकता और जड़ हो तो क्रिया नहीं कर सकता। ३—अज्ञान और ज्ञान किसको होता है? ४—जगत् प्रत्यक्ष है और तुम एक ब्रह्मको और बताते हो तब जगत् और ब्रह्म दो होने से द्वैत हुआ। अद्वैत कैसे है? ५—पाप, पुण्य, स्वर्ग, नरक और मोक्ष क्या चीज है? कर्म कहां रहते हैं? ६—माया अनादि मानते हो तो अनादि का नाश कभी नहीं होता इसलिये माया कभी नहीं छूटेगी और जीवका कभी मोक्ष न होगा, फिर मोक्ष क्या? ७—असंग होकर ब्रह्म सृष्टि का कर्ता कैसे है? एक ही सब व्यवहार का हेतु है तो सब एक समान क्यों नहीं होते? ८—पुनर्जन्म का शास्त्र वाक्य के सिवाय क्या सबूत है? पुनर्जन्म होता है तो याद क्यों नहीं रहता? ९—पूर्वजन्म में किये हुये कर्मों का फल इस जन्ममें भोगा जाता है, पाप कर्म का फल दुःख भोग होता है, पूर्वजन्म की याद नहीं, किये हुये कर्मों की खबर नहीं, पाप जाने बिना पाप का फल भोगना यह अन्याय क्यों है? १०—एक शरीर से किये हुये शुभ अशुभ कर्मों का फल दूसरे शरीर से भोगना यह अन्याय क्यों? ११—आत्मा शुद्ध है तो सब बातों को क्यों नहीं जानता? १२—प्रारब्ध का ही भोग होता है तो शास्त्र और गुरु उपदेश व्यर्थ है, प्रारब्ध से परतंत्र हुआ मनुष्य क्या कर सकता है? १३—जीव मरने के समय किस प्रकार जाता है? १४—मोक्ष सुखका किसी ने प्रत्यक्ष नहीं किया है, बिना जाने किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा नहीं होती तो मोक्षकी इच्छा कौन करेगा? १५—प्रत्यक्ष दीखने वाले संसार को तुम असत्य बताते हो और न दीखने वाले आत्मा को सत्य बताते हो, यह कैसे समझ में आवे? १६—आत्मा समान्य प्रकाश करने वाला है तो प्रकाश करने वाले दीपक के समान जड़ हुआ! सामान्य में विशेषता नहीं और विशेषता बिना चैतन्यता कहां! शरीर पैदा होता है उसमें जीवके प्रवेश होने का क्या प्रमाण है? १७—मरने के बाद सब जल कर खाक होगया, कुछ न रहा फिर जन्म किसका होगा? १८—मैं कौन हूँ किसके सहारे टिका हूँ? जाग्रतादि अवस्था क्या है? किस की है? और अवस्थाओं का फल क्या है? भावना अनुसार फल होता है तो हम राजा होने की भावना करने से राजा क्यों नहीं होजाते? १९—लोभ, क्रोध, मोह आदिकों को दुःख देने वाला जानकर भी जीव क्यों नहीं त्यागता? सब संसार और संसार के पदार्थ ईश्वर रचित हैं तो लोभ, क्रोध, मोहादिक भी ईश्वर रचित हैं, उनको जीव कैसे हटा सकता है? २०—मात्र ज्ञान ही सत्य है तो कर्म, उपासना, भक्ति आदिका विधान बताने वाले सब शास्त्र किस अर्थ हैं? २१—जीवको संसार में विशेष कर दुःख ही दुःख होता है तो जीवों को दुःख देने के लिये ऐसी दुनियां ईश्वर ने क्यों रची? २२—आत्मा शुद्ध स्वरूप है तो अशुद्ध स्वरूप वाला जीव किस प्रकार हुआ? अशुद्ध किसने किया? जड़ माया चेतन आत्मा को अशुद्ध नहीं कर सकती, स्वयं अशुद्ध हो नहीं सकता और दूसरा अशुद्ध करने वाला है नहीं। २३—ज्ञान और अज्ञान ईश्वरकृत हैं। ईश्वर ने किसी को ज्ञानी और किसी को अज्ञानी बनाया तो ईश्वर पक्षपाती हुआ, ऐसा क्यों? २४—बिना कर्म कोई शरीरधारी नहीं रह सकता, कर्म फल दिये बिना नहीं रहता, ज्ञानी भी कर्म करता है तो कर्म का फल भोगने के लिये उसको भी जन्म धारण करना पड़ेगा। जन्म धारण करके कर्म करेगा तो ज्ञानी जन्म रहित कैसे हो सकता है?

प्रत्येक प्रश्नको प्रथम युक्तिपूर्वक समझा कर उसको अधिक दृढ़ करने के लिये प्रसंगानुसार दृष्टांत देकर ग्रन्थ अत्यन्त रोचक बनाया गया है। मूल्य रु० १॥) डाकखर्चा अलग।

वेदान्त केसरी बेलनगंज—आगरा।

REGD. NO. A. 1821

वेदान्त केसरी की छपी हुई पुस्तकें।

वेदान्त केसरी मासिक पत्र—नवाँ साल चालू है वार्षिक मूल्य ३) वर्ष के मध्य में ग्राहक होने वालों को वर्ष के आरंभ से सब अंक लेने होंगे मई मास से वर्ष आरंभ होता है नमूने की कापी मुफ्त नहीं मिलती। एक प्रति का मूल्य पाँच आना। पिछले आठों साल की जिल्द (प्रत्येक बारह अङ्कों की) तय्यार हैं, थोड़ी कापियां शेष रही है। श्रीमच्छङ्कराचार्य्यके अद्वैत सिद्धान्तके अनुसार सम्पूर्ण वेदान्त की प्रक्रिया आगई है।

अधिकारी के लक्षण, गुरु-शिष्य लक्षण, पंचकोष विवेक, जगत्, जीव, ईश्वर, ब्रह्म, माया, अविद्या, ज्ञान, अज्ञान, आसक्ति, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, महावाक्य, जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति, छोटे छोटे उपनिषद्, स्तोत्र आदि अनेक लेख आये हैं, जो बोलचालकी बहुत ही सीधी भाषामें युक्ति और दृष्टांतपूर्वक समझाये गये हैं। बहुत ही रोचक होने से पढ़ने को लेनेके बाद पुस्तक छोड़ने को चित्त नहीं चाहता। सामान्य भाषा जानने वाले भी बारम्बार पढ़ने से आत्मबोध प्राप्त कर सकते हैं। प्रत्येक पुस्तक का मूल्य ३) सम्पूर्ण सैट यानी आठों पुस्तक का मूल्य २४)

उपासना—इसमें साकार, सगुण, निर्गुण, कार्य ब्रह्म तथा कारण ब्रह्म आदि कई प्रकार की उपासना को भिन्न २ प्रकार से समझाया है। उपासना की स्थिरता ही से मन एकाग्र होकर आत्म साक्षात्कार होता है। मूल्य ॥)

चर्पट पंजरिका—"भज गोविंदं भज गोविंदं" पद्य का विवेचन सहित भाषानुवाद है। अनेक दृष्टांतों से रोचक है। सम श्लोकी पद्य भी है। मूल्य १)

कौशल्य गीतावली भाग १—२—वेदान्त केसरी में आई हुई कविताओं का संग्रह। कविता रोचक सरल और ज्ञान के संस्कारों को प्रदीप्त करने वाली तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन रूप है। प्रत्येक भाग का मूल्य ।≠)

वेदान्त स्तोत्र संग्रह—श्रीमच्छङ्कराचार्य्य आदि के प्रतिभाशाली वेदान्त के मुख्य २ चुने हुए २१ स्तोत्रों का संग्रह किया गया है और प्रत्येक स्तोत्र का अर्थ भी सरल भाषा में दिया गया है, जो थोड़े पढ़े हुए मुमुक्षुओं को भी नित्य पाठ और श्रवण में अति उपयोगी है। कई संन्यासियों ने भी इसे बहुत पसंद किया है। मूल्य प्रति पुस्तक ॥) सब पुस्तकों का डाक खर्च ग्राहकों को देना होगा।

व्यवस्थापक—वेदान्त केसरी, बेलनगंज—आगरा।

केसरी प्रेस, बेलनगंज आगरा में सूरजभान गुप्त द्वारा मुद्रित और प्रकाशित।

REGD. NO. A. 1821

ॐ

वेदान्त केसरी

मासिक पत्र

पुस्तक ६ } फाल्गुन सं० १९८७ मार्च १९३१ { अंक ११

श्लोक—तावद्गर्जन्तिशास्त्राणि जम्बुका विपिनेयथा।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद्वेदान्त केसरी॥

अर्थ—जब तक महाबलवान सिंह गर्जना नहीं करता तब तक वन में श्याल खूब गर्जना करते हैं। इसी प्रकार जब तक वेदान्त सिद्धान्त की गर्जना नहीं होती तभी तक अन्य लौकिक शास्त्रों की गर्जना हुआ करती है।



सम्पादक—
ब्रह्मचारी विष्णु,
बेलनगंज—आगरा।

वार्षिक मूल्य ३) एक प्रति का मूल्य ।–)

विषयानुक्रमणिका ।

वेदान्त केसरी के नियम ।

(१) यह पत्र प्रत्येक अंग्रेजी महीने के आदि में निकलता है ।

(२) वेदान्त विषय का विवेचन करना इसका मुख्य प्रयोजन है ।

(३) वार्षिक मूल्य ३) अग्रिम लिया जाता है । विना मूल्य पत्र किसी को नहीं भेजा जाता है ।

(४) एक अङ्क का मूल्य ।–) नमूने का अङ्क पांच आने के टिकट आने पर भेजा जाता है ।

(५) जिन ग्राहकों के पास पत्र न पहुँचे उनको १५ तारीख तक सूचना देनी चाहिये ।

(६) एक वर्ष से कम के ग्राहक नहीं किये जाते । मध्य में ग्राहक होने वालों को चालू साल के आरम्भ से सब अङ्क लेने होंगे ।

(७) चिट्ठी लिखते समय प्रत्येक ग्राहक को अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखना चाहिये ।

वेदान्त केसरी

पुस्तक ९ — फाल्गुन सं० १९८७ मार्च १९३१ — अङ्क ११

महाभारत युद्ध ।

इन्द्रवज्रा छन्द

(१)

हे जीव! क्यों तू जग मांहि आया।
भोगार्थ नांही नर देह पाया ॥
स्वाराज्य तेरा छल से छिना है ।
लेने उसी को नर तू बना है ।

(२)

कामादिसे युद्ध किये सरेगा ।
खोया हुआ राज्य तभी मिलेगा ॥
कामादिके जो वध से डरे तू ।
श्री कृष्ण जैसा गुरु खोज ले तू ॥

(३)

कर्तव्य तेरा रण जीतना है ।
क्यों मोहसे कायर तू बना है ॥
तू शुद्ध चैतन्य महा बली है ।
दौर्बल्यता योग्य तुझे नहीं है ॥

(४)

भीष्मादि जैसे बल वीर्य वाले ।
कामादि नांही धति शौर्य वाले ॥
अज्ञान के ये पुतले खिलैया !
ले शब्द वेधी शर मार भैया ॥

(५)

कर्तव्य से जो नर जी चुराता ।
ना स्वप्न में भी सुख शान्ति पाता ॥
ना कर्म बांधे कर कर्म नाना ।
आसक्ति किंचित् मन में न लाना ॥

(६)

हैं पूर्व के पुण्य हुये सहाई ।
हे जीव ! तूने रणभूमि पाई ॥
जी तोड़ के तू कर युद्ध शूरा ।
स्वाराज्य लेके बन भूप पूरा ॥

(७)

सत्संग पाया नर जन्म पाया ।
है तू विवेकी कुल श्रेष्ठ जाया ॥
क्यों चूकता है कर युद्ध प्यारे ।
है श्रेय जीते अरु प्रेय हारे ॥

(८)

जो जीत जावे पद नित्य पावे ।
जो हार भी हो चढ़ स्वर्ग जावे ॥
कर्तव्य तेरा जग जीतना है ।
संकल्प तेरा यह आदिका है ॥

जीव सदा शिव ही है ।

अहाहाहा ! कैसा शोभन प्रकाश है ! अलौकिक प्रकाश है ! सर्वत्र उजाला ही उजाला है ! अन्धेरे का कहीं नाम तक नहीं है ! दशों दिशाओं में उजाला है, दशों दिशाओं से बाहर भी उजाला है ! अखंड उजाला है, परिपूर्ण उजाला है ! निस्सीम उजाला है, न उसका कहीं आदि है, न मध्य है, न अन्त है, न वार है, न पार है, उजाले के सिवाय अन्य कुछ दिखायी ही नहीं देता ! 'तब यह कैसा उजाला है ? क्या सूर्य का सा उजाला है ?' नहीं ! नहीं ! सूर्य का उजाला उष्ण होता है, यह उष्ण नहीं है ! 'तब क्या चन्द्र का सा उजाला है ?' नहीं ! नहीं ! चन्द्र का उजाला शीतल होता है, कभी होता है, कभी नहीं होता, यह उजाला शीतल नहीं है, सर्वदा एक सा ही रहता है ! 'तब क्या अग्नि का सा उजाला है ?' नहीं ! नहीं ! अग्नि का उजाला धूम-युक्त होता है, इसमें धूवां नहीं है ! 'तब क्या बिजली का सा उजाला है ?' नहीं ! साहब ! बिजली के उजाले में आंखें चौंध जाती हैं, यह उजाला आंखों को चौंधाता नहीं, उलटा आंखों को आह्लाद देने वाला है ! 'तब क्या शब्द का सा उजाला है ?' अजी ! नहीं ! शब्द का उजाला चंचल होता है, कानों में ठोकर देता है, कभी २ दहला भी देता है, यह उजाला ऐसा नहीं है, इससे दहल नहीं होती, बहुत ही प्यारा लगता है ! 'तब क्या मनका सा उजाला है ?' नहीं ! मित्र ! मनका सा उजाला नहीं है, मनका उजाला संशयात्मक होता है, इसमें संशय का कुछ काम ही नहीं है, सर्वदा निश्चयात्मक है ! 'तब क्या बुद्धि का सा उजाला है ? नहीं ! बुद्धि का सा भी नहीं है, बुद्धि का उजाला निश्चयात्मक तो होता है परन्तु क्षणिक होता है, क्षण २ में बदल जाता है, यह उजाला क्षणिक नहीं है किन्तु स्थिर है ! 'तब क्या चित्त का सा उजाला है ?' नहीं ! चित्त का सा भी नहीं है, चित्त का उजाला सबको प्रकाश नहीं करता, यह उजाला तो सबका प्रकाशक है ! 'तब क्या अहंकार का सा उजाला है ?' नहीं ! भाई ! अहंकार का सा भी नहीं है, अहंकार के उजाले में सुख दुःख, शीतोष्ण, मानापमान, निन्दा स्तुति आदि बहुत से विकार रहते हैं, इस उजाले में कोई विकार नहीं है, यह निर्विकार उजाला है ।

तब लोक में तो भाई ! इतने ही उजाले देखने में आते हैं, इन्हीं उजालों से लोकों का व्यवहार चलता है, इनके सिवाय अन्य कोई उजाला तो हमारे देखने सुनने में नहीं आया ! कुछ उसका अता पता बताओ तो खोज लगालें । अजी ! इसका अता पता कुछ है ही नहीं, लापता है । फिर लापते का पता क्या बतावें ! शब्द से इसको सुन नहीं सके, वाणी से कह नहीं सके, बुद्धि भी उसको जान नहीं सकी, मन वाणी का अविषय है, मन वाणी उस तक पहुंच नहीं सके, ठोस है, इसमें किसी का प्रवेश ही नहीं है, फिर कहें तो कैसे कहें और समझावें तो कैसे समझावें ? कोई उसको कह नहीं सका, समझा भी नहीं सका, तभी तो इसको अलौकिक प्रकाश कहा है, यह उजाला अलौकिक है, फिर भी ब्रह्मवेत्ताओं ने उसके बहुत से नाम कहे हैं, उन नामों से वह कहा जा सका है और शुद्ध बुद्धि वाला लक्षणा से समझ सका है । सुनो, इसका नाम सम्वित् है, ज्ञान है, प्रज्ञान है, बोध है, चित् है, अनुभव है, प्रकाश का प्रकाश है, द्रष्टा है,

साक्षी है, उसकी दृष्टि का कभी लोप नहीं होता, उसके सिवाय अन्य द्रष्टा नहीं है, उसके सिवाय अन्य श्रोता नहीं है, उसके सिवाय अनुमता नहीं है, उसके सिवाय अन्य विज्ञाता नहीं है, श्रुति उसका कथन नहीं कर सक्ती, नेति नेति कहकर चुप होजाती है, सबका यह आत्मा है, प्रत्यगात्मा है, ब्रह्मांड भर इसीमें भासक है और वस्तुतः इसमें ब्रह्मांड नहीं है, इसलिये तत्त्ववेत्ता इसको शुद्ध सम्वित् कहते हैं।

जब शुद्ध सम्वित् आपका उजाला है, तो दाल में काला, यह विश्व इसमें कैसे भासता है? जब उजाले में भी काला भासता है, तब वह शुद्ध सम्वित् कहां रहा? शुद्ध सम्वित् में यह विश्व माया से भासता है! 'तब माया का क्या स्वरूप है?' माया इन्द्रजाल है, जैसे इन्द्रजाली मिट्टी मात्र से हाथी, घोड़े, सिंह, सर्प, आम्र पीपलादि वृक्ष दिखा देता है, इसी प्रकार यह विश्व इन्द्रजाल है! शिवजी माया का स्वरूप पार्वतीजी से कहते हैं—हे देवेशि! महाकाल के बीजों को एक पात्रमें एकत्र करे और धात्री रस में सात दिन तक भिगोकर उसका गुटिका बना लेवे। इस गुटिके को मुख में रख ले तो मनुष्य पारावत—कबूतर होजाय! जैसे यह इन्द्रजाल है, इसी प्रकार माया इन्द्रजाल है। और सुनिये—अर्क का दूध, वट का दूध और गूलर का दूध लेकर लेपन किये हुये पात्र में भर कर जलपूर्ण करदे यानी जल में घोल दे तो दूध होजाता है, यह महा कौतुक का भी कौतुक है।

वट का बीज छोटा सा होता है, वह ही बढ़ कर इतना बड़ा होजाता है कि बड़ी से बड़ी बरात अथवा सेना इसके नीचे ठहर जाती है, यह इन्द्रजाल ही है, अन्डे में से पक्षी निकल कर ऐसे पर पुर्जे फैलाता है कि आकाश में उड़ा २ फिरता है, उसको देखकर चतुर कहलाने वाले मनुष्य भी मूर्खों के समान उड़ने की इच्छा करने लगते हैं, यह इन्द्रजाल नहीं तो और क्या है? रज और वीर्य मिलकर माता के उदर में कलिल के समान होजाता है, धीरे २ ढांचा बन जाता है, हाथ, पैर, नाक, कान आदि निकल आते हैं, नव मास पीछे गर्भ में से बचा निकल आता है, थोड़े दिनों में खेलने कूदने लगता है, फिर अनेक प्रकार की विद्यायें पढ़ता है, घर बांधकर बैठता है अग्नि होत्र करता है, ज्योतिष्टोम, अग्निष्टोम आदि यज्ञ करता है, अतिथि पूजन करता है, दर्श पूर्णमा आदि का अनुष्ठान करता है अथवा पंचाग्नि विद्या, पर्यंक विद्या, आदित्य मधु विद्या, वैश्वानर विद्या आदि अनेक उपासनायें करके उच्च लोकोंके भोग करनेके योग्य होजाता है। अथवा नवधा भक्ति, प्रेमा भक्ति करके गौ लोक, साकेत लोक आदि में भोग करने को जाता है अथवा यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि रूप अष्टांग योग करके अष्ट सिद्धि नव निद्धि प्राप्त करता है। अथवा निष्काम कर्म, विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति, मुमुक्षुता, श्रवण, मनन, निदिध्यासन और तत्त्व पदार्थ का शोधन रूप ज्ञान के साधन करके संसार से मुक्त होकर परमानन्द स्वरूप होजाता है, यह उत्तम पुरुष का व्यौपार कहा। मध्यम पुरुष का वृत्तांत यह है कि वह रेलगाड़ी, तार, हवाई जहाज आदि भोग की वस्तुयें निर्माण करता है, अथवा कहीं का राजा, प्रधान आदि बनना चाहता है अथवा अनेक प्रकार का व्यौपार करके धन की वृद्धि में लगा रहता है, इससे भी जो कोई अधम होता है वह दिन रात लड़ाई, झगड़ों में अपनी आयुष खो देता है, तुच्छ २ वस्तुओं के लिये अपने भाइयों से कुत्ते बिल्ली के

समान लड़ते रहते हैं, बालिश्त भर जमीन के लिये हजारों रुपयों पर पानी फेर देता है, दूसरों की दो आंखें फोड़ने के लिये अपनी एक आंख फुड़वाना भी चतुराई समझता है। एक दूसरे में झगड़ा कराने के सिवाय उनसे और कुछ सूझता ही नहीं, इधर की उधर और उधर की इधर लड़ाता ही रहता है, यह नहीं जानता कि यमराज मेरे सिर पर खड़े हुये हैं, न मालूम कब आकर गला घोंट देंगे, दो दिन की जिन्दगी के लिये अनेक जन्मों के लिये अपने हाथ आप ही कांटे बो लेता है, उसका लड़ाई दंगा समाप्त नहीं होता कि काल भगवान् उसका काम तमाम कर देते हैं, यह सब इन्द्रजाल ही है।

उपरोक्त शुद्ध परा सम्वित् एक ही है और ध्यानस्थ के समान सदा स्थिर है। सदा स्फुरण करते हुये के समान उसका जीव रूप बहुत ही चंचल है। जैसे गंधर्व नगरादि इन्द्रजालमय रूप आकाश में नृत्य करते रहते हैं, इसी प्रकार मायामय जीव चिदाकाश में उड़ता रहता है। जैसे जीव मिथ्यामय है इसी प्रकार उड़ना भी मायामय ही है, इसमें किंचित् संशय नहीं है, एक परब्रह्म ही सदा विराजमान है। जैसे एक ही चन्द्र जल में अनेक चन्द्र रूप से भासता है, इसी प्रकार एक ही चित् जीवों में बहुत प्रकार से भासता है, विचार कर देखा जाय तो नानापना अथवा विचित्रता है नहीं, जीव ही परमार्थ से सर्वदा चिन्मय और सत्य है, देह की भावना करने से जीव का जीवत्व दृढ़ हो गया है और परमार्थ से अनन्त, सर्वव्यापी होने पर भी वह अपने को साढे तीन हाथ का मानता है।

जैसे अबुद्ध बालक यक्ष की कल्पना करके महाभय को प्राप्त होता है, इसी प्रकार मनुष्य देह की कल्पना करके मोह से महाभय को प्राप्त होता है। यक्षों का स्वरूप ब्रह्म वैवर्त पुराण में इस प्रकार दिखलाया है—यक्षों के समूह कुबेर के उत्तम किंकर हैं, शैल से उत्पन्न हुये पत्थरों के समान उनके हाथ हैं, धूम के आकार वाली उनकी मूर्ति होती है, विस्तृत आकार वाले उनके मुख होते हैं, आंखें पिंगल यानी भूरी होती हैं, बड़े २ पेट होते हैं, कोई २ स्फटिक रंग के होते हैं और कोई २ लाल रंग के लम्बे २ कंधे वाले होते हैं।

देह की भावना करके जीव दुखी होता है, सुखी होता है, अपने को नहीं जानना अथवा यों कहना चाहिये कि अपने को मानता ही नहीं है, देह को ही अपना स्वरूप मानता है और अविद्या का पूजन करता है यानी अविद्या को ही श्रेष्ठ मान कर इस से मुक्त होना नहीं चाहता। जब तक देह की भावना है, तब तक जीव भटकता रहता है और जब देह के ज्ञान को छोड़ देता है, तभी मुक्त हो जाता है। श्रुति भगवती आदेश करती है—देह, इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा को विद्वान् भोक्ता यानी जीव कहते हैं। जब वह विज्ञान वाला, जितेन्द्रिय और शुचि होता है, वह इस विष्णु पद को पाता है, जहां से लौटना नहीं होता। गीता में भगवान् का वचन है—जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अंतर-भेद को ज्ञान नेत्रों से देखता है, वह सर्वथा वर्तता हुआ फिर जन्म धारण नहीं करता। देह का अभिमान करने से जीव है, देह का अभिमान छोड़ देने से वह ही सदाशिव है। जो भाग्यवान् अधिकारी देहाभिमान से मुक्त हो जाता है, वह सदाशिव के सिवाय दूसरे को स्वप्न में भी नहीं देखता, किंतु एक सदा शिव को ही सर्वदा देखता है।

मरने से मुक्ति नहीं होती, मरने के पीछे दूसरा देह प्राप्त हो जाता है, स्वरूप के ज्ञान से मुक्ति होती

है, यह मुक्ति सनातनी है, फिर कभी देह धारण नहीं करनी पड़ती। श्रुति कहती है कि ज्ञान से ही मुक्ति होती है, मुक्ति के लिये ज्ञान के सिवाय अन्य उपाय नहीं है, ज्ञान एक स्वतंत्र मुक्ति का उपाय है, इस लिये श्रेयकांक्षी मुमुक्षु को चाहिये कि देह ज्ञान का सर्वदा पराभव करे यानी तिरस्कार करे और 'ममता' और 'अहंता' का अशेष रूप से त्याग करे, 'मैं देह हूँ' इस संस्कार को सर्वथा नष्ट कर देवे! राग द्वेषादि दोषों के निवृत्त हुये बिना 'ममता' 'अहंता' नहीं जाती, इसलिये राग द्वेषादि दोषों को प्रयत्न पूर्वक निवृत्त करे और चित्त की समस्त जडता का सर्वदा ही लोप करे; क्योंकि राग द्वेषादि दोषों के निवृत्त होने से और चित्त की जड़ता का लय होने से 'ममता' 'अहंता' भी छूट जाती है और जीव अपने को देह से भिन्न सर्वत्र परिपूर्ण सदाशिव देखने लगता है।

चित्त के जड़ और चैतन्य दो भाग हैं, चित्त के जड़ भाग से यह भ्रान्तिमय जगत उत्पन्न हुआ है, इसलिये अधिकारी को जड़त्व निवृत्त करने के लिये शुद्ध सत्वमय होना चाहिये। जड़ता और चैतन्यता युक्त सर्वदा मन भासता है, चैतन्यता ब्रह्म का रूप है, और जड़ता दृश्य रूप है, जब मन दृश्य को देखता है, तो दृश्य के देखते समय मन दृश्य रूप होजाता है, और जब मन ब्रह्म को देखता है, तो ब्रह्म को देखने के काल में मन ब्रह्म रूप हो जाता है; इसलिये जिसको दुःख रूप संसार से मुक्त होने की और सुख रूप ब्रह्म की प्राप्ति की इच्छा हो, उसको आलस्य छोड़ कर सावधान होकर नित्य निरंजन ब्रह्म का ध्यान करना चाहिये। दृश्य के दर्शन को छोड़कर और दृश्य की स्मृति को मन से दूर करके अधिकारी को ब्रह्म का ही ध्यान कर्तव्य है। इसलिये मुमुक्षु इस प्रकार ध्यान करे-"मैं स्थूल शरीर नहीं हूँ, श्रोत्रादि पांच ज्ञानेन्द्रियां नहीं हूँ, वागादि पांच कर्मेन्द्रियां नहीं हूं, प्राणादि पांच प्राण नहीं हूं, बुद्धि से मैं शून्य हूं, मन भी मैं नहीं हूं; किंतु देहादिकों के सब धर्मों से रहित और देहादिकों से रहित सच्चिदानन्द ब्रह्म मैं हूँ। देह मुझको नहीं जानता किंतु मैं देह को जानता हूँ, और प्रकाश करता हूं, इसलिये मैं देह नहीं हूँ किन्तु देहका प्रकाशक हूँ। इन्द्रियां मुझको नहीं जानतीं किन्तु मैं इन्द्रियों को जानता हूँ और उनको प्रकाश करता हूँ, इसलिये मैं इन्द्रियां नहीं हूँ किंतु इन्द्रियों का प्रकाशक उनसे भिन्न हूँ। प्राण मुझको नहीं जानता, मैं प्राणों को जानता हूँ और उनको प्रकाश करता हूं इसलिये मैं प्राण नहीं हूँ किंतु प्राणोंसे भिन्न उनका प्रकाशक हूं। मन मुझको नहीं जानता, मैं मन को जानता हूँ, और मनको प्रकाश करता हूं, इसलिये मैं मन नहीं हूँ किन्तु मन से भिन्न मनका प्रकाशक हूँ! बुद्धि मुझको नहीं जानती मैं बुद्धिको जानता हूं, इसलिये मैं बुद्धि नहीं हूँ किंतु बुद्धि से भिन्न बुद्धि का प्रकाशक हूँ! ये सब नष्ट होने वाले और क्षणिक हैं, मैं अनश्वर हूँ"।

मन सुख की प्राप्ति की इच्छा से श्रोत्रादिक पांच ज्ञानेन्द्रियों को और वागादिक पांच कर्मेन्द्रियों को उनके व्यापार में लगाता है, इसलिये साधक प्रथम इन्द्रियों को मनमें लय करे। जैसे ऊधमी घोड़े को अश्वशाला में बंद करने से उसकी बाहर की उछल कूद बंद होजाती है, इसी प्रकार इन्द्रिय रूप घोड़े को मन रूपी अश्वशाला में बंद कर देने से उनकी दौड़ धूप बंद होजाती है पीछे मन बाहर का व्यापार नहीं करता, शरीर में घूमता रहता है, जैसे महावत मदोन्मत्त हाथी को अंकुश के वश रखता है; इसी प्रकर अधिकारी पुरुष बुद्धि रूप अंकुश से मन को वश में करे यानी मन को

बुद्धि में लय करे, फिर इस बुद्धि को समष्टि रूप बुद्धि में लय करे यानी सर्व जगत् को अपना ही स्वरूप देखे। सामान्य बुद्धि होने से मनुष्य के बहुत से व्यापार शांत हो जाते हैं, फिर सामान्य बुद्धि को आनन्द में लय करे। इस प्रकार इन्द्रियों को मन में, मन को बुद्धि में, बुद्धि को समष्टि बुद्धि में और समष्टि बुद्धि को आनन्द में लय करने को वेदवेत्ता चार अवस्था वाला योग कहते हैं। इस योग से आत्मा का साक्षात्कार होता है और अधिकारी अपने सिवाय सर्व प्रपंच को मिथ्या देखता है और इस प्रकार मनन करने लगता है।

जैसे कंकण कटकादि सुवर्ण से भिन्न नहीं हैं किंतु अभिन्न हैं; इसी प्रकार पृथ्वी आदि पंच भूत आनन्द स्वरूप मुझ आत्मा से भिन्न नहीं हैं किंतु अभिन्न हैं। जाग्रत आदि तीनों अवस्था भी मुझ आनन्द स्वरूप आत्मा से भिन्न नहीं हैं, किंतु अभिन्न हैं। अन्नमयादि पंच कोश आनन्द स्वरूप मुझ आत्मा से भिन्न नहीं हैं किंतु अभिन्न हैं। स्थूलादि तीनों देह आनन्द स्वरूप मुझ आत्मा से भिन्न नहीं हैं किंतु अभिन्न हैं। भू आदि तीनों लोक मुझ आत्मा से भिन्न नहीं हैं किंतु अभिन्न हैं। आनन्द स्वरूप सदा शिव मुझ आत्मा के सिवाय अन्य कहीं कुछ भी कभी भी नहीं है, एक ही आनन्द स्वरूप सदा शिव है वह ही मैं हूं और मैं ही वह है।

मैं चक्षु से नहीं दीखता मुझसे चक्षु दीखती है, मैं मन से नहीं सोचा जाता, मुझसे मन सोचने में आता है। मैं मन का भी मन हूँ, मन से रहित हूं, मन के धर्मों से रहित हूँ, विज्ञानात्मा महाशिव हूं। जाग्रतादि अवस्थाओं का मैं साक्षी रूप हूँ, सनातन हूँ, निर्गुण हूं, सदा शान्त हूँ, जाग्रतादि अवस्थाओं से रहित हूं, जगत् मुझको नहीं जानता, मैं जगत् को जानता हूं, मेरे प्रकाश से जगत भासता है, मैं जगत् का भासक हूँ और जगत् से पर हूं, संपूर्ण जगत भ्रान्ति से उत्पन्न हुआ है, मुझ में जगत् का नाम तक नहीं है, मैं नित्य हूँ, शुद्ध हूँ, निराभास हूँ, सदाशिव हूँ, निरँजन हूं।

मैं असंग हूँ, निराकार हूँ, निर्विकल्प हूँ; माया से रहित हूं! मुझमें बंध नहीं है, शोक नहीं है और कभी भी मोह नहीं है! विश्व के स्थित होने में अथवा लीन होने में न तो मेरा कुछ लाभ है, न मेरी कुछ हानि है, देह के स्थित रहने और नष्ट होजाने में भी मेरा लाभ अलाभ कुछ भी नहीं है! पक्षी उड़ें अथवा न उड़ें आकाश की हानि नहीं है, विश्व रहे अथवा न रहे, मुझ शिवकी कुछ भी हानि नहीं है। देह चेष्टा करे अथवा न करे, मुझ ब्रह्म की कोई हानि नहीं है। मैं आत्मा हूँ, चिदाकाश हूं, निर्विकार हूँ, सदा सम हूं, मन सब कल्पना करता है इससे सुख दुःखादिक होते हैं, मनकी कल्पना से ही संसार में भ्रमण होता है। मन मेरा परम शत्रु है, मैं अवश्य ही मनका दमन करूंगा और मन को जीतकर सम होकर सर्वदा आत्मा में रमण करूंगा! मन से ही मैं मन शत्रु का नाश करूंगा, असंग अस्त्र के बल से और पर वैराग्य के वेग से मैं मनको धूल में मिला दूंगा! असंकल्पन के शस्त्र से और ब्रह्म ध्यान के बल से मनको मारकर ब्राह्मी श्रेष्ठ स्थिति को प्राप्त करूंगा। ब्राह्मी स्थिति बिना कोई भी शान्ति नहीं पाता, इसलिये समाधि के योग से मैं स्वरूपस्थ होऊंगा! स्वरूपावस्थि ही मोक्ष है और उसका अभाव बंधन है, इसलिये सबका बाध करके मैं स्वरूपस्थ होऊंगा! रूपकी भावना तरंग है, जल स्वरूप की भावना है,

रूप की चिन्ता छोड़कर मैं स्वरूपस्थ होऊँगा ! मैं मोह और भ्रान्ति से निर्मुक्त हूँ, शान्त संकल्प रहित हूं, सम हूँ, सच्चिदानन्द में लीन होकर मैं स्वरूपस्थ होऊँगा ! न मैं चित्त हूँ, न मेरा चित्त है, न मैं देह हूँ, न मेरा देह है, न मैं विश्व हूं, न मुझमें विश्व है, पूर्ण हूं, निरञ्जन हूँ, शान्त हूँ, सदा शिव हूं ! इस प्रकार चिंतवन करने से जीव सदा शिव ही होजाता है। इसीलिये कहा है—

कुण्डली ।

भोला ! शिवका ध्यानकर, न कर अन्य का ध्यान।
शिवका करता ध्यान जो, सो पाता कल्याण ॥
सो पाता कल्याण, विष्णु पद अक्षय पाता।
सबका होता पूज्य, विश्व में लौट न आता ॥
शिव है भूमा ठोस, विश्व मटका है पोला।
पोला मटका तोड़, ठोस भूमा भज भोला ! ॥

—सकल चराचरानुचर भोला।

संसार में दुःख नहीं, हमारे अन्दर है।

नेत्र खुलते ही हम अपने वपु को एक बड़ी भारी सृष्टि के अन्दर चारों ओर से घिरा हुआ देखते हैं, स्वप्नावस्था में भी उसी प्रकार स्वप्न के शरीर को स्वप्न सृष्टि के अन्दर घिरा हुआ पाते हैं और सुषुप्तावस्था में अज्ञात रूप से अपने कारण शरीर को भी कारण सृष्टि के अन्दर घिरा हुआ अनुभव करते हैं। यद्यपि साधन के अभाव से कथन नहीं कर सकते, तो भी अनुभव तो करते ही हैं। त्रिधावस्था से निश्चय होता है कि हम एक सृष्टि के अन्दर हैं। परन्तु शास्त्र में "दृष्टिरेव सृष्टि" ऐसा पढ़ कर कुछ आश्चर्य होता है कि हम सृष्टि के अन्दर हैं या सृष्टि हमारे अन्दर है। नेत्र मूंदते समय ध्यानपूर्वक देखना चाहिये कि बाह्य सृष्टि नेत्र रश्मियों द्वारा धीरे धीरे नेत्रों में प्रवेश करती भासती है। मानों नेत्र द्वार से अन्तःकरण में आ जाती है और स्वप्न सृष्टि के नाम से बोली जाती है और स्वप्न के नेत्र मुंदने पर अन्तःकरण से उठी हुई हृदय स्थान में कारण सृष्टि के नाम से कही जाती है। यही कारण सृष्टि पुनः उपरोक्त क्रम से स्वप्न एवं सूक्ष्म सृष्टि और जाग्रत में स्थूल सृष्टि हो जाती है। हमारे ही अन्दर उत्पत्ति प्रलय होने से निश्चय होता है कि इस सृष्टि के उपादान कारण हम ही हैं और सृष्टि हमारे अन्दर है। जो सृष्टि हमारे अन्दर है उस सृष्टि के अन्दर हमारा यह वपु है, अतएव अपने वपु सहित सारी सृष्टि ही हमारे अन्दर है।

जो कुछ भी हम बाहर देखना, सुनना, चखना, सूँघना या स्पर्श करना चाहते हैं उसका एक पूरा आकार अपने अन्तःकरण में रच लेते हैं। तदनन्तर रचित सृष्टि को ही बाह्य करण द्वारा अनुभव कर लेते हैं। इससे पूर्व बहिर्गत कोई ऐसा पदार्थ नहीं जो हमारे लिये राग द्वेष अथवा बन्ध मोक्ष का कारण हो। हमारा ही संकल्प हमारे लिये बन्ध मोक्ष का कारण हो जाया करता है।

"या दृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी"॥ सृष्टि को अपनी इच्छानुसार भला अथवा बुरा हम स्वयं ही बना सकते हैं। प्रायः एक बड़ी भारी भूल हो जाया करती है कि स्वरचित् जीव सृष्टि को ही ईश्वर सृष्टि निश्चय करके 'जगत् दुःख रूप है' ऐसा कथन होता है, परन्तु यह सदा स्मरण रखना

चाहिये कि 'सृष्टि एक नहिं वल्कि दो हैं' एक ईश्वर सृष्टि और दूसरी जीव सृष्टि। ईश्वर की सष्टि ईश्वर की नाईं एक, असंग, न्यायी, पूर्ण और महान् है। ऐसे लक्षणों वाली किसी के लिये राग-द्वेष और बन्ध-मोक्ष का कारण नहीं हो सकती। परन्तु उसकी प्रतिपक्षी जीवों की सृष्टियां अनेक, आसक्ति वाली, अन्यायी परिच्छिन्न और तुच्छ होती है, और जीव रचित होने से जीवों को ही राग-द्वेष और बन्ध-मोक्ष का कारण हो जाती हैं। ऐसी सृष्टि के लिये लिखा है कि—"मुञ्च मुञ्च हि संसारं त्यागं मुञ्च हि सर्वथा। त्यागात्याग विषं शुद्धममृतं सहजं ध्रुवम्"॥ किसी पुरुष को गाड़ी में बैठे रूखी रोटी खाते सी सी करते देखा। आश्चर्य होकर पूछा कि रूखी रोटी खाते हुए सी-सी कैसी? उत्तर मिला कि रोटी रूखी न खाऊं इसलिये ऐसी कल्पना कर ली गई है कि जैसे मिरचों के साथ रोटी खा रहा हूँ और वह कल्पित मिर्चें कड़वी हैं इस कारण सी-सी कर रहा हूँ। ऐसी मूर्खता पर हँसी आई और कहा कि यदि कल्पना ही करनी थी तो हलुआ की कल्पना कर लेते, कुछ रस भी आता वृथा सी-सी कर रहे हो; यह एक दृष्टान्त है। सिद्धांत यह है कि निश्चय ही अपनी कल्पना की हुई सष्टि है तो इसको दुःख रूप क्यों कल्पा जाय? क्यों न सुख रूप कल्पना करके परमानन्द प्राप्त किया जाय।

जब कि प्राणी मात्र को सुख की ही इच्छा है और वह सुख भी भावनानुसार प्राप्त हो सकता है तो क्यों न सुखमयी भावना की जाय? गुण ग्राहक न बनके अन्य पुरुषों पर वृथा दोष आरोपण करके अपने चित्त को जलाना और ईर्षा की अग्नि में दह्यमान होना और फिर इस हृदय वेदना को 'जगत् दुःख रूप है' ऐसी ऐसी भावना करके निवारण करने का प्रयत्न करना जान बूझ कर सुख के दुग्ध में से दुःख का माखन निकालना है और ऐसे माखन को चबा के वृथा ही दन्त तोड़ना है।

हम यह नित्य पढ़ते हैं कि जगत् का उपादान कारण ईश्वर है। और कार्य कारण का रूप ही होता है अतएव जैसे ईश्वर तैसे ईश्वर सृष्टि; इसी लिये इसका नाम 'संसार' है संसार शब्द का अर्थ भी यही है कि सम्मिलित है जो सारसे सो ही संसार है। अथवा 'संसृति इति संसारः' अर्थात् जो फैलत जाय वह संसार है। इसके फैलाने में भी दुःख अथवा सुख की भावना करना हमारे ही आधीन है। इस-लिये संसार में सुखी रहने का उपाय एक मात्र यही है कि अपनी भावना को पवित्र करें। संसार तो जैसा है तैसा ही रहेगा। हमारे लिये तो सुख का साधन केवल हमारी सुखमयी भावना ही है। अन्धेरे में स्थित रज्जु किसी को दुःख का कारण नहीं होती। रज्जु को सर्प मानने वाले की भावना ही सर्प बनी बैठी है और रज्जु ही सर्प दिख कर कम्पायमान कर रही है। रज्जु तो जूं की तूं पड़ी है। ऐसा ही संसार है परन्तु हमारी दुःखमयी भावना से ही दुःख है वास्तव में दुःख नहीं है।

जब मनुष्य भावना के रहस्य को भली प्रकार समझ कर, दुखमय दुष्ट भावना को छोड़कर सुखमय जब भावना करने लगता है; तब संपूर्ण दोषों से शुद्ध होकर आनन्द स्वरूप परमानन्द को ही प्राप्त कर लेता है।

—सच्चिदानन्द ब्रह्मचारी।

जिसकी आवश्यकता थी वह मिला।

एक राजा एक संत के सत्संग में जाया करता था। बहुत समय व्यतीत होने के पश्चात् एक दिन राजा को यह विचार हुआ कि 'मैं कौन हूँ ? मेरा स्वरूप क्या है ?' यह विचार कर एक दिन एकान्त में संतजी के पास पहुंचा और साष्टांग दंडवत कर बैठ गया, समय पाकर संतजी से प्रार्थनापूर्वक कहने लगा कि महाराज, आपके उपदेश में आते मुझको बहुत समय हुआ है अब मुझको कुछ विचार उत्पन्न हुआ है यदि आज्ञा हो तो प्रश्न करूं। आपके उपदेश का स्मरण हो रहा है अनुभव भी हो रहा है। सचमुच यह लोक व्यवहार बड़ा अद्भुत है।

संतः—तू बहुत काल से सत्संग कर ही रहा है समझदार भी है, निःशंक होकर प्रश्न कर, मैं यथा योग्य उत्तर देकर तुझे संतुष्ट करूंगा।

राजाः—मैं कौन हूँ ? मेरा स्वरूप क्या है ?

संतः—यह बड़ा गूढ़ विषय है। मैं समझा कर बतलाता हूँ, तू चित्त को बिल्कुल एकाग्र करके सुन। पहिले अपनी बुद्धि को अत्यन्त शुद्ध कर फिर उसके द्वारा अपने आत्मा के स्वस्वरूप का स्पष्ट विचार कर। वह आत्म तत्त्व दिखने के और बतलाने के योग्य नहीं है, फिर मैं उसका निरूपण कैसे करूं ? जब तुझको इस आत्म स्वरूप का ज्ञान हो जावेगा तब तू स्वयं ही जान जायगा कि यह अवाच्य पद है। हे राजन् यह अपना स्वरूप होने से दूसरा उसमें क्या कर सकता है ? शुद्ध बुद्धि के सहारे आप ही अपने स्वरूप को शोध कर बोध करो। वह आत्म भाव के द्वारा देवादिकों से लेकर क्षुद्र जंतुओं तक सब में भासित हो रहा है, केवल आकार से दिखाई नहीं पड़ता। वह किसी भी प्रमाण के द्वारा दिखलाया नहीं जा सकता। वह सबको सब समय सर्वत्र अनुभव में आ रहा है। उसका अंशतः निरूपण भी कोई कैसे, कब और कहां कह सकता है। कोई कहे मुझे मेरी आंखों को दिखा दो तो आंखें दिखलाने के काम में किसी गुरु का कोई उपयोग नहीं है, कैसा भी कुशल उपदेशक हो परन्तु वह आंखें नहीं दिखला सकता। उपदेशक की आवश्यकता केवल उपाय-मार्ग दिखलाने में ही होती है; इसलिये मैं तुझको आत्म तत्त्व पहिचानने का केवल मार्ग बतलाता हूँ। वह मार्ग यह है कि तुझको जो जो "अपना" मालूम होता है उसमें उससे भिन्न अर्थात् जो "अपना" न कहा जा सके वह तेरा स्वरूप है। एकान्त में जाकर स्पष्ट विचार कर। जो जो "मेरा" कहा जा सके उस सबका त्याग करके उस सबसे भिन्न आत्म स्वरूप की पहिचान कर। उदाहरणार्थ, मेरे सम्बन्ध में तू समझता है कि "यह मेरा उपदेशक है" यहां तुझको अपनी आत्मता का ज्ञान नहीं होगा। सम्बन्ध वश मैं तेरा उपदेशक हूँ परन्तु तेरा स्वरूप नहीं हूँ इस तरह से समस्त "मम" भाव को दूर करके अन्त में जिस का त्याग न किया जा सके ऐसे आत्म स्वरूप की खोज करके परम कल्याण को प्राप्त कर।

यह सुन कर राजा तत्काल उठा और इधर उधर कुछ न कर तुरन्त आश्रम के बाहर निकल कर रम्य उद्यान के स्फटिक की सुन्दर गुफा में जा बैठा, उसी गुफा में संतजी ने पहिले बहुत तपस्या की थी। उसने सेवक जनों को नीचे ही छोड़ दिया द्वारपालों से उसने ताकीद कर दी कि

"कि मैं एकान्त में विचार करने बैठता हूँ, यहां कोई भी प्रवेश न करने पावे। मेरे गुरु जो संतजी हैं जिनको तुम लोग जानते ही हो उनके सिवा चाहे वह महाराज हो, प्रधान मण्डली हो अथवा और भी क्यों न हो मेरी आज्ञा के बिना यहां कोई न आने पावे।" एकान्त पाकर और नरम वस्त्र का आसन लगाकर उसने अपने चित्त को अत्यन्त शान्त कर लिया।

फिर वह विचार करने लगा कि:—"यथार्थ में लोग सब इतने मूढ़ क्यों हो गये हैं? इनमें ऐसा कोई भी नहीं है जो थोड़ा भी यह जानता हो कि मैं कौन हूँ। प्रत्येक जन अपने लिये है यह कह कर अनेक प्रकार के उद्योग करते हैं कोई शास्त्रों का पाठ कर रहा है, वेद वेदांग रट रहा है, कोई द्रव्य सम्पादन कर रहा है और कोई राज्य चला रहा है। कोई अपने शत्रु से लड़ रहा है और कोई तो विषय भोग में बिल्कुल निमग्न हो रहा है। ये सब कार्य अपने लिये समझ कर किये जाते हैं, परन्तु कोई यह नहीं जानता हम कौन हैं और कैसे हैं। यह क्या भ्रम है? मैंने भी आज तक यह जाने बिना बहुत सा कार्य किया है कि मैं कौन हूं, वे सब स्वप्न की तरह निष्फल हो गये। अब मैं अपने स्वरूप का ही विचार करता हूं तो स्पष्ट मालूम होता है कि ये राज मन्दिर, धान्यादिक पदार्थ, सारा राज्य, खजाने की सम्पत्ति, सुन्दर स्त्रियां, हाथी घोड़े आदि कोई मेरे नहीं हैं। क्योंकि उन्हें "मैं" नहीं कहा जा सकता वे सब "मेरे" हैं। अतएव मैं यह देह ही हूंगा, इसमें सन्देह नहीं कि क्षत्रिय के कुल में जन्म लेने वाला गौर वर्ण का यह शरीर ही मैं हूं। परन्तु यह आश्चर्य की बात है क्योंकि मेरे समान सब लोग भी तो अपने अपने शरीर को मैं समझते हैं!

इस तरह से शंका ग्रस्त होकर वह राजा शरीर के सम्बन्ध में और विचार करने लगा! अन्त में वह शरीर को मैं मानने के खण्डन करने का तर्क करने लगा।

वह कहने लगा:—"यह शरीर तो "मेरा" कहा जाता है, फिर वह मेरा स्वरूप कैसे हो सकता है? इस रक्त मांस की काया में प्रत्येक क्षण परिवर्तन हो रहा है। काल की गति से इसमें का एक एक कण प्रति क्षण नष्ट होकर फिर से दूसरे कण एकत्रित होते हैं, इससे मैं शरीर नहीं मैं कोई दूसरा हूँ, तो क्या इस शरीर के भीतर रह कर चलाने वाला प्राणवायु मै हूँ? हां, यह ठीक है, परन्तु उस में भी एक दोष है कि वह कुछ जानने में समर्थ नहीं है। नींद में वह चलता रहता है पर यह नहीं जान सकता कि आसपास क्या हो रहा है। कदाचित् मन ही मैं हूँ, परन्तु मन है क्या वस्तु? अनेक वृत्तियों के मिलने से मन बनता है। इन में से कौन सी वृत्ति मैं हूँ? जैसे शरीर के परमाणु हैं वैसे ही मन की वृत्तियां हैं वे जाती हैं और आती हैं। उनमें स्थिर कौन है? तो फिर मैं क्या है? यही दशा बुद्धि की है। उसका स्वरूप निश्चय है परन्तु निश्चय भी एक जाता है और दूसरा आता है और मैं तो सदैव रहता ही है। ऐसा कभी नहीं होता कि मैं न हो। तो फिर यह सदैव रहने वाला और जानने वाला मैं कौन है? और वह कैसा है? सिवा इसके संतजी के कथनानुसार प्राण मन बुद्धि के लिये "मैं" शब्द न लगकर "मेरा" शब्द लगता है। अतएव यह निस्संदेह निश्चय होता है कि शरीर से बुद्धि तक सबसे मैं कोई भिन्न है। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि मैं सर्वदा ज्ञाता रूप है। मुझे यह ठीक २ समझ में नहीं आता कि सर्वदा अनुभव में आने वाला यह मैं कैसे जाना

जासकता है। परन्तु मुझे क्यों नहीं मालूम होना चाहिये ? संसार में घट आदि वस्तु नेत्र इन्द्रिय के द्वारा अनुभव में आते हैं, प्राण स्पर्शेन्द्रिय से जाना जाता है, मन है यह बात उसे होने वाले ज्ञान से जानी जाती है, उसी तरह बुद्धि भी मालूम की जाती है, परन्तु यह नहीं जाना जाता कि मैं कैसे पहिचाना जाता है। संभव है इन झंझटों के कारण ही आत्मा का भाव न होता हो। चाहे जो हो मैं अब अनेक प्रकार के इन संकल्पों को ही छोड़ देता हूं, कदाचित्, ऐसा करने पर मुझे मेरे स्वरूप का स्पष्ट अनुभव हो जावे।

ऐसा निश्चय कर उसने अपने मन के सब संकल्पों का त्याग करदिया। उस समय एकाग्रता में उसे अंधकार का अनुभव हुआ, इसे ही अपना स्वरूप समझ कर वह बड़ा आनंदित होगया। एक बार फिर उसके मनमें स्वरूप के अनुभव करने की इच्छा हुई, उसने हठ योग से अपने चंचल मनको निरुद्ध कर लिया। तुरन्त ही उसे एक दिव्य और अद्भुत तेज दिखलाई पड़ा, उसे क्षण भर देख कर वह विस्मित होगया और आश्चर्य से विचार करने लगा कि स्वस्वरूप ऐसा अनेक प्रकार का कैसे दिखाई पड़ता है। एक बार फिरतो देखूं, उसने फिर भी अपने मनको निरुद्ध किया। फलतः वह बहुत समय तक निद्रा में लीन होगया। इस अवस्था में उसने एक विचित्र स्वप्न देखा, सावधान होने पर उसके मन में इन सब दृश्यों से बड़ी चिंता उत्पन्न होगई। वह कहने लगाः—

"निद्रित होकर मैंने यह कैसा स्वप्न देखा है ? वह अंधकार और वह तेज दिखाई पड़ा था वह सब स्वप्न ही है। स्वप्न का अर्थ है मनका विलास, फिर इस प्रश्न का हल कैसे हो ?" एक बार फिर निग्रह कर देखने को दृढ़ निश्चय से उसने अपने चित्तको एकाग्र किया। वह किंचित् स्थिर होगया, इस समय उसे ऐसा अनुभव हुआ कि वह आनंद के समुद्र में डूब गया हो। चित्त की गति के कारण वह फिर सावधान होगया और विचार करने लगा कि "क्या मुझे स्वप्न हुआ है ? कि कुछ चित्त भ्रम होगया है ? अथवा ये सब बातें यथार्थ में सची ही हैं ? बड़ा आश्चर्य मालूम होता है, मैंने किसी भी विषय का अनुभव नहीं किया, फिर मुझे सुख कैसे मालूम हुआ दूसरी किसी भी रीति से मुझे इस सुख के लेशमात्र का अनुभव नहीं हो सकता। नींद की अवस्था की तरह मैं बाहर भीतर सबको भूल गया था, फिर यह सुख कहां से आया ? जब सुख होने का कोई कारण दिखाई नहीं पड़ता तो फिर सुख कैसे हो सकता है ? मैं आत्मा की खोज करने में लगा हूं, वह तो मुझे नहीं मिला और कुछ दूसरी बातें ही दिखाई पड़ने लगीं। यह क्या है ? क्या आत्मा प्रकाश है ? कि वह अंधकार है ? कि सुख ही आत्मा है ? अथवा वह कोई दूसरा ही है। क्या ये सब स्वरूप तो आत्मा नहीं है ? इनका निर्णय नहीं होता। अब इस विषय को श्री गुरुदेव से ही पूछना चाहिये।"

इतना संकल्प होते ही श्री गुरुजी महाराज के हृदय कमल में विचार हुआ कि राजा को देखना चाहिये राजा की क्या स्थिति है ? श्रीगुरु जी राजा के निकट उपस्थित हुए। उन्होंने देखा कि राजा शांत चित्त होकर एक आसन पर स्थिर बैठा है। उसका श्वास बिलकुल धीमा चल रहा है, चित्त गति रहित होगया है, सब इन्द्रियों का भी दमन हो गया है। यह देख कर वह उसके निकट में जा उसी के आसन पर बैठ गये। नेत्र खुलने पर राजा को श्री गुरुजी दिखलाई पड़े। दृष्टि पड़ते ही झट आसन

से नीचे उतर कर बैठ गया। श्री गुरुजी उसको प्रेमपूर्वक अमृत के समान मधुर वाणी से कहने लगे। हे राजन् तूने मुझको क्यों स्मरण किया?

राजाः—"भगवन् आपके कथनानुसार आत्म-स्वरूप के दर्शन की इच्छा से बिलकुल तन्मय होकर मैं इस एकान्त में आकर बैठ गया था परन्तु मुझे निराली निराली बातें दिखलाई पड़ती हैं। ये क्या हैं? पहिले मेरा विचार हुआ कि आत्मा सदैव प्राप्त ही रहता है और वह नित्य प्रकाशमान है। वह अनुभव में नहीं आता उसका कारण कोई दूसरा अनात्म पदार्थ होगा। ऐसा समझ कर मैंने बाहर भीतर समस्त भास को निरुद्ध कर चित्त को स्थिर कर लिया।

परन्तु यह करने पर भी मुझे कुछ भी समझ न पड़ा। पहिले मैंने अन्धकार देखा, एक बार प्रकाश दिखाई पड़ा। एक बार स्वप्न भी दिखाई पड़ा। एक बार तो मुझे बड़ा भारी सुख ही प्राप्त होगया। हे भगवन् मुझे बतलाइये कि यह सब क्यों हुआ, क्या आत्मा का यही स्वरूप है कि कुछ भिन्न है? स्पष्ट समझाइये कि मैं आत्मा को जान सकूँ।

गुरुः—हे प्रिय दर्शन! सुन, तैने बाह्य निरोध करने का जो प्रयत्न किया वह बहुत अच्छा किया था। वह सब आत्मवेत्ताओं को बड़ा पसंद है। उसके बिना किसी को कहीं भी स्वरूप दर्शन नहीं हुआ परन्तु यह बाह्य निरोध आत्मा की प्राप्ति का कारण नहीं है, क्योंकि आत्मा प्राप्त ही है, नित्य प्राप्त की प्राप्ति कहना असंभव है। यदि वह प्राप्त होने वाला हो तो वह आत्मा कैसा? जो आत्मा ही है वह कहां से प्राप्त होगा? आत्मा सर्वथा अप्राप्य है—उसकी प्राप्ति होना संभव नहीं। जो प्राप्त न हुआ हो उसकी प्राप्ति हो सकती है, प्राप्त वस्तु की प्राप्ति फिर कैसे हो सकती है? इसलिये आत्मा की प्राप्ति असंभव है।

उदाहरणार्थ, अन्धेरे में कोई वस्तु दिखलाई नहीं पड़ती परन्तु दीपक आदि से अन्धेरे का निवारण होने पर वही वस्तु फिरसे नई की तरह प्राप्त होजाती है, अथवा—यदि किसी का चित्त ठिकाने न हो तो उसे कहीं रखे हुए सुवर्ण का विस्मरण होजाता है। फिर मन के अन्य विचारों को दूर कर बिलकुल ध्यान देकर ढूंढने से वह नष्ट सुवर्ण उसे मानो पुनः प्राप्त होजाता है, बात ऐसी है। अन्य विचारों को दूर करना जैसे सुवर्ण प्राप्त होने का उपाय नहीं है, उसी तरह बाह्य पदार्थों का निरोध करना आत्म प्राप्ति का मूल कारण नहीं है। तू आत्मा को पहिचान न सका इसका कारण यह नहीं है कि वह तुझको मिला नहीं। कारण इतना ही था कि वह तेरा परिचित न था। जैसे कोई मनुष्य रात्री को राजा की सभा में गया और उसने सब सभासदों को देखा वहां जलते हुए प्रदीप को भी उसने देखा। वह यह नहीं जानता था कि प्रकाश क्या है? अतएव उसे यह नहीं मालूम होसका कि सभा में उजेला कहां से हो रहा है। यही हाल तेरा हुआ है। निरोध करने पर तैने अन्धकार देखा उस अन्धकार को देखने के पहिले और निरोध करने के बाद मध्यकाल में जो कुछ तेरी अवस्था रही होगी उसीका ध्यान सदैव कर यही तेरा स्वरूप है। वह परमानन्द दायक भाव है। उसी स्थान में सब बहिर्मुख लोग महा मोह से ग्रस्त होजाते हैं। खोज करते करते थक जाते हैं पर स्वयं उस पद को नहीं पहुंचते। संसार में बहुत से शास्त्रवेत्ता बुद्धिमान् और तर्क निपुण मनुष्य हैं परन्तु उस स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण वे सब

रात दिन दुःख भोग रहे हैं। शब्दों का अर्थ करना आजाने पर परमपद प्राप्त नहीं होता। जब तक कोई पंडित उसकी खोज कर रहा हो अथवा उसके संबंध में विचार कर रहा हो तब तक समझना चाहिये कि उसे वह पद प्राप्त नहीं हुआ है। क्योंकि वह ग्राह्य नहीं है, कहीं दूर जाने पर मिलने योग्य भी नहीं है हर एक स्थान में वह सदैव प्राप्त है। यह विचार के द्वारा नहीं जाना जाता, जिस समय विचार बंद रहते हैं उस समय ही वह प्रकाशित होता है। परन्तु दोनों अवस्थाओं में स्वरूप से वह स्थित रहता है। दौड़ने से जैसे मस्तक की छाया हाथ नहीं लगती वैसे ही किसी क्रिया के द्वारा वह नहीं मिलता। पास के दर्पण में उतरे हुए अनेक प्रतिबिम्बों को तो बालक देख लेता है परन्तु दर्पण भर को वह देख नहीं सकता, उसी तरह सब लोग आत्मा रूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित संसार चित्र का अवलोकन करते हुए केवल परिचय न होने के कारण आत्मा को नहीं जानते। आकाश को न पहिचानने वाला मनुष्य आकाश में ही रहने वाले इस जगत्-पदार्थ को तो प्रत्यक्ष देखता है परन्तु यह नहीं जानता कि आकाश क्या है। ऐसी ही दशा आत्म स्वरूप की है। हे सौम्य, तू अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से विचार कर। यह सारा दृश्य संसार ज्ञान और ज्ञेय दो पदार्थों से बना है। इन दोनों में से ज्ञान अर्थात् अनुभव स्वयं सिद्ध है। यदि यह न हो तो कुछ भी नहीं है सब प्रमाणों का वही आधार है, अर्थात् वह स्वयमेव है। उसके लिये अन्य प्रमाण नहीं है, उसे प्रमाण की आवश्यकता भी नहीं है और इसीलिये वह सब से पहिले सिद्ध है। उसकी सिद्धि इस तरह से नहीं होती कि एक अमुक साधन है। और ज्ञान उसकी सिद्धि करता है। यदि तू कहे कि "फिर ज्ञान है, कैसे कहा जा सकता है ?" तो यही उत्तर दिया जा सकता है कि वस्तुतः ज्ञान ही न हो तो उस पर आक्षेप कैसा और प्रत्युत्तर कैसा ? अर्थात् आक्षेप कर सकना संभव नहीं। फलतः ज्ञान का अभाव होना भी संभव नहीं।

किसी बड़े दर्पणकी तरह उसका स्वरूप है, दर्पण के प्रतिबिंब की तरह यह सब जगत् उसी पर भासमान होता है, उसे देशकाल की कोई मर्यादा नहीं है। ये दोनों उसीके ऊपर भासित होते हैं अतएव उस पर इनकी मर्यादा कैसे हो सकती है ? उसे ज्ञान कहने से जो सीमा बद्धता आती है वह, आकाशस्थ वस्तुओं का स्वयं आकाश को व्याप्त करने की तरह आभास है; वस्तुतः नहीं। तू सूक्ष्म बुद्धि से विचार कर, तेरा भी स्वरूप ऐसा ही है। उसी सर्व सामान्य ज्ञान—चैतन्य पर यह जगत् खड़ा है उससे एक रूपता का अनुभव करके उस अनुभव को सहज सिद्ध बना लेने पर मनुष्यों को समझना चाहिये कि सब कुछ मिल गया।

अब मैं तुझको उसके ढूंढने का स्थान बतलाता हूँ जिससे तुझको वह पद मिल सके। एक निद्रा और जाग्रति की मध्य अवस्था में अथवा दूसरे एक वस्तु के आकार को छोड़कर चित्त के दूसरी वस्तु पर जाने के पहिले अथवा तीसरे हृदय की वृत्ति किसी पदार्थ पर जब पहुँचने वाली हो तब! इन समयों में जो स्थिती रहती है उसे सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा ध्यान में ला। यही परमपद है यही आत्म स्वरूप है। इसके प्राप्त होने पर फिर मोह नहीं होता इसका ज्ञान न होने के कारण ही यह जगत् इतना विस्तृत होगया है। हे प्रियदर्शन उस आत्म स्वरूप में गंध, रस, रूप, स्पर्श अथवा शब्द कुछ नहीं है। यहां दुःख भी नहीं है और सुख भी नहीं है। वह

आत्म स्वरूप ग्राह्य भी नहीं है और ग्राहक भी नहीं है। वही इन सबका आधार है। वही इन सब रूपों से प्रगट होता है, अथवा यह भी कहा जा सकता है कि यह सर्वथा उसमें है ही नहीं यही सर्वेश्वर है। यही ब्रह्मा विष्णु और महादेव है। चित्त को स्थिर कर केवल सद्रूप आत्मा के द्वारा ही आत्मा को देख। चित्त को दृश्य से निकाल कर अन्तर्मुख करके "जब मैं देखता हूं" इस अभिनय को छोड़कर, बिलकुल निश्चल होकर, देखने न देखने की दोनों भावनाओं का त्यागकर देख फिर जो रह जावेगा वह तेरा ही स्वरूप है। विलंब न कर तू उसी अवस्था का सेवन कर।

इस प्रकार गुरु के बतलाने पर राजा को आत्म पद का अनुभव थोड़े विचार से ही होगया। उसे निर्विकल्प समाधि प्राप्त होगई और शरीर तथा बाह्य जगत् का पूरा पूरा विस्मरण होगया। जिसकी तलाश में था वह स्वयं ही निकला।

—स्वामी आत्मानंद।

शुद्ध आचरण ही इष्ट है।

सचेत रहो हर समय निरंतर सचेत रहो कि हमारे आचार विचारों से कोई बुरी बात न सीख ले।

आचार ही धर्म की प्रथम सीढ़ी है, आचार ही धर्म की नींव है "धारयति इति धर्मः" जो धारण करे वही धर्म है, परब्रह्म ही सब को धारण किये है, वही सर्व का अधिष्ठान है, वही सर्व का आधार है, वही अंतर्यामी होकर सर्व का उरप्रेरक है, वही बुद्धि में स्थित होकर बुद्धि को निश्चय करने की सामर्थ देता है, वही मन में स्थित होकर मन को मनन करने की सामर्थ्य प्रदान करता है। परन्तु बुद्धि, मन उसको नहीं जानते। वही सर्वेश्वर, सर्वात्मक, परिपूर्ण अखंड, सच्चिदानंद, सम, शांत, सनातन, निराकार, निरालंब निराधार, निराश्रय, निष्कल, अक्रिय, अचल, अनादि, शुद्ध सर्वज्ञ, मुक्त, अव्यय, अविनाशी, नित्य, सत्य, निरीह, व्यापक, चेतन, एक, स्वयंप्रकाश, चिदात्मक, आनंद रूप, परमानंदरूप, पूर्णानंद, आत्मानंद, सुख स्वरूप, सर्वानंद रूप है। वही तूही है, परन्तु उसे अपने स्वरूप के विरुद्ध आचरणों द्वारा तू भूल गया है। इसी से अपने को अल्पज्ञ, तुच्छ, जीव, नाना, कर्त्ता भोक्ता, दुखी, सुखी मानने लगा है। वास्तविक में तूही सुख स्वरूप है तेरे ही सुखकी एक बूंद को लेकर त्रिलोकी सुख को प्राप्त हैं, तेरे ही एक एक रोम में कोटि कोटि ब्रह्मांड है तूही सर्वेश्वर है, तूही विश्वंभर है; परन्तु अपने विरुद्ध आचरण से अपने को पेटम्भर मान बैठा है। यदि तू अपने ठीक ठीक आचरणमें वर्तन लगे तो तूही दुःखातीत, कालातीत, देशातीत, अवस्थातीत, अकर्त्ता, अभोक्ता, कामातीत, क्रोधातीत, विगत शोक, विगत मोह होकर निश्चल स्थिर जैसे का तैसा ही हो सकता है। इसमें किंचित् भी संदेह नहीं है।

मनुष्य की कीमत आचरण से ही है। शुद्ध आचरण करने वाले लाखों रुपये मिनटों और घंटों में पाते हैं और जो अपने मनुष्यत्व की कीमत न कर मनुष्यत्व से विरुद्ध आचरण करने वालों को वही पशु के अनुसार दो आने चार आने ही प्राप्त होते हैं, सो भी जब होते हैं; कि वे पशु के अनुसार २४ घंटा चेष्टा करें अन्यथा वे भी प्राप्त नहीं होते। यही बात श्रीकृष्ण भगवान ने अर्जुन के प्रति कही

है कि "हे अर्जुन यदि तू अपने स्वाभिक आचरण को त्याग करेगा तो तू अकल्याण को प्राप्त होगा, अपना आचरण करता हुआ ही कल्याण को प्राप्त होगा, इस समय अठारह अक्षौहणी सेना में तेरी बहु मान्यता है। यह इसी कारण से है कि तू अपने आचरण के अनुसार ठीक २ वर्तने वाला है यदि अपने आचरण से च्युत हो जायगा तो तेरे शत्रु लोग तेरे आचरण की निंदा करेंगे और संभावित पुरुष को निंदा मरण से भी अधिक दुःख देने वाली है।" इतना सुन अर्जुन बोला "श्री भगवान् आपने कहा सो ठीक है परन्तु भीष्मपितामह, द्रोण, कृपाचार्य आदि तो समझ लेंगे कि अर्जुन ने ठीक किया, दया की और जीव हिंसा से बचगया।" इतना सुन श्री कृष्ण भगवान् ने कहा "वे ऐसा नहीं समझेंगे किन्तु इससे विपरीत समझेंगे क्योंकि उनके हृदयमें जो तुम लोगोंके लिये जगह है वह तुम्हारे ठीक आचरणों के अनुसार चलने से ही है," यदि तू ठीक आचरण नहीं करेगा तो वे क्या कोई भी तुझको अवाच्य शब्द कह सकता है ? इसलिये ही ठीक आचरण करो कि इतर लोग तेरे आचरण के अनुसार ठीक ठीक आचरण करें। याद रखो अपने आचरणों से किसी को भी बुराई सीखने में आगई तो उसका पाप अपने ऊपर हो आवेगा।

मथुरा में एक मनुष्य टोपी बेचने का रोजगार करता था। वह अपने साथ टोपी का डिब्बा लेकर फेरी करता था, एक दिन घूमते २ थक जाने से तीसरे पहर थोड़ा विश्राम लेने के लिये एक मकान के पास वृक्ष के नीचे बैठगया। वह अपने सिर पर टोपी पहिने था तथा टोपी का डिब्बा उसके पास रखा हुआ था, गर्मी का दिन था, थकावट मालूम पड़ रही थी, इस पर ठंडी ठंडी हवा लगने से फेरी वाले की आंख झपने लगी। उसने सोचा कि ज़रा विश्राम लेकर उठता हूँ इतने ही में वृक्ष के नीचे बैठे बैठे हो उसे निद्रा आगई।

फेरी वाले को उ घाता देख कर वहां आस पास के वृक्षों पर बैठे हुए बंदर भला चुप बैठ सकते हैं ? तुरंत ही एक बंदर उतर कर तथा डिब्बा को लेकर पेड़ पर चढ़ गया। यह देख कर सब बंदरों ने उसे घेर लिया और सबने एक एक टोपी उठाली और खाली डिब्बे को नीचे गिरा दिया। इसके पश्चात् सब बंदर सोचने लगे कि इस टोपी का क्या करना चाहिये ? इतने में एक बंदर ने फेरी वाले की ओर जो देखा तो उसके माथे पर टोपी दिखाई दी। यह देख कर उसने भी अपने सिर पर टोपी रख ली और दूसरे बंदरों को दिखाने लगा। मत्सरता रूपी कलंक शमादिसंपन्न पुरुषों को भी लगजाता है तो भला बेचारे बन्दर को हो जाय तो आश्चर्य ही क्या है ? "मत्सर काहि कलंक न लावा, काहि न शोक समीर डुलावा।" भला एक बंदर टोपी लेकर साहब बन जाय तो दूसरे टोपी होते हुए खाली कैसे रह सकते हैं ? उसे देख कर सभी ने टोपी पहन लिया और एक दूसरे की ओर देख कर नाचने लगे।

बन्दरों की आवाज सुन कर फेरी वाला जाग उठा और अपने चारों ओर टोपी का डिब्बा ढूंढ़ने लगा। किन्तु वह कहीं दिखाई नहीं पड़ा। यह देख बेचारा गरीब फेरीवाला घबड़ा गया और बावला होकर इधर उधर देखने लगा। ज्योंही ऊपर को दृष्टि की तो क्या देखता है कि आस पास के वृक्षों पर टोपी पहने हुए बन्दर बैठे हैं और आपसमें किलोल कर रहे हैं। यह देख कर उसके होश हवास गुम हो गये, वह सोचने लगा हाय ! यह तो सब चौपट होगया।

सब टोपी उठा लेगये, अब टोपी कैसे मिलेंगी ? इतने बंदर पकड़े कैसे जा सकेंगे ? और उनके हाथसे सजी हुई टोपी छीनो कैसे जायगी ? यह देख कर वह बड़ा क्रुद्ध हुआ और निराश होकर बड़े जोर से उसने अपनी टोपी जमीन पर पटक दी। यह देख कर सब बन्दरों ने अपनी अपनी टोपी उतार उसीके सामने जोर से जमीन पर पटक दीं। अब क्या था क्षण भर में टोपियों का ढेर लग गया और टोपी वाले ने अपनी सब टोपियां उठालीं।

सारांश यह है कि मनुष्यों में भी इन बंदरों के समान दूसरों की नकल करने का स्वभाव प्राकृतिक रीति से विद्यमान है। इसी से श्रीकृष्ण भगवान् ने गीता में कहा है कि श्रेष्ठ मनुष्य जिस प्रकार आचरण करता है इसी प्रकार दूसरे लोग भी चलते हैं, क्यों कि अच्छे लोग जो कुछ करते हैं वह उचित समझा जाता है। इससे उसी के अनुसार लोग चलते हैं। इससे सब मनुष्यों को अच्छा आचरण रखने की आवश्यकता है।

यदि हम गरीब हों, अज्ञानी हों, रोगी हों अथवा अन्य किसी स्थिति में हों जिसमें रह कर अच्छे दृष्टान्त न दिखा सकते हों तो कोई हानि नहीं, किन्तु हमारे चाल चलन से, हमारे आचार विचार से और रीति भांति से कोई बुरी बात न सीखले, इसका विचार रखना चाहिये। इसलिये परम पद की प्राप्ति के लिये तथा लोक संग्रह के विचार से भी अपने आचार विचार ठोक २ शास्त्रोक विधि के अनुसार रखना चाहिये। आचरण ही परम इष्ट है। यदि मनुष्य ठीक ठीक आचरण करेगा तो इसके बल से अपने शुद्ध आचरण यानी सत् चित् आनंद, अच्युत, अविनाशी आचरण जो अपना निज स्वरूप है उसीको प्राप्त हो जायगा। यदि प्रमाद करेगा तो भविष्य जन्म में शुद्ध आचरण करने वाली बुद्धि छीन कर ईश्वर इसको पशु आदि योनियों में प्राप्त करेगा क्यों कि इसने बुद्धि का सदुपयोग नहीं किया इससे दूसरों की बुद्धि के अधिकारमें इसे दे देगा। इससे शुद्ध आचरण करना सीखो।

—स्वामी आत्मानन्द।

कुंडलिनी।

निदाघ नामक एक मुनि का बालक अपने पिता की आज्ञा से तीर्थयात्रा करने को गया और वहां से लौटकर अपने गुरु ऋभु को प्रणाम करके अपना विचार इस प्रकार कहने लगा—

निदाघ—हे भगवन् ! मैं साढ़े तीन करोड़ तीर्थों की यात्रा करके आया हूँ। तीर्थयात्रा करने से मुझे ऐसा अनुभव हुआ है कि इस संसार में लोग मरने को जन्म लेते हैं। यहां का कोई पदार्थ स्थिर नहीं है और यहां का ऐश्वर्य पाप रूप और समस्त आपदाओं से पूर्ण है। संसारियों को जो धन सुखदायी प्रतीत होता है, उस धन में मुझे सिवाय दुःख के सुख का नाम तक दिखाई नहीं देता क्योंकि धन के कमाने में, रक्षण में, खर्च में और नाश में क्लेश ही क्लेश है। धन के लोभ से नीच ऊँच सब की खुशामद करनी पड़ती है, जिनका मुख देखना भी योग्य नहीं है उनके पैर धोने पड़ते हैं। जिसके पास धन नहीं है, वह अन्धेरे उजाले, अकेला दुकेला बे खटके चला जाता है और जिसके पास धन है, बीस प्रकार के प्रबन्ध करके घर से निकलता है। लोक में धन की जोखम

कहते हैं, भला जोखम साथ में रखकर कौन सुखी होसक्ता है ? कोई नहीं ! पुत्र, स्त्री आदि परिवार भी सुखदायी नहीं हैं, धनीको सब नोच २ कर खाते हैं, निर्धन की कोई बात भी नहीं पूछता, इससे सिद्ध हुआ कि सब स्वार्थके साथी हैं। कहावत भी है। 'जब तक थाली में दाल भात, तब तक मेरा तेरा साथ !' आयु का कुछ भरोसा ही नहीं है। जल के बुदबुदे के समान चंचल है। शरीर रोगों का घर है, भूख प्यास प्रत्यक्ष ही नित्य की व्याधि है और ज्वरादि अनेक रोग आये दिन आते ही रहते हैं। जैसे सड़क के घर पर कोई न कोई प्रत्येक क्षण 'राम राम' करता ही रहता है, इसी प्रकार शरीर में कोई न कोई रोग लगा ही रहता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, ईर्षा, द्वेष, तृष्णा, चिंता, शोक आदि मनके दोष हैं। इन दोषों के कारण मन क्षण भर भी स्थित और शांत नहीं होता। शिष्टपुरुषों का वचन है कि विवेकियों के लिये शास्त्र भार रूप है, रागियों के लिये ज्ञान भार रूप है, प्रशान्त के लिये मन भार रूप है और आत्मा को न जानने वाले अविवेकी के लिये शरीर भार रूप है।

हे गुरो ! मैंने संत महात्माओं से सुना है कि जब तक मनुष्य के शरीर में कुंडलिनी सोती रहती है, तब तक वह मोह निद्रा में पड़ा हुआ जन्म मरण आदि अनेक स्वप्न देखता रहता है और जब कुंडलिनी जाग जाती है, तो मनुष्य मोह रूप निद्रा को त्यागकर अपने स्वरूप में जाग जाता है और जन्म मरण रूप संसार से छूटकर सर्वदा के लिये सुखी होजाता है। हे भगवन् ! यदि ऐसा ही है तो कुंडली का स्वरूप और उसके जगाने का उपाय कृपया मुझ से कहिये। आपकी आज्ञानुसार मैं उपाय करने को तैयार हूँ ! शिष्य की गति श्रीगुरु ही हैं, यह मेरा निश्चय है।

निदाघ के इस प्रकार के वचन सुनकर महायशस्वी योगेश्वर ऋभु प्रसन्न होकर इस प्रकार कहने लगे—

ऋभु—हे निदाघ ! यह कुंडली देवी मूलाधार चक्र में स्थित है, शब्द ब्रह्म स्वरूप है, शिव से अभिन्न शिवकी सनातनी शक्ति है और विश्व भर को पवित्र करने वाली है। इस नित्य चिदानन्द स्वरूपिणी को योगी लोग सुन्दरी माता कहते हैं। यह देवी प्रकृत्यष्टक रूप है और सर्व भूतों को प्रकाश करने वाली है। भगवान् ने गीता में भूमि, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार इन आठ को प्रकृत्यष्टक कहा है। यह कुंडली उत्थान को प्राप्त होकर अपनी दीप्ति से लोक दृष्टि का तिरस्कार करती है; अर्थात् पूर्व में जो जगत् रमणीय प्रतीत होता था, वह कुंडली के जागने पर तुच्छ प्रतीत होने लगता है। हे निदाघ ! इस देवी का अर्चन यानी पूजन सर्व क्षुद्रत्व का वारण करने वाला है, इसमें संशय नहीं है। भाव यह है कि कुंडली का आराधन करने वाला कभी दीन नहीं होता यह शिरके कमल में पहुंच कर अतिशय आल्हाद यानी मुक्ति को देती है और जो महामोह देवताओं के लिये दुर्जय Unconquerable है, उस मोह को भी जला देती है, यह कुंडलिनी ब्रह्मचारी योगियों के योग से जाग जाती है और विषयानन्दसेवी विषयी पुरुषों के मूलाधार में सोती रहती है, यह कुंडली विधाता की कृपाशक्ति मुक्ति देने के लिये शरीर में है, इसलिये राजयोग की दृढ़ उत्कंठा वाले योगी को इस कुंडली देवी के शरण में जाना चाहिये। जब शिष्टाचारी योगी योग का अभ्यास करता है, तो योग की अग्नि से तप्त हुई भुजगाकार यह कुंडली देवी जाग जाती है, और महायोग के प्रभाव से जब सहस्रार में पहुंचती है

तब योगी संसार के सब दोषों से मुक्त हो जाता है और आत्मा, अन्तरात्मा, ज्ञानात्मा, तुर्यात्मा और अव्यय परमात्मा को जान जाता है, आत्मा का अर्थ जीवात्मा है, अंतरात्मा का अर्थ मनोदेवता यानी मन से अवच्छिन्न चैतन्य का नाम अंतरात्मा है, ज्ञानात्मा का अर्थ बुद्धि देवता यानी बुद्धि अवच्छिन्न चैतन्य है, तुर्यात्मा का अर्थ तुर्य दशा में स्थित आत्मा है। जिस योगी को कुंडलिनी जाग जाती है, वह योगी दिव्य दृष्टि हो जाता है, प्रलय और उदय में तत्त्वों को जानता है, सर्व दर्शी, भ्रम रहित और सर्वज्ञ हो जाता है, सर्व शक्तियों से संपन्न हो जाता है, सर्व उपाधियों से रहित हो जाता है और ब्रह्म रूप प्रसन्नात्मा होकर विराजता है, और सर्वदा सुखी रहता है।

हे निदाघ ! मुक्तचित्त पुरुषों को जो शान्ति है और आत्म ज्ञानियों को जो सुख है, उस शान्ति और सुख का हजारवां अंश भी विषय की इच्छा करने वाले विषयी पुरुष नहीं पाते जो संसारासक्त चित्त वाले और माया से मोहित मन वाले हैं, संसार रूप वन में दुःख से ग्रस्त हुये भ्रमते रहते हैं। हे निदाघ ! जीवों के लिये संसार की प्राप्ति का हेतु कर्म ही है। जो पुरुष किन्चित् भी स्नेह से विषयों का सेवन करता है, वह नीचे गिरता है, भोग्य पदार्थ शीघ्र ही प्राणों को हरने वाले हैं, इनसे सारा जगत विह्वल होरहा है। इसलिये मुमुक्षु को उचित है कि विषयों से मुख मोड़ कर आत्मा से आत्मा की रक्षा करे। शीलवान् जितेन्द्रिय पुरुष मनोवृत्ति को रोक कर कुंडली को जगावे। प्राणायाम से, जपसे ध्यानसे, सर्वत्र ब्रह्म दर्शन से; अथवा भक्तियोगादिक से शुद्ध होने से कुंडली जाग जाती है। गुरु के आदेशानुसार योग ग्रहण करना चाहिये, अपनी इच्छानुसार योग कभी न करना चाहिये। सर्वज्ञ, निर्मल ज्ञान वाले, योगवित् गुरु से योग का उपदेश लेकर प्राणायाम करना चाहिये।

हे निदाघ ! सर्वशक्ति स्वरूप, सर्वशक्ति संपन्न सर्वशक्तियों का ईश्वर एक पूर्ण ब्रह्म है, उस ब्रह्म की प्राण शक्ति ने इस चराचर विश्व को धारण कर रक्खा है। उसी की प्राणशक्ति ने इस जीव के कलेवर—शरीर को धारण कर रक्खा है, जैसे प्रत्येक प्राणी में तारतम्य से ज्ञान देखने में आता, है इसी प्रकार प्रत्येक प्राणी में तारतम्य से शक्ति देखने में आती है, जो योगी महान् बलवाली प्राण शक्ति को वश कर लेता है, उसी योगी की शक्ति बाहर और भीतर बढ़ती है, इसमें संशय नहीं है। इच्छा शक्ति, क्रिया शक्ति, ज्ञान शक्ति और चित् शक्ति ये सब वृद्धि को प्राप्त होती हैं, और सर्वत्र आनन्द का ही अनुभव होता है। शुभ शक्तियों के समावेश से योगी सर्व प्रकार से अभय हो जाता है और चिदानन्द निकेत परब्रह्म में प्रवेश करता है। इच्छा शक्ति के गर्भ में सर्व शक्तियां विद्यमान रहती हैं और यह शक्ति परिपूर्ण स्वातंत्र्य रूप है, विचित्र विश्वाकार धारण करने की योग्यता का नाम क्रिया शक्ति है। विचार स्वरूप शक्ति का नाम ज्ञान शक्ति है।

हे निदाघ ! सब प्राणियों के देह में कुंडलिनी देवी स्थित है, इसीका नाम प्राण शक्ति है, शरीर में स्थित इस प्राण शक्ति को उपाय से वश करना चाहिये। जिस योगी के वश में कुंडली होजाती है, तीनों लोक उसके वश में होजाते हैं, उसे कहीं भी भय नहीं होता और उसको संसार बंधन भी नहीं होता। योगसे जीवकी प्राण शक्ति वशमें आजाती है और संपूर्ण शक्तियां वृद्धिको प्राप्त होती हैं, इसलिये योग को जानना चाहिये और प्राण और मन से प्रसन्नता पूर्वक योग करना चाहिये। मनके निरोध

से अथवा प्राण वायु के निरोध से शीघ्र से भी शीघ्र परम योग की सिद्धि होती है। जहां प्राण वायु स्थित होता है, मन भी निश्चय वहां ही स्थित होता है और जहां मन स्थित होता है, वहां ही प्राणवायु स्थित होता है। मनके सम्यक् शांत होने पर प्राणवायु शांत होजाता है और प्राण के सम्यक् शांत होने पर मन शांत होजाता है। कोई २ योगी प्रायः ध्यानादि से मनको शांत करते हैं और कोई २ योगी प्रयत्नपूर्वक कुंभक द्वारा प्राण को शांत करते हैं। दोनों ही योगों से कुंडली—प्राण शक्ति वश की जाती है, इसलिये अधिकार के अनुसार इन दोनों में से किसी एक योग का अभ्यास करे।

हे निदाघ! यह जीव चेतन का रथ है, जीव का रथ मन है, और मनका रथ प्राण है। प्राण स्पन्दमय है यानी चलन स्वभाव वाला है। जब तक प्राण के स्पन्द (चालें) समूल नष्ट नहीं होजाते, तब तक मोह रूप वन में जीवका भ्रमण होता है। प्राण स्पन्द के निरोध रूप कुम्भक से जितेन्द्रिय पुरुषों के कुंडली वश में आजाती है और वे अनामय मोक्ष को प्राप्त होते हैं। देह में चलने वाला वायु प्राण कहलाता है और आयाम कुंभक को कहते हैं, इसलिये प्राणवायु का सम्यक् जय प्राणायाम कहलाता है। सर्व शक्तियों की नियामक कुंडली परादेवी अत्यन्त सूक्ष्म है, साढ़े तीन बलों से युक्त, मूलाधार में स्थित है। शारदा तिलक में कहा है कि सच्चिदानन्द स्वरूप परमेश्वर से शक्ति हुई, शक्ति से नाद हुआ और नाद से विन्दु उत्पन्न हुआ। विन्दु शिव रूप है, शक्ति बीज है और उन दोनों के परस्पर संयोग को वेदवेत्ता नाद कहते हैं। क्रियासार में कहा है कि बिन्दु शिव रूप है, बीज शक्ति रूप है, उन दोनों के योग से नाद होता है और नाद से तीन शक्तियां उत्पन्न होती हैं। कुब्जिका तन्त्र में कहा है कि विन्दु से नाद हुआ, नाद से शक्ति उत्पन्न हुई। चिद्रूपा, महेशानी परमा कला है और नाद से अर्ध विन्दु उत्पन्न हुआ और साढ़े तीन विन्दुओं से भुजंगी कुल कुंडली उत्पन्न हुई। यह कुंडली प्राण और इन्द्रियों को चलाने वाली और वेग देने वाली है। यह ही परा शक्ति जीवों के बंध और मोक्ष का कारण है। मूलाधार में सोती हुई यह शक्ति रूप भुजंगिनी मूढ़ों के बंधन और अकल्याण का कारण है। जगी हुई कुंडली देवी मस्तक कमल को प्राप्त होकर योगियों के मोक्ष और सुखका कारण होती है। प्राणवित् साधक की प्राणायाम रूप अग्नि के योग से कुंडली जाग कर सुषुम्णा द्वारा ऊपर को जाती है। जैसे हिंसक व्याघ्र धीरे २ वश में आता है, इसी प्रकार धीरे २ सेवन किया हुआ प्राण वश में आजाता है, नहीं तो साधक को मार डालता है।

हे निदाघ! सारांश सबका यह है कि सूक्ष्म प्राण शक्ति रूप कुंडली मूलाधार में है, प्राणायाम से, जप से, ध्यान से अथवा सर्वात्म भाव से वश में आई हुई संसार से मुक्त करने वाली है, इसलिये संशय, भय, आलस्य, दिन का सोना, विषम अन्न, दोष और भ्रांति इन सबको विचारपूर्वक त्यागकर कुंडली के जगाने के लिये प्राणायाम, जप, ध्यान अथवा सर्वात्म भाव कर।

—सकल चराचरानुचर भोला।

वाक्य वृत्तिः ।

(गतांक से आगे)

अजडात्म वदा भांति
यत्सान्निध्याज्जडा अपि ।
देहेन्द्रिय मनः प्राणाः
सोऽहमित्यवधारय ॥२०॥

अर्थः—देह इन्द्रिय मन और प्राण जिसके समीपता से जड़ भी अजड़ के समान प्रकाशते हैं सो मैं हूँ ऐसा तू निश्चय कर।

विवेचन ।

शंका:—जैसे गाड़ी जड़ है और दीखती है, तैसे ही उससे भिन्न उसको चलाने वाला भी दीखता है इसी प्रकार देहादि का जड़पना और इनसे भिन्न आत्मा की चेतनता क्यों दीखती नहीं है ?

समाधानः—देहादि में चेतनता दीखती है तब भी वह वास्तविक चेतन नहीं है जड़ ही है । सुषुप्ति, मूर्च्छा और मृत्यु के समय में उसकी जड़ता जानी जाती है, देह के साथ आत्मा का मिथ्या तादात्म्य से देह चेतन के समान दीखता है। सुषुप्ति अवस्था में शरीर में श्वासोश्वास चलते हुए भी बोध नहीं है, मूर्च्छा में शरीर की कान्ति क्षीण होती है बोध रहित प्राण में विक्रिया होती है और मृत्यु में श्वासोश्वास रहित, बोध रहित और उष्णता रहित जड़ता का प्रत्यक्ष बोध होता है इसीसे वह जड़ ही है। शरीर के साथ रहा हुआ चेतन में विकार की प्रतीति होती है, अवास्तविक चेतन में ही ऐसा विकार हो सकता है इसीसे चेतन वाले दीखते हैं तब भी जड़ ही हैं।

जैसा शरीर जड़ है वैसे ही मन इन्द्रिय और प्राण को भी समझना चाहिये क्योंकि वे सब विकारी हैं विकारी अनात्म जड़ ही होते हैं। अज्ञान से आत्मा के आभास करके चेतन दीखते हैं। आत्मा सिवाय सब अनात्मा और जड़ ही हैं।

आत्मा अमूर्त स्वरूप होने से भौतिक दृष्टि का विषय नहीं होता। भौतिक पदार्थ जिसके प्रकाश से भासित होते हैं वह चेतन आत्मा है इस प्रकार अनुमान से आत्मा को समझ सकते हैं। जड़का चेतन मालूम होना और जो नित्य अबाधित प्रकट स्वरूप है उसका भान नहीं होना ऐसी दोनों प्रकार की विपरीतता स्वरूप के अबोध से है।

गाड़ी और गाड़ी को चलाने वाले बैल मनुष्यादि दोनों एक व्यवहारिक सत्ता के होने से दोनों मूर्त होने से देखने में आते हैं आत्मा और शरीर की सत्ता का भेद है इसीसे शरीर मूर्त रूप होने से व्यवहारिक दृष्टि का विषय होता है और आत्मा अमूर्त पारमार्थिक सत्ता का तत्त्व होने से व्यवहारिक दृष्टि का विषय नहीं होता तब भी उसके अस्तित्व को कोई हटा नहीं सकता। वह जड़ को अपने आभास से चेतन बनाता है, वह गुण रहित भी मायिक गुणों का प्रकाश करने वाला है, जो नहीं है उसकी है ऐसी प्रतीति उसीसे होती है ऐसे आत्मा की पृथक्ता मालूम न हो तो भी सब पृथक् पदार्थों का प्रकाशक है वह अखंडित होने से सब किसी का आत्मा है।

इन्द्रियां चेतन दीखती हुई भी जड़ ही हैं क्योंकि जब मनका सम्बन्ध इन्द्रियों से नहीं होता तब वे

कार्य करने में असमर्थ होती हैं, दूसरे की सत्ता विना जो कार्य न कर सके वह जड़ ही होता है इस नियम से इन्द्रियां जड़ हैं इसीसे वे विकार वाली भी माल्लुम होती हैं। मन और प्राण भी अपने ही सामर्थ्य से कार्य करने वाले न होने से जड़ है। जैसे सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होकर चन्द्र प्रकाश देने वाला होता है ऐसा मन है, जैसे सूर्यके प्रकाश विना चन्द्र प्रकाशित नहीं होता ऐसे चिदाभास के विना मन भी प्रकाशित नहीं होता। प्राण की जड़ता तो सब किसी को माल्लुम ही है वह वायु का विकार मात्र है और चेतन की सत्ता पाकर भी अपने को और दूसरों को जानने के लिये समर्थ नहीं होता, गमनागमन रूप क्रिया करने के योग्य होता है यह सामर्थ्य भी अधिष्ठान की सत्ता से आभास युक्त में होता है इस प्रकार जड़ है। इन सब अनात्म के समुदाय जिसकी संनिधि से चेतन के समान दीखता हुआ अपने अपने व्यवहार करने में समर्थ होते हैं वह आत्मा मैं हूँ इस प्रकार का तू निश्चय कर ऐसा निश्चय का नाम ज्ञान है और ऐसा निश्चय न होने में अनेक प्रकार के दुःख और जन्म मरण आदि है वह अज्ञान है। स्वस्वरूप का अनिश्चय अज्ञान है। जो स्वस्वरूप का मैं हूँ इस प्रकार अपरोक्ष निश्चय करता है वह स्वस्वरूप ही होता है।

जाग्रत अवस्था के समान स्वप्नावस्था में देह इन्द्रियां द्रष्टा नहीं होते क्योंकि वहां स्थूल शरीर और व्यवहार की चेष्टा का अभाव है। वहां जाग्रत की सृष्टि से भिन्न काल्पनिक सृष्टि है इससे स्थूल की अपेक्षा से तुच्छ ही है परन्तु मन तो वहां भी काल्पनिक विषयों का ग्रहण त्याग करता है, सुख दुःखका अनुभव करता है तब वह जड़ कैसे है? ऐसी शंका का उत्तर आगे के श्लोक में देते हैं।

अगमन्मे मनोऽन्यत्र
सांप्रतं च स्थिरी कृतम्।
एवं यो वेद धी वृत्तिं
सोऽहमित्यवधराय ॥ २१ ॥

अर्थः—मेरा मन इतने काल तक अन्यत्र चला गया था अब उस स्मरण को छोड़कर मैंने मन को स्थिर किया है; इस प्रकार जो बुद्धि की वृत्ति को जानता है सो मैं हूँ ऐसा तू निश्चय कर।

विवेचन।

मन और इन्द्रियों का व्यवहार जाग्रत और स्वप्न में समान ही है अवस्था के भेद से व्यवहार में भेद है। जाग्रत अवस्था के व्यवहार में तो स्थूल शरीर में रहे हुए इन्द्रिय के गोलक में रह कर इन्द्रियां कार्य करती हैं और स्वप्न में वे इन्द्रियां स्वप्न कल्पित होने से बाहर के स्थूल शरीर के गोलक से कार्य नहीं करती परन्तु स्वप्न कल्पित शरीर के गोलक में रह कर कार्य करती हैं तो भी इन्द्रिय के अपने अपने विषय का ग्रहण त्याग दोनों अवस्था में समान ही होता है दोनों के शरीर और गोलक में भेद है। जैसे स्वप्न की इन्द्रियां भिन्न हैं ऐसे मन भी स्वप्न कल्पित होने से जाग्रत से भिन्न ही है तो भी जाग्रत मन के ऊपर परदा करके है और वह वहां की बुद्धि का दृश्य है इसीसे अचेतन है द्रष्टा चेतन नहीं है।

शंकाः—मनही सबको जानता है, तब मनको जानने वाला अन्य कौन है? कहो कि आत्मा मन को जानता है सो यह बन नहीं सकता जैसे मन आत्मा को जान नहीं सकता, मनको आत्मा के जानने

की गम नहीं है इसी प्रकार सत्ता का भेद होने से आत्मा मन को भी जान नहीं सकता।।मन रूप मूर्त को अमूर्त रूप आत्मा कैसे जाने ? जैसे तुच्छ ऐसे स्वप्न के पदार्थों को भी जाग्रत की इन्द्रियां जानने के लिये समर्थ नहीं होती। तब मन किसका दृश्य है ?

समाधानः—इन्द्रियों को मन जानता है, इन्द्रियों से कार्य कराता है इसी प्रकार बुद्धिमन को जानती है बुद्धि की वृत्तिसे "इतने समय तक मेरा मन अन्य वस्तु में चला गया था, अन्य वस्तुको चाहता था अब मैंने मन में से उस वस्तु और उसके भाव को हटा दिया है, अब मन को स्थिर किया है एकाग्र करके इष्ट चिन्तवन में लगाया है"। इस प्रकार वह दृश्य है बुद्धि उसकी आपेक्षिक दृष्टा है। मन और बुद्धि दोनों अन्तःकरण की वृत्तियां है तो भी बुद्धि-वृत्ति कर्ता भाव से युक्त होने से विज्ञान मय कोष में है और मन वृत्ति करण (कार्य करने का औजार) रूप होने से मनोमय में है। विज्ञानमय कोषका प्रकाश मनोमय कोप में आता है। इस प्रकार बुद्धि आपेक्षिक द्रष्टा और मन दृश्य है।

जीव अज्ञान में पड़ा हुआ होने से उसके कार्य करने के साधन रूप मन बुद्धि भी अज्ञान में है जीव को आत्म बोध करने के निमित्त आत्मा को जानने की आवश्यकता है परन्तु मन इन्द्रियों का आत्मा से अवस्था भेद होने से वे आत्मा को स्पष्ट रीति से जान नहीं सकते तो भी मन बुद्धि का आधार और अपना स्वरूप आत्मा होने से मन बुद्धि के सहारे ज्ञान के लक्ष को पहुँचा कर मन बुद्धि को छोड़ कर आत्मा का अपरोक्ष बोध हो सकता है और आत्मा को तो तुच्छ मायिक संसार की प्रवृत्ति का हेतु मन बुद्धि को जो अज्ञान की है उनको जानने की आवश्यकता ही नहीं है और वह सबका आधार सबको प्रकाश और सत्ता स्फुर्ति दाता होने से अवस्था भेद होते होते हुए भी आभास से युक्त जीव बुद्धि वृत्ति को भी जानने में समर्थ होता है। आभास का भाव रहित शुद्धात्मा जो सब का सामान्य ज्ञाता है, अनेकता में रहा हुआ एकता रूप जो अस्तित्व है वह अखंड ब्रह्म मैं हूँ ऐसा तू निश्चय कर।

शंकाः—आपके कहने के अनुसार मन बुद्धि की वृत्ति होने से बुद्धि का दृश्य हो सकता है परन्तु बुद्धि जो अन्तःकरण रूप है, सब वृत्तियों का उपादान कारण है क्योंकि कर्ता भोक्ता के भाव से सब वृत्तियां का उत्थान होता है तब ऐसी बुद्धि किस प्रकार दृश्य है और किसका दृश्य है उसका दृष्टा कौन है ? सब वृत्तियों का उपादान रूप बुद्धि में किस प्रकार दृश्यत्व है ?

आगे के श्लोक में इस शंका का समधान करते हैं।

स्वप्न जागरिते सुप्तिं
भावाभावौ धियां तथा।
यो वेत्त्य विक्रियः साक्षात्
सोऽहमित्यवधारय ॥२२॥

अर्थः—जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति में बुद्धि के भाव अभाव को और जो बुद्धि को जानता है वह बुद्धि का दृष्टा निर्विकार चैतन्य स्वरूप आत्मा मैं हूँ ऐसा तू निश्चय कर।

विवेचन।

समाधानः—बुद्धि में अनेक प्रकार के विकार हुआ करते हैं उसे सब जानते हैं। जो विकार वाला हो वह अखंड द्रष्टा नहीं हो सकता, जो अखंड द्रष्टा नहीं है और कचित द्रष्टा दीखता है तब वह

आपेक्षिक द्रष्टा होता है जो आपेक्षिक द्रष्टा होता है वह अन्य का दृश्य भी होता है। बुद्धि ऐसी होने से दृश्य है। जाग्रत अवस्था में बुद्धि पदार्थों का भिन्नता से भावाभाव और बोध करती है और पदार्थ न हो तो उसके अभाव का भी बोध करती है; इसी प्रकार स्वप्न में स्वप्न पदार्थ में भी भावाभाव और बोध करती है। जो बुद्धि जाग्रतमें होती है वह स्वप्न में नहीं होती विकार को प्राप्त होती है और स्वप्न कल्पित के बोध के योग्य हो जाती है और सुषुप्ति अवस्था में दोनों अवस्था से रहित स्वयम् अभाव रूप हो जाती है वहां बुद्धि की वृत्ति की पृथक्ता ही नहीं दीखती इस समय बुद्धि उसका कारण जो व्यष्टि अविद्या है उसमें लय हुई होती है। इस लय में बुद्धि का नाश नहीं है। जाग्रत और स्वप्न की वृत्तियां का न होना बुद्धि की पृथक्ता का न होना ही अविद्या में दब जाना है यह उसका नाश कहा है। परन्तु सुषुप्ति का दबाव हटते ही पूर्ववत अपनी सब सामग्री सहित सूक्ष्म अथवा स्थूल जाग्रत अवस्था को प्राप्त होती है। ऐसी बदलने वाली बुद्धि को जो जानता है वह उसका द्रष्टा दृश्य से भिन्न होता है इसी से यह भी भिन्न है। जो बुद्धि का द्रष्टा अन्य कोई न हो तो बुद्धि है नहीं ऐसी सुषुप्ति अवस्था की बुद्धि के अभाव का बोध कौन करे? जो जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्था में रहने वाला हो वह ही बुद्धि के विकार को जान सकता है, स्थिर ही चलित का ज्ञाता होता है वह जीव है, यह जाग्रत स्वप्नमें बुद्धिके सदभाव को और सुषुप्ति में बुद्धि के अभाव को जानता है इससे यह बुद्धिका द्रष्टा है।

शंकाः—आत्मा को समझाने की आवश्यक्ता है और आत्मा को समझा भी रहे हो तब बीच में जीव को कहां से लाये? बुद्धि का द्रष्टा जीव को क्यों कहते हो क्या जीव आत्मा से भिन्न है।

समाधानः—जीव ही आत्मा है, आत्मा और जीव भिन्न २ नहीं है। जब व्यष्टि अज्ञान से युक्त होता है तब आत्मा का नाम जीव है और जब शुद्ध का कथन करते हैं तब उसे आत्मा कहते हैं। बुद्धि का द्रष्टा जीवको इस कारण से कहा है कि द्रष्टा दृश्य की एक कक्षा होती है। बुद्धि मायिक है इससे इसका द्रष्टा माया से युक्त आत्मा जीव है; क्योंकि बुद्धिका सुषुप्ति में अभाव है परन्तु जीव का अभाव नहीं है इससे जीव ही बुद्धि के भेद का द्रष्टा है। चिदाभास व्यष्टि अज्ञान में भी है इससे चिदाभास युक्त आत्मा जीव बुद्धिका द्रष्टा है और द्रष्टा के भाव से रहित, चिदाभास रहित, द्रष्टा स्वरूप निर्विकार अखंड चैतन्य स्वरूप साक्षात् मैं हूँ इस प्रकार का तू निश्चय कर।

घटावभासको दीपो
घटादन्यो यथेष्यते।
देहावभासको देही
तथाऽहं बोध विग्रहः ॥२३॥

अर्थः—जैसे घटका प्रकाश करने वाला दीपक घट से भिन्न देखा जाता है तैसे देह को प्रकाश करने वाला देही देह से भिन्न है वह बोध स्वरूप मैं हूँ।

विवेचन।

अचेतन और जड़ होने से देह अनात्म वस्तु है और आत्मा इससे विलक्षण चेतन स्वरूप है इस प्रकार दृष्टान्त द्वारा आत्माकी भिन्नता दिखलाते हैं। घट के भीतर में दीपक रखने से दीपक का प्रकाश घट में होता है घट में पांच छेद हों तो वह प्रकाश छेद से बाहर भी पड़ता है। दीपक स्वयम् प्रकाश है और उसके प्रकाश से घट प्रकाशित होता है; इसी

प्रकार शरीर को समझना। शरीर घट के समान है जैसे घट पंच भौतिक है वैसे देह भी पंच भौतिक है, घट जड़ है वैसे देह भी जड़ है घट में रहा हुआ दीपक घटको प्रकाशता है वैसे देहमें रहा हुआ स्वयम् प्रकाश देही अपने प्रकाश द्वारा देह को प्रकाशता है। जैसे घट के छिद्रों से बाहर प्रकाश आता है वैसे देह में से इन्द्रियों द्वारा प्रकाश बाहर आता है। जैसे घट से दीपक भिन्न और विलक्षण है वैसे शरीर से देही-आत्मा भिन्न और विलक्षण है इस प्रकार विवेक करके आत्मा को समझा जाता है।

शंका:—दीपक घटको प्रकाशता है यह समझ में आता है क्योंकि दीपक और घट दोनों ही व्यक्ति है और व्यक्त शरीर को अव्यक्त आत्मा किस प्रकार प्रकाश करे ?

समाधान:—आत्मा का स्वरूप प्रकाश सर्वत्र अखंडित व्यापक है वह जब देह को प्रकाशता है तब देही होकर विशेषता से प्रकाशता है, आभास से विशेष हुआ प्रकाश जल्दी समझ में आता है। जिसके आभास से देह प्रकाशित होता है ऐसा आत्मा अव्यक्त होकर भी आभास द्वारा देह को प्रकाशित करता है मायिक शरीर को प्रकाश करने के लिये मायाकृत भेदवाला चिदाभास अव्यक्त नहीं है। जिस प्रकाश स्वरूप आत्मा के प्रकाश से देह प्रकाशित होता है। ऐसा बोध स्वरूप आत्मा मैं हूं। जीव भाव की निवृत्ति के लिये लक्ष पहुँचाते हुए आत्म भाव करना चाहिये।

आद्य शंकराचार्य ने जब मंडन मिश्र को शास्त्रार्थ में परास्त किया तब उसकी स्त्री सरस्वती ने कहा कि अभी आपने अर्धजय प्राप्त की है क्योंकि मंडन मिश्र की अर्धांग रूप मैं अभी परास्त हुई नहीं हूं, जब मुझ को भी परास्त करोगे तब आपकी पूर्ण जय होगी। शंकराचार्य ने सरस्वती को शास्त्रार्थ करने की अनुमती दी तब एक दूसरे को जीतने की इच्छा वाले दोनों ने सुन्दर वाक्यों द्वारा वाक्य युद्ध चालू किया। सतरह दिन शास्त्रार्थ होता रहा, अंत में सरस्वती हारने लगी तब उसने विचार किया कि शंकर को जीतना कठिन है इसी से मैं सर्वज्ञता के अभिमान को तोड़ती हुई काम शास्त्र का प्रश्न करके जीत लूगी।

जब सरस्वती ने काम शास्त्र का प्रश्न किया तब शंकराचार्य मन में विचारने लगे कि जो मैं प्रश्नों का उत्तर न दूंगा तो मेरी सर्वज्ञता व्यर्थ होगी, जो मैं उत्तर दूंगा तो यति धर्म में बाध आता है। मुझे योग बल से अज्ञात कुछ भी नहीं है। प्रगट कहने लगे कि तेरे प्रश्नों के उत्तर के लिये मैं एक मास की मोहलत चाहता हूँ, जब सरस्वती ने कबूल किया तब शिष्यों सहित वहां से चल कर विचरने लगे।

अमरक नाम का राजा मृगया का परिश्रम से मूर्छित होकर मृत्यु को प्राप्त हुआ था उसकी मृतक देह को पड़ा हुआ देख कर शंकराचार्य ने अपने शिष्य पद्मपादाचार्य से कहा अमरक राजा के मृतक शरीर में मैं योग बल से प्रवेश करता हूं मेरे शरीर को पास के पहाड़ की गुफा में रख कर जब तक मैं उसमें प्रवेश न करूं तब तक रक्षा करना। राजा के शरीर में प्रवेश करके थोड़े दिन में ही मैं उसके पुत्र को राज्याभिषेक कर दूंगा, और अपनी सर्वज्ञता सिद्ध करने के हेतु मैं अमरक राजा की सुंदर राणिओं से काम शास्त्र के हाव भाव का अनुभव कर लूंगा बाद मैं अपने शरीर में प्रवेशकर जाऊंगा। ऐसा कहकर स्थूल देह में से निकल कर लिंग देह से अमरक राजा के मृतक शरीर में प्रवेश कर दिया।

राजा के शरीर को बल प्राप्त हुआ वह उठ बैठा देखकर राज कुटुम्ब सहित सब प्रजा अत्यंत प्रसन्न हुई। पुरोहित आदि ने शान्ति क्रिया की, राजा को हाथी पर बैठा कर नगर में ले आये और राजा, प्रजा का पालन करने लगा।

दो दिन पश्चात् प्रधानों ने विचार किया कि राजा मृत्यु होकर जी उठने से प्रथम के समान रहा नहीं है, याचकों को दान देने में ययाती के समान और बोलने में बृहस्पति के समान और सब शुभगुण सम्पन्न दीखता है इससे मालूम होता है कि कोई सिद्ध योगीश्वर ने राजा के मृतक देह में प्रवेश किया है और अब राज्य वैभव को भोग रहा है यदि वह अपने पूर्व शरीर में चला जायगा तो हम लोग राजा रहित हो जांयगे इससे आस पास में कोई योगी का शरीर रखा हुआ हो तो उसे नष्ट कर देना ही अच्छा है। ऐसा विचार करके योगीके शरीर को नष्ट करने के लिये चारों दिशाओं में मनुष्यों को भेज दिये।

राजा के शरीर में रहे हुए शंकराचार्य ने राज पुत्र का राज्याभिषेक कर दिया और राज्य की देख भाल प्रधानों को सोंपकर वात्स्यायन-कामशास्त्र के अनुसार रानियों में रमण करके काम शास्त्र के अनुभव को प्राप्त किया और उस विषय के एक ग्रन्थ की रचना भी की।

शंकराचार्य को गये एक मास व्यतीत हो जाने से सब शिष्य घबराने लगे कि अभी तक गुरुदेव अपने शरीर में क्यों नहीं आये, तब पद्मपादाचार्य ने सबको धैर्य दिया और गवैया का वेष धारण करके अमरक राजा के अंतःपुर में पहुँचे और गायन करते हुए शंकराचार्य को सचेत किया। शंकराचार्य ने गवैये को इशारे से समझा कर विदा किया। शंकराचार्य ने योग दृष्टि से देखा तो मालूम हुआ कि प्रधानों के भेजे हुए मनुष्यों ने मेरा स्थूल शरीर को मेरे शिष्यों से जबरन छीन लिया है और अब जला देने की तैयारी कर रहे हैं। तुरंत ही जिस प्रकार योग बल से अमरक के शरीर में प्रवेश किया था उसी प्रकार उसमें से निकल कर गुफा वाले अपने शरीर में प्रवेश कर दिया। योगी के शरीर को सजीवन देख कर प्रधान के मनुष्य वहां से भाग गये और राज्यधानी में अमरक राजा मृतक हो गया।

शंकराचार्य अपने शिष्यों सहित माहिष्मती नगरी में गये और प्रशंसा प्राप्त की।

जैसे शंकराचार्य का शरीर और शंकराचार्य भिन्न थे, जैसे अमरक राजा का शरीर और अमरक राजा भिन्न थे, इसी प्रकार देह और आत्मा भिन्न हैं। शंकराचार्य का लिंग शरीर के निकलते ही स्थूल शरीर मृतक हुआ ऐसे अमरक के निकलने से उसका शरीर मृतक हुआ वह फिर शंकराचार्य के प्रवेश से चेतन हुआ और शंकराचार्य का पुनः अपने शरीर में आने से चेतन हुआ। इस दृष्टान्त से स्थूल शरीर जड़ है ऐसी स्पष्ट प्रतीति होती है और शरीर से भिन्न चैतन्य भी सिद्ध होता है। यद्यपि विशेष चैतन्य शरीर के सहारे व्यष्टि अज्ञान से परिछेद को प्राप्त हुआ है इसीसे शुद्ध नहीं है तब भी उसी में रहा हुआ शुद्ध अखंडित चैतन्य मैं हूं ऐसा निश्चय करना चाहिये यह ही आत्म ज्ञान है।

अपूर्ण

पाशुपत ब्रह्मोपनिषत्।

एक बार स्वयंभू ब्रह्मा को 'मैं प्रजा उत्पन्न करूं' इस प्रकार की इच्छा हुई और सब कामनाओं को पूर्ण करने वाला रुद्र और कुबेर उत्पन्न हुए। ब्रह्मा का पुत्र कुबेर और बालखिल्य स्वयंभू से पूछने लगे, 'जगत् की विद्या कौन सी है? जाग्रत और तुरीय के देवता कौन है? जगत् किसके वश में है? काल का क्या प्रमाण है? सूर्य और चन्द्र तथा ग्रहादि किसकी आज्ञा से प्रकाशते हैं? और किस की महिमा आकाश के सदृश (विशाल) है? सो मैं सुनना चाहता हूँ। आपके सिवाय और कोई इन बातों को नहीं जानता इसलिये हे ब्रह्मन्, आपही कहिये।'

स्वयंभू बोले, 'इस जगत् की मातृका ('अ' से 'क्ष' तकके अक्षर) विद्या है। वह दो वर्णवाली और तीन वर्णवाली है, दो वर्णों से बड़ी और तीन वर्ण वाली है। चार मात्रा वाला ॐकार रूप प्राण मेरा देवता है। मैंही तीनों जगत् का एक मात्र पति हूं और मेरे ही वश सब युग हैं। रात्रि और दिन आदि ये सब मुझही से कालरूप से उत्पन्न हुए हैं। सूर्य का तेज और चन्द्र नक्षत्र और ग्रह आदि की ज्योति यह मेरा ही रूप है। मेरी तीन शक्तिवाली माया रूप ही यह आकाश है, मुझसे अन्य कुछ भी नहीं है। तमोगुणी मायारूप रुद्र है, सत्त्वगुणी मायारूप विष्णु और रजोगुणी मायारूप ब्रह्मा है। इन्द्रादि रजोगुण और तमोगुण दोनों से युक्त हैं, इनमें कोई भी सात्त्विक नहीं है, एक अघोर (शिव) सर्व साधारण स्वरूप है।

समस्त यज्ञों का कर्ता पशुपति रुद्र है। यज्ञदेव रुद्र है, विष्णु अध्वर्यु और होता इन्द्र है, महेश्वर का मानस ब्रह्मही यज्ञ का भोक्तारूप देवता है। 'हंसः सोऽहं हंसः' यही वह मानस ब्रह्म है। इसमें तन्मय होने के लिये करने का यज्ञ ही नादानुसंधान है। तन्मयत्व का विकार ही जीव भाव है। हंस परमात्मा स्वरूप है। हंस ही भीतर बाहर चलता है। जब भीतर जाता है अवकाश रहित स्थान में रहने वाला वही सुपर्ण पक्षी (ईश्वर) स्वरूप है।

छियानवे तत्त्वों के तंतुओं से व्यक्त, चित् के तीन सूत्रों से चिन्मय, नवतत्त्वों को तीन गुणा किया हुआ; ब्रह्मा, विष्णु और शिव स्वरूप तीन अग्नियों से युक्त और चिद्ग्रन्थि से बंधा हुआ अद्वैत की गांठ वाला यज्ञ का साधारण अंगरूप बाहर भीतर प्रकाशने वाला, यज्ञ के अंगरूप (यज्ञोपवीत स्वरूप) हंस ही है। उपवीत के लक्षण रूप सूत्र ब्रह्म के प्रति यज्ञ ले जाते हैं और ब्रह्म के अंग रूप लक्षणों से युक्त यज्ञसूत्र होता है, यही ब्रह्मसूत्र है। यज्ञसूत्र के साथ सम्बन्ध रखने वाला ब्रह्मयज्ञ उसका स्वरूप है। मात्रा उसके अंग हैं। इस मानसिक यज्ञ का हंस ब्रह्मसूत्र है। ब्रह्मयज्ञ मय प्रणव ब्रह्मसूत्र है। प्रणव के भीतर रहने वाला हंस ही यह ब्रह्मसूत्र है। वही ब्रह्मयज्ञ मय मोक्ष का साधन रूप है।

ब्रह्मसंध्या की क्रिया मानसिक याग है। संध्या करना यानी मिलाना यही इस मानसिक याग का लक्षण है। यज्ञसूत्र प्रणव है। जो ब्रह्मयज्ञ क्रिया से युक्त है वह ब्राह्मण है। ब्रह्मचर्य से देव रहते है और यज्ञों में सूत्र रूप हंस के साथ अनुसंधान रहता है। हंस और प्रणव का अभेद है।

हंस की तीनों काल में प्रार्थना होती है। तीन काल तीन वर्ण हैं। [illegible] का यह

याग है। तीन अग्निरूप आत्मा की आकृति और वर्ण वाले ॐकार रूप हंस का अनुसंधान करना अन्तर्याग है। चित् के स्वरूप के समान तन्मय होना तुरीय का स्वरूप है। आंतर आदित्य में ज्योति स्वरूप हंस है। यज्ञांग (हंस) ही ब्रह्मप्राप्ति का उत्तम साधन है। इसलिये ब्रह्मप्राप्ति की साधना में प्रणव रूप हंस का अनुसंधान रूप ही ध्यान किया करते हैं।'

ब्रह्मा के पुत्र वालखिल्य ऋषि फिर स्वयंभू ब्रह्माजी से बोले, भगवन् आप सब जानते हैं; कहिये, हंससूत्र कितने होते हैं और उनका प्रमाण कितना है। भगवान् बोले, "हृदयरूप सूर्य के किरणों की संख्या बहत्तर है। चित्सूत्ररूप प्राण से स्वर के साथ निकलने वाली प्रणव धारा बहत्तर अंगुल की होती है। बायीं बाह और कमर की दाहिनी ओर, इनके बीच में परमात्मा हंस रहता है। यह अत्यन्त गुह्य बात अन्यत्र कहीं भी विदित नहीं है। अमृतत्व रूप फल को पाये हुए उस प्रकाशक हंस को जानते हैं। प्रणवरूप हंस का सदा ध्यान किये बिना मुक्ति नहीं होती।

रंगे हुए नौ सूत्र (स्थूल यज्ञोपवीत) को जो धारण करते हैं, वे भी वह ब्रह्म है यही मानकर उपासना करते हैं। परन्तु इन मनुष्यों को अन्तरादित्य रूप ब्रह्म का पता नहीं है। सूर्य जगत् का प्रकाश करता है ऐसा जानकर वे बुद्धिमान् मनुष्य अपनी शुद्धि के निमित्त या ज्ञान के निमित्त प्रार्थना करते हुए उसकी उपासना करते हैं। वाजपेय यज्ञ ही पशुपति, है इन्द्र देवता इसमें अध्वर्यु है। धर्म याग अहिंसारूप होता है। इसमें परमहंस अध्वर्यु और परमात्मा पशुपति देवता है। वेद और उपनिषदों में प्रतिपादित ब्रह्म ही की ये स्वाध्यायशील ब्राह्मण उपासना करते हैं।

(पशुपति रूप) महायज्ञ का ज्ञानही अश्वमेध है। उसके बल ही से ये ब्रह्म की उपासना करते हैं। पहिले कह आये वह ब्रह्मयज्ञ की साधना ही सबके लिये मोक्षमार्ग है।"

इस पर ब्रह्माके पुत्र वालखिल्य ऋषि बोले, 'हंस ऋषि का उदय हुआ यानी ब्रह्माजी के उपदेश से उनको आत्मज्ञान होगया।' तब स्वयंभू तिरोधान होगये। वालखिल्य ने जाना कि वेद और उपनिषदों में प्रतिपादित हंस ज्योति ही रुद्र है संसार से तारने वाला प्रणवही पशुपति है ॥ इति पूर्वकाण्ड ॥

सहज रूप से 'हंस हंस' इस प्रकार अखंड जाप हो यही वर्ण ब्रह्म है और ब्रह्म के प्रति पहुंचाने वाला है। यही परमात्मा है और पुरुष यही है ॥१॥ स्वयं ब्रह्म तुल्य होजाय उसका स्वरूप भी क्या और उसकी कथा भी क्या? ब्रह्म ज्ञान रूप संध्या ही में ज्ञानियों का काल जाता है। हंस और आत्मा की एकता होजाती है ऐसी अवस्था में उसके अवस्थादि रूप प्रजा किस प्रकार हो सकती है ॥२॥ भीतर होने वाले प्रणव नाद से विदित होने वाला हंस ही सब ज्ञान को करने वाले हैं। बाहर होने वाले ज्ञान के हेतु रूप अन्तरानुभव स्वरूप होने से गूढ़ ऐसा वही विराजता है ॥३॥ वही शिव शक्ति रूप है और चैतन्य मय है और आनंद से जाना जाता है। वह नाद बिंदु और कला से अतीत है और समस्त जगत् उसीके नेत्र (चेतन) से विचेष्टित है ॥४॥ उसके तीन अंग (शरीर) हैं तीन शिखाएं (अवस्थाएं) हैं, दो अथवा तीन मात्राओं के साथ उसकी आकृति देखने में आती है। इस प्रकार भीतर ज्ञान स्वरूप होने से गूढ़ ऐसा

यह आत्मा इन्द्रियों से बाहर निकलता है ॥५॥ समस्त विश्व को सूत्र रूप ऐसे ब्रह्म को जानना चाहिये और उसको जानने के लिये विधि के अनुसार हंस रूपी सूर्य का प्रणव के साथ ध्यान भी जानना चाहिये ऐसा ज्ञान सागरमें कहा है ॥६॥ इसको जानने ही से यह ज्ञान सागर को जाना जाता है।

स्वयं शिव या पशुपति ही सबका सर्व काल साक्षी है ॥७॥ और सबके मन का वही नियमन और प्रेरणा करता है। उसकी प्रेरणा ही से मन विषय में जाता है, प्राण चेष्टा करते हैं ॥८॥ और वाणी बोलती है चक्षु रूप देखता है कान सब सुनते हैं और अन्य सब इन्द्रियां भी उसीकी प्रेरणा से ॥९॥ अपने अपने विषय को ग्रहण कर उसमें प्रवृत्त होती हैं। इसका प्रवर्तकत्व भी माया ही से है अपने स्वभाव से नहीं है ॥१०॥ आत्मा में अध्यस्त ऐसा श्रोत्र स्वयं पुरुषोत्तम पशुपति ही है, वही श्रोत्र में अनुप्रवेश करके श्रोत्र को श्रोत्रत्व प्राप्त कराता है ॥११॥ आत्मा में अध्यस्त मनमें परमेश्वर प्रवेश करते हैं और उसीमें रह कर उसका नियमन करते हुए उसको मनस्त्व प्रदान करते हैं ॥१२॥ वही जाने हुए से और न जाने हुए से भिन्न है और अन्य कल्पित इन्द्रियों को भी वही ईश्वर ॥१३॥ उनका नियमन करके उनके उनके रूप देता है। इसीलिये चक्षु, वाचा, मन तथा अन्य इन्द्रियां ॥१४॥ उस स्वयं प्रकाश रूप परमात्मा को नहीं प्राप्त होतीं। जो ब्रह्म को अन्तःकरण के विषय रूप से नहीं परन्तु प्रत्यक् प्रकाश रूप अपने आत्मा ही से जानता है ॥१५॥ तर्क प्रमाण के बिना ही अनुभव से जानता है वही यथार्थ रूप से ब्रह्म को जानता है।

प्रत्यगात्मा परम प्रकाश रूप है और माया महान् अन्धकार रूप है ॥१६॥ ऐसा होने पर परमात्मा में माया किस प्रकार संभव है। इसलिये तर्क और (श्रुति) प्रमाणों से तथा अनुभव से निश्चय होता है कि चैतन्यघन, ॥१७॥ एक और अपने ही प्रकाश से प्रकाशित होने वाले, ऐसे परमात्मा में माया है ही नहीं। यह विद्या और यह अविद्या, यह दृष्टि व्यावहारिक है पारमार्थिक नहीं है ॥१८॥ तत्त्व दृष्टि से ये कुछ नहीं है, केवल एक तत्त्व ही है। व्यावहारिक दृष्टि उसीके प्रकाश से होने से ॥१९॥ एक सतत यानी अखंड प्रकाश ही रहा इसलिये भी अद्वैत ही है। अद्वैत है यह कहना भी उस प्रकाश के अभेद ही से है ॥२०॥ इस प्रकार सब उसका प्रकाश ही प्रकाश है, इसलिये (बोलना भी व्यर्थ है) मौन ही शोभा देता है।

जिसको यह परमार्थ स्वयं ही प्रकाशिता हुआ है ॥२१॥ वह न जीव है न ब्रह्म न और कुछ है। उसको न वर्ण हैं न आश्रम ॥२२॥ उसको न धर्म है न अधर्म, न विधि है न निषेध। जब सब कुछ उसे स्वयं ही ब्रह्म रूप से प्रकाशता है ॥२३॥ तब दुःख नामका आभास भी उसको नहीं दीखता। परमात्मा को जानने वाला जीवादि रूप जगत् को देखते हुए भी ॥२४॥ नहीं देखता, चिद्रूप ब्रह्म वस्तु ही देखता है। धर्मी और धर्म की बात भेद के रहते हुए ही पृथक् है ॥२५॥ भेद, अभेद तथा भेदाभेद ये साक्षात् रूप से परमात्मा में अपने से भिन्न रूप से नहीं है, वह ही स्वयं सर्वदा वर्तमान हैं ॥२६॥ वस्तु रूप से अथवा अवस्तु रूप से साक्षात् ब्रह्म ही विराजमान है; ऐसा होने से, ब्रह्मको जानने वाला ज्ञानी किसका ग्रहण या त्याग करे ॥२७॥ सबका अधिष्ठान, उपमा रहित, वाणी और मनका अविषय दृष्टि का अविषय, अग्राह्य, अज, रूप रहित, ॥२८॥ आंख कान से रहित, तथा उनके अर्थ से पर, हाथ पैर रहित तथा नित्य

विभु, सर्वत्र उपस्थित और अत्यन्त सूक्ष्म ॥२६॥ ऐसा यह मृत्यु रहित ब्रह्म ही है उसके आगे और पीछे श्रेष्ठ प्रकार का ब्रह्मानन्द ही है, दायें बायें भी वही श्रेष्ठ ब्रह्मानन्द वर्तमान है ॥३०॥ यह अपने में ही सबको अपने रूपसे निर्भयता पूर्वक देखता है। ऐसा देखने वाला मुक्त (ज्ञानी) ही मुक्त नहीं होता परन्तु बद्ध (अज्ञानी) भी मुक्त होजाता है ॥३१॥

इस प्रकार की यह पर विद्या सत्य से, तप से तथा ब्रह्मचर्यादि धर्माचरण से वेदान्त के साधना द्वारा प्राप्त हो सकती है ॥३२॥ अपने शरीर में स्वयं प्रकाश रूप परब्रह्म को शुद्ध अन्तःकरण वाले देख सकते हैं, माया से मलिन अन्तःकरण वाले नहीं देख सकते ॥३३॥ जिस किसी योगी को अपने स्वरूप का इस प्रकार का अनुभव है, उस परिपूर्ण रूप वाले का कहीं भी गमन नहीं होता ॥३४॥ जैसे सर्वत्र भरा हुआ एक अखंड आकाश कहीं भी नहीं जाता, वैसे ही ब्रह्म को आत्म भाव से जानने वाला कहीं भी नहीं जाता ॥३५॥

अभक्ष्य आहार छोड़ देने से चित्त विशुद्ध होजाता है; आहार की शुद्धि से चित्त की शुद्धि आप ही आप होजाती है ॥३६॥ चित्त शुद्ध होने पर क्रम से ज्ञान होता है और (अज्ञान) ग्रन्थियां स्पष्टतया टूट जाती हैं। अभक्ष्य का विचार ब्रह्म ज्ञान से रहित हो ऐसे ही जीव के लिये (जरूरी) है ॥३७॥ क्योंकि यह बात प्रसिद्ध है कि जो सम्यक् ज्ञानी है उनका स्वरूप अज्ञानी के समान कला वाला (भेद ज्ञान युक्त) नहीं होता। ज्ञानी यही जानता है कि खाने वाला मैं हूं और अन्न भी मैं ही हूँ ॥३८॥ ब्रह्म ज्ञानी अपने ज्ञान से सबको आत्म रूप ही देखता है, इसलिये ब्राह्मण और क्षत्रिय यह भाव ही उसका अन्न होजाता है ॥३९॥ जो स्वयं मृत्यु स्वरूप है उसको जानने वाला भी वैसा ही होजाता है, इसलिये ब्रह्म के स्वरूप को जानने से यह सब जगत् जानने वाले का भोजन बन जाता है ॥४०॥ जगत् जब आत्म रूप से भासता है तब वह भोजन बन जाता है और आत्म रूप से ब्रह्म उसका नित्य भक्षण करता है ॥४१॥ जिसके आभास रूप से भोज्य जगत् बनता है वह प्रमाण रूप आत्म रूप से भासता है तब वह उससे अवश्य भक्षित ही होगया ॥४२॥ अपने स्वरूप को आप ही खाता है भोजन का पदार्थ अपने से पृथक् नहीं है, और यदि है तो वह अस्तित्व रूप है अस्तित्व लक्षण एक ब्रह्म ही का है ॥४३॥ सत्ता का लक्षण अस्तित्व है इसलिये सत्ता ब्रह्म से भिन्न नहीं है। ब्रह्म को छोड़ कर सत्ता नहीं है, इसलिये माया वस्तु रूप नहीं है ॥४४॥ आत्मनिष्ठ योगियों के लिये माया उनके आत्मा में कल्पित है वह ब्रह्म ज्ञान से बाधित होकर उनको आत्म रूप से भासती है ॥४५॥ ब्रह्म का अनुभव जिसको प्राप्त हुआ है उसको प्रतीत होने वाले जगत् को देखते हुए भी वह उसको अपने से पृथक् नहीं देखता ॥४६॥

॥ इति पाशुपत ब्रह्मोपनिषत् ॥



ब्रह्मसूत्र भाषा दीपिका।

(गतांक से आगे)

१ प्राणोत्पत्ति अधिकरण।

तथा प्राणाः ॥२।४।१॥

अन्वय और **अन्वयार्थः—तथा** इसी प्रकार **प्राणाः** प्राण [उत्पन्न होते हैं]।

टीकाः—आकाश आदि की के उत्पत्ति सम्बन्ध में श्रुति का जो परस्पर विरोध था उसका तीसरे पाद में परिहार किया। अब इस पाद में प्राण की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो आपस में विरोध है उस का सूत्रकार परिहार करते हैं।

पहिले 'तत्तेजोऽसृजत' [छां० ६।२।३] (उसने तेज उत्पन्न किया), 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' [तैत्ति० २।१।१] (ऐसे उस आत्मा ही से आकाश उत्पन्न हुआ) आदि श्रुतियों के उत्पत्ति प्रकरण में प्राणों की उत्पत्ति नहीं दी गई है। कहीं कहीं तो प्राणों की उत्पत्ति होती ही नहीं ऐसा कथन मिलता है। जैसे, 'असद्वा इदमग्र आसीत्, तदाहुः किं तदसदा सीदित्यृषयो वावतेऽग्रेऽसदासीत्। तदाहुः के ते ऋषय इति प्राणा वाव ऋषयः। (यह जगत् पहिले असत् ही था। आगे पूछते हैं—वह असत् क्या था? कहते हैं:—वे ऋषि ही पहिले असत् था। प्रश्न करते हैं:—वे ऋषि कौन थे? कहते हैं—प्राणही वे ऋषि थे। इस श्रुति में जगत् के उत्पत्ति के पहिले प्राणों का अस्तित्व था ऐसा कहा है। परन्तु और स्थानों में प्राणों की उत्पत्ति का वर्णन पढ़ने में आता है। जैसे, 'यथाग्नेर्ज्वलतः क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्युच्चरन्त्येवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः [बृ० २।१।२०] (जैसे जलते हुए अग्नि से छोटी छोटी चिनगारियां उठती हैं, वैसेही इस आत्मा से सब प्राण उत्पन्न होते हैं), 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।' [मुण्ड० २।१।३] (इससे प्राण, मन और सब इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं), 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्।' [उससे सात प्राण उत्पन्न होते हैं], सप्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नम्।' [प्र० ६।४] (उसने प्राण उत्पन्न किये, फिर प्राण से श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन और अन्न उत्पन्न किये)। भिन्न भिन्न स्थान की इन भिन्न भिन्न श्रुतियों में आपस में विरोध होने से और उसका निश्चय करने के लिये कोई उपाय नहीं बताया हुआ होने से कुछ भी निश्चय नहीं होता ऐसी स्थिति प्राप्त होती है। अथवा उत्पत्ति के पहिले प्राणों का अस्तित्व होने से उनके उत्पत्ति की श्रुति गौण है यही मानना पड़ता है।

इस पूर्वपक्ष का उत्तर 'तथा प्राणाः' इस सूत्र से देते हैं।

शंकाः—इस सूत्र में 'तथा' अर्थात् 'इसी प्रकार' ये शब्द क्यों कहे? क्योंकि जिसकी उपमा दी जाय ऐसा कोई प्रकरण अभी आरम्भ नहीं हुआ। आत्मा सर्वगत और नाना हैं, ऐसा मानने वालों के पक्ष में दूषण देने का प्रकरण पूर्व पाद के अन्त में आया है, वह सादृश्य के अभाव से उपमा के योग्य नहीं है। सादृश्य हो तब ही उसकी उपमा दी जा सकती है; जैसा सिंह है वैसा बलवर्मा है। यदि अदृष्ट की समानता बताने के लिये यानी अदृष्ट सब आत्माओंकी संनिधि में उत्पन्न होता है, इसलिये (इस आत्मा का यह अदृष्ट है ऐसा) नियम नहीं बन सकता। वैसे ही (प्राण भी अमुक आत्मा के हैं ऐसा) प्राणों का भी

प्रत्येक आत्मा के सम्बन्ध में नियम नहीं बन सकता, ऐसा प्रतिपादन करने के लिये 'तथा' यानी 'इस प्रकार' शब्द का प्रयोग है ऐसा यदि कहो तो उसका उत्तर यह है कि, पहिले शरीर का नियम नहीं हो सकता ऐसा कहा है उसीसे यह भी कहा हुआ हो जाता है। अर्थात् उसको यहां फिरसे कहने से पुनरुक्ति होगी। इसी प्रकार प्राणों को जीव की उपमा नहीं दी जा सकती, क्योंकि इससे सिद्धांत ही में विरोध आता है। जीव की उत्पत्ति नहीं होती ऐसा पहिले कह चुके हैं और यहां पर प्राणों की उत्पत्ति होती है ऐसा प्रतिपादन करने का है। इसलिये सूत्र स्थित 'तथा' शब्द असंबद्ध ही सा प्रतीत होता है।

समाधानः—यह ठीक नहीं है। उदाहरण में दिये हुए उपमान के साथ भी प्राणों का सम्बन्ध बताया जा सकता है। यहां प्राणों की उत्पत्ति बताने वाले सब वाक्य उदाहरण रूप हैं; जैसे, 'एतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वेलोकाः सर्वेदेवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरंति।' [बृ० २।१।२०] (इस आत्मा से सब प्राण, सब लोक, सब देव तथा सब भूत उत्पन्न होते हैं) इत्यादि। यहां पर जैसे लोक आदि परब्रह्म से उत्पन्न होते हैं, वैसे प्राण भी उत्पन्न होते हैं ऐसा अर्थ है। वैसे ही, 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च, खंवायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी।' [मुण्ड० २।१।३] (इससे प्राण, मन और सब इन्द्रियां तथा आकाश, वायु, तेज, जल और सबको धारण करने वाली पृथिवी उत्पन्न होती है।), इत्यादि वाक्यों में भी आकाश आदि के समान प्राणों की उत्पत्ति होती है ऐसा जानना चाहिये। अथवा 'पात्न्यापचच तद्वत्' [जै० अ० ३।४।१५] (सोमप्राशन करते हुए कोई विकार हो जाय तो वैसेही समझना चाहिये) ऐसे स्थानों में दूर के उपमान के साथ भी सम्बन्ध मिलाया जाता है। जैसे पूर्व पाद के आरम्भ ही में कथन किये हुऐ आकाश आदि परब्रह्म के विकार हैं ऐसा प्राप्त हुआ है, वैसेही प्राण भी परब्रह्म के विकार हैं ऐसा अर्थ लगाना चाहिये। प्राण के विकार (कार्य) होने में क्या प्रमाण है ऐसा पूछो तो, श्रुतिही उसके लिये प्रमाण है। श्रुति में प्राणों की उत्पत्ति ही कहीं कहीं नहीं लिखो है (इसलिये प्राणों की उत्पत्ति नहीं होती।) ऐसा कहा है सो अयुक्त है। क्योंकि अन्य स्थान में प्राणों की उत्पत्ति का कथन है। एक श्रुति में कहीं पर एक बात नहीं, कहीं हो इससे वही बात अन्यत्र श्रुति में कथन की गई हो उसका निवारण नहीं हो सकता। इसलिये श्रुति का प्रमाण दोनों के लिये समान होने से आकाश आदि के समान प्राण भी उत्पन्न होते हैं ऐसा ठीक ही कहा है ॥१॥

गौण्यसंभवात् ॥२।४।२॥

अन्वय और अन्वयार्थः—गौण्यसंभवात् [प्राणों की उत्पत्ति बताने वाली श्रुति की] गौणता असंभव होने से [प्राण उत्पन्न होते हैं यही सिद्ध होता है]।

टीकाः—पहिले (पूर्व पक्ष में) कहा था कि, उत्पत्ति के पूर्व प्राणों के अस्तित्व का श्रुति प्रमाण होने से प्राणों की उत्पत्ति बताने वाली श्रुति गौण है, उसके उत्तर में सूत्रकार कहते हैं कि 'गौणता असंभव होने से [प्राणों की उत्पत्ति ही सिद्ध होती है]'। 'गौण्यसंभव' का अर्थ है गौण श्रुति का

होना असंभव है; क्योंकि प्राणों की उत्पत्ति बताने वाली श्रुति गौण नहीं हो सकती। ऐसा मानने से प्रतिज्ञा की हानि हो जाती है। 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' [मुण्ड० १।१।३] (हे भगवन्, किस वस्तु का ज्ञान होने से इन सब पदार्थों का ज्ञान होता है), इस श्रुति में एक के ज्ञान से सबका ज्ञान होता है, ऐसी प्रतिज्ञा करके उस प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिये श्रुति आगे कहती है कि 'एतस्माज्जायते प्राणः' [मुण्डक २।१।३] (इससे प्राण उत्पन्न होता है) इत्यादि। यह प्रतिज्ञा प्राण आदि सब जगत् ब्रह्म का कार्य है ऐसा माने तब ही सिद्ध होती है, क्योंकि उपादान कारण से भिन्न कोई कार्य नहीं होता। परन्तु प्राणों के उत्पत्ति की श्रुति गौण मानने से प्रतिज्ञा की ही हानि होती है। आगे श्रुति प्रतिज्ञा का इस प्रकार उपसंहार करती है कि—'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्मपरामृतम्' [मुण्ड० २।१।१०] (कर्म और तप यह सब पुरुष ही है, यह सब परम अमृत ब्रह्म ही है), 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' [मुण्ड०२।२।११] (ब्रह्मही सब विश्व है और वही सबसे श्रेष्ठ है)। इसी प्रकार 'आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्' [बृ० २।४।५] (अरे, आत्मा के दर्शन से श्रवण से चिंतवन से और ज्ञान से इस सबका ज्ञान होता है) ऐसी श्रुतियों में यही प्रतिज्ञा की गई है ऐसे समझना चाहिये।

शंकाः—फिर उत्पत्ति के पहिले प्राणों का अस्तित्व श्रुति में क्यों कहा है ?

समाधानः—श्रुति ने जो प्राणों का अस्तित्व कहा है, सो मूल कारण रूप से नहीं कहा है, क्योंकि, 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परः' [मुण्ड० २।१।२] (आत्मा प्राण रहित, मन रहित, शुभ्र और अक्षर से पर है), इस श्रुति में मूल कारण प्राणादि सब विशेष धर्मों से रहित है ऐसा कहा गया है। इसलिये उत्पत्ति के पहिले जो प्राणों का अस्तित्व कहा है वह अवान्तर कारण रूप से है, यानी प्राणों के जो विकार हैं उनकी अपेक्षा से यह कथन है ऐसे समझना चाहिये; क्योंकि, व्यक्त नाम रूपों की जो अनेक अवस्थाएं हैं उनमें भी कार्य कारण भाव होता है, यह बात श्रुति और स्मृति में भी प्रसिद्ध है।

पहिले वियदधिकरण में 'गौण्य संभवात्' [ब्र० सू० २।३।३] यही सूत्र आया है। वह पूर्वपक्ष में होने से 'आकाश की उत्पत्ति प्रतिपादन करने वाली श्रुति गौण है, क्योंकि आकाश की उत्पत्ति नहीं संभवती' ऐसा उसका व्याख्यान किया गया और प्रतिज्ञा हानि का हेतु बताकर सिद्धांत का प्रतिपादन किया। परन्तु यहां पर वही सूत्र सिद्धांत का प्रतिपादक होने से 'प्राणों की उत्पत्ति प्रतिपादन करने वाली श्रुति गौण होना असंभव है' ऐसा उसका व्याख्यान किया गया है। जो लोग पूर्व सूत्र के अनुरोध से यहां भी 'प्राणों की उत्पत्ति प्रतिपादन करने वाली श्रुति गौण है, क्योंकि प्राणों की उत्पत्ति नहीं संभवती' ऐसा जब इस सूत्र का व्याख्यान करते हैं तब इसमें प्रतिज्ञा की हानि होती है इस बातका वे विचार नहीं रखते ॥२॥

तत्प्राक्श्रुतेश्च ॥ २।४।३ ॥

अन्वय और अन्वयार्थः—**च** और **तत्** वह [उत्पत्ति वाचक पद] **प्राक्श्रुतम्** श्रुति में पहिले आता है इसलिये भी [प्राण उत्पन्न होते हैं यही सिद्ध होता है]।

अपूर्ण।

उपासना ।

इस पुस्तक में साकार, सगुण, निर्गुण, कार्य ब्रह्मकी तथा कारण ब्रह्म आदि कई प्रकार की उपासना को भिन्न २ प्रकार से समझाया है। उपासना की स्थिरता ही से मन एकाग्र होता है, आत्म साक्षात्कार होता है और समाधि की प्राप्ति होती है।

इसमें यह दृष्टान्त आये हैं:—कुमार अवीक्षित और किमिच्छक व्रत, ध्रुव की तपश्चर्या, धर्मनगर से मुक्तिनाथ तक जाने वाले दो मुसाफिर, गुलाम राजा बना, पांच मित्रों की मुसाफरी, अलौकिक मंदिर, समुद्र पार के देश का राजा, राजकुमार और राजकुमारी, महात्मा के उपदेश से साधु को ॐ दिखा दिया, अर्जुन, दुर्योधन और धात्री की कथा। इसमें उपासना, ब्रह्मोपासना, गायत्री ॐकार और ब्रह्मतरंग हैं। मूल्य ॥) डाक महसूल अलहिदा।

वेदान्त दीपिका ।

इस ग्रन्थ में जिज्ञासु को स्वाभाविकता से होने वाली शंकाओं का अत्यंत मार्मिकता से समाधान किया गया है। वेदान्त के महत्व के ग्रन्थों को पढ़ने पर भी जिन शंकाओं का समाधान न होने से जिज्ञासु का चित्त अशान्त रहता है, वे शंकाएं इस ग्रन्थ को पढ़ने से समूल नष्ट हो जायंगी। ग्रन्थ को पढ़ते समय जो नयी शंकाएं उत्पन्न होंगी उनका समाधान आगे ही मिलने से पाठकों को अत्यन्त आनन्द होगा।

इसमें प्रत्येक विषय को प्रथम युक्तिपूर्वक समझा कर उसको दृढ़ करने के लिये प्रसंगानुकूल दृष्टान्त दिये गये हैं, जिससे ग्रन्थ अत्यंत ही रोचक बन गया है। इसकी भाषा अत्यंत सरल होने से सामान्य भाषा ज्ञान वाले भी इससे लाभ उठा सकते हैं। ग्रन्थ सबके लिये संग्राह्य है। सजिल्द मूल्य १॥) डाक महसूल अलहिदा।

काया पलट नाटक ।

राजा रानी और मंत्री के रूप से जीव बुद्धि और मन का जगत आसक्ति में फँसना और सद्गुरुके उपदेश द्वारा अज्ञान का टूट कर ज्ञान भाव में आने का वर्णन है। प्रारब्ध दुःख आदि का भी वर्णन है। मूल्य ।) चार आना।

वाक्य सुधा ।

वेदान्त ग्रन्थों में ज्ञान समाधि का वर्णन बहुत स्थान पर है परन्तु इसमें जैसा वर्णन है ऐसा सूक्ष्म वर्णन और स्थान में कहीं नहीं मिलता—रहस्य पूर्ण विवेचन से भली प्रकार समझाया गया है मुमुक्षुओं को अत्यन्त हितकर है। मूल्य १) एक रुपया।

चर्पट पंजरिका।

"भज गोविंदं भज गोविंदं" पद्यका विवेचन सहित भाषानुवाद है। अनेक दृष्टांतों से रोचक और बोधप्रद है। सम श्लोकी पद्य भी हैं। मूल्य १)

व्यवस्थापक—**वेदान्त केसरी**, बेलनगंज—आगरा।

REGD. NO. A. 1821

वेदान्त केसरी की छपी हुई पुस्तकें ।

वेदान्त केसरी मासिक पत्र—नवाँ साल चालू है वार्षिक मूल्य ३) वर्ष के मध्य में ग्राहक होने वालों को वर्ष के आरंभ से सब अंक लेने होंगे मई मास से वर्ष आरंभ होता है नमूने की कापी मुफ्त नहीं मिलती। एक प्रति का मूल्य पाँच आना। पिछले आठों साल की जिल्द (प्रत्येक बारह अङ्कों की) तय्यार हैं, थोड़ी कापियां शेष रही है। श्रीमच्छङ्कराचार्य्यके अद्वैत सिद्धान्तके अनुसार सम्पूर्ण वेदान्त की प्रक्रिया आगई है।

अधिकारी के लक्षण, गुरु-शिष्य लक्षण, पंचकोष विवेक, जगत्, जीव, ईश्वर, ब्रह्म, माया, अविद्या, ज्ञान, अज्ञान, आसक्ति, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, महावाक्य, जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति; छोटे छोटे उपनिषद्, स्तोत्र आदि अनेक लेख आये हैं, जो बोलचालकी बहुत ही सीधी भाषामें युक्ति और दृष्टांतपूर्वक समझाये गये हैं। बहुत ही रोचक होने से पढ़ने को लेनेके बाद पुस्तक छोड़ने को चित्त नहीं चाहता। सामान्य भाषा जानने वाले भी बारम्बार पढ़ने से आत्मबोध प्राप्त कर सकते हैं। प्रत्येक पुस्तक का मूल्य ३) सम्पूर्ण सैट यानी आठों पुस्तक का मूल्य २४)

उपासना—इसमें साकार, सगुण, निर्गुण, कार्य ब्रह्म तथा कारण ब्रह्म आदि कई प्रकार की उपासना को भिन्न २ प्रकार से समझाया है। उपासना की स्थिरता ही से मन एकाग्र होकर आत्म साक्षात्कार होता है। मूल्य ॥)

चर्पट पंजरिका—"भज गोविंदं भज गोविंदं"पद्य का विवेचन सहित भाषानुवाद है। अनेक दृष्टांतों से रोचक है। सम श्लोकी पद्य भी है। मूल्य १)

कौशल्य गीतावली भाग १—२—वेदान्त केसरी में आई हुई कविताओं का संग्रह। कविता रोचक सरल और ज्ञान के संस्कारों को प्रदीप्त करने वाली तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन रूप हैं। प्रत्येक भाग का मूल्य ।≈)

वेदान्त स्तोत्र संग्रह—श्रीमच्छङ्कराचार्य्य आदि के प्रतिभाशाली वेदान्त के मुख्य २ चुने हुए २१ स्तोत्रों का संग्रह किया गया है और प्रत्येक स्तोत्र का अर्थ भी सरल भाषा में दिया गया है, जो थोड़े पढ़े हुए मुमुक्षुओं को भी नित्य पाठ और श्रवण में अति उपयोगी है। कई संन्यासियों ने भी इसे बहुत पसंद किया है। मूल्य प्रति पुस्तक ॥) सब पुस्तकों का डाक खर्च ग्राहकों को देना होगा।

व्यवस्थापक—वेदान्त केसरी, बेलनगंज—आगरा।

केसरी प्रेस, बेलनगंज आगरा में सूरजभान गुप्त द्वारा मुद्रित और प्रकाशित।

REGD. NO. A. 1821

ॐ

वेदान्त केसरी

मासिक पत्र

पुस्तक ६ } चैत्र सं० १९८८ अप्रेल १९३१ { अंक १२

श्लोक—तावद्गर्जन्तिशास्त्राणि जम्बुका विपिनेयथा।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद्वेदान्त केसरी ॥

अर्थ—जब तक महाबलवान सिंह गर्जना नहीं करता तब तक बन में श्याल खूब गर्जना करते हैं। इसी प्रकार जब तक वेदान्त सिद्धान्त की गर्जना नहीं होती तभी तक अन्य लौकिक शास्त्रों की गर्जना हुआ करती है।



सम्पादक—
ब्रह्मचारी विष्णु

वार्षिक मूल्य ३) बेलनगंज—आगरा। एक प्रति का मूल्य।=)

विषयानुक्रमणिका ।

वेदान्त केसरी के नियम ।

(१) यह पत्र प्रत्येक अंग्रेजी महीने के आदि में निकलता है ।

(२) वेदान्त विषय का विवेचन करना इसका मुख्य प्रयोजन है ।

(३) वार्षिक मूल्य ३) अग्रिम लिया जाता है । बिना मूल्य पत्र किसी को नहीं भेजा जाता है ।

(४) एक अङ्क का मूल्य ।-) नमूने का अङ्क पांच आने के टिकट आने पर भेजा जाता है ।

(५) जिन ग्राहकों के पास पत्र न पहुँचे उनको १५ तारीख तक सूचना देनी चाहिये ।

(६) एक वर्ष से कम के ग्राहक नहीं किये जाते । मध्य में ग्राहक होने वालों को चालू साल के आरम्भ से सब अङ्क लेने होंगे ।

(७) चिट्ठी लिखते समय प्रत्येक ग्राहक को अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखना चाहिये ।

आवश्यक निवेदन।

इस अंक के साथ वेदान्त केसरी का नवां साल समाप्त हुआ है। ग्राहकगण आगामी वर्ष का मूल्य ३) मनीआर्डर द्वारा अथवा अन्य प्रकार से ता० ३० अप्रैल १९३१ के प्रथम ही भेज देने की कृपा करें। जो महाशय वी० पी० से मंगवाना चाहें उनको भी ता० ३० अप्रैल १९३१ के प्रथम ही सूचना देनी चाहिये अन्यथा गड़बड़ होने का संभव है। वी० पी० मंगवाने में ≈) आने अधिक लगेंगे और भेजने में कुछ विलम्ब भी होगा।

जिन महाशयों को आगामी वर्ष में ग्राहक बने रहने की इच्छा न हो उन्हें पन्द्रह दिन के भीतर ही मने लिख भेजना चाहिये।

किसी प्रकार का उत्तर आये विना सब ग्राहकों को वी० पी० करके वेदान्त केसरी भेजा नहीं जायगा क्योंकि वी० पी० लौट आने से नुकसान होता है।

ग्राहकों का ध्यान इस बात की ओर भी आकर्षित किया जाता है कि डाकखाने के नये नियमों के अनुसार वी० पी० तीन दिन से अधिक डाकखाने में नहीं रोकी जा सक्ती। वी० पी० प्रथम सप्ताह में पहुंच जायेंगी। अतः ग्राहकों को सचेष्ट रहना चाहिये।

व्यवस्थापक—

वेदान्त केसरी बेलनगंज, आगरा।

ॐ

वेदान्त केसरी

पुस्तक ६ संवत् १९८७
सन् १९३०-१९३१

विषयानुक्रमणिका ।



ॐ

वेदान्त केसरी

पुस्तक ९ } चैत्र सं० १९८८ अप्रेल १९३१ { अङ्क १२

महा शंका ।

हरिगीत छन्द ।

(१) शंका

गुरु शास्त्र सब ही कह रहे, अद्वैत केवल तत्त्व है।
यह विश्व वंध्यापुत्र है, तिहुंकाल में निस्तत्त्व है॥
शंका महा यह हाय है, मस्तिष्क चक्कर खाय है।
यह भिन्नता कैसे हुई, नहिं कुछ समझ में आय है॥

(२) समाधान

अज्ञान शंका रूप है, अज्ञान से संसार है।
संसार में तू फँस रहा, जाने न सारासार है॥
ज्यों दिन सभी को दीखता, उल्लू अँधेरा जानता।
त्यों द्वैत में जो है फँसा, अद्वैत नहिं पहचानता॥

(३)

अज्ञान से निकले अभी, अज्ञान जाना जाय तब।
अज्ञान ही रहवे नहीं, अज्ञान जाना जाय जब॥
नहिं द्वैत में रहते हुये, अद्वैत जाना जा सके।
कैसे हुआ है द्वैत यह भी नहिं समझ में आ सके॥

(४)

अंतःकरण निर्मल बना, गुरु वाक्य पर विश्वास कर।
गुरुवाक्य के अनुसार चल, वैराग्य कर अभ्यास कर॥
मन शुद्ध ज्यों ज्यों होयगा, अज्ञान हटता जायगा।
अज्ञान जब हट जायगा, अद्वैत में डट जायगा॥

(५)

जैसे उजाले मांहि भी कल्पा अँधेरा जा सके।
अद्वैत के भी मांहि त्योंही द्वैत कल्पा जा सके॥
यह कल्पना अज्ञान है, माया यही कहलाय है।
जब एक के दो कर लिये, तब भिन्नता हो जाय है॥

(६)

जो कल्पना में है पड़ा, सो देखता है भिन्नता।
है वस्तुतः अद्वैत ही, किंचित् नहीं है द्वैतता॥
नहिं द्वैत मेरी दृष्टि में अद्वैत केवल भासता।
जो भासता ही है नहीं, उसका मुझे फिर क्या पता॥

(७)

फोटोगिराफर कैमरे से, चित्र लाखों खींचता।
बन जांय हैं फोटो घनी, कैसे बनी तू ही बता।
सच्चा उजाला नित्य है, उसका न होना जान तम।
सब मूर्तियां इनसे बनीं, जब ये मिले दोनों विषम॥

(८)

ज्यों स्वप्न में की भिन्नता नहिं नींद से है अन्य कुछ।
त्योंही जगत् की भिन्नता, अज्ञान से नहिं भिन्न कुछ॥
अद्वैत ही अद्वैत है, ऐसा जिसे अनुभव हुआ।
संसार से सो तर गया, कैवल्य पद पर चढ़ गया॥

अपनी याद कर !

अरे मानव ! मनु की संतान ! क्यों रो रहा है। रोने का क्या काम है ? क्या तुझे याद नहीं है ? क्या तू भूल गया ? तू ब्रह्म का ही तो अंश है, ब्रह्म तेरा उत्पत्ति स्थान है, ब्रह्म तेरा वंश है ! तू चैतन्य है, अमल है, सहज सुख की राशि है, न तू मरता है, न तू जन्मता है, कूटस्थ है, अविनाशी है, तू निर्दोष है, निस्संग है, न तेरा कोई रूप है, न तेरा कोई रंग है ! तू तीनों शरीरों से रहित है, सर्व का साक्षी है, विनु अंग है ! सुख शान्ति का तू सागर है, यह बात छुपी नहीं है, उजागर है। सब शास्त्र पुकार पुकार कर कह रहे हैं:—आनन्दसे सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, आनन्द में रहते हैं और आनन्द में अन्तमें लय हो जाते हैं ! कार्य से कारण भिन्न नहीं इसलिये तू आनन्द ही है। सुषुप्ति में प्रतिदिन तू आनन्द में डूब जाता है यह भी तुझे अनुभव है। भाग्यवान् योगी जागते में भी आनन्द का अनुभव करते हैं, तब तेरे आनन्द स्वरूप होने में कोई संदेह नहीं है। फिर तू क्यों दुखी हो रहा है। अपने स्वरूप को पहिचान कर सुखी होजा ! अपनी याद कर !

क्यों अपने को भूलता है, तू आनन्द स्वरूप आत्मा है, आनन्द ही नहीं तू परमानन्द है, तुझमें कोई नहीं द्वन्द्व है ! क्यों दीन हो रहा है। क्यों खिन्न मन हो रहा है, क्यों भयभीत हो रहा है, तू एक है, तेरे सिवाय दूसरा है नहीं, फिर भय किसका। दूसरे से भय होता है। दूसरा नहीं, तो भय का कोई कारण ही नहीं है, शोक का भी काम नहीं है, तू देह नहीं है, तू तो शुद्ध है, बुद्ध है, अजन्य है ! मोह का भी कुछ काम नहीं है, तू एक अद्वितीय आत्मा अनन्य है ! बचा ! रो मत ! आंसू मत बहा, चिंता चिता में मत जल, प्रसन्न होजा, सुखी होजा, आलस्य छोड़ दे, आलस्य में पड़ना तुझे शोभा नहीं देता, अज्ञान अच्छा नहीं है, अज्ञान मरण है, मरना तुझे शोभा नहीं देता ! जी जा ! बचा ! चेत जा ! चेत जा ! अज्ञान निद्रा छोड़कर जाग जा ! जाग जा ! अपनी याद कर !

अपनी याद कर, अपने घर की याद कर, घर को ही लौट जा, घर पर ही आराम मिलेगा, परदेश में चैन नहीं मिलेगा, घर पर ही सुख पावेगा ! फिर न जन्म लेगा, न मरेगा, न तापों से तपेगा, निःशोक हो जायगा, निर्भय हो जायगा ! तू अपनी याद कर, तू शोक रहित है, भय रहित है, अपने आप में लीन होजा, दूसरों में लीन मत हो, अपने आप में लीन होकर आप ही होजा, इतना ही तेरा काम है ! प्रमाद मत कर, अपनी याद कर !

तू अज है, अजर है अमर है, तुझमें परिणाम नहीं, तू सच्चिदानन्द घन है, न तू कहीं आता है, न कहीं जाता है, सर्वत्र भरपूर है, प्रज्ञान है, शाश्वत है, तुझमें रूप है न नाम है, कूटस्थ है, नित्य है, पूर्ण काम है, निष्काम है, न तुझमें काम है, न तुझमें क्रोध है, न तुझमें किंचित् लोभ है, न तुझे लेश भी मदसे सम्बन्ध है, न तुझमें अविद्या है, न राग है, न द्वेष है, न अभिनिवेश है। ये सब माया का परिवार है, माया का तुझमें प्रवेश नहीं है, तू मायातीत है, गुणातीत है, देहातीत है, अवस्थातीत है, सर्वातीत है, अपनी याद कर !

यह माया तूने आप ही तो रची है, किसी दूसरे ने थोड़ी ही रची है, आप ही माया रचकर माया में फंस गया है ! कैसा महान आश्चर्य है।

तू अपने को, अपनी महिमा को, अपने प्रभाव को भूल गया है! जैसे मारुति को अपने सामर्थ्य का स्मरण नहीं रहता था, जब कोई दूसरा स्मरण कराता था, तब स्मरण हो आता था; इसी प्रकार तू अपने को भूल गया है, भूल के कारण संसार सागर में डूब गया है, गोते खा रहा है, अज्ञान से भवसिंधु में बहा चला जा रहा है, विषय रूपी तरंगें, जिधर ले जाती हैं, उधर ही को चला जाता है, डूबता है, उछलता है, घबराता है, रोता है, चिल्लाता है, अपनी याद नहीं करता, अपनी याद कर!

तू सर्वव्यापी आत्मा है, सब विश्व में भर रहा है, अविद्या से छोटा हो गया है, छोटा है नहीं महान् है फिर भी अपने को छोटा मान रहा है, छोटे मानने के कारण ही जन्म रहा है, मर रहा है, भूखों मरता है, प्यासा मरता है, अपनेको देह मानता है, ममता करता है, अहंता करता है, राग करता है, द्वेष करता है, दूसरों की चिंता करता है, अपनी खबर नहीं है, व्यर्थ ही जलता रहता है! कर्त्ता बन गया है, भोक्ता बन बैठा है, ज्ञाता बन जाता है, प्रमाता बन जाता है, किसी को अच्छा मानता है, किसी को बुरा मानता है, शुभाशुभ मान कर तू निस्संग भी राग द्वेष की कीचड़ में सन गया है, किसी से राग करता है, किसी से द्वेष करता है, लाखों इच्छा करता रहता है, देश विदेश मारा मारा फिरता है। अपनी याद कर!

धन की कामना, पुत्र की कामना, स्त्री की कामना, ऐश्वर्य की कामना, प्रतिष्ठा की कामना इत्यादि अनेक कामनाओं की बेड़ियां तूने अपने पैरों में डाल ली हैं, जब कोई कामना पूरी होजाती है तो हँस देता है, शिर ऊंचा कर लेता है, अपने बराबर किसी को नहीं समझता। जब दुःख का सामना होता है तब रोता चिल्लाता है! धन चाहता है, सुत चाहता है, दार चाहता है, नाना भोग चाहता है, कर्म के अन्धे कूप में गिर कर जन्मता है, मरता है। तू जग सेठ मालामाल है, सर्वदा सुखी है, खुशहाल है, फिर भी माया नटी के जाल में फँस कर तू हो गया कंगाल है, दूर दूर मांगता फिरता हुआ हो रहा बेहाल है, जने जने से खिंचाता अपनी खाल है! कर्म की बेड़ी में बँधकर जन्मता है, मर जाता है, ऊंचा स्वर्ग में चढ़ता है, फिर नीचे नरक में गिर जाता है, सुख चाहता है परन्तु दुःख पाता है, क्या भूला ही रहेगा। अपनी याद कर!

अविचार को त्याग, थोड़ा विचार कर, माया नटी ने दृढ़ माया जाल में तुझे बांध रक्खा है, नव मांस तक काल कोठरी रूप माया के उदर में तुझे बंद रखती है, नीचे शिर कर देती है, ऊपर टांगें कर देती है, जठराग्नि में रांध देती है, विष्ठा मूत्रादि का गंध सुंघाती है, जन्मते समय तंग मार्ग में से निकाल कर अत्यन्त तंग करती है, बहुत दिनों तक गूंगा, लंगड़ा, परवश रखती है, फिर अनेक चिंताओं में डाल देती है, भय शोक की रातें दिखलाती है, भव के भयानक मार्ग में तुझे भटकाती है, बुढ़ापे में मिट्टी पलीत कराती है और अन्त में यमराज के दूतों से गला घुटाती है, फिर भी छुट्टी नहीं देती, छोड़ती नहीं है, संसार दल दल में ही धसकाती चली जाती है, तू समझता है, मैं ऊंचा जा रहा हूँ, माया तुझे नीचे लिये जाती है, ज्ञानाग्नि ले बना, माया मरी को दे जला, ज्ञानाग्नि से जलाये बिना टलनी नहीं है यह बला, ज्ञान प्राप्त कर, अपनी याद कर!

यह ज्ञान ही तुझे केवल सुख का दातार है, यह ही मुक्ति का कर्त्तार है, ज्ञान बिना कोटि कल्प में भी छूटता नहीं संसार है! अपनी बुद्धि की वृत्तियों को तूने संसार में फैला रक्खा है, इसलिये

तुझे कुछ का कुछ दीखता है; मिथ्या संसार सच्चा दीखता है, सच्चा कर्तार मिथ्या दीखता है, यह अज्ञान यानी विपरीत ज्ञान ही अनर्थ का कारण है, बुद्धिकी वृत्तियोंको रोक कर शांत कर, चित्तको एकाग्रकर, अनात्मका ध्यान छोड़कर सर्वदा आत्माका अनुसंधान कर! जब चित्त पूर्ण निरुद्ध हो जायगा तब तू समाधि पायगा, जब तक चित्त स्थिर नहीं होगा, तब तक तू आत्मा का लक्ष करने नहीं पायगा! जब आत्म तत्त्व देखने में आयगा, तब तू अविचल शान्ति पायगा, फिर स्वप्न में भी तुझे न शोक होगा, न मोह होगा, सर्वत्र भर जायगा! अपनी याद कर।

जो कोई मन से शुद्ध होता है, कर्म से पवित्र-पावन होता है, वाणी से शुचि—निष्कपट होता है, वही ही योग का अधिकारी है, वह ही ज्ञान का अधिकारी है, इसलिये तू सदाचारी हो, इन्द्रियों को जीत, स्वप्न में भी दूसरों की बुराई मत चीत! क्या करूं, कैसे करूं, क्या इष्ट है, क्या अनिष्ट है, यह बात यदि तू जानना चाहता है, तो यह बात श्रुति संत तुझको बतलायगें, अपना अभिमान त्यागकर श्रद्धा भक्ति सहित श्रुति संतों की शरण ले, निर्दम्भ हो, निष्कपट हो, श्रुति संतों को सम्मान दे, 'मैं' और 'मेरा' त्याग दे, लेश भी अभिमान मत कर, ईश में अनुराग कर विश्वेश को कर्ता मान, अपने को कर्ता मत मान, तो स्वर्ग का द्वार तेरे लिये खुल जायगा, सच जान तेरा अभिमान ही तेरे जानने में आड़ है, अभिमान मतकर अपनी याद कर!

सुख मेघ की करुणा झड़ी निसदिन निरंतर वर्षा रहती है, परंतु तेरे भीतर नहीं जा सकती, ममता की आड़ पड़ी हुई है, ममता रूप आड़ को तोड़ दे, अहंता रूप अंधेरी को छोड़ दे, इसी क्षण अमृत की वर्षा आयगी, ईर्षा जलन बुझ जायगी, मन की तपन मिट जायगी! जब तक ममता अहंता का अंधेरा नहीं भाग जायगा, तब तक तेरे चित्त में विज्ञान दीपक नहीं जुड़ पायगा, श्रुति संत का उपदेश भी तेरी समझ में नहीं आयगा! न लेश शांति होगी, न तत्त्व ही समझ में आयगा! जो तत्त्व है, सो तूही है, अपनी याद कर!

तू नित्य है, तीनों काल में तेरा नाश नहीं है, तू अद्वय है, तेरे सिवाय दूसरा नहीं है, तू पूर्ण है, कोई देश तुझसे रहित नहीं है, सर्वत्र तू ही है, तू निर्मल है, किसी प्रकारका पाप तुझमें नहीं है, फिर तू क्यों सोच करता है, मूर्ख क्यों बनता है? अरे, मैं मारा गया! ऐसा क्यों करता है? क्यों रोता क्यों झींकता है? रोना झींकना छोड़ दे, यह दृश्य मृषा है, यह विश्व मिथ्या है, तू सुखात्मक है, आनन्द स्वरूप है, भय तुझमें नहीं, है, सर्वदा निर्भय है, फिर तू क्यों दुखी होता है। क्यों भयभीत होता है, अरे! भ्रान्त! क्यों डकरा २ कर रो रहा है? तू ही तो नित्य पूर्ण है! सदाशिव तू ही तो है! सद्रूप तू है, चिद्रूप तू है, आनन्द रूप तू है, असंग है, अनंग है, अपनी याद कर।

भाई! विचार कर तू तो पूर्ण है, पूर्ण में सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा ही कैसे हो सकती है नहीं होसकी! तू निरन्तर है, निरंतर में जगत् हो ही कैसे सकता है! नहीं हो सका! तू तो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, फिर तू स्थूल वस्तुओं का बीज कैसे हो सका है। नहीं हो सका! ब्रह्म सर्वत्र परिपूर्ण है, ब्रह्म की परिपूर्णता में द्वितीय का अस्तित्व ही कैसे हो। अद्वैतता के बिना शुद्ध ब्रह्म में नित्यता कैसे हो सकी है, अद्वैतता से ही शुद्ध ब्रह्म में नित्यता है, सूर्य में अंधकार कैसे हो। अग्नि में शीतलता कैसे हो। निराकार में रूप कैसे हो सका है। नित्य में नश्वरता कैसे हो सकी है,

नहीं होसकती। चित् स्वरूपमें भ्रान्ति कैसे संभव है! असंभव है। आनन्द में दुःख का प्रवेश कैसे होसकता है, नहीं होसकता! स्थिर में अस्थिरता नहीं होसकती, अमृत में मरण नहीं हो सक्ता! तू अजर है, अमर है, नित्य है, स्थिर है, मरने वाला देह नहीं है, अपनी याद कर।

जगत नाम की कोई भी वस्तु कहीं भी कभी भी नहीं है, अतीत में जगत नहीं था, भविष्य में नहीं होगा! जो अतीत में और भविष्य में होता है, वह ही वर्तमान में होता है, इसलिये वर्तमान में भी वस्तुतः जगत नहीं है! एक ही परब्रह्म परम अद्वैत विराजमान है, यह बात सत्य है, सत्य है! फिर भी सत्य है! परब्रह्म ही सत्य है परब्रह्म के सिवाय सब मिथ्या है, असत्य में तुझे लोभ कैसे होता है। मिथ्या में तुझे ममता क्यों होती है। असत्य में तुझे शोक क्यों होता है। मिथ्या से तुझे भय क्यों होता है। असत्य में तेरी निष्ठा ही कैसे है। मिथ्या की तुझे चिंता भी क्यों है। मिथ्या से तुझे हेयोपादेय बुद्धि कहां से आगई है। मिथ्या में लोभ करना व्यर्थ है, असत्य में ममता करना मूर्खता है, अनहोने का शोक वृथा ही है, वंध्यापुत्र की चिंता करना मूर्खता नहीं तो क्या बुद्धिमानी है। लोभ छोड़ दे, ममता निर्मूल कर दे, शोकको बहा दे, चिंताको जला दे, निर्लोभ, निर्मम, निःशोक, निश्चिंत होजा! मिथ्यात्व अशेष रूप से मिथ्या करदे, सत्य में निष्ठा वाला हो, नित्य सत्य ब्रह्म का आश्रय कर, ब्रह्म तेरा आत्मा है, तू ब्रह्म है, ब्रह्म ही तू है, अपने को याद कर।

स्थूल देह मिथ्या है, रक्त वीर्यका बना हुआ है, नश्वर है, क्षण २ बदलता रहता है, कच्चे घटके समान है। जैसे कच्चा घट पानी पड़ते ही गल जाता है, इसी प्रकार शरीर मृत्यु से गल जाता है। आयुष्य गरम लोहे पर जल बिन्दु के समान है, सूक्ष्म देह परिवर्तन वाला है, कारण देह अज्ञान रूप है, ये तीनों देह असत् हैं, उनमें से अहं भाव निवृत्त कर किंचित् भी देहाभिमान मत कर, भ्रम को त्याग कर चिदानन्द आत्मा में अहं भाव को स्थापन कर! अपनी याद कर।

'मैं देह हूँ' यह ही भाव बंधन है, यह ही संसार में भ्रमण कराने वाला है, इसको त्याग दे। 'मैं शिव हूँ' यह भाव मोक्ष का देने वाला है, इसमें संशय नहीं है, यह भाव ही माया के शासन में से छुड़ाने वाला है, इस भाव को निरंतर दृढ़ कर। क्षर—नाशवान देह में अहंभाव करना ही वासनाओं का बीज है, 'मैं देह हूँ,' यह भाव त्याग दे। हे पुरुष! हे अधिकारी पुरुष! सुखी होजा, शान्त होजा, जब २ चित्ताकाश में 'अहं' शब्द का स्फुरण हो तब २ 'मैं रहे वही हूँ, मैं शिव हूँ' इस प्रकार चिंतन कर, न तुझमें बंध है, न मोक्ष की इच्छा है, न मोक्ष है किंतु तू नित्य तृप्त है, सदा पूर्ण है, तू ही आनन्द स्वरूप आत्मा है, तू ही शाश्वत ब्रह्म है अपनी याद कर!

इस प्रकार श्रुति भगवती निरन्तर चिल्ला रही है, मोह निद्रा में सोये हुये जीवों को जगा रही है। श्रुति भगवती के शब्द को सुन कर जागे हुये सन्त महात्मा भी श्रुति के उपदेश को सब सोये हुये जीवों के कानों में पहुँचा रहे हैं परन्तु जीवों का कोई ऐसा पुराना पूर्व का घोर पाप आड़े आगया है कि उनके कान पर जूं तक नहीं रेंगती; सुख चाहते हैं परन्तु सुख के मार्ग पर नहीं चलते उलटे दुःख के मार्ग में ही कदम बढाये हुये अंधों के समान चले जाते हैं; ठोकरें खाते हैं रोते हैं, चिल्लाते हैं, काल को, कर्म को, ईश्वर को दोष देने

हैं परन्तु मानते एक को भी नहीं हैं, न काल को मानते हैं, न कर्म को मानते हैं, न ईश्वर को मानते हैं। तीनों सन्ध्याओंमें ईश्वर का भजन करना चाहिये सो नहीं करते, सोते रहते हैं। अथवा खेल, तमाशे, ताश गँजफा, चौसर आदि में अमूल्य समय को खो देते हैं, नित्य नैमित्तिक, प्रायश्चित्तादि कोई कर्म नहीं करते, प्रातःकाल ही उठकर गंगा स्नान अथवा कूपादि पर स्नान करके ईश्वर का नाम जपे, विष्णु सहस्र नाम, गीता आदि शास्त्र पढें; ऐसा नहीं करते उपन्यासादि पढ़ते हैं, कोई २ ईश्वरावतार और भगवद्भक्तों के चरित्रों को प्रौढोक्ति समझते हैं, उनके गुणोंको तो शास्त्रकारोंने बनाकर लिखदिये हैं, ऐसा समझकर उनके गुणोंको छोड़ देते हैं और अवगुणों को सचे मानकर ईश्वरावतारों और ईश्वर भक्तोंमें भी दोष लगाते हैं, भला! फिर कल्याण की आशा ही कहां से हो सकती है ? परमेश्वर उनको सुबुद्धि दे, इतना ही लिखना पर्याप्त समझते हैं।

कोई २ भाग्यशाली पुण्यात्मा अधिकारी अपने पूर्व पुण्य के प्रभाव से उपरोक्त श्रुति भगवती की चेतावनी सुनकर जाग जाता है और शम दमादि साधन संपन्न हो कर अपने अन्तःकरण के मल धो डालता है, सर्वदा के लिये सुखी हो जाता है, जब तक जीता है, न किसी से राग करता है, न किसी से द्वेष करता है, अपने हृदय में स्थित अंतर्यामी परमात्मा का अनुसँधान करता है, सुख से सोता है, सुख से जागता है, ऐश्वर्य पाकर हर्षित नहीँ होता, विपत्ति आनेपर दुखी नहीँ होता, सर्वदा समान रहता है। न मान पानेसे शिर ऊँचा करता है, न अपमान होने पर खिन्न चित्त होता है किंतु सर्व में एक सच्चिदानन्दघन ईश्वर को देखता हुआ, प्रसन्न वदन विचरता हुआ, अखन्ड शांति का अनुभव करता है, जब सब एक अच्युत परमात्मा ही है, सब उसी का विस्तार है, तो फिर चिंता, भय, दुःख का काम ही क्या है, सर्वत्र मंगल ही मंगल है ! सच कहा है—

कुं०—ईश्वर सब में एक है, नहीँ द्वैत का लेश।
'मैं' 'मेरा' फिर व्यर्थ है, मिथ्या ही है क्लेश॥
मिथ्या ही है क्लेश, प्रेम सबसे ही कीजे।
शत्रु मित्र सम जान, वैर सब से तज दीजे॥
भोला! मत कर वैर, विश्व दो दिन का नश्वर।
देख सभी में एक, शुद्ध शाश्वत शिव ईश्वर॥

—सकल चराचरानुचर भोला।

अपनी आत्मा का उद्धार करना ही परमार्थ है।

एक कंगाल मनुष्य एक साधु के पास जाकर इस प्रकार कहने लगा कि यदि आपकी आज्ञा हो तो एक प्रश्न करने की मेरी इच्छा है और आप उचित समझें तो मेरी शंकाकी निवृति भी कृपा करके करिये जिसमें मेरा परम कल्याण हो। साधुजी यह बात सुन कर प्रसन्न मुख से मुस्तकराकर कहने लगे निर्भय होकर प्रश्न कर, मैं तेरे प्रश्न का उत्तर यथोचित प्रकार से तेरी संतुष्टि निमित्त दूंगा जिससे तेरा परम कल्याण होगा।

कंगालः—महाराज, मैं एक जगह कथा सुनने गया था वहां यह बात आई कि परमार्थ किये बिना मोक्ष नहीं मिल सकता। परमार्थ के लिये राजा गण यज्ञ करते थे, परमार्थ के लिये पवित्र ऋषि गण अपना सर्वस्व ब्रह्मार्पण करके जंगल में चले जाते थे। परमार्थ के लिये ही महादानी कर्ण ने अपने शरीर से कवच उतार कर दे दिया था। परमार्थ के लिये ही राजा बलिने बामनजी के नीचे कचरे जाकर पाताल में जाना स्वीकार किया था। परमार्थ के कारण महाराज विक्रम का संवत् अब तक चल रहा है और परमार्थ के लिये ही रतिदेवने कहा था "हे प्रभो! संसार के सब जीवों का सब दुःख मैं भोग लूं ऐसा दिन कब आवेगा!" परमार्थ के अर्थ ही शिवि राजा ने कबूतर के बदले अपने शरीर का गोस्त काट काट कर चढ़ाया ये राजा ययाति की पुत्री के चार पुत्रों में से थे यह बडे शरणागत वत्सल हुए हैं। इनकी कथा महाभारत में सविस्तर है। दधीची राजाने परमार्थ के हेतु से अपनी हड्डी निकाल कर इन्द्र को देदी। परमार्थ के कारण राजा हरिश्चंद्र भंगीके हाथ बिक गये, जिनकी कवि लोगों ने सत्य का प्रतिपालन करने में युधिष्ठिर से भी बढ़कर अपनी कविता में उपमा दी है। शांतनु के पुत्र देवव्रतजी ने परमार्थ के हेतु ही सत्यवती के पिता दासराज केवट के कथनानुसर आजन्म तक ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने की भीष्म प्रतिज्ञा की इसीसे इनका नाम भीष्म पड़ा जिनकी कवि लोग अपनी कविता में श्री हनुमानजी से भी बढ़कर उपमा देते हैं क्योंकि हनुमानजी जंगल में रह कर ब्रह्मचर्य रहे और भीष्मजी ने राज काज संभालते हुए भी ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया यह विशेषता है।

इतना ही नहीं इनके पश्चात् महान् भक्तराज सूरदास, तुलसीदास, कबीर, तुकाराम, नृसिंहमहता और गुरु नानक आदि महात्माओं ने परमार्थ के लिये अतिशय प्रयत्न किया था। परमार्थ के लिये प्रभु स्वयं मोक्ष धाम छोड़कर अवतार लेते हैं, क्योंकि परमार्थ ही सच्चा स्वार्थ है, परमार्थ ही स्वर्ग की सीढ़ी है, परमार्थ ही मनुष्यों को देवता बनाने की कीमियां है, परमार्थ प्रभु की कृपा प्राप्त करने की कुंजी है, परमार्थ ही प्रभु प्रेम दिखाने का मार्ग है,। परमार्थ ही जीवन की सार्थकता है, परमार्थ ही आत्मा का स्वभाव है तथा परमार्थ ही मोक्ष का दरवाज़ा है।

महाराज जी! यह सुन कर तथा अपनी स्थिति देख कर मुझे बड़ा दुःख हुआ। मैंने सोचा कि मैं कौनसा परमार्थ कर सकता हूं? मेरी धोती तीन स्थानों पर फटी हुई है और मैं दूसरी ले नहीं सकता; मेरे बाल बढ़ गये हैं जिससे सिर दर्द करता है किन्तु पन्द्रह दिन तक बनवाने का समय नहीं है। घर का कार्य झाड़ू बिना चलाता हूं और मेरे बर्तन सब फूट गये हैं। ऐसी हालत में मैं क्या परमार्थ कर सकता हूं? जब मैं कुछ परमार्थ नहीं कर सकता तब मेरी मोक्ष कैसे होगी? मेरा कल्याण कैसे होगा? हाय! मेरा जीवन क्या व्यर्थ ही जायगा? ऐसे ऐसे विचारों से मैं निराश होगया, मुझे बड़ा बुरा लगा और अपने अभागे किस्मत के लिये बड़ा दुःख भी हुआ, जिससे मैं रो पड़ा, कंगाली के दुःख से नहीं किन्तु उत्तम मनुष्य शरीर पाने पर भी मैं कुछ नहीं कर सकता, इससे मुझे रुलाई आगई पशु पक्षी और झाड़ पात से भी जगत् के बहुत से स्वाभाविक उपकार होते हैं, किन्तु अमूल्य जीवन मिलने पर भी मुझसे कुछ परमार्थ नहीं बना, तथा कौआ कुत्ता के सदृश पेट भरने में

हो केवल जीवन चला जारहा है, यह देख मुझे बड़ी वेदना हुई। मुझ पर बहुत से मनुष्यों ने बहुत प्रकार का उपकार किया है, किन्तु मैं किसी का कुछ भी भला नहीं कर सका हूं, यह देख कर मेरा हृदय भीतर से कांपने लगा और मेरे मन में ऐसी इच्छा उत्पन्न हुई कि मुझे भी कुछ परमार्थ करना चाहिये, किन्तु स्थिति तथा समय देख कर और साधनोंके न मिलनेसे बहुत विचारकरनेपर भी ध्यान में कुछ नहीं आया। आपका नाम सुन कर कि आप श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ हैं आपके किंचित् अनुग्रह से बहुत मनुष्यों का कल्याण हो चुका है और हो रहा है आपके अनुभव रूपी ग्रन्थों को अवलोकन कर तदनुसार अनुष्ठान करने वालों का निस्संदेह कल्याण आगे होगा, अपने कल्याण की आशा करके आपकी शरण में आया हूं कि अब मुझे क्या करना चाहिये? मैं कुछ कर नहीं सकता जिससे मेरा जीव भीतर से घबड़ाता है, इससे कोई रास्ता बताने की कृपा कीजिये।

हे श्रेयोत्सुक अपनी आत्मा का कल्याण करना ही परमार्थ है। और जितने परमार्थ गिनाये वे परमार्थ नहीं हैं वे लौकिक आन्तर स्वार्थ और दूसरों का अर्थ है इससे परार्थ ही है। आत्म कल्याण पारमार्थिक होने से ही परमार्थ है, क्योंकि इससे चौरासी लाख योनियों से छुटकारा मिलता है। परमार्थ सबसे बढ़कर उत्कृष्ट अर्थको कहते हैं। अब तूही विचार कर कि यदि कोई जीव चौरासी लाख बार जन्म ले और चौरासी लाख बार मरे तो उसे कितना दुःख होगा? इसके बदले में जीव यदि मुक्त हो जाय तो वह जन्म मरण के चक्र से छूट कर ईश्वरस्थ अखंड आनन्द से रह सकता है अर्थात् ईश्वर के स्वरूप को प्राप्त हो सकता है और ऐसा होने से यह जीव चौरासी लाख योनियों के मरने से बचता है, यानी चौरासी लाख का उद्धार कर देता है इससे बढ़कर पुण्य दूसरा क्या है? और इससे उत्कृष्ट दूसरा परमार्थ ही कौनसा है? यानी आत्मा का उद्धार करना ही सब से बड़ा परमार्थ है इस विषय में वेदों की श्रुति स्मृति इतिहास आदि बहुत प्रमाण हैं। "आत्मा लाभान्न परं विद्यते" "यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति" "साकाष्ठा सा परागति" "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" "आत्मा द्रष्टव्य श्रोतव्य मंतव्य" इत्यादि अनेक श्रुतियां हैं। "सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" "उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।" इत्यादि "देह धरे का यह फल भाई, भजिय राम सब काम विहाई।" स्वारथ सांच जीव कहं एहा, मन कर्म वचन राम पद नेहा।" इत्यादि

हे प्रिय, इससे अतिरिक्त सब परार्थ छोटे छोटे होते हैं और बाहरी वस्तुओं से होते हैं, इससे उनका प्रभाव बहुत कम होता है। ऐसे छोटे परार्थों की कहीं आत्मा के कल्याण के साथ तुलना की जा सकती है? कभी नहीं क्योंकि प्रभु ने जिसे धन और सद्बुद्धि दी है वही परार्थ करता है, किन्तु उन्हें सांसारिक मान की इच्छा, देव देवी की कृपा प्राप्त करने की इच्छा तथा अपनी मनः कामना पूर्ण करने की इच्छा होती है। इतना सब पाने की आशा के बदले में कृपा करके ईश्वर ने जो बहुत साधन दिया रहता है उसी में से थोड़ा साधन कोई कोई मनुष्य परार्थ में व्यय करते हैं, बाकी तो सब लोग मधु मक्खी के सदृश धन संचित रखकर धन, धन करते करते मर जाते हैं और नरक में

जाते हैं। इनके थोड़ी देर के बाहरी पदार्थ के साथ आत्मा के कल्याण परमार्थ की तुलना कैसे की जा सकती है? इससे हे प्रिय वत्स यदि तुझे उत्तम से उत्तम तथा सबसे बड़ा परमार्थ करना हो तो अपनी आत्मा का कल्याण करने का प्रयत्न करो।

जो कोई आत्मा के कल्याण में स्वार्थ देखते हैं वे महामूढ़ हैं आत्मज्ञानी के स्वार्थ में अप्रकट रूप से ब्रह्माण्ड भर का स्वार्थ लगा हुआ है क्योंकि वास्तविक आत्मा एक है।

इस मनुष्य शरीर को पाकर ऐसा काम करो जिससे अखण्ड सुख भोग सको और महा आनन्द स्वरूप, शान्ति स्वरूप, शान्ति दाता ईश्वर की ओर जीव आकर्पित हो। यह सब भक्ति से, महात्माओं के संग से, प्रभु के नाम स्मरण से, पवित्रता से हो सकता है। अपनी आत्मा का उद्धार करना ही परमार्थ है। इसको अधोगति को प्राप्त न होने देना ही सर्वोपरि परमार्थ है। ऐसा करने से चौरासी लाख जीवों को बचाने का फल मिलेगा, स्वात्मोद्धार ही परम कल्याण है।

कंगालः—हे भगवन्, आत्मा इस शरीर में रहने वाले को ही कहते हैं। जब आत्मा इस शरीर में रहता है तो शरीर के नाश हो जाने से वह भी नष्ट हो जायगा?

साधुः—हे सौम्य, शरीर के जीर्ण होने पर आत्मा जो उसके अन्दर आकाशवत् स्थित है जीर्ण नहीं होता है न उसके नाश से उसका नाश होता है, नाश साकार वस्तु का होता है, निराकार का नहीं, इस शरीर के अन्तःकरण में जो स्थित ब्रह्म है, वही सारे ब्रह्माण्ड भर में व्यापक है, वही अभय, निरंजन, अमर, अजर है, वही सब कामनाओं से भरा है उसी में से हर एक प्रकार की कामना निकलती है वही यह जीवात्मा कहलाता है वही शुद्ध है वही मृत्यु से रहित है वही जरा मरण राग द्वेष शोक भूख प्यास से रहित है वही सत्य संकल्प वाला है यानी जो कुछ वह चाहता है वही कर डालता है उसको रोकने वाला कोई नहीं है। जैसे इस लोक में राजा की आज्ञानुकूल प्रजा चलती है और जैसे जिस जिस देश या जगह या क्षेत्र को राजा प्रजा को भेजता है उस उस दिशादिकों को वे जाती हैं और अपने जीवन का निर्वाह करती हैं; वैसे ही प्राणी ब्रह्म की आज्ञानुसार वर्तते हैं। ऐसा छांदोग्य उपनिषद् की अष्टम अध्याय के प्रथम खंड की पांचवीं श्रुति में कहा है कुछ कपोल कल्पित नहीं है।

स्वात्मोद्धार ही सबसे बड़ा परमार्थ है! यही श्रेष्ठ है!! निश्चय करके यही सर्वोपरि है!!!

—स्वामी आत्मानन्द

अच्छी मारी पिचकारी!

वाह! गुरुदेव! वाह! कमाल कर दिया, निहाल कर दिया, मालामाल कर दिया! बना दिया भूपों का भूप, प्रदान किया रूप अनूप, परमानन्द स्वरूप! जर को कर दिया अजर, मर को कर दिया अमर, धर को कर दिया अधर! दोपी को बना दिया निर्दोप, होश को कर दिया बाहोश, पोले को बना दिया ठोस! अणु को कर दिया महान्, मूर्ख को बना दिया विद्वान, दूर कर दिया अज्ञान। बन गया काम, हो गया आप्त काम, पूर्ण काम निष्काम! शोक मोह दूर हुये, चिंता भय कर्पूर हुये, मद मत्सर चूर हुये! होगया निर्भय, सन्मय, चिन्मय, आनन्दमय! धन्य! गुरुदेव! धन्य! चरणों को बलिहारी! अच्छी मारी पिचकारी!

पक्के रंग में रंग गया, कच्चे सब रंग उड़ गये, अब कोई रंग चढ़ नहीं सक्ता! रंग हैं ही कितने। दो ही तो रंग हैं:—एक श्वेत, एक कृष्ण। दार्शनिकों का कथन है कि सब रंग मिलकर श्वेत रंग हो जाता है और जहां कोई रङ्ग नहीं होता वहां काला हो जाता है। भाव यह है कि सब रंगों के मेल का नाम श्वेत है और सब रंगों के अभाव का नाम कृष्ण है। दार्शनिकों का यह भी कथन है कि सूर्य में सब रंग हैं, यह उनका कथन ठीक हो या न हो, इसमें आग्रह नहीं है। प्रत्यक्ष में श्वेत और कृष्ण दोनों रंगों का अनुभव सूर्य से होता है। जहां सूर्य होता है वहां दिन यानी शुक्ल होता है और जहां सूर्य नहीं होता, वहां रात्रि यानी कृष्ण होता है। शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष का कारण भी सूर्य ही है, उत्तरायण और दक्षिणायण का अनुभव भी सूर्य से ही होता है। सारांश यह है कि शुक्ल और कृष्ण दोनों रंग सूर्य से सिद्ध होते हैं। सूर्य को सिद्ध करने वाला मेरा स्वरूप है। इस सूर्य ने मेरा स्वरूप ढांक रक्खा था, ईशावास्य की श्रुति इस बात की साक्षी है, पिचकारी लगते ही सूर्य ने मेरा ढांका हुआ स्वरूप दिखला दिया है! मेरा ही रंग पक्का है। अन्य सब रंग कच्चे हैं, फिर मैं किसी अन्य रंग में कैसे रंग सक्ता हूं? नहीं रंग सक्ता! यह आपकी पिचकारी की ही महिमा है! वाह गुरुदेव! महिमा अपार तुम्हारी! अच्छी मारी पिचकारी!

जाड़ों के दिन थे, एक मस्त फकीर धूप में वसुंधरा के सुहाने फर्श पर पड़ा हुआ लोट मार रहा था। सिकंदर बादशाह आकर कहने लगा—'शाह जी! मैं सिकंदर बादशाह हूँ, दुनियां भर को जीत चुका हूँ; हाथी, घोड़े, सोना, चांदी, नीलम, पुखराज आदि बहुमूल्य रत्न, विविध प्रकार के वस्त्राभूषण, बगीचे, महल आदि सब पदार्थ मेरे अधिकार में हैं, जो कुछ आपको चाहिये, मुझे आज्ञा दीजिये!' मस्त फकीर कहने लगा—'अरे भाई! अपने पदार्थों को अपने पास ही रहने दे, मुझे कुछ नहीं चाहिये, धूप छोड़ दे, हटकर खड़ा हो जा, इतना ही चाहता हूँ!' सिकंदर लज्जित होकर अपना सा मुख लेकर चला गया! जिस वस्तु को पाकर मस्त इतना निःशंक, निश्चिंत और निर्लोभी था, वह ही वस्तु मुझे प्राप्त है, तब मैं निहाल क्यों न होऊँ? अवश्य ही निहाल हूँ, वाह! गुरुदेव उपकारी! अच्छी मारी पिचकारी!

मैं ही सत्य हूँ, मेरे सिवाय सब मिथ्या है, मेरी सत्ता से सबकी सिद्धि है, मेरी सत्ता न हो, तो सूर्य चन्द्र, इन्द्र रुद्र, ब्रह्मा विष्णु, अग्नि वरुण, आकाश वायु कुछ भी सिद्ध न हो! मेरा प्रकाश लेकर सूर्य तपता है, मेरे प्रकाश से चन्द्र चमकता है, मेरे प्रभाव से इन्द्र सब देवताओं का राजा है, मेरी शक्ति से रुद्र सबका संहार करते हैं, मेरे सामर्थ्य से ब्रह्मा सबको उत्पन्न करते हैं, मेरे बल से विष्णु सब जगत् का पालन करते हैं, अग्नि में मेरी उष्णता है, वरुण में मेरी द्रवता है, आकाश में मेरी पोल है, वायु में मेरी क्रिया है। सब ब्रह्माण्ड में मेरा ही उजाला है, सब ब्रह्माण्ड मेरी महिमा है और विचार कर देखा जाय तो मैं ही मैं हूँ, मेरे अज्ञान से मुझमें महिमा भासती है। मेरे माल से सब मालामाल हैं, तब मैं मालामाल क्यों न होऊँ? पूर्ण मालामाल हूँ, वाह गुरुदेव कल्याणकारी! अच्छी मारी पिचकारी!

मैं ही एक स्वतन्त्र हूँ, मेरे सिवाय सब परतंत्र हैं! ईश्वर माया के अधीन है क्योंकि ईश्वर का ईश्वरत्व माया से सिद्ध है। हिरण्यगर्भ ईश्वर के अधीन है। विराट् हिरण्यगर्भ के अधीन है, विराट् यज्ञ के अधीन है, यज्ञ कर्म के अधीन है, कर्म

मनुष्य के अधीन है, मनुष्य अन्न के अधीन है, वर्षा मेघ के अधीन है, मेघ जल के अधीन है, जल अग्नि के अधीन है, अग्नि वायु के अधीन है, वायु आकाश के अधीन है, आकाश अज्ञान के अधीन है, अज्ञान मेरे अधीन है क्योंकि अधिष्ठान विना अध्यस्त की सिद्धि नहीं हो सक्ती। रज्जु विना सर्प दिखायी नहीं देता, सीपी विना चांदी नहीं दीखती, सूर्य की किरणों विना मरु भूमि में जल देखने में नहीं आ सक्ता, इसी प्रकार मुझ अधिष्ठान विना अध्यस्त प्रपंच दिखायी नहीं दे सक्ता। सर्व प्रपंच मुझ अधिष्ठान में अध्यस्त है, इसलिये परतंत्र है, अधिष्ठान रूप में ही स्वतन्त्र हूँ! आप की पिचकारी ने मेरी परतंत्रता दूर कर दी है, स्वतंत्रता प्रकट कर दी है! मैं स्वतंत्र हूं, इसलिये राजाओं का राजा हूँ, वाह! गुरुदेव अज्ञान हारी! अच्छी मारी पिचकारी!

मेरा रूप अनूप है! ब्रह्माण्ड भर में कामदेव सब से सुन्दर है, कामदेव के समान कोई सुन्दर नहीं है, कामदेव मेरी एक कला है अथवा कामदेव मेरी छाया है तब कामदेव की सुन्दरता मेरी सुन्दरता के सामने तुच्छ है! जब कामदेव ही तुच्छ है तो दूसरों की तो गिनती ही क्या है? उर्वशी अब मेरे उर में समा नहीं सक्ती! तिलोत्तमा के तिल की शोभा अब मेरी आंखों में तिल भर भी नहीं है! शचि को देखकर इन्द्र भले ही आनंद माने मेरी आंखों में शचि की सुन्दरता फीकी है। काम लोलुप देवता अप्सराओं की शोभा से मोहित होकर भले ही मर्कट के समान उनके पीछे २ दौड़ते रहें! सच्ची मिठाई खाकर तृप्त हुये को झूठी मिठाई देखकर लार टपक नहीं सक्ती! सुवर्ण के बर्तन रखने वाले सेठ के मनको गिलट लुभा नहीं सक्ती! इसी प्रकार सत्य स्वरूप मुझको गिलट रूप माया की रचना खेंच नहीं सक्ती! वाह! गुरुदेव सर्वाधार निराधारी! अच्छी मारी पिचकारी!

मैं असंग हूँ मुझसे किसी का संबंध नहीं है न मेरा किसी से संबंध है! मैं निराकार हूँ मेरा कोई आकार नहीं है सब आकार कल्पित हैं, मैं निर्विकल्प हूँ सब कल्पनाओं से रहित हूं निरंजन हूं माया का मुझमें लेश भी नहीं है न मुझ में बंध है न शोक है न मोह है सब उपाधियों से रहित हूँ कोई उपाधि मुझमें नहीं है एक पिचकारी के लगते ही सब उपाधियां इस प्रकार भाग गई जिस प्रकार गदहे के शिर पर से सींग भाग गये हैं निरुपाधिक मैं ही मैं हूं मेरे सिवाय कुछ नहीं है! वाह! गुरुदेव निर्विकारी! अच्छी मारी पिचकारी!

विश्व स्थित रहे, मेरा कुछ लाभ नहीं है। विश्व लय होजाय, मेरी कोई हानि नहीं है! देह वर्षों तक बनी रहो, मेरा क्या लाभ है? कुछ नहीं! देह आज ही नष्ट होजाओ, मेरी क्या हानि है? कुछ नहीं! विश्व से मेरा कुछ संबंध नहीं है, देह से मेरा कोई नाता नहीं है, विश्व जड़ है, मैं चैतन्य हूं, देह दृश्य है, मैं द्रष्टा हूँ! जड़ से चैतन्य से क्या संबध? दृश्य द्रष्टा का क्या संग! दृश्य अलग, द्रष्टा अलग, फिर मुझ द्रष्टा को दृश्य देह से क्या लाभालाभ है? कुछ नहीं! अज्ञान से देह मेरा भासता था, कभी २ मैं ही देह होजाता था! पिचकारी लगते ही अज्ञान धूल गया, मैं उपाधि से निर्मुक्त हो गया! वाह! गुरुदेव निराकारी! अच्छी मारी पिचकारी!

मन सुख दुःख की कल्पना करता है, मन ही ऊंच नीच योनियों में भ्रमाता है, मन ही शुभ अशुभ कर्म कराता है, मन शत्रु मित्र बनाता है,

मन राग द्वेष करता है, मन मान से हर्ष करता है, अपमान से शोक करता है, भय, लज्जा, शोक, मोह, धैर्य, अधैर्य सब मनके धर्म हैं ! कर्ता भोक्ता भी मन ही है ! मन मैं नहीं हूं, मन मेरा नहीं है ! मन चंचल है, मैं अचल हूँ, मन विषम है, मैं सम हूँ, मन परिच्छिन्न है, मैं पूर्ण हूँ, मन अशुद्ध है, मैं शुद्ध हूँ, मन परतंत्र है, मैं स्वतंत्र हूँ, मन त्रिगुणमय है, मैं गुणातीत हूँ ! फिर मेरा और मन का क्या संबंध ? कुछ भी नहीं ! मन मुझे दुःखी कर रहा था, मन शत्रु था, पिचकारी लगते ही मन अमन होगया, अमन शांति का नाम है, मन रहित मैं भी शांत हूं, सर्वदा शांत हूं, पूर्ण शांत हूँ ! वाह ! गुरुदेव भवभयहारी ! अच्छी मारी पिचकारी !

मैं नित्य हूँ, अव्यय हूँ, पूर्ण हूँ, निर्मल हूं और निरंतर हूं, मुझमें शोक का कुछ काम नहीं है ! दृश्य जड़ है, असत् है, दुःख रूप है, मैं शुद्ध सम्वित् हूँ, सत्य हूँ, सुख स्वरूप हूँ, फिर मुझमें जड़ जगत् कहां से आवे ? नहीं आसक्ता ! पूर्ण में इच्छा ही कैसे हो ? इच्छा विना सृष्टि कैसी ? सृष्टि विना दुःख कैसा ? न मुझमें इच्छा है, न मुझमें सृष्टि है, न मुझमें दुःख है ! मैं सूक्ष्म से भी सूक्ष्म हूँ, फिर स्थूलों का बीज मैं कैसे होऊँ ? नहीं होसक्ता ! सूर्य में अन्धकार कहां ? अग्नि में शीतलता कहां ? निराकार में रूप कहां ? नित्य में नश्वरता कहां ? चित् स्वरूप में भ्रांति कहां ? आनन्द में दुःख कहां ? स्थिर में अस्थिरता कहां ? अमृत में मरण कहां ? भ्रम से मुझमें जगत् भासता था, नहीं तो तीनों काल में भी जगत् है ही नहीं ! पिचकारी लगते ही भ्रम भेद कूड़ा वह गया स्वयं ब्रह्म ही रह गया ! न कूड़ा है, न कचरा है शुद्ध ब्रह्म सर्वत्र विराजमान है वह ही मैं हूँ ! वाह ! गुरुदेव द्वन्द्वापहारी ! अच्छी मारी पिचकारी !

असत्य में मुझे लोभ कैसे हो ? मिथ्या में मुझे ममता कैसे हो ? झूठे में शोक कैसे हो ? मृषा में चिंता कैसे हो ? मरुजल में निष्ठा कैसे हो ? स्थाणु से भय कैसे हो ? सब मिथ्या ही है, तो हेय क्या और उपादेय क्या ? पिचकारी लगते ही मिथ्यात्व निवृत्त होगया सत्य ही शेष रहा सत्य ही मैं हूँ। न घटता हूं न बढ़ता हूं सदा एक रस हूं शुद्ध हूँ बुद्ध हूँ नित्य हूं निरंजन हूं ! वाह ! गुरुदेव अलखधारी ! अच्छी मारी पिचकारी !

संसार के सब पदार्थ कल्पित हैं नाशवान् हैं मूढ़ पुरुष उन पदार्थों को पाकर सुखी होना चाहते हैं भला मिथ्या में सुख कहां ? विचारे सुख चाहते हुये भी दुःख ही पाते हैं चित्त ने संसारकी कल्पना की है चित्त ने ही सबको चित्त कर रक्खा है चित्त के कारण ही सब दुःखी हैं चित्त महा शत्रु है चित्त का नाश महान् उदय है चित्त के नष्ट होने पर योगी सूर्य के समान प्रकाशता है पिचकारी लगते ही चित्त लोट पोट होगया ! रहा ही नहीं रहा भी है तो संस्कार शेष मात्र ही है भुने हुये चने के समान है अब अंकुर नहीं दे सक्ता ! तब चित्त है ही नहीं ! शुद्ध महा सम्वित् मैं ही हूँ मेरे सिवाय कुछ नहीं है जो कुछ भावना में है जो कुछ स्मृति में है जो कुछ दिखाई देता है जो कुछ सुनने में आता है सब मरुजल के समान मिथ्या है, निश्चय मिथ्या है वाह ! गुरुदेव असंसारी ! अच्छी मारी पिचकारी !

मैं अन्योन्य संबंध से रहित हूं, सुख दुःख से वर्जित हूं, भेद से हीन हूं, अव्यय शिव हूं, चिन्मात्र निर्गुण हूँ, निराकार हूं, निराधार हूँ, अखंड हूँ, निर्द्वन्द्व हूं, ममता हीन हूँ, सबसे दीन हूं, निरालम्ब हूँ, निरातंक हूं, न मुझ में भूत है, न भव्य है, सदा वर्तमान हूँ, न मुझ में शुभ है, न अशुभ

है, न भोग है, न मोक्ष है, नित्य मुक्त स्वरूप हूँ! देह बुद्धिसे धन है, दार है, पुत्र है परिवार है, ज्ञान दृष्टि से सब असार है, न संसार का कारण अहंकार है, न प्रिय है, न अप्रिय है, न सुख है, न दुःख है, न शुभ है न अशुभ है, न लाभ है न अलाभ है, एक मैं ही सदाशिव हूँ, सर्वदा शुद्ध हूं, नित्य बुद्ध हूं, निष्केवल हूँ, निरंजन हूं! वाह! गुरुदेव धर्म ध्वजाधारी! अच्छी मारी पिचकारी!

मैं अद्वय शिव हूँ, द्वैत से पर हूँ, क्रिया से हीन अकर्ता हूँ, भोग से रहित अभोक्ता हूं, मन से रहित अमन हूं, सदा स्वरूप में स्थित हूँ, निष्प्रपंच हूँ, निरामय हूं. विधि निषेध से पार हूं, सर्व में भरपूर हूं, सबसे दूर हूं, मृत्यु का भी मृत्यु हूं! सम हूँ सर्व हूँ मेरेलिये हेय उपादेय कुछ नहीं है क्योंकि स्तम्ब से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त मैं ही हूं! जैसा मेरे लिये निर्जन, जीव वर्जित गहन अरण्य है, इसी प्रकार जन से, धन से, ऐश्वर्य से पूर्ण विशाल नगर है! विश्व की स्थिति मैं नहीं चाहता, दृश्य का लय करना भी मैं नहीं चाहता। मेरे लिये मरण जीवन दोनों समान हैं, मैं सम हूं, शाश्वत हूँ, कूटस्थ हूँ, भूमा हूँ परिणाम से हीन हूँ, आना जाना मुझ में नहीं बनता, सर्वत्र हूँ, सर्व पूर्ण हूं, सर्व शून्य हूं, सच्चिदानन्द घन हूं, वाह! गुरुदेव भक्त उर अजिर विहारी! अच्छी मारी पिचकारी!

मैं नित्य हूं, एक रस हूँ, मुझ नित्य एक रस में विश्वों का प्रलय और उदय दोनों समान हैं, जैसे नख केशों का काटना है, इसी प्रकार मुझमें देह का छूटना है, कुछ विशेष नहीं है! मैं असंग हूँ, दोष से रहित हूं, न मेरा देह है, न मेरा गेह है, स्त्री पुरुष भी मेरे लिये समान ही है, भेद कुछ नहीं है, एक अद्वितीय में भेद कैसा। मैं अद्वय हूं, परब्रह्म हूं, दूसरा मेरे सिवाय कौन है, मैं ही मैं हूँ, कहां जाऊं? कहां बैठूं? कहां खड़ा होऊं, क्या छोड़ूं? क्या पकड़ूं? क्या करूं? क्या न करूं? सब मैं ही करता हूं, करता हुआ भी कुछ नहीं करता, क्या कहूँ? क्या चाहूं? क्या सुनूं? जहां द्वैत होता है, वहां क्रिया होती है, जब एक है तो किससे किसको देखे, किससे किसको सुने किससे किसको जाने? मैं परम अद्वय हूँ, ज्योतियों का ज्योति हूं, पूर्ण ज्योति हूं, वाह! गुरुदेव उपकार्य होकर भी उपकारी! अच्छी मारी पिचकारी!

मैं ही डाल हूं, मैं ही पात हूँ, मैं ही फल हूँ, मैं ही फूल हूं, मैं ही त्वचा हूं, मैं ही मूल हूं, पक्षी होकर मैं आकाश में उड़ रहा हूँ, मैं ही बैल होकर बोझा ढो रहा हूँ, मैं ही सिंह होकर दहाड़ रहा हूँ मैं ही मृग होकर भागता हूँ, मैं ही रेल चलाता हूँ, मैं ही तारबर्की निकालता हूँ! ब्राह्मण होकर मैं ही त्रिकाल स्नान करता हूं, क्षत्रिय होकर मैं ही घाव खाता हूँ, वैश्य होकर मैं ही धर्म धन कमाता हूँ, और शूद्र होकर मैं ही सबका काम चलाता हूँ! मैं ब्रह्मचारी होकर वेदाध्ययन करता हूँ, मैं ही गृहस्थ होकर अतिथि सेवा करता हूँ, मैं ही वानप्रस्थ होकर एकान्त जंगल में वास करता हूँ, मैं ही संन्यासी होकर पिंड ब्रह्मांड की एकता करता हूँ, स्वधर्म का पालन करके उच्चगति को मैं ही प्राप्त होता हूँ, धर्म से च्युत होकर मैं ही ठोकरें खाता फिरता हूँ, सब कुछ करता हूँ, फिर भी कुछ नहीं करता! वाह! गुरुदेव सदाचारी; अच्छी मारी पिचकारी!

ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय कल्पित हैं, ध्याता ध्यान ध्येय आरोपित हैं, देश काल वस्तु अध्यस्त हैं, सत् रज तम व्यस्त हैं, तीनों वेद वाचनिक हैं, तीनों लक्षणा

लाक्षणिक हैं, तीनों देह मायिक हैं, तीनों अवस्था कायिक हैं, तीनों लोक शोक हैं, तीनों देव स्तोक हैं। परब्रह्म सबका आधार है, परमात्मा सबका अधिष्ठान है, वह ही समष्टि है, वह ही व्यष्टि है, सब वह ही है, इसके सिवाय अन्य कुछ नहीं है, वह ही सबका आत्मा है, वह ही सत्य है, वह ही नित्य है, वह ही मैं हूं, सब विश्व मुझमें मेरे अज्ञान से कल्पित है, परमार्थ से विश्व तीनों कालमें मुझमें नहीं है, अज्ञान से मुझमें विश्व भासता है, न मुझमें विश्व है, न मैं विश्व में हूं, चिन्मात्र हूं, सन्मात्र हूँ, सुख मात्र हूँ, केवल हूँ, निष्कल हूँ, निगु ण हूँ, निरवद्य हूँ, सदा शिव हूँ, निरामय हूँ, अच्युत हूँ, निर्लेप हूँ, शाश्वत हूँ, पुराण हूँ, भूमा हूँ ! वेदों का तत्त्व हूँ, गीता का रहस्य हूँ ! वाह ! गुरुदेव त्रिपुरारी ! अच्छी मारी पिचकारी !

दर्श, पूर्णमास, अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम, अश्वमेध, बृहस्पति सव राजसूय आदि यज्ञ पूर्ण हुये ! नित्य, नैमित्तिक, काम्य, प्रायश्चित्त आदि कर्म कर लिये ! वैश्वानर विद्या, मधु विद्या, पंचाग्नि विद्या, पर्यंच विद्या, संवर्ग विद्या आदि सब विद्यायें समाप्त हुईं ! श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य, आत्म निवेदन नवधा, प्रेमा, परा पूरी हुई ! यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि अष्टांग योग आज पूरा हुआ ! विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति, मुमुक्षुता, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, तत्त्व पदार्थ शोधन हो चुका ! न मल रहा, न विक्षेप रहा, न संशय रहा, न विपर्य रहा ! करना था सो कर लिया, जानना था सो जान लिया, पाना था सो पा लिया ! तृप्त हूँ, संतृप्त हूँ, संतुष्ट हूँ, निश्चिंत हूँ, स्वयं सिद्ध हूँ ! वाह ! गुरुदेव निर्विकारी निर्हेतु देहधारी ! अच्छी मारी पिचकारी ! बोलो, नन्द के दुलारे, यशोदा की आखों के तारे, अर्जुन के गड़वारे, भक्तों के रखवारे, डूबते हुओं के सहारे, कारी कमरी वारे, होरी के मतवारे, कृष्ण प्यारे की जय !

अरे भोला ! क्या भूल में ही पड़ा रहेगा ? उमर भर होली खेली, ऐसी होली कभी न खेली ! रंग में भीगा, कीचड़ में सना, काला मुख किया, लाल गाल किये, पीले वस्त्र किये, पीटता रहा, पिटता रहा, चपतें खाईं चपतें लगाईं ऊटपटांग ही करता रहा, धूर्तों के साथ होली खेलता, गाली देता रहा, खाता रहा ! अमूल्य मनुष्य शरीर वृथा ही खो दिया, गुरुदेव की पिचकारी खाता, तो सर्वदा के लिये अजर, अमर, सुखी हो जाता ! अब भी चेत जा, गुरु से होली खेल, गुरु की पिचकारी खा, भगवत् के संमुख हो जा ! राजाओं का राजा हो जायगा, सब में भर जायगा, स्वतन्त्र हो जायगा, राज्य निष्कंट पायगा ! जन्म मरण के चक्र में फिर नहीं आयगा, अचल विष्णु पद पायगा, सुन तो सही, देखो कैसी मधुर सुहानी वाणी आ रही है, कान देकर सुन—

कुं—पिचकारी उसकी लगे, मैं तू जावे भूल।
निर्विशेष केवल रहे, उड़े दृश्य की धूल॥
उड़े दृश्य की धूल, एक द्रष्टा रह जावे।
शूल होंय निर्मूल, पूर्ण अक्षय पद पावे॥
भोला ! गुरु उपकार्य, बने परहित उपकारी।
शिष्य होय गुरु आप, खाय गुरुकी पिचकारी॥

—सकल चराचरानुचर भोला

एक मुमुक्षु का विचार।

एक शक्ति का उपासक अपने इष्ट भगवती जगदंबा की इस प्रकार प्रार्थना करने लगा। ब्रह्मानंद जिसका स्वरूप है, जो अमर्यादा शुद्ध चैतन्य रूप है और जो स्वयं दर्पण बन कर संसार रूप अद्भुत चित्र को प्रतिबिम्ब रूप से दिखलाती है उस त्रिपुरा देवी को मेरा वारंवार नमस्कार है।

इस प्रकार प्रार्थना करते करते एकाएक उसके शुद्ध अंतःकरण में प्रेम लहर की हिलोरें उठने लगीं और वह कुछ समय तक निश्चल होगया। उसकी आंखें आनंदाश्रु से भर आईं शरीर में रोमांच होगया और अंतःकरण में आनंद का प्रवाह होने लगा। फिर थोड़ी देर में सावधान होकर उसने अपने गुरु की वंदना की। आनंद के अतिशय से कंठ गदगद हो जाने के कारण साफ साफ शब्द नहीं निकलते थे। ऐसी अवस्था में वह कहने लगा "महाराज, आपकी कृपा से आज मैं धन्य हूं। मुझे मालूम हो रहा है कि साक्षात् शिव स्वरूप करुणा सागर गुरु के संतुष्ट होने पर प्रत्यक्ष इन्द्र पद भी तुच्छ है। जिस से स्वयं काल भी डरता है वह महेश्वर गुरु आज मुझ पर अप्रयास ही कृपालु हो गये। आपकी कृपा से आज मेरी सब प्राप्य वस्तु मुझे मिल जायगी; इसलिये जिसका इतना माहात्म्य है उस देवीकी उपासना पद्धति भी आज मुझे समझाकर बतलाइये।"

इस प्रार्थना को सुन कर गुरु के ध्यान में यह बात आगई कि अब शिष्य उपासना के योग्य हो गया है। "ईश्वर सेवा में ही अपना सच्चा कल्याण है," शिष्य की ऐसी श्रद्धा देख कर और उसका अंतःकरण भी अत्यन्त प्रेम पूर्ण जान कर श्री गुरु ने उसे उपासना का सब क्रम समझा दिया। उन्हें समझ कर शिष्य ने अभ्यास करने की इच्छा से एकांत में जाने के लिये आज्ञा ली और दूरके एक महेन्द्र नामक पर्वत पर चला गया। अपने मनको आनंद देने के योग्य एक निवास स्थान बना कर वहां उसने उपासना का आरंभ किया। त्रिपुरा देवी की मूर्ति का ध्यान, जप, पूजा आदि नित्य नियम पूर्वक करते हुए वहां उसने बारह वर्ष व्यतीत कर दिये। प्रेम पूर्वक उपासना करते रहने के कारण बारह वर्षों का बीत जाना उसके ध्यान में न आया। इसके बाद बैठे बैठे सहज ही उसके मन में एक दिन एक विचार आया कि मैंने श्री गुरु से सृष्टि निरूपण प्रसंग पूछा था परन्तु गुरु के भाषण का अर्थ आज तक मेरी समझ में नहीं आया। हां! हां!! हां!!! अब याद आया उस पर श्री गुरु ने "यह प्रस्तुत विषय नहीं है" कह कर कटकृदाख्यान बतलाया था, अतएव वह विषय वहीं रह गया था।

परन्तु सोचना चाहिये इस जगत व्यवहार का स्वरूप वस्तुतः क्या है? यह इतना बड़ा विश्व उत्पन्न कैसे होगया? यह किस ओर चला है? और यह स्थिति कहां करेगा? देखने पर इस संसार में एक तिनका भी स्थिर नहीं मालूम होता; उसमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता है, परन्तु आश्चर्य यह है कि सब जगत व्यवहार स्थिर दिखलाई पड़ता है। यह कैसे है? इस अद्भुत व्यवहार में मुझे विचार कहीं भी दिखलाई नहीं पड़ता! एक के पीछे एक अन्धे की तरह सब लोग चले जारहे हैं! संसार के लोग क्या, मैं स्वयं इसी बात का उदाहरण हूं! स्मरण नहीं कि बचपन में क्या क्या हुआ, कुमारावस्था में मेरा आचरण भिन्न प्रकार का और तारुण्य में दूसरे ही प्रकार का था। मेरा इस समय का

व्यवसाय उससे भी निराला है। परन्तु समझ नहीं पड़ता कि इन सबसे मुझे फल क्या मिला। जोजो मनुष्य जब जब जो जो उद्योग करता है तब तब स्पष्ट विचार करके फल पाने की इच्छा से करता है। परन्तु इतना करने पर भी आज तक किसको क्या मिला है? कौन सुखी हुआ है? लोग कहते हैं कि फल मिला। यह सब तो है, परन्तु है पागल पनकी बात। मैं उसे फल ही नहीं कह सकता। क्योंकि लोग फिर भी उद्योग करने को दौड़ने लगते हैं। मुझे बतलाओ कि जब एक बार फल मिल गया, तो दूसरी बार फल पाने की इच्छा कैसे होती है? परन्तु लोग तो लगातार फलकी इच्छा से उद्योग करते ही चले जाते हैं। फल तो उसे कहना चाहिये जिससे दुःख का नाश हो और सुख प्राप्त हो। परन्तु "मुझे अमुक कर्तव्य करना चाहिये" इस तरह से जब तक कर्तव्य शेष रहजाता है, तब तक दुःख का अन्त नहीं होता और सुख नहीं मिलता।

कर्तव्य का बोझ ही सब दुःखोंका दुःख है। उसके रहने तक दुःख का अभाव और सुख की प्राप्ति हो कैसे सकती है? सब शरीर तो झुलस गया हो और पैरों में चंदन का लेप लगाया जारहा हो। बस, कर्तव्य शेष रहने पर इसी तरह से सुखी होना संभव है। अथवा बाण के लगातार घुस जाने से कलेजा बिलकुल फट गया हो और अप्सरा आलिंगन कर रही हो तो जैसा सुख मिलता होगा, वैसा सुख कर्तव्य शेष मनुष्यों को मिलता होगा। सिर पर कर्तव्य का बोझ रखने वाले मनुष्य का सुख वैसा ही हो सकता है जैसा क्षय के कारण मृत्यु की ओर जाने वाले मनुष्य को संगीत सुनने के प्रयत्न से।

संसार में सच्चे सुखी वे ही हैं जिनका कुछ भी कर्तव्य शेष न रहा हो, अर्थात् जो पूर्ण तृप्त और अंतर्बाह्य शांत हो चुके हों। "मुझे यह कर्तव्य करना चाहिये" ऐसा मन में होने पर भी किसी को यदि कहीं सुख हो सकता हो तो सूली पर चढ़े हुए को भी गंध पुष्प से सुख मिल सकता है। जब कि सैंकड़ों कर्तव्यों से बिलकुल लदे हुए मनुष्य भी सुख की आशा करते हैं, तबतो बड़ा आश्चर्य ही मालूम होता है। इस अविचार की महिमा कहां तक वर्णन की जावे! करोड़ों कर्तव्य रूप पर्वत के नीचे दबे हुए लोग भी अपने को सुखी समझते हैं। जैसे किसी किसी सार्वभौम राजा का उद्योग लगातार जारी रहता है, वैसे ही बिलकुल भिखारी का उद्योग भी जारी है। उसी तरह से फल भी भिन्न भिन्न मिलते हैं और वे अपने को बड़े धन्य समझते हैं। और मैं भी परिणाम की ओर बिलकुल ध्यान न देकर, इन सब की विचार शून्य पद्धति के अनुसार अन्धे के पीछे अन्धे की तरह चल रहा हूं।

अब इस गतानुगतकत्व को छोड़ना चाहिये और गुरु के पास जाना चाहिये। मुझे इन सब बातों को सुलझाने के लिये और इस संशय समुद्र से पार जाने के लिये श्री गुरु के बोध रूपी नौका का आधार लेना चाहिये।

यह विचार करके विलम्ब किये बिना वह श्री गुरु की भेंट करने के लिये महेन्द्र पर्वत से निकल कर अपने गुरु के पास गंधमादन पर्वत पर आया। वहां उसने श्री गुरु की तेजस्वी मूर्ति को आसन पर स्थित देखा। सामने जाकर दोनों हाथों से दोनों चरण पकड़ कर और पैरों पर मस्तक रख कर साष्टांग वंदना की। यह देख कर श्री गुरु का अंतःकरण प्रसन्न हो गया और उन्होंने प्रेम से आशी-

र्वाद देकर कहा "वत्स उठ" उठने पर उन्होंने कहा "वत्स बहुत दिनों में भेट हुई है तेरा स्वास्थ्य तो ठीक है न?" गुरु के बतलाये हुए आसन पर बैठ कर प्रसन्न मुख से हाथ जोड़ कर गुरुजी से कहने लगाः—

"श्री गुरुदेव मैं तो आपके कृपामृतमें गोते लगा चुका हूं मुझे दैववशात् प्राप्त होने वाले रोगादिकों से क्या होगा! आपकी कृपा से मिले हुए आत्मामृत के डिब्बे में रहने के कारण मुझे व्याधि रूप प्रखर सूर्य का ताप नहीं हुआ। महाराज, आपकी कृपा ने मुझे बाहर भीतर आनंदित कर रक्खा है। महाराज के चरणों के सानिध्य का न होना ही केवल एक रोग है, इसके सिवा मुझे कोई रोग न था आपके दर्शन से मैं बिल्कुल अच्छा होगया हूँ। बहुत दिनों से मेरे मन में एक संशय लगा हुआ है। आशा है कि आप से आज्ञा मिलते ही उन सब शंकाओं के बारे में पूछूं।"

शिष्य का भाषण सुनकर दयालु श्रीगुरु महाराज को आनंद हुआ। वे प्रेम से कहने लगे "हे शिष्य पूछ! अपने बहुत दिनों के संशय को मुझे एक बार बतला। तेरे प्रेम को देख कर मुझे बड़ा आनन्द होता है। बतला, मैं तेरा समाधान करूंगा।"

जब श्रीगुरु ने प्रश्न पूछने के लिये उत्साहित किया तब उसने विनय और उत्साहके साथ कहना आरम्भ किया। वह कहने लगा "हे भगवन्! मैं संसार के तापों से अत्यन्त दुःखी होकर अपने प्राण घात करने का निश्चय कर श्री गंगाजी में डूबने जा रहा था। श्री महाराज मुझे उस दिन का पूरा पूरा स्मरण है। रास्ते में मुझे अकस्मात् एक अवधूत महात्मा से भेट हुई। अहा! जो सज्जन होते हैं वे सचमुच बहुत छिपकर रहते हैं। भस्म के नीचे दबी हुई अग्नि की तरह शीघ्र पहिचाने नहीं जा सकते। इसी तरह मैं बहुत समय के बाद उनके स्वरूप को समझ सका परन्तु उस सर्वांग शीतल पुण्य पुरुष की संगति से मुझे बड़ी शांति मिली मैंने उनकी स्थिति के सम्बन्ध में कई प्रश्न किये। उन्होंने जो उत्तर दिया वह बड़ा मधुर था सब बातोंका निष्कर्ष निकाल करमुझे उन्होंने सार अंश बतलाया। मेरी शोकजनित व्याकुलता तो दूर होगई और मेरा विचार भी बिल्कुल बदल गया परन्तु जैसे रंक को राजा का पद दुर्लभ है वैसे ही वह सार अंश ठीक ठीक मेरी समझ में नहीं आया, इसलिये मैंने उनसे फिर से समझा कर बतलाने के लिये प्रार्थना की, उन्होंने मुझे आपका नाम बतलाया अतएव मैं आपके चरणों में उपस्थित हुआ हूं। पहिले मैंने आप से त्रिपुरादेवी की भक्ति का पूर्ण वर्णन श्रवण किया है, उसकी उपासना करके मैंने उस देवी को अपने हृदय में धारण कर लिया है; परन्तु अवधूतजी के द्वारा बतलाया हुआ वह विषय अब तक मेरी समझ में नहीं आता। तब मैं इसी तरह की उपासना करते हुए आगे कब तक बैठा रहूं? इससे लाभ क्या है?

अतएव महाराज, अवधूतजी की ज्ञानावस्था के संबंध में मुझे कुछ समझा दीजिये। ज्ञान के बिना मनुष्य जन्म सफल हो नहीं सकता। जब तक ज्ञान नहीं है तब तक मैं समझता हूं कुछ भी कर्म करना बच्चों का सा खेल है। मैंने आज तक बहुतेरे कर्म किये, बहुत से यज्ञ किये यज्ञों में बड़ी २ दक्षिणायें दीं, बहुत सा अन्न दान करके इन्द्र आदि देवताओं

की पूजा की; परन्तु अवधूतजी की भेंट होने पर मुझे मालूम होगया कि इन सब बातोंका फल मर्यादित और क्षण भंगुर है। मैं समझता हूं कि क्षणिक सुख ही दुःख है। सुखका अभाव ही कुछ दुःख नहीं है, किन्तु थोड़ा सुख भी दुःख ही है। क्योंकि उस सुख के समाप्त होने पर निश्चय ही अधिक दुःख प्राप्त होता है। "परिणाम ताप संस्कार दुःखैर्गुण वृत्ति विरोधाच्च दुःख मेव सर्वं विवेकिनः" यही नहीं, इसमें एक और भी डर है। वह यह है कि इन सुख भोगादिकों से मृत्यु को सहायता मिलती है। ऐसा कोई उपाय दिखाई नहीं पड़ता जिससे मृत्यु न हो ! उपासना का भी यही हाल है।

सब उपासना मानसिक अतएव काल्पनिक होती हैं, इसलिये वह बच्चों के खेल के सिवाय और कुछ नहीं है। आपने जिस रीति से उपासना करने के लिये कहा था उस रीति से उपासना की जा सकती है और दूसरी तरह भी की जा सकती हैं। कर्म अनुष्ठान के अनुसार यह नियम से की जा सकती है और वृत्ति के उल्लास के अनुसार अनियमित भी होती है। शास्त्र में दोनों के लिये आधार है। सिवाय इसके उपास्य भेद होने पर उसकी विधि भी भिन्न भिन्न होती है। सारांश यह है कि यह सब बात यज्ञ की तरह हैं और इसके द्वारा सत्य अर्थात् शाश्वत फल मिलना संभव नहीं। भला काल्पनिक बातों से शाश्वत (कभी नष्ट न होने वाला यानी अविनाशी) फल कैसे मिल सकता है। शास्त्रों में कहीं कहीं यह भी कहा गया है कि "जीवन रहने तक कर्तव्य करना चाहिये परिणाम की ओर नहीं देखना चाहिये।"

यह सच है, परन्तु मुझे तो भगवान् अवधूतजी की स्थिति कुछ निराली ही दीख पड़ी। वह महात्मा सर्वांग शीतल थे और कर्तव्य के झंझट की विष ज्वाला से पूर्ण मुक्त होचुके थे। बिल्कुल निर्भयता के मार्ग में लगे रहने के कारण यह सब लोक व्यवहार उन्हें हास्यास्पद मालूम होता था। उनकी अवस्था, दावानल से प्रज्वलित जंगल में भी स्वस्थ चित्त से पानी में बैठे हुए हाथी की सी थी। सर्व कर्तव्य मुक्ति के अमृत का सेवन कर वह आनंदित होगये थे। श्रीमहाराज कृपा पूर्वक यह बतलाइये कि उनको ऐसी अवस्था कैसे प्राप्त होगई। हे भगवन् ! दयालु श्रीगुरुजी मुझे इस कर्तव्यरूपी काला सर्प से छुड़ाइये। आपके सिवाय मेरे इस संशय के छेदन करने को मुझे अन्य कोई दृष्टिगोचर नहीं आता।

इस प्रकार भाषण कर शिष्यने श्रीगुरु के चरणों पर मस्तक रखा। उसे ज्ञान का अधिकारी देखकर स्वाभाविक दया के साथ श्रीगुरु ने बोलना आरंभ किया।

श्रीगुरुः—हे शिष्य ऐसी बुद्धि प्राप्त होजाने के कारण तू धन्य है, ऐसी बुद्धि का मिलना समुद्र में डूबने वालेको नौका का मिल जाना है। उपासनादि कर्मों के योग से जिस पुण्यवान् को ऐसा सुविचार मिल गया हो वही मनुष्य अपने को परम पावन पद पर लेजा सकता है। सबके हृदयाकाश में रहने वाली त्रिपुरादेवी जब उपासना के वश होकर अपने अनन्य भक्तों के हृदय में विकसित होती है तब वह उसे मृत्यु के भयंकर जाल से तुरन्त छुड़ा देती है। जब तक इस कर्तव्य रूपी भूत का मनुष्य को अतिशय डर है तब तक उसे सुख नहीं मिलता। कर्तव्य रूपी काला सर्प से काटे गये मनुष्यों को कल्याण प्राप्त कैसे हो सकता है ? कर्तव्य का विष लगने के कारण यह सब जगत मूर्छित और अन्धा होगया है। वह आत्महित के सच्चे मार्ग को पहि-

चान नहीं सकता अतएव मन माने मार्ग में जाने के कारण बार बार मोह में पड़ता है। इस तरह कर्तव्य रूपी विष से मूर्छित यह जगत अनादि काल से मानो भयंकर विष सागर में पच रहा है।

चिरंतन आनंद पद का नित्य अनायास अनुभव होते रहने के कारण तत्ववेत्ता ज्ञानी पुरुषों को यह देखकर बड़ा खेद होता है कि संसार के साधारण जन सुख की लालसा से यहां वहां भटकते रहते हैं; अतएव उनमें यह प्रयत्न करने की बुद्धि जाग्रत होती है कि ये संसारी जन किसी भी उपाय से सुख में रहें। सरल रीति से समझ में आजावे इससे दृष्टांत देकर समझाता हूं।

एक बार कुछ यात्री घूमते घूमते विंध्याद्री पर पहुंच गये। क्षुधा से पीड़ित होकर वे इधर उधर फल ढूंढ़ने लगे। उन्हें कुचला के फल मिले। नाम की सदृशता से उन्हें काजू के फल समझकर उन्होंने उनका सेवन किया। भूख की व्याकुलता में रुचि की ओर भी उनका ध्यान नहीं गया। परन्तु थोड़ी देर के बाद कुचले का विष शरीर में व्याप्त होजाने से उनके शरीर में जलन होने लगी। यह समझ कर कि यह काजू के फलों का परिणाम है वे उस विष के दाह की शांति करने के लिये उपाय ढूंढ़ने लगे। फिर उन्हें धतूरे के फल मिले, निम्बू के भ्रम से वे उन सबको खागये इससे और भी अधिक विपत्ति में पड़कर और मार्ग से भ्रष्ट होकर यहां वहां भटकने लगे। जंगल घना होने के कारण मार्ग में सूर्य का प्रकाश बिल्कुल न आ सकता था। अतएव वे गड्ढों में गिरने उठने लगे, सर्वांगों में कांटों के चिह्न होगये और हाथ पैर तथा घुटनों से खून निकलने लगा फिर परस्पर उन्होंने एक दूसरे को ढकेलना आरंभ किया।

इस प्रकार करते करते लड़ाई शुरू होगई और वे एक दूसरे पर लकड़ी, पत्थर और घूंसों की मार करने लगे। थोड़ी देर में उनके सारे शरीर में घाव होगये। अन्त में उन्हें एक गांव मिला, वे शाम तक उस गांव की सीमा पर पहुंचे और दरवाजे से भीतर घुसने लगे। सामने आकर द्वारपाल ने उन्हें भीतर जाने से रोका। इन मूर्खों को यह खबर न न थी कि वे कहां हैं और प्रसंग क्या है। अतएव उन्होंने मार पीट शुरू की! परिणाम में वे द्वारपाल के द्वारा खूब पीटे गये। असह्य मार पड़ने पर वे उधर ही भागने लगे जिधर राह मिली। कितने ही शहर के आस पास के गड्ढों में गिरे, कोई कुंए में गिरकर मर गये। जो बच गये वे किसी तरह प्राण लेकर भागे।

संसार यह है कि सब लोग इन मूर्खों के सदृश अपने कल्याण की इच्छा से कर्तव्य का विष पीकर मूर्छित होगये हैं और मोह से अन्धे होकर अपने हाथों से अपना नाश कर रहे हैं। हे शिष्य, तेरे अंतःकरण में विचार उत्पन्न हुआ है इसलिये तू धन्य है। विचार सबका मूल है और ब्रह्म पद में जाने की पहिली सीढ़ी है। बिना सुविचार के किसी का भी कल्याण कैसे हो सकता है? अविचार ही बड़ा भारी मौत है। अविचार से ही सब नष्ट होगये, विचार करने वाले की ही सदा जय होती है और उसे ही सब इष्ट बातें मिलती हैं। दैत्यों और राक्षसों का नाश अविचार से ही हुआ और उत्तम विचारों के कारण ही देवताओं को सब सुख मिले। वे श्री विष्णु की सहायता से अपने शत्रुओं को जीत लेते हैं पर इसमें सुविचार ही कारण है। सुविचार ही सुख वृक्ष का बीज है, इसीसे सुखके अंकुर फूटते हैं। मनुष्य सबसे अधिक शोभा विचार ही के कारण

पाता है। विचार ही से ब्रह्मदेव महत्पद पर पहुंचे हैं और विचार ही से श्रीहरिकी सर्वत्र पूजा होरही है। विचार ही के द्वारा श्रीशंकर सर्वज्ञ और महेश्वर होगये। श्रीरामचन्द्रजी बुद्धिमान थे सही, परन्तु मृग को ढूंढ़ने के अविचार में पड़ जाने के ही कारण से वे बड़े संकट में पड़गये थे और विचार ही के योग से समुद्र का उल्लंघन करके राक्षसों से भरी हुई लंका पर उन्होंने आक्रमण किया। हां यह बात निस्संदेह ठीक है कि श्रीभगवान् रामचन्द्रजी मर्यादा पुरुषोत्तम अवतार हुए हैं उन्होंने जीवों को शुभ मार्ग पर लाने के लिये नर चरित्र दिखलाये हैं। "प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी"। "राम देखि नित चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे॥" यह सत्य ही है अविचार से ही महादेव ने राक्षस को वर दिया और जब स्वयं भस्म होने की नौबत आई तब खुद ही डर कर भागने लगे। हरिने भी अविचार से ही पूर्व काल में भृगु ऋषि की स्त्री को शाप देकर नष्ट कर दिया था और अपने ऊपर बड़ा भारी संकट बुला लिया था। ये ही क्या, कोई देवता, असुर, राक्षस, मनुष्य, पशु भी हों सब अविचार से ही संकट में पड़ते हैं।

हे शिष्य, जब अविचार से इतने महान् सर्वज्ञ ईश्वर रामादिको संकट सहने पड़े तो अस्मदादि जीवों की तो गणना ही क्या है। इसलिये जिसे विचार कभी नहीं छोड़ता वही धीर और महात्मा है, वह सदैव वंदनीय है। इसी अविचार के कारण लोग अनावश्यक कर्तव्यों को सिर पर लाद कर नाचते हैं। परन्तु जब वे ही विचार करते हैं तब उसके कारण अनंत संकटों से मुक्त हो जाते हैं। सारांश यह है कि लोगों को विचार बड़ा उपयोगी साधन मिला है। जब अविचार है तब विचार कहां से आवेगा? प्रखर उष्णता से तपे हुए रेती के मैदान में ठंडे पानी का मिलना संभव नहीं है। जब तक अविचार रूपी अग्नि की ज्वाला चारों ओर फैली हुई है तब तक कोई उपाय ढूंढ़े बिना विचार का शीतल स्पर्श मिल नहीं सकता।

उपाय केवल एक है और वह सर्व श्रेष्ठ है। वह क्या है? सबके हृदय में निवास करने वाले अंतर्यामी की सच्ची कृपा। अविचार से अंधे बने हुए लोगों के घोर अज्ञान तमको नष्ट करने वाला और मोक्ष प्राप्ति का उत्कृष्ट साधन विचार रूपी सूर्य उसकी कृपा के बिना किसीको कैसे मिल सकता है? उसकी कृपा संपादन करने का उपाय भक्तिपूर्वक उसकी सेवा करना है। उत्तम सेवा के द्वारा साधक पर संतुष्ट होकर वही अंतर्यामी अंतःकरण में विचार रूपी सूर्य की तरह उदय होता है।

इसलिये इस सर्व अंतर्यामी, चिन्मय, शिव और स्वात्मस्वरूप उर प्रेरक महेश्वर का भजन करना चाहिये। उपासना क्रम सद्गुरु से समझ लेना चाहिये। मनमें किसीकी भी कामना नहीं रखनी चाहिये। आराधना के मूल में भी प्रेम और विश्वास चाहिये। इसके लिये पहिले महिमा को स्पष्ट रीति से श्रवण कर लेना चाहिये।

हे शिष्य, इसीलिये पहिले मैंने तुझे इष्ट का माहात्म्य सुनाया था; भगवती, शिव, राम, कृष्ण, नृसिंह इत्यादि सब उसीके स्वरूप हैं। उसीके कारण तुझे आज यह मंगलमय और मोक्षदायक विचार मिला है। अब तुझे कोई डर नहीं। जब तक विचार का उदय नहीं होता तभी तक बड़ा डर रहता है। जो अविचारग्रस्त हैं उसे पद पद पर डर है। जिस मनुष्य को सन्निपात होगया हो उसे औषधि देने

से भी क्या लाभ होगा जब तक शरीर गत धातु शुद्ध न होजावे तब तक मृत्यु का डर बना ही रहेगा, ज्यों ही महत्व पूर्ण विचार उत्पन्न हुआ कि मनुष्य जन्म को सार्थक ही समझना चाहिये।

यदि ऐसे उत्तम नर जन्म के मिलने पर भी मनुष्य को सुविचार प्राप्त न हो तो उस जन्म को निष्फल ही समझना चाहिये। जो विचार पूर्ण हो उस जन्म को ही सफल समझना चाहिये। विचार न करने वाले लोग कूप मंडूक के समान होते हैं। कूप में जन्म लेने वाला मेंडक जैसे शुभ नहीं देखता तथा अशुभ भी नहीं देखता और जैसे जन्म लेता है वैसे ही मर जाता है। उसी तरह इस ब्रह्मांड कूप में जन्म लेने वाले लोग भी व्यर्थ जीवन व्यतीत करते हैं; क्योंकि वे यह नहीं जानते कि हित और अहित किसमें है वे जैसे जन्म लेते हैं वैसे ही मर भी जाते हैं। पुत्र संपत्ति आदि दुःखों को वे सुख समझते हैं और भक्ति वैराग्यादि सुख के स्थानों को दुःख समझते हैं। वे अविचार के प्रभाव से संसार रूपी अग्नि में जलते रहते हैं। दुःख से तड़फड़ाते रहने पर भी उसका त्याग नहीं करते। जैसे गधा सैकड़ों लातें खाकर भी गधी के पीछे लगा रहता है उसी तरह वे लगातार संसार के पीछे लगे रहते हैं। हे शिष्य, तू धन्य है, तेरे पुण्यों को धन्य है कि आज तू विचारशील होकर दुःख के उस पार निकल गया।

प्रिय पाठको! शिष्य गुरुके उपदेश द्वारा श्रवण मनन निदिध्यासन कर दृढ़ अपरोक्ष आत्मा का साक्षात्कार करके जीवनमुक्त हो पृथ्वी पर निर्भयता से विचरने लगा। यदि सुख से जीवन व्यतीत करना हो तो इसका नित्य पाठ कर अनुष्ठान करिये।

—स्वामी आत्मानंद।

वाक्य वृत्तिः।

(गतांक से आगे)

पुत्र वित्तादयो भावा
यस्य शेषतया प्रियाः।
द्रष्टा सर्व प्रिय तमः
सोऽहमित्यवधारय ॥ २४ ॥

अर्थः—पुत्र धन आदि पदार्थ आत्मा का हितकर होने से प्रिय हैं वह (द्रष्टा) आत्मा पुत्रादि सब पदार्थों से अधिक प्रिय है, वह मैं हूँ ऐसा तू निश्चय कर।

विवेचन।

अज्ञान की अवस्था में जगत और जगत के पदार्थ हमको प्रिय लगते हैं क्योंकि वे हमको सुख देने वाले हैं, ऐसा हम मानते हैं। जहां सुख का भाव होता है वह प्रियत्व होता है जहां सुख का भाव नहीं होता वहां प्रियत्व नहीं होता। जगत के अनेक पदार्थ हैं वे सब एक ही प्रकार से सब किसी को प्रिय अथवा अप्रिय नहीं हैं, किसी में न्यून और किसी में अधिक प्रियत्व होता है और कोई अप्रिय होते हैं। एक पदार्थ में जो इस समय प्रियता है वह आगे अधिक प्रिय हो जाय अथवा अप्रिय भी हो जाय। इसी से यह भी मालूम होता है कि एक पदार्थ में एक समान प्रियता हमेशा नहीं रहती। जिस समय जो अनुकूल होता है वह प्रिय होता है, आत्मा के अनुकूल होने में पदार्थों में प्रियत्व मालूम होता है और जहां जिसमें आत्मा में अनुकूलता नहीं दीखती वहां प्रियत्व नहीं है।

एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ में अधिक प्रियत्व है इस प्रकार प्रियत्व की भी कई कक्षा हैं, जब कोई विशेष कारण न हो तो सामान्य प्रियत्व से व्यवहार होता है और खास कारण में यह नियम नहीं रहता। उद्यम प्रिय है क्योंकि उद्यम से धन पैदा होता है, धन प्रिय है क्योंकि धन से पांचों विषय का भोग इच्छानुसार हो सकता है, जगत में प्रतिष्ठा भी धन से ही है। ऐसे धन से पुत्र अधिक प्रिय है, क्योंकि जो कुछ यहां पैदा किया जाता है उसका उपयोग करने वाला अपने मरने के पश्चात् पुत्र ही होता है, जगत के व्यवहार में पुत्र अपना प्रतिनिधि है इसीसे अधिक प्रिय है। पुत्र से अपना शरीर अधिक प्रिय है क्योंकि शरीर से अन्य पुत्र पैदा हो सकता है। शरीर की अपेक्षा से पुत्र दूर है। शरीर के अन्य अंगों की अपेक्षा से प्राण समीप होने से अधिक प्रिय है, क्योंकि एकाध अंग न हो तो भी जीवन रह सकता है और प्राण रहित जीवन ही नहीं रहता और सबसे अधिक में अधिक प्रिय आत्मा है, आत्मा के हेतु ही प्राण शरीर पुत्र धनादि प्रिय होते हैं। जिसके कारण सब में प्रियत्व है ऐसा आत्मा सबसे अधिक प्रिय है। ऐसे आत्मा को जान कर वह मैं हूँ ऐसा तू निश्चय कर। श्रुतियों का कथन है कि आत्मा के प्रिय करने वाले होने से सब पदार्थ प्रिय होते हैं।

एक सेठ एक छोटे से ग्राम में रहता था वह बहुत धनवान् और कंजूस था बड़े बड़े शहरों के बड़े साहूकारों से भी उसके पास धन अधिक था एक प्रकार से वह इस जगत का कुबेर भंडारी था। जितना धन उसके पास था सब उसने जमीन में-तहखाने में रखा था और उसकी चाबियों को प्राण के समान सँभाल कर अपने पास ही रखता था वह उसे अपनी स्त्री अथवा मित्र को कभी भी देता नहीं था, एक क्षण भरके लिये भी अपने पास से चाबियों को अलग करता न था। उसके धन की किसी को खबर न थी सामान्यता से ही लोग उसे धनवान् समझते थे और साहूकार को भी मेरे पास कितना धन है उसका पूरा हाल मालूम नहीं था। धन इतना अधिक था कि साहूकार उसे गिन भी नहीं सकता था। बड़ी उमर में उसे एक पुत्र हुआ था उसकी खुशी में भी सामान्य खर्च किया था, लोग कहते हैं कि पुत्र धन से अधिक प्रिय होता है परन्तु इस साहूकार के विषय में यह नियम झूंठा हो जाता था वह अपने धन को अपने प्राण से भी अधिक प्रिय समझता था।

एक समय उसके घर में डाका पड़ा संयोग-वश इस रात्रि को साहूकार घर पर नहीं था, पास के एक ग्राम में तगादा करने को गया था वहां देरी हो जाने से घर पर आया नहीं था। घर पर दो नोकर और साहूकार की स्त्री थी उसकी गोद में साल भर का बच्चा था। डाकुओं को देखते ही दोनों नोकर भाग गये। डाकुओं में से कुछ बाहर रहे और दो घर में घुसे, घर में सब स्थान पर देखा साहूकार न मिला, बच्चे सहित स्त्री को एक कमरे में सोई हुई पाई, डाकू आते ही वह जाग्रत हो गई। साहूकार को तंग करके उसके पास से धन का पता लगाकर धन लेने के ख्याल से डाकू आये थे, वह निरास हुए। सब स्थान में घूमते हुए लेने के योग्य कोई कीमती पदार्थ न मिला तब एक डाकू ने स्त्री के पास आकर उससे पूछा:—तेरा पति कहां है? घबराहट में स्त्री कुछ उत्तर देने न पाई ऐसा देख दूसरे डाकू ने कहा:—तू घबड़ा मत अपने पति को बतादे हम तुझे दुःख नहीं देंगे।

थोड़ी देर के बाद स्त्री ने कहा कि पास के ग्राम में गये हैं आज रात्रि को घर पर आये नहीं

हैं। तब पहिले डाकू ने कहा तेरे घर में धन कहां गढ़ा है तू ही बतादे। स्त्री ने कहा मुझे कुछ भी मालूम नहीं है मेरा मालिक धन सम्बन्धी कुछ भी बात मुझे कहता नहीं है। दूसरे डाकू ने पहिले डाकू से कहा यह क्या जाने? इस पाजी का स्वभाव मुझे मालूम है वह अपना भीतरी हाल किसी से कहने वाला नहीं है यदि हमें मिल जाता तो काम बन जाता। स्त्री से कहने लगा तेरे पास जो धन है वह हमको दे दे। स्त्री ने कहा मेरे पास कुछ भी नहीं है, मेरा मालिक सब धन अपने पास छिपा कर रखता है। प्रथम डाकू ने कहा हमको धन नहीं देगी, दिखला नहीं देगी तो हम तेरे लड़के को मार डालेंगे। स्त्री कांपती हुई बोली मेरे शरीर पर जो जेवर है वह सब मैं उतार देती हूं मेरे बच्चे को मत मारियो कह कर उसने अपने हाथ से जेवर उतार कर सामने धर दिया। प्रथम डाकू बोला गढ़ा हुआ धन को भी दिखला दे। स्त्री कांपती हुई बोली मैं सच कहती हूँ मुझे कुछ मालूम नहीं है। दूसरे डाकू ने कहा तू उसे क्यों हैरान करता है, जेवरको उठाले मैं उसके पति को जानता हूँ इस बिचारी को कुछ भी मालूम नहीं है।

डाकू घर में सब स्थान पर घूमे सब स्थान पर ठोंक २ कर देखा परन्तु कहीं भी भीतर पोल हो ऐसा मालूम न हुआ, स्त्री के पास से जो जेवर मिला वह लेकर चले गये। दूसरे दिन साहूकार घर पर पहुँचा। स्त्रीने डाकुओं को जेवर उतार दिया ऐसा जानकर बहुत कुछ कुढ़ा। कुछ दिनका अरसा देकर फिर उन्हीं डाकुओं ने आकर साहूकार के घरको घेर लिया। साहूकार डाकुओं को देख कर भागने को चाहता था परन्तु भाग न सका, डाकुओं ने उसे पकड़ लिया। ग्राम वाले साहूकार की मदद करने को आ नहीं सकते थे, क्योंकि कई डाकू संगीन लेकर बाहर पहरा दे रहे थे। डाकुओं ने साहूकार से अपना सब धन दे देने को कहा और कहा कि यदि तू माल नहीं देगा तो तुझे जान से मार देंगे। साहूकार ने कहा मुझे तुम लोग भले ही मार डालो मेरे पास है ही क्या कि मैं दूं। मेरे पास बहुत माल है ऐसा कहकर तुमको किसी ने बहका दिया है, घर में सब स्थान पर देख लो जो मिले सो ले जाओ। एक डाकू ने कहा कैसी बातें बनाता है चल प्राण देने को तैयार होजा कह कर दो चार थप्पड़ जोर से लगा दिये, साहूकार घबराया और विचारने लगा कि यह दुष्ट मुझे छोड़ेंगे नहीं अब क्या करूं! मैं धन देकर जिन्दा रहना भी पसंद नहीं करता, मुझे मार डालेंगे तब मेरा धन मुझे क्या काम में आवेगा? डाकू से रोते हुए कहा मुझे मत मार तुझे जो चाहिये सो ले ले, मुझे जिन्दा छोड़। एक डाकू ने दो चांटे लगाते हुए कमर में हाथ डाला वहां से उसे तहखाने की चाबी मिलगई उससे छीन कर हाथ में लेकर बोला यह चाबी किसकी है? साहूकार ने कुछ उत्तर न दिया तब उसे बहुत पीटा, अधिक कष्ट पाकर साहूकार बोला तहखाने की। डाकू ने कहा तहखाना कहां है? साहूकार तहखाना दिखलाने को चाहता नहीं था परन्तु मारसे बहुत घबड़ा गया आज तक वह समझता था कि प्राण से धन प्यारा है अब उसे मालूम हुआ कि प्राण ही अधिक प्यारा है। उसने डाकुओं से कहा मेरे साथ चलो मैं तहखाना दिखला देता हूं, मुझे मारो मत ऐसा कह कर घरके बाहर निकलने लगा; एक डाकूने मारकर नीचे पटक दिया बाहर जाने न दिया और कहा, इस प्रकार के निमित्त से तू भाग जाना चाहता है तू अब धन दिखाये बिना बच नहीं सकता तेरा धन तेरे घर में ही है बाहर नहीं है। गढ़ा हुआ धन दिखला, दुष्ट तू प्राण खोकर ही धन देगा! साहूकार मार से भय-

भीत होकर कांपता हुआ तहखाने की तरफ चला। तहखाना पाखाने के नीचे था! पाखाने के पास जाते हुए देखकर डाकूने उसे फिर पीटा, साहूकार बेहोश होकर गिर गया। थोड़ी देर में जब होश में आया तब बोला मैं तहखाने के पास तुमको ले जा रहा था तुम मुझे पीट कर बेहोश कर देते हो। एक डाकू बोला छी: पाखाने के तरफ कहां ले जा रहा है? साहूकार बोला पाखाने में ही तो तहखाना है। दूसरे डाकू ने प्रथम डाकू को रोका। साहूकार ने पाखाने की किवाड़ी खोल कर उस दीवाल की बाजू में एक छोटी खिडकी थी डाकू से चाबी लेकर उसे खोल दी और बोला यह तहखाना है, इसी में मेरा सब माल भरा है। एक डाकू ने साहूकार को मार कर बेहोश कर नीचे पटक दिया और तहखाने में जाकर जितना जवाहरात और सुवर्ण था पांच चक्कर लगाकर बाहर निकाल ले आया और सब डाकू उसे लेकर साहूकार को बेहोश छोड़कर चले गये।

साहूकार धन जानेसे बहुत दुःखी था, कुछ दिन में स्त्री पुत्र मर गये, अकेला रहा, बुढ़ापा ने भी आकर घेर लिया, वारंवार बीमार पड़ने लगा खांसी-खुरे होते हुए दमा हुआ और शरीर हाड़ पिंजर ही रह गया। खाने को मिले नहीं सब कोई तिरस्कार करें इस प्रकार बहुत दुःखी होकर मृत्यु की चाहना करने लगा। एक दिन दुःख के आवेश में रात्रि में उठ कर चौमासे में चढ़ी हुई नदी जो थोड़ी दूर पर बहती थी उसमें कूद पड़ा प्राण त्याग किया।

स्त्री को धन से बच्चे के ऊपर अधिक प्रेम था इससे उसने बच्चे को मारने न दिया और अपने शरीर के ऊपर का सब गहना उतार दिया, बच्चे को बचा लिया। साहूकार ने अपने प्राणकी रक्षा करके डाकुओं को धन दिखला दिया और पश्चात् जब शरीरमें प्राण रहने से अत्यन्त कष्ट हुआ तब आत्मा को दुःख न होने के लिये, आत्मा के ऊपर अधिक प्रेम होने से प्राण का भी त्याग कर दिया। धन पुत्र प्राणादि सब प्रिय है तो भी धन से पुत्र प्रिय है पुत्र से प्राण प्रिय है और प्राण से भी आत्मा प्रिय है। सबकी प्रियता आत्मा के लिये ही होती है। जो जो पदार्थ प्रिय लगते हैं वे सब जब आत्मा के अनुकूल होते हैं तब ही प्रिय होते हैं, अनुकूल न हो इस समय प्रिय नहीं होते और आत्मा में तो कभी अप्रियता नहीं होती इसीसे आत्मा सब से अधिक प्रिय है यह आत्मा मैं हूं ऐसा निश्चय करना चाहिये।

पर प्रेमास्पद तया
मा न भूवमहं सदा।
भूयासमिति यो द्रष्टा
सोऽहमित्यवधारय ॥ २५ ॥

अर्थः—मैं कभी भी नहीं था ऐसा नहीं है मैं हमेशा ही रहूँगा इस प्रकार अत्यन्त प्रीति का विषय जो द्रष्टा है वह मैं हूँ ऐसा तू निश्चय कर।

विवेचन।

सूक्ष्म बुद्धि से विचार करने से मालूम होता है कि अपने अस्तित्व का अभाव किसी को मालूम नहीं होता, मैं नहीं था ऐसा कोई नहीं जानता—कह नहीं सकता, शरीर के भाव से अपने को एक करके शरीर मैं हूं ऐसा समझकर भले कोई कहे, परन्तु आत्म भाव से मैं नहीं था ऐसा कहना नहीं बनता और वर्तमान काल में मैं न हूँ ऐसा पागल के

सिवाय कोई नहीं कह सकता। कहने वाला कह रहा है तब कहने वाले का निषेध किस प्रकार हो? इस प्रकार भविष्य में भी मैं नहीं रहूँगा ऐसा भाव नहीं होता क्योंकि भविष्य की सिद्धि का स्थान-आधार आत्मा है इस प्रकार तीनों काल में मैं नहीं हूं ऐसा नहीं है, मैं हमेशा हूँ ऐसा भान होता है यह ही सब से अधिक प्रेम है। आत्मा ही सर्वका द्रष्टा होने से सब से अधिक प्रिय है। वह द्रष्टा मैं हूं ऐसा निश्चय करना चाहिये।

शंका:—प्रियत्व पदार्थ में होता है, बाहर होता है अपने आत्मामें किस प्रकार हो? आत्मा प्रियत्व का ग्राहक है। पदार्थ में प्रियत्व होने से उसका ग्राहक आत्मा बन सकता है। आत्मा को ही प्रिय कहा जाय तब उसका ग्राहक कौन होगा? इसीसे जो आत्माको अनुकूल होने वाला पदार्थ है वह ही प्रिय होता है, आत्मा प्रिय नहीं।

समाधान:—आत्मा के अनुकूल होने से पदार्थ में प्रियत्व होता है यह ठीक है परन्तु जिसकी अनुकूलता में प्रियत्व है तब उस स्वरूप में प्रियत्व क्यों नहीं? जैसे चूरमा में मिश्री की मिठास है, चूरमा मीठा है। वह जिसकी मिठास से मीठा है ऐसी मिश्री भी मीठी है इस प्रकार आत्मा प्रिय होता है, अप्रिय कभी भी नहीं होता। अन्य पदार्थके प्रियत्व का ग्राहक होने से स्वयम् में प्रियत्व न हो ऐसा नहीं बन सकता।

शंका:—मिश्री का दृष्टांत ठीक नहीं है चूरमा की मिठास का ग्राहक मनुष्य है, मिश्री नहीं है, मिश्री मिठास का स्वरूप है ग्राहक नहीं है और आत्मा ग्राहक होने से प्रिय कैसे है?

समाधान:—आत्मा प्रियत्व का ग्राहक है ऐसा जो तुझे मालूम होता है वह अज्ञान से है। जैसे मिश्री की मिठास ही चूरमा में होती है इस प्रकार आत्मा का प्रियत्व ही पदार्थ में प्रतीत होता है। आत्मा अत्यन्त प्रिय है, सम्पूर्ण प्रियत्व का खजाना है।

शंका:—बुद्धि से मैं हूं इस प्रकार बोध होता है बुद्धि न हो तो बोध नहीं होता इस शरीर के प्रथम बुद्धि नहीं होती तब शरीर के प्रथम मैं था ऐसा किस प्रकार जाना जाय? शरीर के नाश के पश्चात् बुद्धि न होने से मैं होऊँगा यह किस प्रकार सिद्ध हो? मैं हूँ ऐसा वर्तमान काल में ही शरीर और बुद्धि होने से हो सकता है।

समाधान:—बुद्धि से ही अस्तित्व सिद्ध होता है ऐसा नहीं है। बुद्धि न हो तब भी अस्तित्व चला नहीं जाता। सुषुप्ति अवस्था में बुद्धि का अभाव है फिर भी कोई अपने को मैं नहीं था इस प्रकार मानता नहीं है मैं तो था ही। सुषुप्ति में जगत का बोध नहीं था और तू ऐसा कहे कि शरीर तो वहां था तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि जाग्रत अवस्था में व्यवहार करने वाला शरीर का वहां अभाव ही है। अपने से भिन्न के बोध में बुद्धि की आवश्यक्ता है अपने बोध में नहीं इससे बुद्धि रहित भी अपना अभाव कभी नहीं है। अज्ञान में आत्मा का यथार्थ बोध नहीं होता तो भी हमेशा बने रहने का भाव आत्मा का ही है, इसलिये सबका द्रष्टा सब से अधिक प्रेम स्वरूप आत्मा मैं हूं ऐसा ही निश्चय कर।

यः साक्षि लक्षणो बोध-
स्त्वं पदार्थः स उच्यते।
साक्षि त्वमपि बोध त्व-
मविकारि तयाऽऽत्मनः ॥२६॥

अर्थ—जो ज्ञान स्वरूप आत्मा साक्षी रूप से प्रतीत होता है वह त्वंपद का अर्थ कहा जाता है, आत्मा में साक्षित्व बोधत्व भी निर्विकल्पता से है।

विवेचन।

आत्मा ज्ञान स्वरूप है ऐसा सामान्य मनुष्य नहीं जानता, जब कोई तत्त्वमसि आदि महावाक्य का श्रवण करता है तब उसे आत्मा ज्ञान स्वरूप है ऐसा प्रतीत होता है। तत्त्वमसि महावाक्य में जो त्वंपद है उसका व्यवहार में जीव भाव से उपयोग होता है परन्तु स्वरूप भूत वास्तविक अर्थ किया जाय तो त्वं ज्ञान स्वरूप आत्मा ही कहा जाता है। सबका साक्षी होने से साक्षी आत्मा ही कहा जाता है। जो किसीकी भी सहायता विना स्वयम् और दूसरों को प्रकाशित करता है उसे साक्षी कहते हैं।

ज्ञान स्वरूप और साक्षी ऐसा जो कथन किया है वह लौकिक दृष्टि से विलक्षण है। मृत्तिका ही जैसे घट का स्वरूप है ऐसे ज्ञान ही जिसका स्वरूप है वह ज्ञान स्वरूप है। ज्ञान स्वरूप होनेसे पृथक् ज्ञान करने वाला न समझना चाहिये। साक्षी प्रकाश करता है इससे उसे साक्षी भी कहते हैं यह विकार रहित है, इसी से निर्विकल्प है। सविकल्पज्ञान और सविकल्प साक्षी वह नहीं है।

शंका:— जब वह अविकारी निर्विकल्प स्वरूप है तब उसमें ज्ञान स्वरूप और साक्षी कहना नहीं बनता, जहां कल्पना का ही अभाव है वहां ज्ञान स्वरूप और साक्षी किस प्रकार कहा जाय?

समाधान:—तेरा कहना ठीक है। निर्विकल्प में उन दोनों शब्दों का कहना नहीं बनता परन्तु हम कहने वाले सविकल्प में बैठ कर, जो सविकल्प में है ऐसे शिष्य को सविकल्प में से निर्विकल्प में लक्ष पहुंचाने के हेतु कथन करते हैं हमारा कहना निर्विकल्प में नहीं है तो भी निर्विकल्प में लक्ष पहुंचाने का हेतु हो सकता है। ज्ञान स्वरूप कहने से तू जैसे लौकिक ज्ञान है ऐसा उसे न समझ ले इसी कारण ज्ञान स्वरूप कह कर निर्विकल्प कहा है और साक्षी भी लौकिक साक्षी के समान नहीं है। व्यवहार में साक्ष्यका साक्षी कहा जाता है यहां तो कल्पित सब कुछ साक्ष्य है इसीसे अमुक साक्ष्य का साक्षी है ऐसा न होने से केवल प्रकाश स्वरूप से साक्षी का कथन किया है इसीसे साक्षी भी कल्पना में न आवे ऐसा निर्विकल्प ही रहा। विकार वाले पदार्थ सब अनात्म होते हैं इसी से वह न निर्विकार है न निर्विकल्प है, आत्मा ही निर्विकारी होने से निर्विकल्प है।

देहेन्द्रिय मनः प्राण-
हंकृतिभ्यो विलक्षणः।
प्रोज्झिता शेष षड्भाव-
विकारस्त्वं पदाभिधः॥ २७॥

अर्थः—देह इन्द्रिय मन प्राण और अहंकार से आत्मा विलक्षण है इसी कारण से ही जो जन्मादि षट् भाव विकार से रहित है वह त्वं पद का लक्ष्यार्थ है।

विवेचन।

ज्ञान स्वरूप साक्षी का कथन करके निर्विकल्प कहा उसे स्पष्ट समझाने के लिये देहादिक से उसकी विलक्षणता को दिखलाते हैं। देह जड़ है तो भी

व्यवहार काल में चैतन्य के समान व्यवहार करती है, इन्द्रियां मन प्राण और अहंकार सूक्ष्म है और चैतन्य हो ऐसा प्रतीत होता है, इस प्रकार स्थूल शरीर और उसके अंग और सूक्ष्म शरीर और उसके अंग सब जड़ हैं, वे जिसकी सत्ता से चैतन्य दीखते हैं वह आत्मा उन सब से विलक्षण है। मायिक पदार्थों में चेतन विकारी प्रतीत होता है क्योंकि वह चेतन पदार्थ का नहीं है चेतन आत्मा का है और भ्रान्ति से अनात्म पदार्थ में प्रतीत होता है, पदार्थ विकारी है इसीसे उसमें पड़ा हुआ चेतन भी विकारी मालूम देता है। वास्तविक चेतन अविकारी ही है।

पदार्थ के चेतन के समान आत्म चेतन नहीं है वह अखंड एक रस है कभी भी विकारी नहीं होता, कभी न्यूनाधिक प्रकाश वाला भी नहीं होता, अनेक मायिक पदार्थों को प्रकाशित करने में भी स्वस्वरूप से किञ्चित् भी न्यून नहीं होता, सब अनात्म पदार्थों का इस प्रकार नहीं है इसी से आत्मा उनसे विलक्षण है।

मन बुद्धि चित्त और अहंकार एक शरीर में भी विकार को प्राप्त होते रहते हैं और आत्म चैतन ब्रह्मांड भर में रहा हुआ होकर भी विकार को प्राप्त नहीं होता। मन बुद्धि आदि व्यवहार में ही काम आते हैं अवस्थान्तर में नहीं परन्तु आत्म प्रकाश तो व्यवहार अव्यवहार भ्रान्ति बंध मोक्ष आदि सब अवस्था में सब देश काल में और सब से अतीत प्रकाश ही देता है इसी से विलक्षण है।

स्थूल शरीर विकार से युक्त ही होता है, उसका जन्म, अस्तित्व, वृद्धि परिणाम, क्षय और नाश होता है, एक स्थिति में कभी नहीं रहता। उसके आधार में रहे हुए इन्द्रियां मन प्राण और अहंकार भी उसके विकार के साथ में विकारी होते हैं। विकारी से विलक्षण अविकारी होता है इससे आत्मा इनसे विलक्षण है।

देह इन्द्रिय मन प्राणादि अविद्या का कार्य है और अविद्या के शरीर से युक्त रहते हैं इससे सब व्यवहारिक सत्ता में ही है और आत्मा तो स्वतः सिद्ध स्वयम् प्रकाश होने से सब में एकसा रहने वाला होने से, सब का आधार होने से पारमार्थिक है इसीसे व्यवहारिक पदार्थों से विलक्षण है।

जो सब से विलक्षण, सब प्रकार के विकारों से रहित आत्मा है वह ही त्वं पद जिसे जीव कहते हैं उसका सच्चा स्वरूप है इसी से जीव भाव की उपाधियों का त्याग करके रहा हुआ चैतन्य स्वरूप ही मेरा त्वंपद का लक्ष्यार्थ है ऐसा निश्चय करना।

अपूर्ण।

अवधूतोपनिषत्।

एक समय सांकृति ऋषि भगवान् दत्तात्रय की प्रदक्षिणा करके पूछने लगे, 'हे भगवन्, अवधूत की स्थिति कैसी होती है? उनका क्या लक्ष्य है तथा उनका संसार कैसा होता है'?

परम करुणामय भगवान् दत्तात्रय ने उत्तर दिया—अक्षर होने के कारण, सबको इष्ट होने के कारण, संसार बंधन से निवृत्त होने के कारण तथा 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों का लक्ष्य होने के कारण उसको अवधूत कहते हैं॥ १॥ वर्णाश्रम का उल्लंघन करके जो आत्मा ही में अवस्थित है ऐसा वर्णाश्रम से पर हुआ योगी अवधूत कहा

जाता है॥ २॥ प्रिय उसका शिर करके मोद दक्षिण पक्ष करके प्रमोद उत्तर पक्ष करके गौ के पैर के समान आनन्द आत्मा है॥ ३॥ वह शिर में मध्य में और नीचे नहीं है ब्रह्म ही पूच्छ रूप प्रतिष्ठा है ऐसी भावना करे॥ ४॥ इस प्रकार चार मार्ग करने वाले परमपद को प्राप्त होते हैं। कर्म से, प्रजा से, धन से या त्याग से कोई परमपद को प्राप्त नहीं होता॥ ५॥

स्वेच्छाचार से विहार करना यही उसका आचरण है। वे वस्त्र रखते हैं या नहीं भी रखते। उनके लिये न धर्म अधर्म है न पवित्र वा अपवित्र है। वे सदा सांग्रहण्या इष्टि तथा अश्वमेध अपने अन्तर ही में करते हैं। यह महायज्ञ करना महायोग है। इनके सब कर्म विचित्र होते हैं। स्वेच्छाचारी अवधूत की निंदा नहीं करनी चाहिये यह महाव्रत है। क्योंकि मूढ़ मनुष्य के समान ये लेपायमान नहीं होते। जैसे सूर्य सब प्रकार के जल को खींच लेता है, जैसे, अग्नि सब का भक्षण करता है; इसी प्रकार योगी विषयों को भोगता है परन्तु वह शुद्ध रहता है, पुण्य पाप से लेपायमान नहीं होता॥ ६॥ पूर्ण भरे हुए और सदा एक समान रहने वाले समुद्र में जिस प्रकार जल प्रवेश करता है, उसी प्रकार जिसमें सब काम प्रवेश करते हैं उसी को शान्ति प्राप्त होती है; कामनाओं को चाहने वाले को नहीं॥ ७॥ न विरोध है, न उत्पत्ति है, न बद्ध है न साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्त है; यही परमार्थ है॥ ८॥ इहलोक और परलोक के सुख साधन के लिये तथा मोक्ष प्राप्ति के लिये पहिले बहुत कुछ किया, वह सब अब पूर्ण हो गया॥ ९॥ इसी कृत कृत्यता का पूर्व के कर्म की अशान्ति के साथ मिलान करके वह सदा तृप्त रहता है॥ १०॥ अज्ञानी और दुखी जीव पुत्रादि की इच्छा से भले कर्म करें, पूर्णानन्द से पूर्ण हुआ मैं किस निमित्त कर्म करूं?॥ ११॥ परलोक प्राप्ति की इच्छा वाले भले कर्मों का अनुष्ठान करें, मैं सर्वलोक स्वरूप हूँ मैं कौनसा कर्म करूं और कैसे करूं?॥ १२॥ जिनका अधिकार है, वे भले शास्त्रों का व्याख्यान करें और वेदों का अध्ययन करावें; मैं अक्रिय होने से मेरा तो अधिकार ही नहीं है॥ १३॥ निद्रा, भिक्षा, स्नान या शौच किसी की मुझे इच्छा नहीं है, न मैं कुछ करता हूं। देखने वाले यदि मुझमें कल्पना करें तो उनकी कल्पना से मुझे कुछ हानि भी नहीं है॥ १४॥ अन्य कोई गुंजा (गोंगची) के ढेर में अग्नि की कल्पना करें, तो उससे वह जलता नहीं, वैसे ही, औरों से आरोपित किये हुए संसार धर्मों का मेरे साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है॥ १५॥ जिनको तत्त्व का ज्ञान नहीं है वे भले श्रवण करें; मैं तत्त्व को जानता हूँ मैं किस लिये श्रवण करूं?। वैसे ही, जिनको संशय है वे मनन या विचार करें मुझे न संदेह है न मैं विचार करता हूं॥ १६॥ जिसको विपरीत भाव हो वे निदिध्यासन करें, मुझे विपरीत भाव ही नहीं है तो मैं क्या ध्यान करूं? देहमें आत्म भाव रूप विपरीत भावना मैं कभी पास नहीं फट-कने देता॥ १७॥ 'मैं मनुष्य हूँ' इत्यादि का व्यवहार, इस विपरीत भाव के बिना ही, केवल चिरकाल के अभ्यास से हुआ करता है॥ १८॥ यह व्यवहार प्रारब्ध का क्षय होते ही निवृत्त हो जाता है; कर्मों का क्षय न हो तो सहस्रों ध्यान से वह निवृत्त नहीं होता॥ १९॥ व्यवहार का क्षय होना यदि इष्ट हो तो तू ध्यान कर, मैं कर्मों के बाध के साथ व्यवहार देखता हूँ, फिर मैं क्यों ध्यान करूं?॥ २०॥ मुझमें विक्षेप नहीं है, इसलिये मेरी कोई समाधि नहीं है। विक्षेप वा समाधि ये विकारी मन की अवस्थाएं हैं। मैं नित्य अनुभव

स्वरूप हूं, मेरे लिये यहां पृथक् अनुभव ही कहां है ? ॥ २१ ॥ करने का था सो कर लिया, पाने का था सो पा लिया, इसलिये अब लौकिक अथवा शास्त्रानुसार अन्य किसी प्रकार का व्यवहार मेरे अकर्ता और अलिप्त रहते हुए जैसे नित्य से चलते आये हैं भले चला करें ॥ २२ ॥ अथवा, यद्यपि मैं स्वयं कृत कृत्य हूँ, तो भी लोगों को कल्याण की इच्छासे शास्त्रोंके अनुकूल मार्ग ही से वर्ताव रखूं तो भी मेरी हानि क्या है ? ॥ २३ ॥ देव पूजा, स्नान, शौच, भिक्षा आदि कर्म शरीर भले किया करे तथा वाणी भले प्रणव का जाप किया करे अथवा वेदान्त का पठन किया करे ॥ २४ ॥ बुद्धि भले विष्णु का ध्यान करे अथवा ब्रह्मानन्द में विलीन हो जाय। मैं तो साक्षी हूं इसमें मैं तो न कुछ करता हूं, न कराता हूं ॥ २५ ॥ करने का कर चुकने से तथा पाने का पा चुकने से तृप्त हुआ वह अपने मन से उस तृप्ति की भावना नहीं करता रहता ॥ २६ ॥

मैं धन्य हूँ, धन्य हूं क्योंकि मैं निसंदेह आत्मा को जानता हूँ। मैं धन्य हूँ, धन्य हूं, ब्रह्मानन्द का मुझको स्पष्ट अनुभव होता है ॥ २७ ॥ मैं धन्य हूं, धन्य हूं, संसार के दुःख मुझे यहां दीखते ही नहीं ! मैं धन्य हूँ धन्य हूँ, मेरा अज्ञान न मालूम कहां भाग गया ॥ २८ ॥ मैं धन्य हूँ, धन्य हूं, मुझे अब कोई कर्तव्य शेष नहीं रहा। मैं धन्य हूँ, धन्य हूँ, क्योंकि पाने के याेग्य था सो सब यहीं पर मिल गया ॥ २९ ॥ मैं धन्य हूं धन्य हूं। मेरी तृप्ति के लिये विश्व में उपमा ही क्या है ? इसलिये मैं धन्य हूँ धन्य हूं और बार बार कहता हूं कि मैं धन्य हूँ धन्य हूं धन्य हूँ ॥ ३० ॥ अहो पुण्य ! पुण्यफल मिला और मिला भी कैसा ? इस पुण्य की संपत्ति से हम भी धन्य हैं ॥ ३१ ॥ अहो ज्ञान ! अहो ज्ञान ! अहो सुख ! अहो सुख ! अहो शास्त्र ! अहो शास्त्र ! अहो गुरु ! अहो गुरु ॥ ३२ ॥

जो इसको पढ़ता है वह भी कृत कृत्य हो जाता है। उसका सुरापान का पाप निवृत्त हो जाता है। सुवर्ण की चोरी का दोष निवृत्त होजाता है ब्रह्म हत्या का पाप दूर होजाता है अथवा और जो कुछ किया हो उसका पाप दूर होजाता है। ऐसा जानकर स्वेच्छाचार परायण हो जाय। ॐ सत् यह उपनिषत है ॥

॥ इति अवधूतोपनिषत् ॥

ब्रह्मसूत्र भाषा दीपिका।

(गतांक से आगे)

टीकाः—आकाश आदि के समान प्राणों की भी उत्पत्ति होती है ऐसी कहने वाली श्रुति इस लिये मुख्य है कि 'जायते' यानी उत्पन्न होता है यह उत्पत्ति वाचक पद पहिले प्राणों के संबंध ही में श्रुति में आता है और आगे उसी का आकाश आदि के साथ सम्बन्ध होता है। आकाश आदि की उत्पत्ति मुख्य है, यह पहिले ही स्थापित कर चुके हैं, इसलिये ऐसे ही प्राणों की उत्पत्ति भी मुख्य है ऐसा ही मानना पड़ेगा। क्योंकि, एक ही प्रकरण में एक ही वाक्य में एक ही बार उच्चारण किये शब्द का अनेक शब्दों से संबंध हुआ हो तो उस शब्द का अर्थ कहीं मुख्य है और कहीं गौण है ऐसा मान नहीं सकते। ऐसा मानने से वैरूप्य दोष की प्राप्ति होती है। ऐसे ही,

'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धाम्' [प्रश्न० ६ । ४] (उसने प्राण उत्पन्न किया और प्राण से श्रद्धा उत्पन्न की) इस श्रुति में 'असृजत' यानी 'उत्पन्न किया' यह पद प्राण के संबंध से प्रयोजित किया हैं, उसीको उत्पन्न होने वाली श्रद्धा आदि से संबंधित किया गया है। जहां आगे आये हुए उत्पत्ति वाचक शब्द का पहिले उत्पत्ति वाले शब्द के साथ संबन्ध होता है वहां भी यही न्याय है। जैसे, 'सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति।' [बृ० २ । १ । २०] (सब भूत उत्पन्न होते हैं) इस प्रकार श्रुति के अन्त में आया हुआ 'व्युच्चरन्ति' यानी 'उत्पन्न होते हैं' यह पद पूर्व में आये हुए प्राण आदि के साथ भी संबंधित है ॥ ३ ॥

तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ॥ २ । ४ । ४ ॥

अन्वय और अन्वयार्थ :—वाचः वाणी **तत्पूर्वकत्वात्** उन (भूतों) से उत्पन्न होती है [ऐसा श्रुति कहती है] इसलिये [प्राण उत्पन्न होते हैं, यह सिद्ध होता हैं।]

टीका:—यद्यपि 'तत्तेजोऽसृजत' [छां० ६ । २ । ३] (उसने तेज उत्पन्न किया) इस श्रुतिके प्रकरणमें प्राणों की उत्पत्ति का कथन नहीं है, क्योंकि उस श्रुति में तेज, जल और पृथिवी इन तीन ही भूतों की उत्पत्ति कही है, तो भी ब्रह्मरूप कारण से उत्पन्न हुए तेज, जल और पृथ्वी इन तीन भूतों ही से क्रमश, वाणी, प्राण और मन ये तीन पदार्थ उत्पन्न होते हैं ऐसा श्रुति में ही आगे कहा है और इन (तेज, जल, पृथिवी तथा वाणी प्राण और मन) में समानता होने से प्राण ब्रह्म ही से उत्पन्न होते हैं, ऐसा ही सिद्ध होता है। इसी प्रकरण में वाणी, प्राण और मन ये तेज, जल और पृथिवी से उत्पन्न होते हैं, ऐसा कहा है। जैसे, 'अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्' [छां० ६ । ५ । ४] (हे सोम्य मन अन्नमय है, प्राण उदकमय है और वाणी तेजोमय है)। यहां पर यदि ये (मन, प्राण और वाक्) अन्नादिमय है ऐसा मुख्य रूप से माना जाय तब ही उनकी उत्पत्ति ब्रह्म से है ऐसा सिद्ध होता है। यद्यपि यह (यानी मन आदि के अन्नमय बताने वाला श्रुति कथन) गौण माना जाय तो भी मन आदि ब्रह्म के कार्य हैं इस बात का विस्तार करने के लिये ही श्रुति ने मन आदि अन्न आदि मय है ऐसा कहा है, ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि जहां ब्रह्म से उत्पन्न हुए नाम रूपों की व्यक्तता का वर्णन है उसी प्रकरण में इसका वर्णन है। इसके अतिरिक्त, इस प्रकरण में 'येनाश्रुतंश्रुतं भवति' [छां० ६ । १ । ३] (जिससे न सुना हुआ सुना जाता है) इस प्रकार उपक्रम करके 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' [छां० ६ । ८ । ७] (यह सब यह आत्मा ही है,) ऐसा श्रुति ने उपसंहार किया है। और यह बात अन्य श्रुतियों में भी प्रसिद्ध है इसलिये भी प्राण ब्रह्म का कार्य है, यह बात सिद्ध होती है।

२ सप्तगति अधिकरण।

सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च ॥ २ । ४ ५ ।

अन्वय और अन्वयार्थ :—सप्त [प्राण] सात हैं, **गतेः** क्योंकि, [श्रुति से इतने ही का] ज्ञान होता है [और उस अर्थ के] विशेषण भी दिये मिलते हैं।

टीका :—प्राणों की उत्पत्ति के बारे में श्रुति में जो परस्पर विरोध था उसका परिहार हुआ।

अब उनकी संख्या के विषय में जो विरोध दीखता है उसका निराकरण करते हैं। इनमें जो मुख्य प्राण है, उसके लिये आगे कहेंगे, यहां तो इतर प्राण कितने हैं इसका निश्चय करते हैं। श्रुति में विरोधी कथन मिलने से संशय उत्पन्न होता है। कहीं सात प्राणों का कथन है; जैसे, 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्' [मुण्ड० २।१।८] (उससे सात प्राण उत्पन्न होते हैं) कहीं आठ प्राण ग्रहरूप से कहे हैं, जैसे, 'अष्टौग्रहा अष्टावतिग्रहाः' [बृह० ३।२।१] (आठ ग्रह है और आठ उपग्रह है) कहीं नौ, जैसे, 'सप्त वैशीर्षण्याः प्राण द्वाववाञ्चौ' [तै० सं० ५।१।७।१] (मस्तक में सात प्राण हैं और नीचे दो) तो कहीं दस का कथन है; जैसे, 'नववै पुरुषे प्राणा नाभिर्दशमी' [तै० सं० ७।५।१२] (पुरुष में नौ प्राण हैं और दसवीं नाभि है। कहीं एकादश, जैसे, 'दशे मे पुरुषे प्राणा आत्मा एकादशः' [बृह० ३।६।४] (पुरुष में दश प्राण हैं और ग्यारहवां आत्मा है) तो कहीं द्वादश प्राणों का निर्देश है, जैसे, 'सर्वेषां स्पर्शानांत्वगेकायतनम्' [बृह० २।४।११] (सब स्पर्शोंका त्वचा ही एक स्थान हैं), तो कहीं तेरह प्राण भी कहे हैं, जैसे, 'चक्षुश्च द्रष्टव्यं च' [बृह० ४।८] (चक्षुरिंद्रिय और देखने के योग्य) इत्यादि श्रुतिमें इस प्रकार प्राणों की संख्या के विषय में श्रुति में परस्पर विरोधी कथन हैं।

पूर्व पक्ष :—इससे सिद्ध क्या हुआ ? यही सिद्ध हुआ कि प्राण सात हैं। कैसे जाना ? श्रुति से यही विदित होता है। 'सप्तप्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्' [मुण्ड० २।१।८] (उससे सात प्राण उत्पन्न हुए) इस प्रकार की श्रुतियों से सात ही प्राण हैं ऐसा बोध होता है। 'सप्तवैशीर्षण्याः प्राणाः' [तै० सं० ५।१।७।१] (मस्तक में सात प्राण हैं) इस श्रुति में प्राणों के लिये 'सात' यही विशेषण दिया हुआ है। यदि कहो कि 'प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त' [मुण्ड० २।१।८] (हृदय रूप गुहा में सात सात प्राण स्थापित किये गये हैं) इस श्रुति में 'सात' शब्द दुहराया गया है, इससे प्राणों की संख्या सात से अधिक है ऐसा प्रतीत होता है, तो यह दोष नहीं प्राप्त होता, क्योंकि पुरुष नाना हैं इस बात को ध्यान में लेते हुए उस श्रुति में 'सात' शब्द दुहराया गया है। प्रत्येक पुरुष को सात सात प्राण होते हैं यह उस श्रुति का अभिप्राय है। वे तत्त्व से भिन्न हैं यानी भिन्न प्रकार के प्राणों की सात जोड़ियां हैं ऐसा उसे दुहराने का अभिप्राय नहीं हैं। यदि कहो कि प्राणों की आठ, नौ आदि संख्या भी बताई गई है, फिर वे सात ही कैसे हो सकते हैं, तो वह ठीक है, वैसा ही कहा गया है। परंतु श्रुति में परस्पर विरोध आता है, इसलिये कोई भी एक संख्या निश्चित करनी पड़ेगी। अब 'कल्पना करना हो तो वह अल्प ही की करनी चाहिये' इस नियम के अनुसार प्राणों की संख्या सात ही है ऐसा निश्चय करना उचित है। श्रुति में जो अन्य संख्या बताई जाती है वह उन प्राणों की भिन्न भिन्न वृत्तियों का लक्ष्य लेकर है वैसा माना गया है।

इस पूर्व पक्ष का उत्तर सूत्रकार देते हैं कि—

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॥२।४।६॥

अन्वय और अन्वयार्थः-**तु** परन्तु **हस्तादयः** हाथ आदि [अधिक प्राण] **स्थिते** [श्रुति में] बताये गये हैं **अतः** इसलिये **एवम्** ऐसी कल्पना **न** नहीं करनी चाहिये।

टीका:—'हस्तौ वै ग्रहः स कर्मणाऽतिग्रहेण गृहीतो हस्ताभ्यां हि कर्म करोति' [बृह० ३।२।८] (हाथ ये ग्रह हैं, उसका कर्म रूप अतिग्रह ने ग्रहण किया है क्योंकि, वह हाथ से कर्म करता है) इत्यादि इस प्रकार की श्रुतियों में सातोंके अतिरिक्त हाथ आदि और प्राण हैं, ऐसा कहा है। प्राणों की संख्या इस प्रकार सात से अधिक होने से सात की संख्या का उसमें अंतर्भाव हो सकता है। बड़ी और छोटी संख्या सम्बन्धी विरोध होने पर अधिक संख्या का ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि छोटी संख्या का बड़ी संख्या में समावेश होता है परन्तु छोटी में बड़ी संख्या का समावेश नहीं होता। इसलिये अल्प ही की कल्पना करने के नियमके अनुरोध से सात ही प्राण हैं, ऐसा मानना युक्त नहीं है। और बड़ी संख्या का ग्रहण करना हो तो वे प्राण ग्यारह ही होने चाहिये। 'दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः' [बृह० ३।९।४] (पुरुष में दश प्राण हैं और ग्यारहवां आत्मा है।), यह श्रुति उस बात को बताती है। यहां पर आत्मा शब्द से अन्तःकरण समझना चाहिये, क्योंकि करणों के प्रकरण में यह श्रुति आई है।

यदि कोई कहे कि ग्यारह से अधिक बारह और तेरह ये संख्याएं भी बताई गई हैं, तो वह ठीक है, परन्तु ग्यारह कार्यों से अधिक कार्य वर्ग है ही नहीं जिनके लिये अधिक साधनों की कल्पना कीजाय। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध इन पांच विषयों के पांच प्रकार के ज्ञान हैं, उनके लिये पांच प्रकार की ज्ञानेन्द्रियां हैं। वैसे ही बोलना, ग्रहण करना, विहरण करना, त्याग करना और आनन्द लेना इस प्रकार कर्मके पांच प्रकार हैं, उनके लिये पांच कर्मेन्द्रियां हैं तथा जिसके सब पदार्थ विषय हैं और जो तीनों काल रहता है ऐसा मन इन्द्रिय एक ही है और उसकी अनेक वृत्तियां होती हैं। भिन्न भिन्न वृत्ति के कारण मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त ये उससे भिन्न हों ऐसा उसका निर्देश किया जाता है। इसीसे श्रुति मन की काम आदि अनेक प्रकार की वृत्तियों का उपक्रम करके 'एतत्सर्वं मन एव।' [बृह० १।५।३] (यह सब मन ही है) ऐसा कहती है। वैसे ही मस्तक में सात ही प्राण हैं, ऐसा मानने वालों को भी चार ही प्राण मानने पड़ेंगे क्योंकि वास्तव में प्राण चार ही हैं, केवल स्थान भेद से दो कान, दो आंखें, दो नासिकाएं और एक वाणी ऐसे सात गिने जाते हैं। अब यहां पर, अन्य प्राण भी इन ही की भिन्न भिन्न वृत्तियां हैं ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि हाथ आदि की वृत्तियां इनसे अत्यन्त विजातीय हैं। 'नववै पुरुषे प्राणा नाभिर्दशमी।' [तै० सं० ७।५।१२] इस श्रुति में शरीर में दस छिद्र हैं इस अभिप्राय ही से दस प्राणों का कथन है; प्राण तत्त्व के दस भेद हैं, ऐसे अभिप्राय से यह कथन नहीं है। इसीलिये उस श्रुति में नाभि दसवीं है ऐसा कहा है। नाभि नाम का कोई प्राण प्रसिद्ध नहीं है, नाभि यह मुख्य प्राण का एक स्थान है, इसीलिये केवल, 'नाभि दसवीं है' ऐसा श्रुति ने कहा है। कहीं कहीं कुछ प्राणों की गणना केवल उपासना के लिये की गई है तो कहीं उनके स्वरूप दिखाने के लिये। इस प्रकार प्राणों की ईयत्ता यानी संख्या श्रुति में अनेक प्रकार से कही हुई होने से वह कहां पर किस अभिप्राय से कही है उसका विवेक कर लेना चाहिये। कार्य वर्ग के अनुरोध से श्रुतिने प्राणों की एकादश संख्या कही है, वही प्रमाण है ऐसा सिद्ध होता है।

अपूर्ण।

उपासना ।

इस पुस्तक में साकार, सगुण, निर्गुण, कार्य ब्रह्म तथा कारण ब्रह्म आदि कई प्रकार की उपासना को भिन्न २ प्रकार से समझाया है। उपासना की स्थिरता ही से मन एकाग्र होता है, आत्म साक्षात्कार होता है और समाधि की प्राप्ति होती है।

इसमें यह दृष्टान्त आये हैं:—कुमार अवांछित और किमिच्छकं व्रत, ध्रुव की तपश्चर्या, धर्मनगर से मुक्तिनाथ तक जाने वाले दो मुसाफिर, गुलाम राजा बना, पांच मित्रों की मुसाफरी, अलौकिक मंदिर, समुद्र पार के देश का राजा, राजकुमार और राजकुमारी, महात्मा के उपदेश से साधु को ॐ दिखा दिया, अर्जुन, दुर्योधन और धात्री की कथा। इसमें उपासना, ब्रह्मोपासना, गायत्री ॐकार और ब्रह्मतरंग हैं। मूल्य ॥) डाक महसूल अलहिदा।

वेदान्त दीपिका।

इस ग्रन्थ में जिज्ञासु को स्वाभाविकता से होने वाली शंकाओं का अत्यंत मार्मिकता से समाधान किया गया है। वेदान्त के महत्व के ग्रन्थों को पढ़ने पर भी जिन शंकाओं का समाधान न होने से जिज्ञासु का चित्त अशान्त रहता है, वे शंकाएं इस ग्रन्थ को पढ़ने से समूल नष्ट हो जायंगी। ग्रन्थ को पढ़ते समय जो नयी शंकाएं उत्पन्न होंगी उनका समाधान आगे ही मिलने से पाठकों को अत्यन्त आनन्द होगा।

इसमें प्रत्येक विषय को प्रथम युक्तिपूर्वक समझा कर उसको दृढ़ करने के लिये प्रसंगानुकूल दृष्टान्त दिये गये हैं, जिससे ग्रन्थ अत्यंत ही रोचक बन गया है। इसकी भाषा अत्यंत सरल होने से सामान्य भाषा ज्ञान वाले भी इससे लाभ उठा सकते हैं। ग्रन्थ सबके लिये संग्राह्य है। सजिल्द मूल्य १।।) डाक महसूल अलहिदा।

काया पलट नाटक।

राजा रानी और मंत्री के रूप से जीव बुद्धि और मन का जगत आसक्ति में फँसना और सद्गुरु के उपदेश द्वारा अज्ञान का टूट कर ज्ञान भाव में आने का वर्णन है। प्रारब्ध दुःख आदि का भी वर्णन है। मूल्य।) चार आना।

वाक्य सुधा।

वेदान्त ग्रन्थों में ज्ञान समाधि का वर्णन बहुत स्थान पर है परन्तु इसमें जैसा वर्णन है ऐसा सूक्ष्म वर्णन और स्थान में कहीं नहीं मिलता—रहस्य पूर्ण विवेचन से भली प्रकार समझाया गया है मुमुक्षुओं को अत्यन्त हितकर है। मूल्य १) एक रुपया।

चर्पट पंजरिका।

"भज गोविंद भज गोविंद" पद्यका विवेचन सहित भाषानुवाद है। अनेक दृष्टांतों से रोचक और बोधप्रद है। सम श्लोकी पद्य भी हैं। मूल्य १)

व्यवस्थापक—वेदान्त केसरी, बेलनगंज-आगरा।

REGD. NO. A. 1821

वेदान्त केसरी की छपी हुई पुस्तकें ।

वेदान्त केसरी मासिक पत्र—नवाँ साल चालू है वार्षिक मूल्य ३) वर्ष के मध्य में ग्राहक होने वालों को वर्ष के आरंभ से सब अंक लेने होंगे मई मास से वर्ष आरंभ होता है नमूने की कापी मुफ्त नहीं मिलती। एक प्रति का मूल्य पाँच आना। पिछले आठों साल की जिल्द (प्रत्येक बारह अङ्कों की) तय्यार हैं, थोड़ी कापियां शेष रही हैं। श्रीमच्छङ्कराचार्य्यके अद्वैत सिद्धान्तके अनुसार सम्पूर्ण वेदान्त की प्रक्रिया आगई हैं।

अधिकारी के लक्षण, गुरु-शिष्य लक्षण, पंचकोष विवेक, जगत्, जीव, ईश्वर, ब्रह्म, माया, अविद्या, ज्ञान, अज्ञान, आसक्ति, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, महावाक्य, जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति; छोटे छोटे उपनिषद्, स्तोत्र आदि अनेक लेख आये हैं, जो बोलचालकी बहुत ही सीधी भाषामें युक्ति और दृष्टांतपूर्वक समझाये गये हैं। बहुत ही रोचक होने से पढ़ने को लेनेके बाद पुस्तक छोड़ने को चित्त नहीं चाहता। सामान्य भाषा जानने वाले भी बारम्बार पढ़ने से आत्मबोध प्राप्त कर सकते हैं। प्रत्येक पुस्तक का मूल्य ३) सम्पूर्ण सेट यानी आठों पुस्तक का मूल्य २४)

उपासना—इसमें साकार, सगुण, निर्गुण, कार्य ब्रह्म तथा कारण ब्रह्म आदि कई प्रकार की उपासना को भिन्न २ प्रकार से समझाया है। उपासना की स्थिरता ही से मन एकाग्र होकर आत्म साक्षात्कार होता है। मूल्य ॥)

चर्पट पंजरिका—"भज गोविंदं भज गोविंदं" पद्य का विवेचन सहित भाषानुवाद है। अनेक दृष्टांतों से रोचक है। सम श्लोकी पद्य भी है। मूल्य ।)

कौशल्य गीतावली भाग १—२—वेदान्त केसरी में आई हुई कविताओं का संग्रह। कविता रोचक सरल और ज्ञान के संस्कारों को प्रदीप्त करने वाली तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन रूप हैं। प्रत्येक भाग का मूल्य ।≠)

वेदान्त स्तोत्र संग्रह—श्रीमच्छङ्कराचार्य्य आदि के प्रतिभाशाली वेदान्त के मुख्य २ चुने हुए २१ स्तोत्रों का संग्रह किया गया है और प्रत्येक स्तोत्र का अर्थ भी सरल भाषा में दिया गया है, जो थोड़े पढ़े हुए मुमुक्षुओं को भी नित्य पाठ और श्रवण में अति उपयोगी है। कई संन्यासियों ने भी इसे बहुत पसंद किया है। मूल्य प्रति पुस्तक ॥) सब पुस्तकों का डाक खर्च ग्राहकों को देना होगा।

व्यवस्थापक—वेदान्त केसरी, बेलनगंज—आगरा।

मुद्रक, प्रकाशकः—रामस्वरूप शर्मा केसरी प्रेस, बेलनगंज—आगरा।